नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४ संवत् २०१६ अंक ३–४

★

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री करुणापति त्रिपाठी

डा० बचनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का ५)

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४
संवत् २०१६
अंक ३-४

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४] संवत् २०१६ [अंक ३-४

रायसेन का शासक सलहदी तँवर

रघुवीर सिंह

दिल्ली को जीत कर ईसा की १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब मुसलमान आक्रमणकारियों ने उत्तरी भारत में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की तब से ही उनकी दृष्टि बराबर मालवा पर लगी हुई थी। सन् १२३४ – १२३५ ई० में अल्तमिश ने मालवा पर आक्रमण कर भेलसा (विदिशा) को जीता और वहाँ से उज्जैन पहुँच कर महाकाल के सुविख्यात मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तथापि मुसलमान आक्रमणकारी उस प्रदेश पर उस समय अपना आधिपत्य नहीं कर पाए और अलाउद्दीन खिलजी के समय नवंबर, १३०५ ई० मांडू के जीते जाने के बाद ही मालवा के स्वाधीन परमार राज्य का अंत हुआ। तदनंतर ही मालवा दिल्ली के मुसलमान राज्य का एक सूबा बना।[1] दिल्ली के सुलतान द्वारा नियुक्त सूबेदार अब मालवा पर शासन करने लगा था, फिर भी प्रदेश में सर्वत्र छोटे-बड़े हिंदू जमीदारों और राजाओं का अधिकार एवं महत्व बहुत-कुछ बना ही रहा, तथा उनसे कर वसूल करने के लिए भी प्रायः हर बार सेना भेजनी पड़ती थी। प्रारंभिक तुगलक सुलतानों ने अन्य प्रांतों के साथ ही मालवा के शासन को भी व्यवस्थित कर वहाँ मुसलमानी सत्ता को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। यही कारण था कि फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद दिल्ली का यह साम्राज्य जब छिन्न-भिन्न होने लगा तब मालवा के तत्कालीन सूबेदार दिलावर खाँ गोरी को मालवा का स्वाधीन शासक बनकर उस प्रदेश के छोटे-बड़े सभी राजा-जमीदारों पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में कोई भी कठिनाई नहीं हुई।

परंतु स्वाधीन मालवा के सुलतानों को प्रारंभ से ही पास-पड़ोस के अन्य स्वाधीन शासकों से बारंबार संघर्ष करना पड़ा। पुनः उत्तराधिकार को लेकर समय-समय पर होने वाले गृहयुद्धों से भी मुसलमान शासकों की सत्ता को हानि ही पहुँची। उधर मालवा के

१. हबीबुल्ला, फ़ाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० १०१; बरनी, तारीख़-इ-फ़िरोजशाही (बिब० इंडिका), पृ० ५०; हबीब: कैंपेंस आफ़ अलाउद्दीन ख़िलजी, पृ० ४२ – ४६।

उत्तर पश्चिम में मेवाड़ का हिंदू राज्य दिनोंदिन विस्तृत और शक्तिशाली होता जा रहा था, तथा राणा कुंभा ने मालवा के प्रतापी सुलतान महमूद खिलजी (प्रथम) को पराजित भी किया था। अतः समय पाकर मालवा के राज्यशासन में हिंदुओं का महत्व और विशेषतया राजपूत वीरों का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। सुलतान गयासुद्दीन खिलजी के समय खालसा परगनों का प्रबंध करने वालों में मुंज बक्काल और शिवदास (अथवा सोमदास) बक्काल प्रमुख थे।[२] सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी का वज़ीर बसंत राय (अथवा निस्वंतराय) नामक हिंदू था, तथा नक़्द-उल-मुल्क नाम से सुज्ञात एक और हिंदू भी तब राज्यशासन में किसी उच्च पद पर था। किंतु हिंदुओं को यों शासन में महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त होना मुसलमान सेनानायकों तथा अमीरों को कदापि रुचिकर नहीं होता था और अवसर मिलते ही उन्हें मार डालने या पदच्युत करने को वे सदैव तत्पर रहते थे।[3] तथापि अगस्त, १५१२ ई० में सुलतान महमूद खिलजी (द्वितीय) ने मेदिनी राय नामक पूरबिया राजपूत[४] को अपना वज़ीर बनाया।

मेदिनी राय बहुत ही वीर और सुविख्यात अनुभवी सेनानायक था। महमूद खिलजी के राज्यारोहण के समय वह पूर्वी मालवा में किसी थाने का अधिकारी था। महमूद के विद्रोही वज़ीर मुहाफ़िज़ खाँ ने जब उसके बड़े भाई साहिब खाँ को मालवा का सुलतान घोषित किया तब महमूद को मांडू से भागना पड़ा। उस कठिन समय में जब अन्य मुसलमान अमीर और सेनानायक महमूद के विरुद्ध या उससे उदासीन हो गए थे, तब मेदिनी राय ने ही स्वयं आकर महमूद का साथ दिया था और उसीके प्रयत्नों तथा सफल युद्धों के फलस्वरूप महमूद मांडू पर पुनः अपने राज्याधिकार प्राप्त कर सका था। मेदिनी राय के साथ ही उसके कई

२. तबकात०, ३, पृ० ५५४ – ५।
फ़िरिश्ता० (४, पृ० ११७) में सलहदी पूरबिया को 'सुलतान गयासुद्दीन का भूतपूर्व वज़ीर भी लिखा है। परंतु उसके इस कथन का यत्किंचित् भी समर्थन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है। फरिश्ता० (पृ० २११) के मूल फारसी ग्रंथ में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

३. तबकात०, ३, पृ० ५७३ – ८; ब्रिग्ज० ४, पृ० २४६; फ़रिश्ता० पृ० २६२ – ३।

४. 'पूरबिया राजपूत' से यहाँ राजपूतों के किसी कुल या शाखा विशेष का निर्देश नहीं है। मालवा के स्थानीय या अन्य प्रदेशीय राजपूतों से उनका विभेद करने को ही तब यमुना के पूर्वी तट या आगे अवध प्रदेश से आए हुए सभी कुलों के राजपूतों को साधारणतया 'पुरबिया' कहा जाता होगा एवं तदनुसार इतिहासकारों ने भी उनका वैसा उल्लेख किया है।

चौहान राजपूतों की २४ शाखाओं में से एक 'पूरबिया' कही जाती है, ('टाड० १, ११५)। खानवा के युद्ध के समय (१५२७ ई० में) यमुना के पूर्वी तट पर मैनपुरी के आसपास के प्रदेश के कुछ सेनानायक अपने सैनिकों के साथ राणा सांगा की सेना में संमिलत होकर तब वहाँ काम आए थे। उस युद्ध के बाद वे अथवा उनके वंशज मेवाड़ पहुँच कर वहाँ राणा की सेवा करने लगे। तब पूर्व से आए हुए तथा उस पूर्वी प्रदेश में बसने वाले चौहान राजस्थान में 'पूरबिया चौहान' कहलाए। यों चौहानों की इस शाखा विशेष का यह नामकरण १५२७ ई० के बाद ही राजस्थान में हुआ था। ओझा, उदय०, १, पृ० ३७४ फुटनोट; २, पृ० ८७४, ८७७।

कुटुंबी, संबंधी तथा अनेकों राजपूत सेनानायक अपने अपने सैनिकों और साथियों को लेकर महमूद की सेना में तब संमिलित हो गए। उनमें से कुछ को राज्यशासन में उच्च पदों पर भी नियुक्त किया गया। राय पिथौरा को मांडू के किले की सुरक्षा का भार सौंपा गया, तथा भीम करण (अथवा हेम करण) पूरबिया गागरोन किले का किलेदार नियुक्त हुआ।

मेदिनी राय के ऐसे अन्य प्रमुख राजपूत साथी सेनानायकों में सलहदी[५] भी था। वह तँवर राजपूत था।[६] उसका जन्म ग्वालियर के पास ही सुखजन (अथवा सुखजान) नामक

५. 'सलहदी' नाम का वस्तुतः ठीक स्वरूप प्रामाणिक रूप से कहना संभव नहीं। वीर० (२ पृ० ३) में उसके 'शल्यहती' होने का सुझाव दिया है। बेवरिज (ए० रि०) के अनुसार यह संस्कृत नाम 'शिलादित्य' ही का विकृत स्वरूप है। अर्स्किन० (२ पृष्ठ ४७१ फु० नो०) ने इसे मालवा के सुलतान द्वारा दिए गए खिताब 'सिलहेदीन' का ही जनसाधारण में प्रचलित विकृत रूप बताया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। सन् १५३२ ई० जब वह मुसलमान हो गया तभी उसका हिंदू नाम बदल कर 'सलाहुद्दीन' रखा गया था (सिकंदरी० पृ० १७५)। उससे पहले यदि उसको वैसा कोई खिताब मिला होता तो बाद में इस नामपरिवर्तन कोई आवश्यकता ही नहीं होती, एवं फारसी इतिहासकार भी उसी खिताब से उसका उल्लेख करते। परंतु प्रायः सभी फारसी इतिहासग्रंथों में उसका नाम 'सिलहदी' दिया है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में उसका उल्लेख 'सलाहुद्दीन' नाम से किया है। उसके भारतीय नाम का यही फारसी स्वरूप बाबर को बताया गया होगा।

परंतु डा० गौरीशंकर ओझा ने वीर० का अनुसरण कर उसका नाम 'सलहदी' लिखा है। नैणसी० में भी यह नाम इसी रूप में लिखा मिलता है। उसमें इसी नाम के पाँच विभिन्न व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है (२, पृ० २५१; २, पृ० १०,१३,१८,३५, ३६,३८२)। अतः तब यह नाम साधारणतया इसी रूप में प्रचलित रहा होगा ऐसा मानकर ही उक्त रूप को यहाँ स्वीकार किया गया है।

छंद की मात्राएँ पूरी करने के लिए ही उसके नाम के अंत में 'न' जोड़कर 'छिताई चरित' में उसका नाम 'सलहदीन' कर दिया गया जान पड़ता है।

६. प्रायः सभी फारसी इतिहास ग्रंथों में उसे पूरबिया लिखा है। 'मिरात - इ - सिकंदरी' की कई प्रतियों में अवश्य ही उसे तँवर लिखा है, परंतु उसके लीथो संस्करण एवं अन्य प्रतियों में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है (बेली० पृ० २७३; ए० रि०; मिरात०, पृ० १६१; सिकंदरी०, पृ० ११३)। यहाँ 'पूरबिया' से राजपूतों के किसी कुल या शाखा विशेष का निर्देश नहीं किया गया है। मुसलमान इतिहासकारों को इन राजपूत सेनानायकों में कोई विशेष दिलचस्पी तो थी नहीं कि उनके कुल आदि के बारे में पूरी पूरी जानकारी प्राप्त करते। सलहदी वस्तुतः पूर्वी प्रदेश का नहीं था तथापि मेदिनी राय के साथ होने के कारण उसके अन्य सैनिकों या सेनानायकों की ही तरह सलहदी को भी उन्होंने पूरबिया लिख दिया।

परंतु इसके विपरीत ख्यातों, वंशावलियों, आदि के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६), वीर० (२ पृ० ३६५; २, पृ० १५) और ओझा० (उदय० १, पृ० ३५६ – ७)

गाँव में हुआ था।[७] उसके रनिवास में अनेकों रानियाँ थी, जिनमें रानी दुर्गावती ही उसकी पटरानी थी। उसका पुत्र भूपत राय संभवतः सलहदी का ज्येष्ठ पुत्र था। अपने पिता के समान भूपत राय भी वीर योद्धा और राजपूतों का प्रमुख सेनानायक था। उसका विवाह मेवाड़ के राणा सांगा की पुत्री के साथ हुआ था।[८] सलहदी का भाई लखमण सिंह तथा सलहदी का छोटा पुत्र पूरणमल आदि भी आगे चल कर राजपूत सेना में सेनानायक बन गए।

मेदिनी राय के मालवा का वजीर बनने पर वहाँ के शासन में राजपूतों का प्रभाव और महत्व दिनोंदिन बढ़ने लगा। शाहजादे सिकंदर के दिल्ली चले जाने के बाद उसको दिया हुआ भेलसा का परगना दिसंबर, १५१३ ई० में सलहदी को जागीर में दे दिया गया, जो तदनंतर

आदि में उसे निश्चितरूपेण तँवर राजपूत लिखा है। यह तो सर्वमान्य है कि राणा सांगा का सलहदी के साथ कौटुंबिक संबंध था, अतः सलहदी किस कुल का था इसकी सही जानकारी मेवाड़ घराने के ख्यातकारों आदि को अवश्य ही रही होगी, एवं उनके आधार पर सलहदी को तँवर राजपूत मान लेना उचित ही जान पड़ता है। ईसा की १७वीं सदी के प्रारंभिक युगों में मेवाड़ में लिखे गए संस्कृत ग्रंथ 'अमर काव्य' में भी सलहदी को तँवर ही लिखा है।

कॅम्ब्रिज० (३, पृ० ३६८) में सलहदी को मेदिनी राय का भाई लिखा है। परंतु ऐसे अनुमान के लिए कोई भी आधार नहीं है।

'छिताई चरित' में उसे 'सलहदीन जांगलौ' लिखा है, किंतु उससे जांगल देश से उसका किसी प्रकार का संबंध होने का कोई भी अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए। स्पष्टतया सलहदी के उग्र और दुर्दम्य स्वभाव का ही यों वहाँ उल्लेख किया गया है।

७. बाबर अक्तूबर २, १५२८ ई० के दिन इस गाँव में गया था। आज इस नाम का कोई भी गाँव ग्वालियर के आसपास नहीं है। ल्युअर्ड के मत से संभवतः वर्तमान सालवाई अथवा सुखलारी गाँवों का जो ग्वालियर से क्रमशः २५ मील दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में हैं, तब यह नाम रहा होगा (बाबर०, २, पृ० ६१४, ८४६)। परंतु ये दोनों ही अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होते। बाबर यदि इतनी दूर गया होता तो वहाँ की इस दूरी का उल्लेख वह अपने आत्मचरित में अवश्य ही करता, एवं अनुमान यही होता है कि यह गाँव ग्वालियर से बहुत दूर नहीं रहा होगा (रा० रि०)। नामों में अधिक साम्य के साथ ही इस विचार से भी 'सोजना' गाँव अधिक संभव जान पड़ता है, जो ग्वालियर से कोई ७ मील पश्चिम में है।

८. सिकंदरी० (पृ० १७५) एवं तबकात० (३, पृ० ३६६-७) के अनुसार राणा सांगा की पुत्री का विवाह भूपतराय के साथ हुआ था। 'तारीख-इ-अल्फी' भी इसी कथन का समर्थन करती है (बेली०, पृ० ३६५ फु० नो०)। परंतु फरिश्ता० (पृ० २२१; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११२) के अनुसार सलहदी की पटरानी एवं भूपतराय की माँ रानी दुर्गावती ही राणा सांगा की पुत्री थी। उम्र के अनुमान से भी रानी दुर्गावती बहुत-कुछ राणा सांगा की समवयस्का ही रही होगी, एवं सुदूर दक्षिण में लिखे गए इस ग्रंथ का यह कथन कदापि प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं है।

लगातार १८ वर्ष तक उसी के अधिकार में रहा।[९] महमूद खिलजी का समर्थन पाकर मेदिनी राय और उसके साथी राजपूत सेनानायकों की शक्ति शीघ्र ही इतनी अधिक बढ़ गई कि कुछ ही समय में महमूद खिलजी भी उनके हाथ की कठपुतली हो गया। अब मेदिनीराय ने महमूद खिलजी की स्वीकृति प्राप्त कर मालवा के कई पुराने प्रभावशाली मुसलमान अमीरों को मरवा डाला जिससे मालवा के मुसलमान अमीरों, सेनानायकों और मौलवी - मुल्लाओं का असंतोष एवं विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया। पुनः इधर कुछ ही वर्षों में महमूद खिलजी स्वयं भी अपने राजपूत वजीर, सेनानायकों और अधिकारियों से अत्यधिक आंतकित होकर उनका पूर्ण विरोधी बन बैठा। तब तो उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए महमूद ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किए और एक बार मेदिनी राय की हत्या का भी विफल प्रयास किया गया। अंत में विवश होकर अक्तूबर, १५१७ ई० के लगभग महमूद खिलजी स्वयं मांडू से भाग खड़ा हुआ और गुजरात के सुलतान मुजफ्फर शाह की सहायता प्राप्त करने के लिए दोहद जा पहुँचा।[१०]

नवंबर, १५१७ ई० में मुज़फ्फ़र शाह महमूद को साथ लेकर मालवा पर चढ़ाई की तैयारी करने लगा। इसकी सूचना मिलने पर मेदिनी राय ने मालवा की राजधानी मांडू की सुरक्षा का सुमुचित प्रबंध किया और वह स्वयं सलहदी को साथ लेकर राणा सांगा से आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पहुँचा। इधर जनवरी, १५१८ ई० के प्रारंभ में मुफ़्फ़र शाह ने मांडू को आ घेरा और फरवरी माह समाप्त होने से पहिले ही उसे जीतकर महमूद खिलजी को पुनः वहाँ की राजगद्दी पर बिठा दिया। मेदिनी राय और सलहदी के साथ जब राणा सांगा ससैन्य उज्जैन के पास तक जा पहुँचा तब वहाँ उन्हें मांडू के किले के यों जीते जाने का समाचार ज्ञात हुआ। तब राणासांगा भी मेदिनी राय को साथ लेकर वापस चित्तौड़ को लौट गया और गागरोन, चंदेरी, आदि का प्रदेश उसे जागीर में देकर राणा सांगा ने मेदिनी राय को अपना सरदार बनाया।[११] इधर मालवा राज्य में सर्वत्र फैली हुई अराजकता एवं अव्यवस्था से लाभ उठाकर सलहदी भी भेलसा की अपनी जागीर से लगा हुआ सारंगपुर से लेकर रायसेन तक का सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर वहाँ का स्वतंत्र शासक बन बैठा।[१२]

इस मांडू - विजय के बाद मुज़फ्फ़र शाह वापस गुजरात को लौट गया परंतु महमूद खिलजी की रक्षा एवं सहायता के लिए वह अपने सेनानायक आसफ़ खाँ गुजराती

९. सिकंदरी०, पृ० १७१; तबकात०, ३ पृ० ५९६, ३५८।

१०. तबकात०, ३ पृ० ५८८-६०२, ३०१-२; ब्रिग्ज़०, ४, पृ० २५०-२६०, ८४; सिकंदरी०, पृ० ९८-९९।

११. मुज़फ़्फ़र शाह की इस मांडूविजय का सविस्तर वर्णन समकालीन फारसी ग्रंथ 'तारीख - इ - मुज़फ़्फ़र शाही' में मिलता है।
तबकात०, ३, पृ० ६०२-४, ३०४-५; ब्रिग्ज़०, ४, पृ० २६०-२, ८४-६; सिकंदरी०, पृ० ९९-१०१, १०६; बाबर०, २, पृ० ५९३, ओझा०, उदय०, १, पृ० ३५८।

१२. तबकात०, ३, पृ० ६०८; ब्रिग्ज़०, ४ पृ० २०२-३।

की अधीनता में अपनी सेना के कई हजार घुड़सवार पीछे छोड़ गया। अतः कुछ समय बाद महमूद खिलजी मालवा के अनेकानेक प्रदेशों पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने का आयोजन करने लगा। अक्तूबर, १५१९ ई० के लगभग उसने गागरोन के किले पर चढ़ाई की और उसे जा घेरा। तब राणा सांगा मेदिनी राय के सहायतार्थ गागरोन की ओर बढ़ा। महमूद और राणा सांगा के बीच भयंकर लड़ाई में महमूद की पूर्ण पराजय हुई तथा वह बुरी तरह घायल होकर कैद हो गया। राणा सांगा ने महमूद का ठीक तरह से इलाज करवाया और उसके पूर्ण स्वस्थ हो जाने पर कुछ मास तक और उसे अपने यहाँ कैद रखा। बाद में मालवा का आधा राज्य वापस देकर महमूद को ससंमान मांडू भेज दिया।[13]

इस पराजय और राज्यहानि के कारण महमूद खिलजी की सैनिक शक्ति, प्रताप और आय सभी बहुत अधिक घट गए जिससे सलहदी को अपनी शक्ति तथा राज्यविस्तार बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। अतः मालवा राज्य के अधीन अपने आसपास के परगनों में उसके उपद्रव बहुत बढ़ गए, अतः सलहदी का दमन करने के लिए अक्तूबर, १५२० के लगभग महमूद ससैन्य भेलसा की ओर बढ़ा और उसका सामना करने के लिए सलहदी भी सेना लेकर आगे आया। सारंगपुर के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। युद्ध में सलहदी ने महमूद को पूर्णतया पराजित किया और महमूद की बहुत-कुछ सेना भाग खड़ी हुई, तथापि महमूद अपने कुछ घुड़सवारों को साथ लिए तब भी पूरे साहस और दृढ़ता के साथ युद्ध क्षेत्र में ही डटा रहा। अतः जब सलहदी की सेना लूट-पाट में लग गई तब उसने पुनः उनपर आक्रमण कर कई राजपूत सेनानायकों को मार गिराया। तब तो राजपूत सेना भाग निकली और सलहदी को भी वहाँ से भागना पड़ा। सलहदी के कोई २४ हाथी महमूद के हाथ लगे। तदनंतर महमूद मांडू को वापस लौट गया। कुछ समय बाद सलहदी ने महमूद की सेवा में अपनी ओर से कर के रूप में कुछ द्रव्य तथा अनेकानेक वस्तुओं की भेंट भिजवाई और महमूद की आधीनता स्वीकार करते हुए पिछले सपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना का संदेश भिजवाया। यों सलहदी ने महमूद के साथ पुनः मेल कर लिया।[14]

उधर ईडर के मामले को लेकर राणा सांगा और मुजफ्फ़र शाह में निरंतर कशमकश चल रही थी। उस समय मंदसौर और उसके आस-पास का प्रदेश राणा सांगा के अधिकार में था। अतः जनवरी, १५२१ ई० में मलिक अयाज के सेनापतित्व में एक बड़ी गुजराती सेना

१३. तबकात०, ३, पृ० ६०५-८, ३०७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६२-४, ८७-८; सिकंदरी० पृ० १०६-७।

१४. तबकात०, ३, पृ० ६०९।

फ़रिश्ता० के अनुसार इस समय महमूद खिलजी ने सारंगपुर पर भी अधिकार कर लिया था और तब उसे पुनः जीतने का सलहदी ने कोई प्रयत्न नहीं किया। कुछ समय बाद महमूद के साथ सलहदी का मेल हो जाने की बात भी फरिश्ता० में नहीं लिखी है। ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६४-५।

परंतु इस सबंध में तबकात० का कथन कहीं अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। यदि इस समय महमूद के साथ सलहदी का मेल न हो जाता तो एक वर्ष बाद मंदसौर के घेरे के समय वह महमूद के साथ कदपि नहीं जाता।

बाँसवाड़ा होता हुई मंदसौर पहुँची और वहाँ के किले को जा घेरा। राणा सांगा भी एक बड़ी सेना लेकर मंदसौर के पास नांदसा गाँव में आ ठहरा। मलिक अयाज की सहायता के लिए महमूद खिलजी मंदसौर आया और अपने साथ सलहदी को भी लेता आया। परंतु मंदसौर पहुँचने पर राणा सांगा की ओर से मेदिनी राय ने जाकर सलहदी को समझाया, तब सलहदी राणा सांगा से जा मिला, और राणा सांगा एवं मलिक अयाज के बीच सुलह कराने का प्रयत्न करने लगा, किंतु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। पास-पड़ौस के और भी राजा राणा सांगा से आ मिले थे। इस प्रकार दोनों ही ओर काफी सेनाएँ एकत्र हो गई थीं। किंतु मलिक अयाज और उसके अन्य साथी सेनानायकों में अनबन होने के कारण अन्ततः न तो कोई युद्ध ही हुआ और न मंदसौर का किला जीता जा सका। अंत में राणा सांगा के साथ संधि करके जब मलिक अयाज पीछे हट गया तब राणा सांगा, महमूद, सलहदी और अन्य सभी सरदार अपने-अपने स्थानों को वापस लौट गए।[१५]

इसके बाद अगले पाँच छह वर्षों में (१५२१-२६ ई०) सलहदी ने क्या किया इसका कोई विशेष विवरण ऐतिहासिक आधारग्रंथों में नहीं मिलता है। मुजफ़्फ़र को गुजरात के मामलों से ही इतना अवकाश नहीं था कि वह मालवा की ओर ध्यान दे पाता। पुनः महमूद खिलजी की न तो शक्ति थी और न उसे साहस ही हुआ कि वह सलहदी से पुनः कोई छेड़छाड़ करता। इस प्रकार सलहदी को अपना आधिपत्य सुदृढ़ कर अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। भेलसा, रायसेन, और सारंगपुर का प्रदेश इस समय उसके आधिपत्य में था एवं अब मालवा के शक्तिशाली स्वाधीन शासकों में उसकी गणना होने लगी थी। उसकी सेना में तब कुल मिलाकर कोई ३०,००० घुड़सवार तो अवश्य ही थे। यों तो रायसेन ही सलहदी का मुख्य निवासस्थान था, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि वह यदा-कदा सारंगपुर में भी निवास करता था, जिससे मालवा राज्य से लगी हुई उसकी उस सीमा पर भी सुरक्षा का समुचित प्रबंध बना रहे।[१६]

१५. तबकात०, ३, पृ० ३१४-७। फ़रिश्ता० (पृ० २१०) भी तबकात० के कथन का समर्थन कर आगे यह भी लिखता है कि सलहदी ने राणा सांगा और मलिक अयाज में संधि कराने के लिए तब भरसक प्रयत्न किए परंतु वे सफल नहीं हुए। ब्रिग्ज ने सलहदी का कोई भी उल्लेख नहीं किया है (४, पृ० ६२-४)। परंतु सिकंदरी० के अनुसार सलहदी मलिक अयाज से भेंट करने को सीधा रायसेन से मंदसौर आया था (पृ० ११२-३)। ओझा०, उदय०, १, पृ० ३५६-७।

१६. बाबर ने उसे रायसेन, भेलसा और सारंगपुर का शासक लिखा है। बाबर०, २, पृ० ५६२, ५६८। 'छिताई चरित' के अनुसार भी इस समय सारंगपुर सलहदी के ही अधिकार में था। सिकंदरी० (पृ० ११३) के अनुसार १५२१ ई० में सलहदी रायसेन से आया था एवं आगे चलकर भी वह रायसेन का शासक कहलाया, जिससे यह स्पष्ट है कि रायसेन पर उसका अधिकार होने के समय से ही सलहदी ने उसे अपनी राजधानी बनाया। परंतु 'छिताई चरित' के उल्लेख से यह निश्चित जान पड़ता है कि वह सारंगपुर में भी यदाकदा निवास करता था।

उस समय भी जैन धर्मावलंबी मालवा प्रदेश के प्रायः सभी भागों में पाए जाते थे और प्रदेश की तत्कालीन राजनीति, शासन, व्यापार आदि के साथ उनका बहुत ही गहरा संबंध था। सलहदी के राज्याधिकारियों में भी कोई एक जैन धर्मावलंबी थे। जैन यति वाचनाचार्य जयवल्लभ का तब प्रदेश भर में सर्वत्र विशेष प्रभाव था, जिससे वे 'मालवी ऋषि' कहलाए। अपनी विद्वत्ता, साधना एवं तपस्वी जीवन के कारण वे जनसाधारण में ही नहीं पूजे जाते थे बल्कि सलहदी के राजदरबार में भी उनका बड़ा संमान था। अतः जब रूपाशाह नामक एक देवास - निवासी जैन - धर्मावलंबी राज्यधिकारी को राजकीय धन के गबन के अपराध में कैद में डाल दिया गया तब यति जयवल्लभ ने उसको बचाने के लिए विशेष प्रयत्न किए तथा स्वयं सलहदी को भी उन्होंने इस बारे में कहा। परंतु अंततः वे विफल ही रहे जिससे उनके हृदय को बड़ी चोट पहुँची और वे पूर्णतया विरक्त होकर सच्चे जैन संत बन गए। यह घटना बहुत करके सन् १५२५ ई० के लगभग ही घटी होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[१७]

भारतीय राजनीतिक मंच पर हुए अनेकानेक बड़े - बड़े उलटफेरों के कारण सन् १५२६ ई० भारतीय इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण एवं युगांतरकारी प्रमाणित हुआ। अप्रैल ६, १५२६ ई० को मुजफ्फरशाह का अहमदाबाद में देहांत हो गया और तब उसके दो लड़के सिकंदर और बालक नसीर (महमूद द्वितीय) क्रमशः गुजरात की गद्दी पर बैठे। परंतु जब मुजफ्फरशाह का वीर सुयोग्य द्वितीय पुत्र बहादुरशाह जो उस समय दिल्ली और पानीपत के आसपास था, अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर गुजरात के लौटा, तब वहाँ जुलाई ६, १५२६ ई० को सभी ने उसका स्वागत किया और वह गुजरात की राजगद्दी पर बैठा। इस प्रकार गुजरात के इतिहास में एक नए आक्रमणकारी अध्याय का प्रारंभ हुआ जिसकी प्रगति कुछ ही वर्षों में मालवा राज्य और सलहदी दोनों के ही लिए समान रूप से घातक हुई। उधर दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी के विरुद्ध निरंतर बढ़ रहे आंतरिक असंतोष और राणा सांगा जैसे शक्तिशाली स्वाधीन शासक के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर काबुल के मुगल शासक बाबर ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अप्रैल २०, १५२६ ई०[१८] को पानीपत के युद्ध

१७. 'जैन युग' वर्ष १ अंक ६ में प्रकाशित श्री अगरचन्द नाहटा के लेख 'मालवा के जैन इतिहास का एक आवरित पृष्ठ' में दिया गया पं० मतिसागर कृत 'मालवी ऋषि का सिम्झाय' का सारांश एवं लूकाशाह विषयक उद्धरण। तदनुसार देवास पर भी तब सलहदी का ही राज्य था, अतः बहुत करके उस समय देवास परगना सारंगपुर के अंतर्गत रहा होगा। अकबर के समय देवास परगना हंडिया सरकार के अंतर्गत था। आईन०, २, पृ० २१७।

१८. पानीपत के इस प्रथम युद्ध की तारीख अप्रैल २१, १५२६ ई० सर्वमान्य है, परंतु वह ठीक नहीं है। अपने आत्मचरित्र में बाबर ने इस युद्ध की तारीख शुक्रवार, रजब ८,६३२ ही दी है, जिसके अनुसार उक्त शुक्रवार को ईस्वी तारीख अप्रैल २०, १५२६, ही थी (बाबर०, २ पृ० ४७२)। तबकात० (२, पृ० २१ - २), बदौनी (१, पृ० ३४२) में भी यही वार और हिजरी तारीख ही है।

मूल ग्रंथ में दिया गया यह वार और हिजरी तारीख लेडन और अर्सकिन कृत बाबर के आत्मचरित्र के अंग्रेजी अनुवाद में भूल से छूट गए जिससे उनका पूरा विचार

क्षेत्र में निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें इब्राहीम लोदी खेत रहा और बाबर की पूर्ण विजय हुई। बाबर अब दिल्ली की सल्तनत का शासक बनकर भारत में अपने इस नए राज्य का समुचित विस्तार करने तथा उसे स्थायी और शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

बाबर ने अब अनुभव किया कि उत्तरी भारत में उसका वास्तविक प्रतिद्वंद्वी राणा सांगा ही था। इधर राणा सांगा ने एक बहुत बड़ी सेना के साथ बयाना की ओर बढ़कर फरवरी, १५२७ ई० के प्रारंभ में वहाँ के किले पर पुनः अधिकार कर लिया। इस समय राणा सांगा की सेना में राजस्थान और मालवा के प्रायः सभी प्रमुख राजा तथा स्वाधीन हिंदू शासक संमिलित थे। सलहदी और उसका पुत्र भूपतराय भी क्रमशः ३०,००० एवं ६,००० घुड़सवारों के साथ राणा सांगा की सेना में उपस्थित थे।[१९] राणा सांगा की यह सारी हलचल जानकर बाबर भी उसका सामना करने के लिए ससैन्य आगरा से रवाना होकर फरवरी १७, १५२७ ई० को सीकरी के पास आ डटा। राणा सांगा अब उसी ओर बढ़ रहा था। इसके कुछ ही दिन बाद खानवा के पास बाबर की सेना के प्रमुख सेनानायक अब्दुल अजीज तथा उसकी सहायता के लिए बाद में भेजी गई अन्य मुगल सेना को भी राणा सांगा ने बुरी तरह पराजित किया। अपनी इन्हीं पराजयों आदि से बाबर इस समय बेचैन और निराश हो रहा था। तब फरवरी २५, १५२७ ई० को बाबर ने भविष्य में कभी मदिरा न पीने का व्रत लिया। बहुत करके इसी समय बाबर ने सलहदी के द्वारा राणा सांगा के साथ संधि करने की बातचीत चलाई होगी, परंतु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।[२०] बाबर की कठिनाइयाँ बढ़ती ही जा रही थीं एवं युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर वह मार्च १२, १५२७ ई० को सीकरी से दक्षिण-पश्चिम दिशा में खानवा की ओर बढ़ा। राणा सांगा की सेना भी बाबर का सामना करने को तत्पर हुई। अंत में शनिवार, मार्च १६, १५२७ ई० के दिन खानवा के युद्ध-

किए बिना ही उस अनुवादग्रंथ में इस युद्ध की तारीख अप्रैल २१,१५२६ ई० दे दी गई (किंग०, २, पृ० १८५), और तदनंतर उसीके आधार पर वही गलत तारीख सर्वमान्य हो गई है।

१९. सलहदी और भूपतराय के घुड़सवारों की यह संख्या बाबर ने अपने आत्मचरित्र में दी है। बाबर०, २, पृ० ५६२, ५७३।

ओझा० के अनुसार बाबर द्वारा दी गई विरोधी सेनानायकों के सवारों की ये संख्याएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। ओझा० उदय०, १, पृ० ३७४ – ५ फु० नो०।

२०. इस संधि चर्चा का कोई उल्लेख बाबर के आत्मचरित्र या अन्य किसी फारसी इतिहास-ग्रंथ में नहीं है। परंतु राजस्थान की ख्यातों, आदि में मिलने वाले उल्लेखों के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६) एवं वीर० (२, पृ० ३६५) में इसका उल्लेख किया गया है। रशब्रुक विलियम्स (पृ० १५५ – १५६) ने इसे सर्वथा अमान्य किया है। परंतु युद्ध के पूर्व की अपनी सेना की निराशा का जो वर्णन बाबर ने अपने आत्मचरित्र में किया है उसे देखते हुए यह संधिचर्चा किसी भी प्रकार अनहोनी बात नहीं जान पड़ती है। ओझा, उदय०, २ पृ० ३७० – ३७१ फु० नो०।

क्षेत्र में दोनों सेनाएँ भिड़ गईं और भयंकर युद्ध हुआ।[२१] युद्ध में राणा सांगा आहत हुआ फिर भी युद्ध चलता ही रहा। अंत में मुग़ल सेना ने राजपूत सेना को घेर लिया और तभी मुगल तोपों के गोलों की वर्षा होने लगी। राजपूतों की हार हुई और रही सही राजपूत सेना युद्धक्षेत्र से भाग खड़ी हुई।[२२] घायल राणा सांगा कुछ समय बाद ठीक हो गया, परंतु तदनंतर वह अधिक काल तक जीवित नहीं रहा। जनवरी ३०, १५२८ ई० को उसकी मृत्यु हो गई और तब उसका पुत्र रत्नसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

सलहदी और उसका पुत्र भूपतराय[२३] इस युद्ध से बच निकले और वे अपने बचे-खुचे सेनानायकों तथा सैनिकों के साथ वापस मालवा लौटकर खानवा के युद्ध में हुई अपनी क्षति को पूरा करने में लग गए। उधर कुछ ही महीनों बाद वर्षा ऋतु की समाप्ति पर बाबर ने मेदिनी राय पर चढ़ाई कर चंदेरी के किले को जा घेरा। राजपूत वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आए और अंत में जनवरी ३०, १५२८ ई० के दिन उस सुविख्यात दुर्ग पर बाबर ने अधिकार कर लिया। बाबर का इरादा था कि चंदेरीविजय के बाद वह सलहदी के विरुद्ध चढ़ाई कर उसके अधीनस्थ रायसेन, भेलसा, सारंगपुर, आदि परगनों और गढ़ों को जीत ले। परंतु उन्हीं

२१. बाबर के आत्म-चरित्र में खानवा के युद्ध की हिजरी तारीख शनिवार, जमादि-उल-आखिर १३, ९३३ हि० दी है। आधुनिक गणना के अनुसार जमादि-उल्-आखिर १३ रविवार के दिन पड़ती है, अतः बाबर० (२, पृ० ५५८) में जो युद्ध की ईस्वी तारीख मार्च १७, १५२७ ई० दी है, वह ठीक नहीं है। हिजरी तारीखों की गणना में एकाध दिन का ऐसा भेद कोई अनहोनी बात नहीं है, एवं जहाँ वार भी दिया गया हो वहाँ वार के ही आधार पर उस घटना की ईसवी तारीख निश्चित करना अधिक ठीक होता है। पुनः बाबर० (२, पृ० ५६३) में उद्धृत शैख़ जैन के 'फ़तेहनामे' में तो युद्ध के दिन शनिवार होने का बहुत ही स्पष्ट उल्लेख है। अतः निश्चिततया युद्ध मार्च १६, १५२७ ई० को हुआ था।

२२. ख्यातों आदि के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६) एवं वीर० (२, पृ० ३६६) में लिखा मिलता है कि सलहदी तँवर, जो महाराणा की हरावल में था, राजपूतों को धोखा देकर ससैन्य बाबर से जा मिला। परंतु इसका उल्लेख किसी भी फ़ारसी इतिहासग्रंथ में नहीं है। बेवरिज (ए० रि०) एवं रशब्रुक विलियम्स (पृ० १५६) इसे सर्वथा अमान्य कर कपोल-कल्पित घोषित करते हैं। इस युद्ध के बाद बाबर ने सलहदी को कोई पुरस्कार नहीं दिया प्रत्युत वह स्वयं सलहदी के विरुद्ध चढ़ाई करना चाहता था (बाबर०, २, पृ० ५९८)। पुनः इस युद्ध के बाद भी सलहदी और राणा सांगा के उत्तराधिकारियों के संबंध बहुत ही घनिष्ट रहे जिससे भी यह स्पष्ट है कि सलहदी के बाबर से मिल जाने का यह प्रवाद सर्वथा अविश्वसनीय है। ओझा, उदय०, १, पृष्ठ ३७६–८ फुटनोट।

२३. खानवा के युद्ध में खेत रहनेवालों की जो सूची बाबर० (२, पृ० ५७३) में दी गई है उसमें सलहदी के पुत्र भूपतराय का भी नाम दिया है, परंतु यह कथन ठीक नहीं है। बाबर के आत्मचरित्र की कई प्रतियों में यह नाम नहीं है। किंग० (२, पृ० ३०६) में भी यह नाम भिन्न पाठांतर के रूप में दिया गया है।

दिनों बाबर को समाचार मिले थे कि अवध और पूरब के अफगानों ने विद्रोह कर मुगल सेना को लखनऊ से खदेड़ दिया एवं विवश होकर बाबर को सलहदी के विरुद्ध तब चढ़ाई करने का इरादा छोड़ देना पड़ा। फिर भी बाबर को सलहदी का ध्यान बराबर बना रहा और अक्तूबर, १५२८ ई० में जब वह ग्वालियर में था, तब पास में ही स्थित सलहदी के जन्मस्थान वाले गाँव में जाकर उसने वहाँ के नींबू तथा सदाफल के बागों को देखा था।[२४]

यों सलहदी पर बाबर के संभावित आक्रमण का खतरा टल गया। परंतु कुछ ही समय बाद मालवा में ही सुलतान महमूद खिलजी की अदूरदर्शिता से एक ऐसे दौर का प्रारंभ हुआ जो मालवा के लिए ही नहीं सलहदी के लिए भी सर्वथा घातक प्रमाणित हुआ। बहादुर शाह जब गुजरात की राजगद्दी पर बैठने को अहमदाबाद लौट रहा था तब उसका अनौरस भाई चाँद खाँ उसका साथ छोड़कर महमूद खिलजी की शरण में मांडू चला गया और वहाँ से वह बहादुरशाह के स्थान पर स्वयं गुजरात का सुलतान बनने का प्रयत्न करने लगा। महमूद खिलजी भी उसका सहायक हुआ जिससे बहादुर शाह महमूद खिलजी से बहुत ही रुष्ट हो गया एवं उसको दंड देने के लिए उचित अवसर की बाट देखने लगा।[२५]

उधर खानवा के युद्ध में राजपूतों की हार से मेवाड़ का प्रताप बहुत ही कम हो गया था और उसके कुछ ही समय बाद राणा सांगा की मृत्यु हो जाने से भी उसको और धक्का लगा। पुनः राणा सांगा के उत्तराधिकारी राणा रत्नसिंह तथा उसके सौतेले भाई विक्रमादित्य में भी आपसी विरोध चल रहा था। राणा सांगा के हाथों हुई अपनी पराजय महमूद खिलजी को अब भी बहुत खटक रही थी एवं राणा रत्नसिंह की इन सारी कठिनाइयों से लाभ उठाकर मेवाड़ को नीचा दिखाने के लिए वह उत्सुक हो उठा। अतः यद्यपि इस समय ऐसे उत्तेजन के कारण-स्वरूप मेवाड़ की ओर से कोई कार्यवाही नहीं हुई थी महमूद ने (संभवतः १५३० ई० के प्रारंभिक महीनों में) अपने एक शाहजादे और सेनानायक शर्जा खाँ को मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। इस सेना ने वहाँ जाकर चित्तौड़ के आसपास के कई एक परगनों को लूटा। राणा रत्नसिंह को मालूम था कि आपसी अनबन के कारण उस समय महमूद को गुजरात की ओर से कोई सहायता नहीं मिलेगी एवं सन् १५३० ई० की वर्षा ऋतु के बाद उसने भी एक बड़ी सेना के साथ मालवा पर चढ़ाई की। शिपला और बलावत गाँवों को लूटता हुआ वह सारंगपुर की ओर बढ़ा एवं उसके पास ही संभल नामक गाँव तक जा पहुँचा। उधर महमूद खिलजी के दुर्भाग्यवश बहादुर शाह भी मालवा की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित डूंगरपुर-बाँसवाड़ा के बागड़ प्रदेश की ओर बढ़ा चला आ रहा। अतः महमूद बड़े ही असमंजस में पड़कर व्याकुल हो उठा। अंत में उसने सिकंदर खाँ के पोष्य पुत्र मुइन खाँ को सतवास से तथा सलहदी को अपने सहायतार्थ बुलवाया, एवं राणा रत्नसिंह का सामना करने के लिए वह स्वयं ससैन्य उज्जैन की ओर बढ़ा। जब मार्ग में ही ये दोनों सेनानायक महमूद की सेवा में जा पहुँचे तब महमूद ने इन दोनों की बड़ी ही आवभगत की। मुइन खाँ को उसने बड़ा खिताब दिया तथा सलहदी को कई और

२४. बाबर०, २, पृ० ५९७-८, ५९४, ६१४।

२५. सिकंदरी०, पृ० १५०; फरिश्ता०, ४, पृ० १०२, २६५; तबकात०, ३, पृ० ३३०, ६१०।

परगने देकर उसको भी हर तरह प्रसन्न करने का भरसक प्रयत्न किया। किंतु महमूद के इस सारे असाधारण स्वागत-सत्कार और इन अनपेक्षित कृपाओं से ये दोनों ही सेनानायक बहुत सशंकित हो उठे कि कहीं महमूद उनकी जान का गाहक तो नहीं है तथा वे दोनों ही महमूद का साथ छोड़ कर चल दिए। सलहदी ससैन्य राणा रत्नसिंह के साथ जा मिला। तब तक बहादुर शाह भी बांसवाड़ा तक आ पहुँचा था एवं सबका ही ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। महमूद उज्जैन से लौटकर मांडू चला गया। उधर राणा रत्नसिंह भी सलहदी के साथ मालवा के इलाके को लूटता हुआ बहादुर शाह से मिलने के लिए बागड़ की ओर चला।[२६]

जनवरी १६, १५३१ ई० को सिकंदर खाँ और सलहदी का पुत्र, भूपतराय, बहादुरशाह की सेवा में पहुँचे। अब बहादुर शाह ससैन्य मालवा की ओर बढ़ने लगा और कुछ दिनों बाद जब करजी की घाटी के पास पहुँचा तब राणा रत्नसिंह और सलहदी भी बहादुर शाह के पास आ गए। कुछ दिन वहाँ ठहरने के बाद रत्नसिंह तो चित्तौड़ को लौट गया, परंतु सलहदी ने बहादुर शाह की सेवा में रहना स्वीकार कर लिया एवं वह बहादुर शाह के साथ ही बना रहा। इन्हीं दिनों महमूद खिलजी ने बहादुर शाह को कहला भेजा था कि जल्दी ही वह स्वयं उसकी सेवा में उपस्थित होगा, परंतु कई सप्ताह बीतने पर भी जब महमूद खिलजी नहीं आया तब बहादुर शाह स्वयं ससैन्य देपालपुर, धार और नालछा होता हुआ मांडू जा पहुँचा तथा उसका घेरा डाल दिया। कोई सवा महीने तक यह घेरा चलता रहा और अंत में शाबान २६, ९३७ हि० (अप्रैल १७, १५३१ ई०) के दिन रात्रि के समय आक्रमण कर बहादुर शाह ने मांडू के किले पर अधिकार कर लिया। महमूद खिलजी सकुटुंब कैद कर लिया गया, एवं कुछ दिनों बाद उसे चांपानेर ले जाते हुए राह में दोहद के आसपास मार डाला गया। यों मालवा के खिलजी सुलतान वंश का अंत हो गया।[२७]

२६. सिकंदरी०, पृ० १६५; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६६; तबकात०, ३, पृ० ३४९-५०, ६१०-११।

ओझा० (उदय०, २, पृ० ३९० - १) के अनुसार शर्जा खाँ के प्रारंभिक आक्रमण से पहले ही सलहदी रत्नसिंह से जा मिला था, परंतु यह ठीक नहीं। कोई भी इतिहासकार इस कथन का समर्थन नहीं करता।

२७. सिकंदरी, पृ० १६५ - १६८; तबकात०, ३, पृष्ठ ६११ - ६१४, ३५०, ३५४; ब्रिग्ज०, ४, पृष्ठ २६७ - २६९, ११३ - ११५।

ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २४१, २५२, २६१, २६९) की पाद - टिप्पणियों में 'मुंतखब - उत् - तवारीख' से दिए गए उल्लेख अलबदौनी कृत इसी नाम के सुप्रसिद्ध इतिहासग्रंथ के नहीं हैं। ब्रिग्ज द्वारा उद्धृत ग्रंथ 'अहसन - उत् - तवारीख' के नाम से भी सुज्ञात है। उसका लेखक हसन बेग बिन मुहंमदी बेग खाकी शीराजी था। इस ग्रंथ की एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में भी प्राप्य है। इलियट० ६, पृष्ठ २०१ - ६; रियु०, ३, पृष्ठ ८८६ - ७।

इस समय की उपर्युक्त घटनावली प्रायः सभी फारसी आधारग्रंथों में एक सी ही दी हुई है, परंतु उनकी तिथि - तारीखों में अवश्य ही बहुत भिन्नता पाई जाती है। 'तारीख - इ - बहादुरशाही' का लेखक इस चढ़ाई के समय बहादुरशाह के साथ था,

अब मालवा सल्तनत के अधिकार के सारे ही प्रदेश पर बहादुर शाह का आधिपत्य हो गया। उसमें से बहुत सा भाग उसने विभिन्न अमीरों को बाँट दिया। सलहदी ने बहुत पहले ही बहादुर शाह की अधीनता स्वीकार कर ली थी एवं उज्जैन तथा सारंगपुर की सरकारें और रायसेन का किला उसे जागीर में दे दिए गए। आष्टा की सरकार और भेलसा की जागीरें भी उसीके अधिकार में बनी रहीं। वर्षाऋतु प्रारंभ होने पर जुलाई १५३१ ई० में सलहदी बहादुर शाह से बिदा लेकर अपनी राजधानी रायसेन को लौट गया।[२८] सलहदी का पुत्र भूपतराय तब भी बहादुरशाह की सेवा में मांडू ही बना रहा।

वर्षाऋतु की समाप्ति के बाद भी जब सलहदी लौटकर बहादुर शाह की सेवा में उपस्थित नहीं हुआ तब बहादुरशाह ने नवंबर १५३१ ई० में अपने एक प्रमुख अमीर को[२९] सलहदी के पास भेजा कि वह सलहदी को अपने साथ लिवा लाए। परंतु तब भी सलहदी बहादुर शाह की सेवा में जाने से आनाकानी ही करता रहा। यों भी इधर यह जानकर कि सलहदी ने अनेकानेक मुसलमान औरतों को अपने रनिवास में रख रखा था, जिनमें से कई पहले मालवा के सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी के रनिवास में थीं, बहादुरशाह सलहदी से बहुत ही अप्रसन्न

एवं मुख्यतः 'तारीख - इ - बहादुरशाही' के आधार पर सिकंदरी में दिया गया विवरण तथा तारीखों को यहाँ स्वीकार किया गया है।

तबकात० (३, पृष्ठ ६१२, ३५३) के अनुसार शाबान ६, ९३७ हि० (मार्च २८, १५३१ ई०) के दिन मांडू पर बहादुर शाह का अधिकार हुआ था। ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६८, ११५) में भी मांडूविजय की यही तारीख शाबान ९ दी गई है। परंतु फरिश्ता० में मालवा के सुलतानों का विवरण देते हुए जहाँ शाबान ९ लिखी है (पृष्ठ २६९), वहाँ पूर्व में गुजरात के सुलतानों के विवरण में मांडूविजय की तारीख शाबान २९ दी गई है (पृष्ठ २१८)।

कैंब्रिज० (३, पृ० ३६६) के अनुसार मार्च १७, १५३१ ई० (रजब २८, ९३७ हि०) के दिन मांडू जीता गया था, परंतु किस आधार पर यह तारीख स्वीकार की गई इसका कोई पता नहीं लग पाया है।

महमूद की हत्या की तारीख के बारे में भी मतभेद है। सिकंदरी० (पृ० १६७ - ८) के अनुसार मुहर्रम ९३८ हि० (सितंबर १५३१ ई०) में महमूद मारा गया। परंतु तबकात० (३, पृ० ६१४) और ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६९) के अनुसार शाबान २४ की रात (शनिवार, अप्रैल २, १५३१) को वह मारा गया था। ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६८ – ९) में दिया गया हिजरी सन् ९३२ स्पष्टतया गलत है क्योंकि उसीमें पहले (४, पृष्ठ ११५) सही सन् ९३७ हिजरी दिया गया है।

२८. तबकात०, ३, पृ० ६१५; ब्रिग्ज०, ४, पृष्ठ ११५; सिकंदरी०, पृ० १६८, १७०।

२९. इस अमीर का नाम सिकंदरी० (पृष्ठ १७०) के अनुसार 'मलिक अमीन' अथवा 'अमीन नस' (बेली० पृ० ३५६), फरिश्ता० के अनुसार 'नसीर' (ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७) एवं तबकात० के अनुसार 'नसीर' (३, पृ० ३५६) अथवा 'अमीर नसीर' (३, पृ० ३५६ फु० नो०; ६१५) था। कैंब्रिज० (३, पृ० ३२७) में उसका नाम 'नस्सन खाँ' लिखा है।

हो गया था।[३०] परंतु अब उसे अपने दरबार में नहीं आते देखकर उसके प्रति बहादुरशाह का रोष और भी अधिक बढ़ गया। पुनः जब उक्त अमीर ने उसे यह भी लिख भेजा कि सलहदी भागकर राणा रतनसिंह के पास मेवाड़ जाने की भी सोच रहा है, तब तो बहादुर शाह और भी व्यग्र हो उठा। उसने मांडू की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की और वहाँ का शासनभार अपने वजीर इख्तियार खाँ को सौंपकर यह घोषित किया कि वह गुजरात को लौट जाएगा। अतः वह तदर्थ ससैन्य मांडू से चलकर दिसंबर १५, १५३१ ई० को नालछा पहुँचा।[३१]

परंतु भूपतराय को तब भी इस बात की पूरी आशंका थी कि बहादुरशाह उसके पिता सलहदी को यों आसानी से कदापि नहीं छोड़ेगा; पुनः बहादुरशाह से वह बहुत अधिक आतंकित भी था। अतः भूपतराय ने उज्जैन जाने के लिए बहादुर शाह की आज्ञा चाही जिसमें वहाँ ठहरे हुए अपने पिता सलहदी को उचित आश्वासन देकर वह उसे बहादुरशाह की सेवा में उपस्थित कर दे। बहादुर शाह ने स्वीकृति दे दी और भूपतराय उज्जैन को चल पड़ा। तब बहादुर शाह भी नालछा से चलकर दिसंबर २५, १५३१ ई० को धार पहुँचा। और उसी दिन शिकार के बहाने स्वयं उज्जैन की ओर देपालपुर तथा सादलपुर तक चला गया।[३२]

३०. ब्रिग्ज० (४, पृ० ११७) के अनुसार यह कारण तो एक बहाना मात्र था। वास्तविक बात यह थी कि सलहदी ने पिछले वर्षों में उज्जैन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और अब बहादुरशाह उज्जैन को सलहदी से छीनकर अपने अधिकार में करना चाहता था। परंतु फरिश्ता० (पृ० २१९) में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है। ब्रिग्ज का यह कथन ठीक नहीं क्योंकि सिकंदरी (पृ० १७०) के अनुसार उज्जैन का परगना बहादुरशाह ने स्वयं ही सलहदी को दिया था।

३१. सिकंदरी० पृ० १७० – १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५५ – ३५६; ब्रिग्ज० ४, पृ० ११६ – ११७।

बहादुरशाह के नालछा पहुँचने की कोई तारीख सिकंदरी० में नहीं दी है। तबकात० (३, पृ० ३५६) तथा फरिश्ता० (पृ० २१९) में इसकी तारीख जमादि - उल - अव्वल २५, ९३८ हि० (गुरुवार, जनवरी ४, १५३२ ई०) दी है, जो आगे का सारा विवरण देखते हुए कदापि ठीक नहीं जान पडती है। ब्रिग्ज का भी यही मत रहा होगा, एवं उसने इसे बदल कर जमादि - उल - अव्वल ५ कर दिया है (४, पृ० ११७)। सब बातों पर विचार करने के बाद ब्रिग्ज का वह संशोधन उचित एवं स्वीकार्य जान पड़ता है।

परंतु जमादि - उल - अव्वल ५, ९३८ हि० को शुक्रवार, दिसंबर १५, १५३१ ई० था, एवं वही तारीख दी जा रही है।

३२. सिकंदरी० पृ० १७०; तबकात०, ३, पृ० ३५६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७।

सिकंदरी० (पृ० १७०) में इस समय बहादुरशाह के धार पहुँचने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है और न तत्संबंधी कोई तारीख ही दी है। तबकात० (३, पृ० ३५६) तथा फरिश्ता० (पृ० २१९) के अनुसार जमादि - उल - अव्वल १५, ९३८ हि० (दिसंबर २५, १५३१ ई०) को बहादुरशाह धार पहुँचा था। परंतु ब्रिग्ज ने इस

यह सब देख सुनकर सलहदी को तो पूरा विश्वास हो गया कि बहादुरशाह अवश्य ही गुजरात को लौट रहा था, एवं ऐसे समय उसके दरबार में पहुँचकर उससे प्रचुर पुरस्कार पाने का उसे लालच हो आया। अतः भूपतराय को तो उसने उज्जैन में ही पीछे छोड़ा तथा उसको लिवा जाने को आए हुए अमीर को साथ लेकर सलहदी बड़ी तत्परता के साथ चल पड़ा और बहुत करके दिसंबर २६, १५३१ ई० को सादलपुर में वह बहादुर शाह की सेवा में उपस्थित हुआ। तब उक्त अमीर ने बहादुर शाह को बताया कि सलहदी पर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं किया जा सकता; बहुत सा द्रव्य, खंभात परगने की जागीर तथा सौ अरबी घोड़े पुरस्कार में दिए जाने का लालच देने पर ही वह दरबार में आया था; और इस बार वहाँ से लौटने के बाद फिर कभी वह पकड़ में नहीं आ सकेगा। दूसरे दिन लौटकर बहादुरशाह धार पहुँचा और वहाँ के किले में उसने अपना डेरा डाला। सलहदी भी साथ ही धार आया था एवं उसे भी धार के किले में ठहराया गया। इने-गिने पूरबिया साथी ही तब वहाँ उसके साथ थे अतः उचित अवसर देखकर दिसंबर २७, १५३१ ई० के दिन सलहदी और उसके दो साथियों को कैद कर लिया गया।[33]

सलहदी के यों कैद हो जाने पर उसके साथी सैनिक धार से भागकर भूपतराय से जा मिलने को उज्जैन की ओर चले। बहादुरशाह ने भी अब बड़ी ही तत्परता से कार्यवाही प्रारंभ की। उसी दिन संध्या होते-होते उसने इमाद-उल-मुल्क को भूपतराय के विरुद्ध भेजा और एक पहर रात बीतते-बीतते वह स्वयं भी ससैन्य उज्जैन की ओर चल पड़ा। सादलपुर होता हुआ वह दूसरे दिन उज्जैन पहुँचा, तब वहाँ इमाद-उल-मुल्क ने बहादुरशाह को सूचना दी कि इमाल-उल्-मुल्क के उज्जैन पहुँचने से पहले ही भूपतराय वहाँ से भागकर चित्तौड़ चला गया। तब बहादुरशाह ने उसी दिन वहीं आष्टा का

तारीख को बदल कर जमादि-उल्-अव्वल १६ (दिसंबर २६, १५६१ ई०) कर दिया है, जो आगे की घटनाओं की तारीखों को देखते ठीक नहीं जान पड़ता।

सिकंदरी० में केवल देपालपुर का नाम है परंतु तबकात० एवं फरिश्ता० (पृ० २१६) में उसके साथ ही सादलपुर का भी उल्लेख है। सादलपुर एवं देपालपुर धार से क्रमशः १३ और २४ मील उत्तर पूर्व में हैं।

ब्रिग्ज० (४, पृ० ११७) में तो इनके स्थान पर मैंसरोड़ (मेवाड़) तथा शुजालपुर के नाम दिए हैं, जो बिलकुल गलत एवं अमान्य हैं।

३३. सिकंदरी०, पृ० १७० – २; तबकात० ३, पृ० ३५६ – ७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७-८। केवल सिकंदरी० ने ही सलहदी के कैद किए जाने की तारीख दी है।

बेली० (पृ० ३५७) में इसका कोई उल्लेख नहीं है कि सलहदी को कहाँ कैद किया गया था। प्रत्युत सिकंदरी० (पृ० १७१) में यह लिखा है कि सलहदी को नालछा के राजमहल ने कैद किया गया था। परंतु सिकंदरी० का यह अनुवाद ठीक नहीं है। मिरात० (पृ० २५१) में किसी नगर विशेष का नाम नहीं देकर केवल 'उसी मुकाम' का ही उल्लेख है जो वहाँ के संदर्भ को देखते हुए 'धार' ही हो सकता है, 'नालछा' नहीं। तबकात० और ब्रिग्ज० के अनुसार उसे धार में ही कैद किया गया था।

परगना हबीब खाँ को वापस दे दिया और उज्जैन का परगना दरिया खाँ को जागीर में दिया। तदनंतर वहाँ से तेजी से आगे बढ़ता हुआ वह सारंगपुर पहुँचा और वहाँ कुछ दिन ठहरा। सारंगपुर का परगना मल्लू खाँ को दे दिया गया।[३४] सारंगपुर से चलकर बहादुर शाह ससैन्य भेलसा पहुँचा, तब वहाँ उसे ज्ञात हुआ कि मेवाड़ के राणा से सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए भूपतराय तो चित्तौड़ गया और उधर सलहदी का भाई लखण मसेन (लक्ष्मणसिंह) रायसेन के किले को भरसक सुसज्जित कर युद्ध के लिए तैयारियाँ कर रहा था। भेलसा में कुछ दिन ठहरकर बहादुरशाह ने वहाँ अपना पूर्ण आधिपत्य ही नहीं स्थापित किया, वरन् वहाँ के कई मंदिरों को भी नष्ट-भ्रष्ट किया। तदनंतर मंगलवार, जनवरी १६, १५३२ ई० को बहादुरशाह भी ससैन्य भेलसा से चल पड़ा और दूसरे दिन रायसेन के किले के निकट जा पहुँचा।[३५]

किले के सामने तब पड़ाव कर रही बहादुरशाह की सेना पर आक्रमण कर उसे मार भगाने को राजपूतों का एक दल किले से निकला और दोनों सेनाओं में गहरी झड़प हो गई, परंतु अंत में राजपूत विफल होकर किले को लौट गए। जनवरी १८, १५३२ ई० को बहादुर

३४. सिकंदरी०, पृ० १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५७-८; ब्रिग्ज, ४, पृ० ११८।

सिकंदरी० में 'हबीब खाँ' के स्थान पर 'हसन खां' दिया है, जो ठीक नहीं। मिरात० (पृ० २५१) में भी 'हबीब खाँ' ही लिखा है।

तबकात० (३, पृ० ३०१-२) के अनुसार सन् १५१७ ई० में पूरबियों की शक्ति बढ़ने से पहले आष्टा परगना हबीब खाँ के ही अधिकार में था।

३५. सिकंदरी० पृ० १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५८-६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११८।

तबकात० (३, पृ० ३५६) के अनुसार बहादुरशाह ने इसी समय भेलसा में मसजिदें आदि बनवाईं और तदर्थ वह तीन दिनों तक वहाँ ठहरा रहा।

भेलसा से रवाना होने एवं रायसेन पहुँचने की तारीखें सिकंदरी० (पृ० १७१) में क्रमशः जमादि-उल्-आखिर १७ एवं १८, ९३८ हि० (जनवरी २६ एवं २७, १५३२ ई०) है। बहुत करके इसीको लेकर कैंब्रिज (३, पृ० ३२८) में बहादुरशाह के जनवरी २६, १५३२ ई० को रायसेन पहुँचने का लिखा है। परंतु जिस तत्परता एवं शीघ्रता के साथ बहादुरशाह धार से रवाना होकर उज्जैन होता हुआ यहाँ तक पहुँचा था, उसे देखते हुए भेलसा में उसके जनवरी २६, १५३२ ई० तक ठहरने की बात मानने योग्य नहीं जान पड़ती है।

तबकात० (पृ० ३५६) के अनुसार ये घटनाएँ क्रमशः जमादि-उल्-अव्वल ७ एवं बुधवार ८, ९३८ हि० को घटी थी। फरिश्ता० (पृ० २२०) के अनुसार जमादि-उल्-अव्वल ८ को बहादुर शाह ने रायसेन में पड़ाव डाला (ब्रिग्ज ने यहाँ कोई तारीख नहीं दी)। स्पष्टतया इन दोनों ही ग्रंथों में महीना लिखते समय भूल हो गई है; 'जमादि-उल्-आखिर' होना चाहिए था। यह संशोधन कर देने पर तबकात० में दिया वार और तिथि ठीक तरह मिल जाते हैं एवं इस संशोधन के साथ तबकात० में दी गई तारीखें स्वीकार हो जाती है।

शाह ने रायसेन किले का घेरा डाला। अब उसपर तोपों की गोलाबारी होने लगी और यदाकदा सेना भी यत्रतत्र आक्रमण करने लगी।[36]

बहादुरशाह की सेना के साथ कैदी सलहदी भी तब रायसेन तक पहुँच गया था। घेरे की व्यवस्था, बहादुर शाह की सैनिक शक्ति और बारंबार आक्रमणों से निरंतर हो रही किले की क्षति, आदि को देखकर रायसेन किले पर बहादुरशाह की जीत सलहदी को सुनिश्चित जान पड़ी। तब सर्वथा निराश होकर सलहदी मुसलमान बनने एवं रायसेन का किला बहादुरशाह के अधिकार में दे देने को तैयार हो गया। बहादुर शाह के स्वीकृति देने पर सलहदी ने विधिवत् इस्लाम धर्म स्वीकार किया[37]; तब बहादुरशाह ने उसे कैद से मुक्त कर संमानित किया तथा उसका नाम बदलकर अब 'सलहउद्दीन' रख दिया गया। तदनंतर अल्पकालीन संधि की व्यवस्था कर सलहदी ने अपने भाई लखमणसेन से भेंट की और आत्मसमर्पण कर रायसेन का किला बहादुर शाह को सौंप देने का आग्रह किया, किंतु लखमणसेन इसके लिए तैयार नहीं हुआ। मेवाड़ के राणा की सेना लेकर भूपतराय के शीघ्र ही सहायतार्थ लौटने की आशा उसे तब भी लगी हुई थी एवं उसकी प्रतीक्षा में कुछ दिन और आत्मसमर्पण न करना ही उसे उचित लगा, तथा अंततः सलहदी भी इस बात से सहमत हो गया। परंतु तदर्थ आवश्यक अवकाश प्राप्त करने के लिए अगले दिन दोपहर तक किला सौंप देने का वादा कर लखमणसेन किले को वापस लौट गया। दूसरे दिन भी जब लखमण सेन ने आत्मसमर्पण नहीं किया तब अपने प्रति बहादुर शाह का विश्वास बनाए रखने के उद्देश्य से सलहदी ने किले के संमुख जाकर तदर्थ बहुत कुछ कहा सुना, परंतु उसका कोई भी परिणाम निकलने वाला था ही नहीं।

इसके कुछ ही दिन बाद पूरबिया राजपूत घुड़सवारों के एक दल के साथ बहादुरशाह के सैनिक दल की मुठभेड़ हो गई जिसमें अनेक घुड़सवार काम आए और यह समाचार भी फैल गया कि राजपूत घुड़सवारों के दल का सेनानायक सलहदी का छोटा पुत्र, भी उस युद्ध में मारा गया। यह समाचार सुनकर सलहदी को बहुत ही खेद हुआ और इसी कारण वह अचेत भी हो गया। बहादुर शाह यों भी पहले ही सलहदी पर बहुत ही कुपित था और अब तो उसके क्रोध की कोई सीमा ही नहीं रही। बहादुर शाह को अब विश्वास हो गया कि सलहदी उसको धोखा दे रहा है एवं सलहदी को पुनः कैद कर बुरहान-उल्-मुल्क को आदेश दिया कि उसे ले जाकर मांडू के किले में कैद रखे।[38]

३६. सिकंदरी० पृ० १७१ – २; तबकात०, ३, पृ० ३५९ – ६०; फ्रिग्ज० ४, पृ० ११८-११९।

३७. कैंब्रिज० (३, पृ० ३२८) में लिखा है कि सलहदी ने धूर्ततापूर्वक मुसलमान बनने का छल कपट कर बहादुर शाह को संतुष्ट किया। परिस्थितियों से पूर्णतया विवश होकर तब अपने कुटंबियों को बचाने तथा आगे भी अपना महत्व बनाए रखने के लिए ही सलहदी ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, यह तो स्पष्ट ही है। परंतु आधारग्रंथों से कहीं भी यह विश्वास नहीं हो पाता है कि सलहदी प्रारंभ से ही पुनः हिंदू बनने की सोच रहा था।

३८. सिकंदरी०, पृ० १७२-३, १७५; तबकात०, ३, पृ० ३६० – २; फ्रिग्ज०, ४, पृ० ११९ – २०।

मेवाड़ की सेना को साथ लेकर आ रहे भूपतराय की राह रोकने के लिए अब बहादुर शाह ने मुहम्मद खाँ और इमाद - उल् - मुल्क को ससैन्य उत्तर पश्चिम की ओर भेजा। बरसिया पहुँचने पर उन्हें पता लगा कि मेवाड़ का राणा विक्रमाजीत और भूपतराय एक बहुत बड़ी सेना लेकर बढ़े आ रहे हैं। सलहदी का पुत्र पूरणमल भी खेरोड़ से भागकर भूपतराय से जा मिला था। इस सबकी सूचना मिलने पर बहादुरशाह ने इख्तियार खाँ को रायसेन किले के घेरे का काम सौंपा और वह स्वयं बड़ी तेजी से दिन रात चलकर दूसरे ही दिन राणा के विरुद्ध भेजी गई अपनी सेना के साथ जा मिला। राणा को जब बहादुरशाह के आ पहुँचने का पता लगा तब उसका सामना करने का उसे साहस नहीं हुआ और भूपतराय के साथ वह भी ससैन्य चित्तौड़ को वापस लौट गया। बहादुरशाह ने कुछ दूर तक उसका पीछा भी किया परंतु बाद में लौटकर वह रायसेन चला आया।[३९]

सिकंदरी० के अनुसार लखमण सेन को बहादुरशाह के पड़ाव में ही बुलवा लिया गया था; परंतु तबकात० एवं ब्रिग्ज में लिखा है कि सलहदी को साथ लेकर बहादुरशाह स्वयं रायसेन के किले तक गया और वहाँ लखमणसेन को बुलवा लिया था, तब वहाँ सलहदी की उसके साथ बातचीत हो गई।

सिकंदरी० के अनुसार सलहदी के छोटे (ब्रिग्ज के अनुसार ज्येष्ठ) पुत्र के नेतृत्व में राजपूत घुड़सवारों के इस दल ने (रायसेन से ३२ मील उत्तर - पश्चिम में) बरसिया स्थित बहादुर शाह की सैनिक चौकी पर हमला किया था। किंतु तबकात० एवं ब्रिग्ज० के अनुसार भूपतराय को सैनिक सहायता के साथ शीघ्रातिशीघ्र रायसेन लाने के लिए ही इस दल को लखमणसेन ने रायसेन से भेजा था और जाते समय राह में बहादुरशाह की सेना के दल के साथ यह मुठभेड़ हो गई।

सिकंदरी० के अनुसार सलहदी का यह छोटा लड़का वस्तुतः बच निकला और वहाँ से ही वह सीधा मेवाड़ के राणा और भूपतराय के पास चला गया था। उसकी मृत्यु का मिथ्या समाचार उस समय फैल गया था। किंतु तबकात० और ब्रिग्ज० के अनुसार वह वस्तुतः युद्ध में काम आया एवं उसका सिर काटकर बहादुरशाह के पास भेजा गया था।

३९. सिकंदरी०, पृ० १७३ – ४; तबकात०, ३, पृ० ३६५ – ६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२०–१; ओझा०, उदय०, २, पृ० ३१४ – ५।

ब्रिग्ज० (४, पृ० ११८) के अनुसार बहादुरशाह ने इमाद - उल - मुल्क को भेलसा से ही भेज दिया था। खेरोड़ नामक यह स्थान कहाँ था इसका ठीक निर्णय नही किया जा सका। अन्यत्र यह नाम 'कहराड़', 'खिराड़' और 'केहरला' भी लिखा मिलता है। इस समय मेवाड़ का राणा विक्रमाजीत था जो सन् १५३१ ई० के पूर्वार्ध में ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठ चुका था। परंतु सिकंदरी० के लेखक को न तो इसकी स्पष्ट जानकारी थी और न राणा रत्नसिंह के साथ विक्रमाजीत के ठीक संबंध का ही उसे सही ज्ञान था, अतः इस प्रसंग में विक्रमाजीत और मेवाड़ के राणा विषयक सिकंदरी० (पृ० १७२–३) के उल्लेख बहुत ही भ्रांपूतियाँ है।

अब बहादुरशाह ने यथासंभव शीघ्र ही रायसेन के किले को अपने अधिकार में कर लेने का निश्चय कर लिया था, अतः वहाँ वापस लौटते ही रायसेन के किले के घेरे को वह पूरी तत्परता से चलाने लगा। उधर लखमणसेन आदि को मेवाड़ के राणा या भूपत राय से किसी प्रकार की सैनिक सहायता प्राप्त होने की अब कोई भी आशा नहीं रह गई थी। अतः पूर्णतया निराश और विवश होकर अप्रैल, १५३२ ई० के उत्तरार्द्ध में लखमण सेन ने बहादुर शाह से निवेदन कराया कि सलहदी को रायसेन बुलवा लिया जाए जिससे उसकी उपस्थिति में वह रायसेन का किला बहादुर शाह के अधिकार में कर सके। रायसेन के किले में तब सलहदी के रनिवास में कोई सात सौ से भी अधिक मुसलमान स्त्रियाँ रह रही थीं और बहादुरशाह को पूरी आशंका थी कि यदि अंत में युद्ध हुआ तो राजपूत जौहर कर उन सबको जीवित ही जला देंगे, अतएव उनकी जान बचाने के हेतु बहादुरशाह स्वयं उत्सुक था कि बिना युद्ध के ही रायसेन के किले पर उसका अधिकार हो जाए। उसने लखमण सेन की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उचित आदेश पाकर बुरहान-उल्-मुल्क भी शीघ्र ही उसे मांडू से वहाँ वापस ले आया। तब लखमण सेन स्वयं बहादुरशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और किले को खाली कर देने का वादा किया तथा उसे कार्यान्वित करने को वह वापस किले पर लौट गया। अब किले को खाली कर देने के आयोजन होने लगे। अंत में उसने सलहदी की पटरानी, दुर्गावती की ओर से बहादुरशाह से निवेदन कराया कि सलहदी को किले पर जाने की आज्ञा दी जाए जिससे वह अपनी रानियों, अपने रनिवास की सभी स्त्रियों तथा अपने परिवार के अन्य लोगों को साथ लेकर किले से उतार लाए। बहादुरशाह ने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली और मलिक शेर अली को सलहदी के साथ किले पर भेज दिया।[४०]

जब सलहदी किले में अपने महल में पहुँचा तब लखमण सेन आदि के पूछने पर उसने बताया कि रायसेन के किले तथा आसपास के प्रदेश के बदले में उसे बड़ोदा का नगर और उसके आसपास का परगना दिया जाएगा, एवं भविष्य में उसके और भी कृपान्वित होने की पूरी आशा है। इसपर लखमणसेन आदि के साथ ही उसकी पटरानी रानी दुर्गावती ने भी उसकी बहुत ही भर्त्सना की और अंत में रानी दुर्गावती ने कहा—"ओ सलहदी! तुम्हारे जीवन का अंतकाल निकट ही है। क्यों अब अपने गौरव और मान-मर्यादा को नष्ट करते हो? हमने तो यह निश्चय कर लिया है कि हम स्त्रियाँ जौहर कर चिता में जल जाएँगी और हमारे वीर पुरुष लड़ते हुए खेत रहेंगे। अगर तुम में कुछ भी लज्जा शेष है तो हमारा साथ दो।"

सिकंदरी०, तबकात० और फ़रिश्ता० (पृ० २२१) के अनुसार पूरणमल के साथ इस समय २,००० घुड़सवार थे, परंतु ब्रिग्ज० (४, पृ० १२१) में इनकी संख्या दस हजार लिखी है।

फरिश्ता० (पृ० २२०) के अनुसार राणा एवं भूपतराय की इस सेना की संख्या चालीस हजार थी परंतु ब्रिग्ज ने यह संख्या बिलकुल ही छोड़ दी है, और कहीं अन्यत्र भी इसका समर्थन नहीं मिलता।

विक्रमाजीत और भूपतराय का पीछा करते हुए इस समय बहादुरशाह के चित्तौड़ के पास पहुँच जाने की बात बहुत-कुछ अत्युक्तिपूर्ण ही प्रतीत होती है।

४०. सिकंदरी०, पृ० १७४; तबकात०, ३, पृ० ३६५-६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२१-२।

तब सलहदी का भी इरादा बदल गया और लखमण सेन आदि का साथ देते हुए वह युद्ध में मर-मिटने को वह उतारू हो गया। मलिक अली शेर ने सलहदी को समझाने का विफल प्रयत्न किया और तदनंतर वह वापस लौट गया।

रायसेन किले में जौहरचिता जल उठी, और तब दूसरी रानियों एवं अन्य सभी स्त्रियों के साथ रानी दुर्गावती तथा अपने दो बच्चों को लिए भूपतराय की पत्नी ने भी उसमें प्रवेश किया। अन्य राजपूतों की स्त्रियाँ भी उसी जौहरचिता में जल मरीं। सलहदी के रनिवास की सभी मुसलमान स्त्रियों को भी उस जौहर - चिता में जल मरने को बाध्य किया गया और उनमें एक ही किसी प्रकार बच निकली। तदनंतर सलहदी, लखमणसेन और उनके सभी साथी मरने को कृतनिश्चय बहादुर शाह की सेना पर टूट पड़े तथा वीरतापूर्वक लड़ते हुए सभी वहाँ खेत रहे। यों रमजान, ९३८ हि० के अंतिम दिन (सोमवार, मई ६, १५३२ ई०) रायसेन किले में यह जौहर हुआ और उसी दिन सलहदी भी लड़ता हुआ खेत रहा।[४१]

रायसेन के किले पर बहादुर शाह का अधिकार हो गया और तब उसने रायसेन का किला और भेलसा, चंदेरी आदि का सारा प्रदेश जो तब भी सलहदी के अधिकार में था, काल्पी के भूतपूर्व शासक सुलतान आलम लोदी को दे दिए। कुछ समय बाद भूपत राय पुनः बहादुर शाह की सेवा में पहुँच गया, परंतु पूरणमल तब भी चित्तौड़ में ही बना रहा। फरवरी १३, १५३७ ई० को दीव में बहादुर शाह की मृत्यु हुई और तब गुजरात के सुलतानों का मालवा पर कोई आधिपत्य नहीं रह गया। अतः तब मालवा का प्रमुख अधिकारी मल्लू खाँ कादिरशाह नाम से मालवा का सुलतान बन बैठा और भेलसा से लेकर नर्मदा नदी तक के सारे प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसे मालवा के ही पुराने आमीरों में बाँट दिया। तब भूपतराय और पूरणमल ने

४१. सिकंदरी० पृ० १७४ – ५; तबकात०, ३७ पृ० ३६६ – ७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२१, – २,।

इस समय लखमण सेन का साथ देने और अंतिम दिन सलहदी के साथ खेत रहने वालों में ताज खाँ भी था। सिकंदरी० में अवश्य ही उसका कोई उल्लेख नहीं है, परंतु तबकात० (३, पृ० ३६५) के अनुसार ताज खाँ का परिवार भी तब रायसेन के किले पर था। यह ताज खाँ कौन था, कैसे वह रायसेन पहुँचा, आदि के बारे में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। बेवरिज के मतानुसार मुसलमानी नाम होते हुए भी वह वस्तुतः हिंदू ही था (ए० रि०); परंतु यह उसका अनुमान ही जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ किसी आधार का उल्लेख नहीं है।

रायसेन किले के इस जौहर तथा सलहदी के अंतिम युद्ध का विवरण लिखने के बाद मिरात० (पृ० २५६) में लिखा है कि 'यह घटना रमजान, ९३८ हि० के अंत में हुई थी।' सिकंदरी० (पृ० १७५) में केवल रमजान महीने का उल्लेख है, उसकी कोई निश्चित तारीख का निर्देश नहीं किया गया है। बेली० (पृ० ३६५) में रमजान महीने की अंतिम तारीख का उल्लेख कर तदनुसार ईसवी तारीख मई १०, १५३८ ई० दी है जो ठीक नहीं है। तबकात० (३ पृ० ३६५) में कोई निश्चित तारीख न देकर यही लिखा है कि रमजान के लगभग लखमन सेन ने यह अंतिम समझौतावार्ता प्रारंभ की थी।

वापस लौटकर रायसेन किले और आसपास के प्रदेश पर पुनः अपना अधिकार कर लिया तथा उन्होंने कादिरशाह का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।[४२]

यों तत्कालीन मालवा के प्रमुख राजपूत राजा और अतीव अनुभवी वीर सेनानायक सलहदी का अंत हो गया, और उसके साथ ही मालवा में राजपूत राजाओं या जमींदारों के महत्त्व तथा शक्ति की भी इतिश्री हो गई, क्योंकि तब मालवा में मेदिनीराय या सलहदी जैसा प्रबल प्रभावपूर्ण तथा शक्तिशाली राजपूत सेनानायक अथवा शासक नहीं रह गया था। सन् १५१३ ई० से लेकर अगले १७ – १८ वर्षों में सलहदी ने पूर्वी मालवा में एक विस्तृत शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। सलहदी का राज्य एक समय तो चंदेरी से लेकर भेलसा और रायसेन परगने के दक्षिण तक एवं पश्चिम में आष्टा, सारंगपुर से लेकर उज्जैन से भी आगे तक फैला हुआ था। उस समय सलहदी अपनी मानमर्यादा तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से स्वयं को खानदेश के अर्द्धस्वतंत्र फारूकी सुलतानों से भी कहीं उच्च और महत्वपूर्ण मानता था।[४३] रायसेन का किला तब कोई एक युग से भी अधिक समय तक सलहदी की राजधानी रहा था एवं वहाँ के उसके महलों का वैभव देखकर बहादुर शाह के दरबार का मलिक अली शेर भी आश्चर्यचकित रह गया था।[४४]

सलहदी के ऐश्वर्यवैभव का वर्णन करते हुए 'मिरात - इ - सिकंदरी' का लेखक लिखता है – "ऐसा कहा जाता था कि उसके (सलहदी के) पास ऐसे - ऐसे बरतन - भांडे, वस्त्र, इत्र - फुलेल आदि अनेकानेक वस्तुएँ थीं कि वैसी उस समय के अन्य किसी सुलतान या राजा-महाराजा के पास कदाचित ही पाई जाती हों। उसके यहाँ नर्तिकाओं के चार अखाड़े थे और उनमें से प्रत्येक नर्तकी अपनी विशिष्ट कला में सर्वथा अद्वितीय थी। जब ये नर्तिकाएँ अपने नृत्य, आदि का प्रदर्शन करती थीं, तब उनमें से चालीस नर्तिकाएँ अपने हाथों में दीपक ले - लेकर खड़ी हो जाती थीं। इन चालीसों नर्तिकाओं में से प्रत्येक के साथ दो - दो सेविकाएँ वहाँ उपस्थित रहती थीं, जिनमें से एक तो पान की गिलौरियाँ लिए रहती थी और दूसरी के पास उन दीपकों में डालने के लिए सुगंधित तेल होता था। सेवा में तत्पर ये सभी स्त्रियाँ सुनहरी जरी के वस्त्र पहने सुवर्ण - आभूषणों और रत्नों से सुसज्जित बनीठनी होती थीं। सलहदी का यह सारा ऐश्वर्यविलास उस युग के बुद्धिमान पुरुषों के लिए तो मुहम्मद पैगंबर (उन्हें शांति प्राप्त हो) के इस कथन का कि 'यह दुनियाँ अविश्वासियों के लिए स्वर्ग है

४२. सिकंदरी०, पृ० १७६, २०१ – २, २१६; तबकात०, ३, पृ० ३६७, ६१७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२२ – ३, २७० – १।

फरवरी, १५३३ ई० में चित्तौड़ पर प्रथम आक्रमण के समय तथा मई, १५३५ ई० में हुमायूँ के मांडू पर घेरा डालने के अवसर पर भी भूपतराय बहादुरशाह की सेवा में था, इसके उल्लेख आधारग्रंथों में मिलते है। सिकंदरी०, पृ० १७१, १६१; अकबर०, १, पृ० ३०५; अर्स्किन०, २, पृ० ५६।

४३. सिकंदरी०, पृ० १७०, १७१, १७६, २०२ – ३; तबकात०, ३, पृ० ३५८, ६०२, ६०८ ब्रिग्ज०, ४, पृ० २०२ – ३, २६६, ११७।

४४. तबकात०, ३, पृ० ६०८; ब्रिग्ज०, ४ पृ० २०२ – ३; सिकंदरी०, पृ० ११३, १७४।

परंतु सच्चे धर्मावलंबियों के वास्ते वस्तुतः कारागार हैं' प्रत्यक्ष प्रमाण ही था। यह कथन सलहदी पर पूर्णतया चरितार्थ होता था।"४५ सलहदी के रनिवास में अनेकों रानियाँ तथा कोई सात - आठ सौ उपपत्नियाँ, खवासिनें, आदि थीं। इनमें से कई सौ मुसलमान स्त्रियाँ भी थीं। अपने वैभव की ओर संकेत करते हुए सलहदी ने स्वयं मलिक अली शेर से कहा था कि प्रतिदिन उसके महल में कोई एक करोड़ पान तथा कई सेर कपूर खाया जाता था और और कई सौ नारियाँ प्रतिदिन नए वस्त्र पहनती थीं।४६

सलसदी के इस्लाम धर्म स्वीकार करने की घटना के बारे में 'मिरात - इ - सिकंदरी' में लिखा है, "विश्वसनीय व्यक्ति कहते हैं कि कैद किये जाने पर जब सलहदी को मुसलमान बनने के लिए कहा गया तब प्रारंभ में तो वह किसी भी प्रकार तयार नहीं हो रहा था, और आगे चलकर मी वह बड़ी कठिनाई के साथ ही उसके लिए राजी हुआ। तब उसका नाम 'सलाह-उद्दीन' रख दिया गया। उस समय साधुता और धार्मिकता में सर्वथा अद्वितीय मलिक बुरहान - उल् - मुल्क बुनयानी को आदेश दिया गया था कि वह सलहदी को धार्मिक उपदेश देकर इस्लाम के धर्मशास्त्र के तत्व हृदयंगम करा दे। कहा जाता है कि जब सलहदी ने प्रथम बार रमजान महीने में रोजे रखे थे तब उसे विशेष प्रसन्नता हुई थी और उसने स्वीकार किया था कि इस उपवास के बाद ही उसे जीवन में पहली बार भोजन और पानी अधिक सुस्वादु जान पड़े थे। सलहदी कहा करता था कि जब वह हिंदू ही था तब एक बार उसने किसी ब्राह्मण से पूछा था कि उसने जो अगणित पाप किए थे और उसके चरित्र में जो अनेकानेक त्रुटियाँ थीं उनके लिए क्या कभी उसे किसी प्रकार क्षमा प्राप्त हो सकेगी। ब्राह्मण ने स्पष्ट उत्तर दिया था कि उसके लिए कोई भी उपाय नहीं था। तदनंतर सलहदी ने वही प्रश्न मुसलमान मुल्ला से पूछा तब उसने उत्तर दिया था कि निकृष्टतम पापी के लिए भी क्षमाप्रदान की आशा की जा सकती हैं, परंतु इस प्रकार की मुक्ति के मार्ग का निर्देशन करते उसे भय मालूम होता था। अतः उसकी सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन देने पर उसी मुल्ला ने सलहदी को बताया था कि यदि कोई पापी पूर्ण पश्चात्ताप की सच्ची भावना के साथ इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले तो वह तब एक नवजात शिशु की ही तरह विशुद्ध और सर्वथा पापविहीन हो जाता है। सलहदी ने तब कहा कि उसी दिन से इस्लाम धर्म की ओर उसकी पूर्ण अभिरुचि हो गई थी।"४७

यह सब - कुछ होते हुए भी परिस्थितियों की विवशता से सर्वथा बाध्य होने पर अत्यधिक अनिच्छा के साथ ही सलहदी ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। अपने कुटुंबियों को मृत्युमुख से बचाने तथा स्वयं अपना और अपने घराने का भी भावी महत्व बनाए रखने के उद्देश्य से ही सलहदी ने विधर्मी बनने के गर्ह्यतम कलंक को भी अपनाया था। परंतु जब उसने देखा कि उसके कुटुंबी और उसकी अर्द्धांगिनी रानी दुर्गावती भी जौहर अथवा अंतिम

४५. सिकंदरी०, पृ० १७६।

४६. सिकंदरी०, पृ० १७४, १७०; तबकात०, ३, पृ० ३५५, ३६६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७, १२२।

४७. सिकंदरी०, पृ० १७५ - ६।

युद्ध द्वारा सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करने को ही अत्यधिक लालायित हो रहे थे, तब तो सलहदी का जीवन तथा भविष्य के प्रति रहासहा मोह भी सर्वथा नष्ट हो गया और उसने अनुभव किया कि वैसी स्थिति में जीवित रहना उसके लिए भी अतीव लज्जाजनक होगा। वह अनायास ही कह पड़ा—"अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ ही अगर हम लोग भी काम आ जाएँ तो कितने गौरव और प्रतिष्ठा की बात होगी।" और तब उस अंतिम युद्ध में मर मिटने की साध के साथ प्रचंड वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आकर सलहदी ने अपने जीवनकाल की उस लज्जाजनक निर्बलतापूर्ण घड़ी की स्मृति तक को अपने उत्तप्त रक्त से मिटा देने का भरसक प्रयत्न किया था। परंतु चरम आत्मत्याग और उत्कटतम प्रायश्चित्त से भी कभी कोई घटना अनहुई हो सकी है!

संकेत

अकबर० – अकबर नामा; बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद, भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

अर्स्किन० – हिस्ट्री आफ़ इंडिया : बाबर एंड हुमायूँ, विलियम अर्स्किन कृत; भाग १ – २।

आईन० – आईन - इ - अकबरी; ब्लाकमन और जेरेट कृत अंग्रेजी अनुवाद, दूसरा संस्करण, खंड १ – २; (बिब० इंडिका)।

ईलियट० – हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाइ हर ओन हिस्टेरियन्स, इलियट तथा डासन कृत; भाग १ – ८।

ए० रि० – एशियाटिक रिव्यू (अंग्रेजी मासिक) के नवंबर, १९१५ ई० के अंक में प्रकाशित एच० बेवरिज का 'सिलहदी एंड मिरात – इ – सिकंदरी' शीर्षक लेख।

ओझा० उदय० – उदयपुर राज्य का इतिहास, डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत; भाग १–२।

किंग० – मेमायर्स आफ़ जहीरुद्दीन बाबर; जान लेडन और विलियम अर्स्किन कृत अंग्रेजी अनुवाद का लूकस किंग द्वारा संपादित संस्करण; भाग १ – २ (आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस)।

कैंब्रिज० – कैंब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया; भाग १ – ६।

टाड० – एनल्ज एंड एंटीक्विटीज आफ़ राजस्थान; जेम्स टाड कृत; आक्सफर्ड संस्करण, भाग १ – ३।

तबकात० – तबकात – इ – अकबरी ख्वाजा निजामुद्दीन कृत का अंग्रेजी अनुवाद, भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

नैणसी० – मुहणोत नैणसी की ख्यात; काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित; भाग १ – २।

फ़रिश्ता० – तारीख़ – इ – फ़रिश्ता अथवा गुलशन – इ – इब्राहिमी; फ़रिश्ता कृत; (लखनऊ संस्करण)।

बदौनी० – मुंतख़ब – उत् – तवारीख़; अलबदौनी कृत का अंग्रेजी अनुवाद; भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

बाबर० – बाबरनामा; बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद; भाग १ – ३।

ब्रिग्ज० – हिस्ट्री आफ राइज आफ मुहमडन पावर इन इंडिया; फरिश्ता रचित फारसी ग्रंथ 'तारीख – इ – फरिश्ता' का अंग्रेजी अनुवाद, जान ब्रिग्ज कृत; भाग १ – ४।

बेली० – लोकल मुहमडन डिनेस्टीज, गुजरात; एडवर्ड क्लाइव बेली द्वारा अनुवादित एवं संपादित।

मिरात० – मिरात – इ – सिकंदरी, सिकंदर कृत (बंबई संस्करण)।

रशब्रुक विलियम्स० – एन एंपायर बिल्डर आफ सिक्स्टीन्थ सेंचुरी, रशब्रुक विलियम्स कृत।

रियु० – केटेलाग आफ दी पर्शियन मेनेस्क्रिप्ट्स् इन दी ब्रिटिश म्यूजियम, चार्ल्स रियु कृत; भाग १ – ३ एवं सप्लीमेंट।

वीर० – वीरविनोद, कविराज श्यामलदास कृत; भाग १ – २।

सिकंदरी० – मिरात – इ – सिकंदरी का अंग्रेजी अनुवाद, फज्लुल्ला लुत्फुल्ला फरीदी कृत।

*

हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना तथा अनुसंधान

गोपाल राय

हिंदी में आलोचना तथा अनुसंधान की धूम है और एतत्संबंधी जितनी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित होती हैं उतनी, कदाचित् उपन्यासों को छोड़कर, अन्य किसी विषय की नहीं। अनुसंधानकार्य, इधर दस वर्षों में बड़ी तेजी से विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में आगे बढ़ा है, और अब अनुसंधित्सुओं की संख्या में इस प्रकार वृद्धि हो रही है, जिसे देख कर विद्वान् इस चिंता में पड़ गए हैं कि उनके लिए विषय और निरीक्षक कहाँ से लाए जाएँ।[1] यह हिंदी के लिए गौरव का विषय है कि शोधकर्ताओं की संख्या जितनी हिंदी में है उतनी अन्य किसी भी भारतीय भाषा में नहीं। पर इसके साथ-साथ एक चिंता और भी लगी हुई है। हिंदी में शोधकार्य की, इयत्तया चाहे जितनी वृद्धि हुई हो, ईदृक्तया वह संतोषजनक नहीं है। हिंदी के अनेक विद्वानों तथा हितचिंतकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ है, और इस संबंध में चिंता भी व्यक्त की जाने लगी है।

हिंदी अनुसंधान के स्तरसंबंधी ह्रास के कारणों पर विचार करना, आकर्षक होने पर भी, प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित नहीं है। किंतु यहाँ एक विषय पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदी में, जैसे अन्य बहुत से शब्दों की अर्थसीमाएँ स्पष्ट नहीं हैं, वैसे ही आलोचना और अनुसंधान का अंतर भी अस्पष्ट है। हिंदी के पी-एच० डी० अथवा डी० लिट्० के शोधप्रबंधों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनुसंधान के संबंध में हिंदी के शोधकर्ताओं की धारणा ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाई है, अथवा वे अपने को अनुसंधान की सीमा में आबद्ध रखने का संयम नहीं दिखा पाते। शोधप्रबंधों में बहुत से विषयों का जो अनावश्यक परिचय और प्रत्येक आलोच्य ग्रंथ की कथा का विस्तृत वर्णन दिया रहता है, वह उपर्युक्त कथन का एक ज्वलंत प्रमाण है।

वस्तुतः आलोचना और अनुसंधान दोनों एक नहीं हैं, यद्यपि दोनों को अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। आलोचना का कार्य किसी कृति की सम्यक् व्याख्या करना तथा उसकी श्रेष्ठता अथवा हीनता के कारणों का तर्कपूर्ण विवेचन करना है। आलोचक का प्रमुख उद्देश्य किसी कृति की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करना है कि उसके सभी तत्व पाठक के समक्ष स्पष्ट रूप में सामने आ जाएँ, और पाठक उस व्याख्या के प्रकाश में, कृति पर अपना निर्णय देने में अवश्य समर्थ हो सके। तात्पर्य यह कि आलोचक की दृष्टि तत्वचिंतक की दृष्टि होती है। शोधकर्ता का मुख्य कार्य व्याख्या नहीं, तथ्यों का अनुसंधान है। साहित्य में अनुसंधान की प्रणाली विज्ञान के क्षेत्र से आई है। जैसे वैज्ञानिक पदार्थजगत् में व्याप्त

१. डा० नगेंद्र, हिंदी शोध की कुछ समस्याएँ, हिंदी अनुशीलन, (दिसंबर १९५८ ई०)।

अनेक तत्त्वों का संकलन तथा विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, उसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्ता विषय से संबद्ध सामग्री का संकलन तथा विश्लेषण करके किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचता है। साहित्यिक अनुसंधान वैज्ञानिक अनुसंधान की तरह, अनिवार्यतः तथ्यपरक होता है। किंतु केवल तथ्यों का संकलन अनुसंधान नहीं कहला सकता। जब तक संकलित तथ्यों का विश्लेषण कर उनके आधार पर किसी निष्कर्ष की स्थापना नहीं होती, तब तक हम उसे अनुसंधान नहीं कह सकते। इसके लिए प्रामाणिक तथ्यों के साथ-साथ प्रबल तर्कप्रणाली की अपेक्षा होती है। इसीलिए शोधकर्ता को संकलित सामग्री की प्रमाणिकता का पूर्ण परिचय देते चलना नितांत आवश्यक है, क्योंकि अप्रामाणिक तथ्यों के आधार पर प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है। हिंदी के शोधग्रंथों में इस बात की बड़ी उपेक्षा की गई है, और यही उनके स्तर की निम्नता का प्रधान कारण है। तर्क की दुर्बलता भी हिंदी शोधग्रंथों में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती।

एक उदाहरण से आलोचना और अनुसंधान का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। यदि कोई 'पदमावत' की कथा के मार्मिक स्थलों की व्याख्या करके उसकी कथा की श्रेष्ठता सिद्ध करता है तो यह आलोचना है। किंतु, यदि वह 'पदमावत' की कथा के विभिन्न स्रोतों का अनुसंधान प्राचीन काव्य, इतिहास या लोकजीवन में करता है तो यह शोध है। आलोचना यदि तत्त्व-चिंतन है, तो अनुसंधान तत्त्वशोध। शोध अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इसके निष्कर्ष बाद में आलोचना के आधार बनते हैं। इसीलिए शोध-कार्य में ईमानदारी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यहाँ-वहाँ से कुछ नोच नाच कर ग्रंथ तैयार कर लेना अनुसंधान नहीं है। दुर्भाग्य से हिंदी में अधिकतर यही होता है। निराधार तर्क और विषय से सर्वथा असंबद्ध बातों का अनावश्यक वर्णन तो हिंदी के शोधग्रंथों की एक सामान्य विशेषता है।

प्रस्तुत निबंध में प्रेमाख्यानक-काव्य-संबंधी सभी प्रकार के आलोचनात्मक भाष्य तथा परिचयात्मक ग्रंथों का परिचय देने तथा मूल्यांकन करने का प्रयास है। आलोचना तथा अनुसंधान के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण ही इस निबंध में आलोच्य ग्रंथों के मूल्यांकन का मुख्य आधार है।

हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना और अनुसंधान के प्रथम प्रेरक पं० रामचंद्र शुक्ल हैं, यद्यपि उनके पूर्व इस साहित्य का परिचय देने का प्रयास एकाधिक इतिहासलेखकों द्वारा हो चुका था।

सबसे पहले फ्रेंच इतिहासकार गार्साँ द तासी ने अपने ग्रंथ 'इस्त्वार द ल लितेरात्यूर ऐंनदुई ऐंदुस्तानी' में, जो हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास माना जाता है तथा जिसकी रचना ई० सन् १८३९-७१ में हुई थी,[२] मलिक मुहम्मद जायसी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया तथा विभिन्न संग्रहालयों में 'पदमावत' की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया।

२. 'इस ग्रंथ का पहला संस्करण दो भागों में १८३९ तथा १८४७ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा परिवर्धित संस्करण तीन भागों में १८७०-७१ में प्रकाशित हुआ था।'—धीरेंद्र वर्मा, प्रकाशकीय, 'हिंदुई साहित्य का इतिहास', अ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्र० हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३।

मौलिक रूप से हिंदी में लिखित हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' है जो सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ था किंतु इसमें प्रेमाख्यानक-काव्य-संबंधी कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं प्राप्त होती। केवल मलिक मुहम्मद जायसी का उपस्थिति-काल दिया हुआ है और वह भी अशुद्ध।[3] इसके पश्चात् अंग्रेजी में लिखित हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास सर जार्ज ग्रियर्सनकृत 'वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिंदुस्तान' १८८९ ई० में प्रकाशित हुआ।[4] ग्रियर्सन ने इस ग्रंथ में जायसी का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसके जीवन तथा उसके प्रमुख काव्य 'पदमावत' का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया।[5]

सन् १९१३ ई० में मिश्रबंधुओं[6] ने चार भागों में अपना प्रसिद्ध इतिहासग्रंथ 'मिश्रबंधु विनोद' प्रकाशित कराया।[7] इस विशाल कवि-वृत्त-संग्रह में उन्होंने दामो, कुतुबन, उस्मान, शेख नबी, आदि प्रेमाख्यानक-रचयिताओं का उल्लेख करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी और नूर मुहम्मद का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया। सन् १९१२ ई० में बाबू जगन्मोहन वर्मा ने उसमान लिखित 'चित्रावली' प्रेमकाव्य का संपादन किया।[8] इस काव्य की भूमिका में उन्होंने इसके रचनाकाल, कथाप्रसंग आदि विभिन्न पहलुओं पर संक्षेप में, परिचयात्मक ढंग पर विचार किया।

स्पष्ट है कि तासी से लेकर बाबू जगन्मोहन वर्मा तक, हिंदी प्रेमाख्यानों के संबंध में जो भी लिखा गया, वह परिचयात्मक कोटि का है। उसे न तो अनुसंधान की संज्ञा दी जा सकती है, और न आलोचना की। हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना और अनुसंधान का सूत्रपात वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ही किया।

सन् १९२४ ई० में रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित 'जायसी ग्रंथावली' नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ की लगभग २१० पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में आचार्य शुक्ल ने 'पदमावत' के काव्यपक्ष के विभिन्न अंगों पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया। जहाँ तक अध्ययन की गहराई का प्रश्न है, यह भूमिका जायसी के अध्ययन में अभी तक अकेली है। इसके कुछ परिच्छेद, विशेषतः पदमावत की प्रेमपद्धति, वियोगपक्ष, संयोगशृंगार, प्रबंधकल्पना, संबंधनिर्वाह, कवि द्वारा वस्तुवर्णन, पात्र द्वारा भाव व्यंजना, अलंकार, स्वभाव-

३. शिवसिंह सरोज में जायसी का उपस्थितिकाल सं० १६८० वि० दिया हुआ है। पर जायसी की मृत्यु सन् १५४२-४३ ई० (सं० १५९९ वि०) में ही हो चुकी थी।

४. यह इतिहास सर्वप्रथम 'द जर्नल आव् द एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल', भाग १, १८८८ ई० के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। बाद में सोसाइटी ने इसे १८८९ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

५. 'द मार्डर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान', किशोरीलाल गुप्त द्वारा सटिप्पण अनुवाद; प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९५७।

६. गणेशविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र।

७. हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, खंडवा व प्रयाग।

८. नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

चित्रण, सूक्तियाँ, और जायसी की भाषा तो अतुलनीय हैं। इन प्रसंगों के संबंध में पिछले ३५ वर्षों में कदाचित् कोई नवीन बात नहीं कही गई है। यों हिंदी के आलोचकों ने वाक्यों का क्रम पलटकर, शब्दों के उलटफेर से अपनी उद्भावनाओं को नवीनता प्रदान करने का स्वांग अवश्य रचा है। उपर्युक्त विषयों पर जिस किसी आलोचकों ने भी लिखा है, उसने केवल पिष्टपेषण या अनावश्यक विस्तार ही किया है। मैं समझता हूँ, आचार्य शुक्ल ने इन विषयों पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह यदि अंतिम नहीं, तो आगे के आलोचकों के लिए कम से कम प्रांशुलब्ध अवश्य हैं।

इस भूमिका के शेष परिच्छेद, जैसे प्रेमगाथा की परंपरा, जायसी का जीवनवृत्त, ऐतिहासिक आधार, ईश्वरोन्मुख प्रेम, मत और सिद्धांत, जायसी का रहस्यवाद आदि पूर्ण नहीं कहे जा सकते और परवर्ती आलोचकों ने वस्तुतः इन्हीं क्षेत्रों में प्रवेश करने का साहस भी किया है। कारण, शुक्लजी के समय में जो सामग्री उपलब्ध थी, उसका उन्होंने सर्वोत्तम उपयोग किया। बाद में एतत् संबंधी नूतन सामग्री का पता चला है। अतः परवर्ती विद्वानों ने इन विषयों पर अधिक विस्तार से विचार किया है।

आचार्य शुक्ल ने डाक्टरेट की उपाधि के लिए यह भूमिका नहीं लिखी थी, इसे उन्होंने शोधग्रंथ भी नहीं कहा था, पर यह भूमिका निर्विवाद रूप में अद्यतन लिखित शोधग्रंथों की शिरमौर है। इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेद तो शोध के प्रतिमान माने जा सकते हैं। इतर परिच्छेदों में आलोचना का आदर्श रूप दृष्टिगोचर होता है। विषय - प्रतिपादन और शैली, दोनों दृष्टियों से यह ग्रंथ अनुसंधान तथा आलोचना साहित्य में श्रेण्य कृति के रूप में प्रतिष्ठित है।

सन् १९२५ ई० में बाबू सत्यजीवन वर्मा का लगभग ४० पृष्ठों का एक निबंध 'आख्यानक काव्य' शीर्षक से नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने उस समय के ज्ञात २० प्रेमकाव्यों और उनके रचयिताओं का उल्लेख करते हुए कुतुबन कृत मृगावती और मंझनकृत मधुमालती का परिचय प्रस्तुत किया। १९३० ई० में उन्होंने एक दूसरा निबंध 'कवि शेख निसार कृत मसनवी यूसुफ़ जुलेखा' लिखा जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ११ में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में शेख निसार और उनके काव्य 'यूसुफ जुलेखा' का बड़ा सुंदर परिचय प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों निबंधों में से किसी को भी शोध निबंध नहीं कहा जा सकता – दोनों परिचयात्मक हैं – पर पथिकृत प्रयास होने के कारण इन निबंधों का ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है।

सन् १९३० ई० में आचार्य चंद्रबली पांडेय ने सरस्वती, भाग ३१, अंक ७ में 'अखरावट का रचनाकाल' शीर्षक निबंध प्रकाशित कराया। इस निबंध में लेखक ने अंतःसाक्ष्य की सहायता से प्रबल तर्कों के आधार पर अखरावट के निर्माणकाल की खोज की है और उनका एतत्संबंधी निष्कर्ष, नवीन शोधों के प्रकाश में भी पूर्ववत् ताजा बना हुआ है। सन् १९२१ ई० में उनका एक दूसरा निबंध 'पदमावत की लिपि तथा रचनाकाल, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १२, में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में शोध की विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में दीख पड़ती हैं, क्योंकि लेखक ने इस समस्या को लेकर, उसकी गहराई में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। पदमावत की लिपि तथा रचनाकाल - संबंधी अपने निष्कर्ष को लेखक ने विविध तथ्यात्मक प्रमाणों तथा तर्कों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस निबंध में विषयांतर भी है –

जो शोध निबंध का एक अवगुण है – और लेखक के तर्कों में कहीं - कहीं औद्धत्य और आधार-हीनता भी दीख पड़ सकती है, साथ ही उसके निष्कर्ष हमें भ्रामक भी प्रतीत हो सकते हैं, पर इसमें कहीं भी गंभीरता का अभाव नहीं है।

सन् १६३३ ई० में उपर्युक्त लेखक ने 'जायसी का जीवन - वृत्त शीर्षक एक शोधनिबंध लिखा, जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ में, लगभग ३७ पृष्ठों में, प्रकाशित हुआ। इस निबंध में उन्होंने जायसी की जीवनी के विभिन्न पहलुओं पर अत्यंत पांडित्यपूर्ण ढंग से अनुसंधान किया। निष्कर्षों की प्रमाणिकता की दृष्टि से यह निबंध आज तक जायसी के जीवनवृत्त की जानकारी के लिए अद्वितीय बना हुआ है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के उपर्युक्त अंक में ही श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी का एक निबंध 'हिंदी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मुहम्मद जायसी' प्रकाशित हुआ। अनुसंधान की दृष्टि से नितांत महत्वहीन होने के कारण इस निबंध का विवेचन, प्रस्तुत प्रसंग में, अनपेक्षित है।

सन् १६३२ ई० में महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का एक निबंध 'पदमावत का सिंहल द्वीप' नागरीप्रचारिणी पत्रिका के १३ वें भाग में प्रकाशित हुआ। इस निबंध का आकार तो छोटा है, पर शोध - निबंध के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। लेखक ने, इस निबंध में, सिद्ध किया है कि 'पदमावत' का सिंहल द्वीप समुद्रस्थित लंका द्वीप न होकर चित्तौड़ से लगभग ४० मील पूर्व में स्थित सिंगोली नामक प्राचीन स्थान है।

सन् १६३८ ई० में डा० रामकुमार वर्मा ने अपना 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ में डा० वर्मा ने 'प्रेमकाव्य' शीर्षक के अंतर्गत सूफी कवियों का आलोचनात्मक परिचय, ३४ पृष्ठों में, प्रस्तुत किया। सूफी कवियों के संबंध में शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जो विवरण दिए थे, वे ही कुछ हेर - फेर के साथ प्रस्तुत ग्रंथ में भी आए हैं। इसके साथ - साथ डा० वर्मा ने २४ अन्य प्रेमकाव्यों का विवरण भी प्रस्तुत किया है— जिनमें सूफी और सूफीत्तर दोनों प्रकार के कवि हैं—जो आचार्य शुक्ल की पुस्तक में नहीं मिलता।। समासतः प्रस्तुत निबंध में उपर्युक्त ग्रंथ के उल्लेख का औचित्य अनुसंधान की नहीं, आलोचनात्मक परिचय की दृष्टि से है।

सन् १६४४ ई० में ए० जी० शिरेफ कृत पदमावत का अंग्रेजी अनुवाद रायल एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल से प्रकाशित हुआ।[१] इस ग्रंथ को हम आलोचना और अनुसंधान,

१. सन् १८६६ ई० में ग्रियर्सन ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी की सहायता से 'पदमावती,' का प्रकाशन आरंभ किया। इसकी भूमिका में डा० ग्रियर्सन ने जायसी के महत्व की तरफ पहली वार विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। १६११ ई० में 'पदमावती' के एक से लेकर पच्चीसवें खंड तक का पाठ, भाष्य तथा आलोचनात्मक टिप्पण प्रकाशित हुआ। किंतु इसी बीच पं० सुधाकर द्विवेदी का देहांत हो गया और 'पदमावत' के प्रकाशन का कार्य यहीं ठप हो गया।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुवाद को पूरा करने का विचार शिरेफ के मन में १६३८ में उठा और उन्होंने सर ग्रियर्सन की अनुमति लेकर १६४० ई० में इस कार्य को

दोनों में से कोई नहीं कह सकते। लेखक ने ग्रंथ की भूमिका में जायसी का संक्षिप्त परिचय दिया है, पर वह इतना सामान्य है, कि उसे हम शोध नहीं कह सकते। शिरेफ ने अपने अनुवाद में पदमावत के, ग्रियर्सन और रामचंद्र शुक्ल द्वारा स्वीकृत पाठों को अधिकतर अपना लिया है। कहीं - कहीं उन्होंने लाला भगवान 'दीन' द्वारा संपादित पदमावत पूर्वार्द्ध[१०], अठारहवीं शताब्दी में लिखित एक हस्तलिखित कैथी पोथी[११] तथा बाबू श्यामसुंदर दास और सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित संक्षिप्त पद्मावत[१२] का पाठ भी स्वीकार किया। पर संपादन शिरेफ महोदय का उद्देश्य न था, और न पाठनिर्णय की दृष्टि से हम प्रस्तुत ग्रंथ को अनुसंधान - ग्रंथ कह सकते हैं। यह केवल अनुवादग्रंथ है और शिरेफ ने बड़े परिश्रम से पदमावत का अनुवाद प्रस्तुत किया है। विशेष कर उसकी टिप्पणियाँ जायसी के अध्ययन के लिए अत्यंत ही उपयोगी हैं। कुल मिलाकर उपर्युक्त ग्रंथ जायसीसंबंधी अध्ययन तथा अनुसंधान के लिए एक उत्तम सहायक ग्रंथ है।

सन् १९४५ ई० में आचार्य चंद्रवली पांडेय का ग्रंथ 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' सरस्वती मंदिर, बनारस से प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के 'निवेदन' से पता चलता है कि इसकी रचना सन् १९३३-३४ ई० में ही लेखक के शोधप्रबंध की भूमिका के रूप में हुई थी, किंतु कुछ कारणों से यह शोधग्रंथ डाक्टरेट की डिग्री के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेद जैसे उद्भव, विकास, परिपाक, आस्था, साधन, और प्रभाव नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग १६ (१९३७ ई०), भाग १७ (१९३८ ई०) और भाग १८ (१९३९ ई०) में क्रमशः प्रकाशित हो चुके थे। इसी प्रकार इसका 'अध्ययन' शीर्षक परिच्छेद 'हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ था।

आलोच्य ग्रंथ को अनुसंधान कहने की अपेक्षा परिचयात्मक पुस्तक कहना अधिक उचित होगा, यद्यपि हिंदी में इस प्रकार की परिचयात्मक सामग्री को अनुसंधान के नाम पर छपा कर डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त कर लेना सामान्य बात हो गई है। स्वयं लेखक ने भी इसे 'अनुसंधानप्रबंध' के बदले उसकी भूमिका कह कर अपनी ईमानदारी का परिचय दिया है।[१३] लेखक ने स्वीकार किया है कि 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' की रचना 'परिशीलन' की ही दृष्टि से नहीं, 'परिचय' की दृष्टि से भी हुई है।[१४]

इसका यह अर्थ नहीं कि इस ग्रंथ में अनुसंधानात्मक तत्व नहीं हैं। परिचयात्मक ग्रंथ होते हुए भी, विद्वान् लेखक के मौलिक विचारों की झाँकी यत्र - तत्र देखने को मिलती है। उन्होंने अंग्रेजी की विभिन्न पुस्तकों के आधार पर केवल सूफी मत के इतिहास तथा विशेषताओं

पूरा कर लिया—(ये सूचनाएँ मैंने शिरेफ के 'पद्मावती' के अनुवाद की प्रस्तावना से प्राप्त की हैं।)

१०. हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, १९२५।

११. यह पोथी श्री शिरेफ को सर रिचार्ड बर्न से प्राप्त हुई थी।

१२. इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३६ ई०।

१३. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, द्वितीय संस्करण, निवेदन, पृ० २।

१४. वही, पृ० ४।

का परिचय ही नहीं दिया है, वरन् अपने स्वतंत्र मत का प्रतिपादन भी विभिन्न तथ्यों तथा प्रमाणों के आधार पर किया है।

सूफीमत के उद्भव और विकास का जैसा विद्वत्तापूर्ण परिचय इस ग्रंथ में दिया गया है, वैसा परवर्ती उपाधिप्राप्त शोधग्रंथों में भी नहीं मिलता। इस ग्रंथ का महत्त्व इसलिए भी अधिक है, कि इस विषय की हिंदी में यह प्रथम पुस्तक है, और आज भी सूफीमत को समझने में इस ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिलती है। इस ग्रंथ की एक त्रुटि यह मालूम पड़ती है कि इसमें सूफीमत के इतिहासपक्ष का विवेचन जितने विस्तार के साथ किया गया है, उतने विस्तार के साथ उसके दार्शनिक पक्ष का नहीं। फिर भी, कुल मिलाकर, यह ग्रंथ सूफी हिंदी साहित्य के अध्ययन में पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

इसी वर्ष श्री गोपालचंद्र सिंह ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक १-२ में 'मलिक मंझन और उसकी मधुमालत' शीर्षक एक निबंध प्रकाशित कराया, जिसमें उन्होंने 'मधुमालत' के रचनाकाल के संबंध में श्री जगन्मोहन वर्मा, श्री सत्यजीवन वर्मा, बाबू ब्रजरत्न दास, आचार्य चंद्रबली पांडेय आदि के मतों का खंडन करते हुए 'मधुमालत' का रचनाकाल, रामपुर राज्य के राजकीय पुस्तकालय में संग्रहीत एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर, ९५२ हिजरी अथवा सन् १५४५ ई० प्रमाणित किया। इसके पूर्व मधुमालत का रचनाकाल पद्मावत के पूर्व माना जाता था। श्री सिंह ने, सबसे पहले, हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों को मधुमालत के रचनाकाल के संबंध में सही सूचना दी।

सन् १९४९ ई० में डा० लक्ष्मीधर का अनुसंधानग्रंथ 'पदुमावती, द लिंग्विस्टिक स्टडी आफ द सिक्सटींथ सेंचुरी हिंदी (अवधी)', लूजक एंड कंपनी, लंदन से प्रकाशित हुआ। लेखक ने इसी ग्रंथ पर सन् १९४० ई० में, लंदन विश्वविद्यालय से, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी।

प्रस्तुत ग्रंथ के भाग १ में लेखक ने २९ पृष्ठों में 'पदमावत' की भाषा का, व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया है। जायसी की भाषा के अन्य पक्षों तथा छंदयोजना पर लेखक ने विचार नहीं किया है, जो अपेक्षित था। प्रस्तुत प्रबंध का विषय, असंदिग्ध रूप से नितांत सीमित तो है ही, अध्ययन में भी मौलिकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। लेखक ने अंग्रजी व्याकरण के ढाँचे को 'पदमावत' की पक्तियों से उदाहृत भर करके संतोष कर लिया है।

दूसरे खंड में पदमावत के १०६ छंदों का पाठसंपादन किया गया है। ग्रियर्सन ने केवल आरंभ के २७४ छंदों का पाठ-संपादन किया था। प्रस्तुत ग्रंथ में ग्रियर्सन की ही दिशा में छंद संख्या २७४ के बाद के छंदों का (डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली की छंद संख्या २७५ से ३७३ तक के अंश का) पाठसंपादन किया गया है। लेखक ने इंडिया आफिस पुस्तकालय की पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह संपादनकार्य किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त का आक्षेप है कि, "इस संस्करण के संपादन के लिए संपादक ने इंडिया आफिस, लंदन के बाहर की ही नहीं, इंडिया आफिस, लंदन की भी कुल प्रतियों को देखने की आवश्यकता नहीं समझी।"[१५] जहाँ शीघ्रता से किसी प्रकार डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर

१५. डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ११८।

लेना ज्यादा महत्वपूर्ण हो, वहाँ इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी 'जायसीग्रंथावली' की भूमिका में इस संपादन की अन्य भूलें भी दिखाई है।[१६] संपादक ने संपादनविज्ञान के नियमों के अनुसार प्रतियों की प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा, और पाठांतरपरंपरा पर विचार नहीं किया है। उर्दू या हिंदी लिपियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उत्पन्न पाठविकृतियों पर की संभावनाओं पर भी लेखक ने प्रकाश नहीं डाला है। इस प्रकार पाठ - संपादन की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्व ऐतिहासिक ही है।

ग्रंथ के तृतीय खंड में लेखक द्वारा संपादित १०६ छंदों का अंग्रेजी में अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अनुवाद साधारणतः ठीक है पर श्री ए० जी० शिरेफ के अनुवाद की तुलना में इसका महत्व अत्यल्प है।

चौथे खंड में, १३२ पृष्ठों में, पदमावत के शब्दों की सूची लेखक ने दी है जो महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य में लेखक ने पर्याप्त श्रम किया है, यह स्पष्ट है।

सन् १९५० ई० में हिंदी अनुशीलन, वर्ष ३, अंक २, में श्री ओमप्रकाश का एक निबंध 'सूफियों की अलंकारयोजना' प्रकाशित हुआ। यह निबंध छोटा होने पर भी गंभीर और अनुसंधानात्मक है।

सन् १९५१ ई० में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित सूफी काव्य संग्रह, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की चौरानवे पृष्ठों की भूमिका में चतुर्वेदी जी ने सूफीमत के स्वरूप तथा इतिहास, सूफी साहित्य, हिंदी की सूफी प्रेमगाथा, तथा हिंदी के फुटकल सूफी काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके साथ - साथ उन्होंने कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, मंझन, उसमान, जान कवि, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, शेख निसार, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, कवि नसीर आदि सूफी कवियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस संग्रह की भूमिका में बताया है कि इसकी भूमिका 'विद्यार्थियों के लाभ की दृष्टि से' दे दी गई है। एक ऐसी पुस्तक को जो 'विद्यार्थियों के लाभ' की दृष्टि से लिखी गई हो, कदाचित्, आलोचक शोध का नाम देना पसंद न करें, पर विचारपूर्वक देखा जाए तो, इस संग्रह में अनुसंधान के बहुत से गुण वर्तमान हैं। इससे पहले किसी भी हिंदी आलोचक ने समस्त सूफी काव्य पर एक साथ विचार नहीं किया था। जायसी के पूर्ववर्ती सूफी कवियों का परिचय तो इसके पूर्व के किसी ग्रंथ में मिलता ही नहीं। चतुर्वेदी जी ने पहले-पहल इस अभाव को पूरा किया।

इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व कई सूफी कवियों के संबंध में भ्रांत धारणाएँ भी फैली हुई थीं। यथा—मंझन जायसी के पूर्ववर्ती कवि माने जाते थे और चंदायन के रचनाकाल के संबंध में अधिकतर अनुमान ही लगाया जाता था, जो सत्य से बहुत दूर रहा करता था। चतुर्वेदी जी ने मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती कवि सिद्ध किया और चंदायन का रचनाकाल १३७० ई० के आस - पास बताया।[१७] समस्त सूफी कवियों की कविता का उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला यह एकमात्र संग्रहग्रंथ है।

१६. वही, पृ० ११७।
१७. चंदायन का रचनाकाल १३७९ ई० है।

इसी वर्ष डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली का प्रकाशन, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से हुआ। यद्यपि यह ग्रंथ डाक्टरेट की उपाधि के लिए, शोधग्रंथ के रूप में नहीं लिखा गया था, पर इसे अनुसंधानग्रंथ कहने में किसी प्रकार की झिझक नहीं होनी चाहिए। विदेशों में, और देश में भी इस प्रकार के कार्य पर विश्वविद्यालयों द्वारा, शोधकर्ताओं को डाक्टरेट की उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन के पूर्व डा० लक्ष्मीधर को पदमावत के संपादन पर, लंदन विश्वविद्यालय से, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी।

यह कहना विशेष आवश्यक नहीं कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली के पूर्व पदमावत के जो संस्करण उपलब्ध थे, वे नितांत असंतोषजनक तथा भ्रांतिपूर्ण पाठों से भरे हुए थे। डा० लक्ष्मीधर द्वारा संपादित 'पदुमावती' भी, जिस पर उन्हें लंदन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी, असंतोषजनक है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है, "न इसमें उन्होंने उर्दू या हिंदी लिपियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण ग्रंथ की पाठविकृति की संभावनाओं पर कोई विचार किया है, न प्रतियों की प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा और पाठांतरपरंपरा पर विचार किया है, और न जायसी की भाषा और छंदयोजना पर पाठनिर्धारण में यथेष्ट ध्यान दिया है।"[१८] जायसी ग्रंथावली के अन्य संस्करण भी, जिनकी संख्या लगभग १० है, वैज्ञानिक पाठनिर्धारण की दृष्टि से सदोष हैं। डा० गुप्त के संस्करण के पूर्व पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली ही हिंदी संसार में विशेषतः प्रचलित थी और पढ़नेपढ़ाने के काम में लाई जाती थी। पर उसका पाठ भी वैज्ञानिक ढंग से निर्णीत नहीं था। फलतः उसमें पाठसंबंधी अशुद्धियों की भरमार थी। डा० गुप्त ने अपने पाठनिर्णय में संपादनविज्ञान के नियमों का अनुसरण किया है और प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा, पाठांतरपरंपरा आदि के आधार पर पदमावत का प्रामाणिक संस्करण संपादित किया है। इस ग्रंथ के द्वारा हिंदी साहित्य का एक चिंत्य अभाव दूर हो गया है, और जायसी पर अनुसंधान करनेवाले अनुसंधित्सुओं की एक बहुत बड़ी कठिनाई समाप्त हो गई है।

सन् १९५२ ई० में तीन उल्लेखनीय निबंध प्रकाशित हुए। हिंदी अनुशीलन, वर्ष १, अंक १-४ में श्री रामचंद्र तिवारी लिखित 'हिंदी प्रेमाख्यानों की परंपरा में एक नवीन प्रयोग' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इस निबंध में लेखक ने दुखहरनदास की पुहुपावती का परिचय देकर उसका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह एक उपयोगी परिचयात्मक निबंध है। इसी वर्ष 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ५७, अंक १ में श्री अख्तर हुसेन निज़ामी का 'प्रेमचिनगारी' शीर्षक निबंध तथा श्री चार्ल्स नेपियर का 'नई जायसी-ग्रंथावली तथा पदमावत की लिपि और रचनाकाल' शीर्षक निबंध प्रकाशित हुआ। प्रथम निबंध परिचयात्मक है और दूसरे में लेखक ने प्रमाणित किया है कि पदमावत मूलतः फ़ारसी लिपि में लिखा गया था।

सन् १९५३ में डा० कमल कुलश्रेष्ठ का 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य', चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ पर लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय ने डाक्टर आफ फिलासफ़ी इन आर्ट्स की उपाधि प्रदान की। यह ग्रंथ विषयप्रवेश, सूफ़ी धर्म की

१८. डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११८।

उत्पत्ति और विकास, और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, फारसी मसनवी का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, भारतीय आख्यानकों का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, कहानीकला, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, काव्यकला, प्रेमपंथ, अन्य उपदेश तथा उपसंहार—इन ग्यारह परिच्छेदों में विभक्त है।

डाक्टरेट की उपाधि के लिए प्रस्तुत किए गए शोधग्रंथों में, जिनकी लेखन-अवधि प्रायः दो-तीन वर्षों की होती हैं, आजकल जिस त्वरा से काम लिया जाता है, और इसके जो दुष्परिणाम होते हैं, यह ग्रंथ उसका सजीव उदाहरण है। इस पुस्तक में दोषों की मात्रा इतनी अधिक है कि उनको समुचित रूप में दिखाने के लिए एक स्वतंत्र निबंध की आवश्यकता होगी। समूचा ग्रंथ भ्रांत आधारों, दुर्बल तर्कों और अशुद्ध निष्कर्षों से पूर्ण है। गंभीर अध्ययन का अभाव पगपग पर दृष्टिगोचर होता है। किसी तरह पृष्ठ पूरा करने का प्रयास इतना स्पष्ट है कि लेखक पर दया आती है। विषयप्रवेश में सात पृष्ठ केवल ६३ प्रेमकाव्यों और उनके रचयिताओं के नाम लिखने में खपा डाले गए हैं। लगभग ३५ पृष्ठ सात-आठ प्रेमकाव्यों की कहानी में समाप्त हो गए हैं। काव्यकला परिच्छेद में तीन पृष्ठों में महाकाव्य के लक्षण दिये हुए हैं, जिन्हें एक पृष्ठ में समाप्त किया जा सकता था। दो पंक्तियों में समाप्त की जा सकनेवाली बात को सात पंक्तियों में लिखा गया है। और इस प्रकार के स्थलों से सारी पुस्तक भरी हुई है। लंबे-लंबे उद्धरणों से पृष्ठ पूरा करने का कौशल भी सर्वत्र वर्तमान है।

इस ग्रंथ का विषयप्रवेश ८७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, जो व्यर्थ ही इतना बढ़ा दिया गया है। इस परिच्छेद में १५०० से १७५० ई० तक के प्राप्त लगभग ६३ प्रेमाख्यानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए लेखक ने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए सूफी साहित्य के अध्ययनों का उल्लेख किया है। पर लेखक ने इस परिच्छेद में (अन्य परिच्छेद भी इसके अपवाद नहीं हैं) मात्र तथ्यसंग्रह किया है। संगृहीत तथ्यों को क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। विभिन्न खोजविवरणों तथा पुराने इतिहासग्रंथों से प्राप्त सामग्री को लेखक ने कूड़ाकरकट की भाँति जमा कर दिया है। परिणामतः पुनरुक्तिदोष का बाहुल्य है। सूफी और सूफीतर प्रेमकाव्यों का वर्गीकरण तक नहीं किया गया है। जिस कारण लेखक के कई निष्कर्ष सदोष हो गए हैं। विचित्रता यह है कि विषय प्रवेश में ६३ प्रेमाख्यानकों का परिचय देने पर भी लेखक ने केवल सात प्रेमकाव्यों के आधार पर, जिनमें दो हिंदुओं के लिखे हुए हैं और पाँच मुसलमानों के, अपना अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है। ग्रंथ ये हैं, पदमावत (जायसी), मधुमालती (मंझन), चित्रावली (उसमान), नलदमन (सूरदास लखनवी), पुहुपावती (दुखहरनदास), हंस जवाहिर (कासिमशाह दरियाबादी) और इंद्रावती (नूर मुहम्मद)। जिस महल की आधारशिला ही कमजोर हो, वह कितने दिन टिकेगा।

ग्रंथ के कुछ परिच्छेद नितांत साधारण हैं। 'सूफी धर्म की उत्पत्ति तथा विकास' में अंग्रेजी के एतत्संबंधी विभिन्न ग्रंथों से केवल सामग्री भर संकलित कर दी गई है। उसे क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल नहीं हो सका है। सूफीमत का स्वरूप इससे स्पष्ट नहीं ही होता। 'फारसी मसनवी का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव', 'कहानी कला', आदि परिच्छेद भी नितांत हल्के हैं।

इस ग्रंथ के कुछ निष्कर्षों पर भी विचार करना अपेक्षित है। सर्वप्रथम हम कुछ ग्रंथों के रचनाकाल को देखें। मृगावती के रचनाकाल के संबंध में डा० श्रेष्ठ लिखते हैं, "उसका रचनाकाल निश्चित रूप से ६०६ हिजरी अर्थात् १५०१ ई० था।" दूसरी जगह वह फिर लिखते हैं, "उन्होंने (कुतुबन ने) सन् ६०६ हिजरी (१५०५ ई०) में चंद्रनगर की राजकुँवर तथा कंचनपुर की राजकन्या मृगावती की प्रेम कहानी लिखी थी।" इन दोनों कथनों को पढ़कर पाठक इस भ्रम में पड़ सकता है कि ६०६ हिजरी (१५०१ ई०) में पड़ी थी अथवा १५०५ ई० में ? पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों तिथियाँ अशुद्ध हैं। ६०६ हिजरी २६ जून १५०३ ई० को आरंभ होकर १४ जून १५०४ ई० को समाप्त हुई थी।[१९]

पदमावत की रचनातिथि के संबंध में लेखक का मत और भी हास्यास्पद है। वे लिखते हैं — "प्रस्तुत लेखक (पदमावत का रचनाकाल) १५२० ई० = ६२७ हि० को माननेवाले विद्वानों से मतैक्य रखते हुए एक और तर्क ६२७ हि० के पक्ष में रखता है। वह यह है कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना अंतिम ग्रंथ 'आखिरी कलाम' १५२६ ई० = ६३६ हिजरी में लिखा था, यह अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित और निर्विवाद है।...जब कि कवि का आखिरी कलाम अर्थात् कवि की अंतिम रचना ६३६ हि० की है तो पदमावती निश्चय रूप से उसके पूर्व की रचना होगी।" डा० श्रेष्ठ 'आखिरी कलाम' का अर्थ 'कवि की अंतिम रचना' करते हैं। पर यह अर्थ निराधार और भ्रमपूर्ण है। किसी भी लेखक को नामों का इतना अभाव नहीं होता कि वह अपनी किसी रचना का नाम 'अंतिम रचना' रखे, दूसरे भले ही कवि की अंतिम रचना को इसी नाम से पुकारने लगें। यदि जायसी ने ६३६ हिजरी के बाद कुछ न लिखने की कसम खा ली होती तो एक बात थी, पर जायसी के द्वारा ऐसी कसम खाने का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'आखिरी कलाम' को जायसी की अंतिम रचना मानने के पूर्व यह मान लेना होगा कि 'पदमावत' की रचना ६३६ हिजरी के पूर्व समाप्त हो गई थी, जो नितांत असंगत है।[२०] असल में डा० श्रेष्ठ को आखिरी कलाम का अर्थ करने में भ्रम हुआ है। जायसी की इस रचना में मरणोपरांत की दशा और कयामत के अंतिम न्याय आदि का वर्णन है। कयामत के अंत की बात को जायसी ने आखिरी कलाम कहा है, और यह ग्रंथ का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है। निष्कर्ष यह कि 'आखिरी कलाम' जायसी की अंतिम कृति नहीं। और जब आधार ही गलत है तो निष्कर्ष तो अशुद्ध होगा ही।

डा० श्रेष्ठ के कुछ अन्य 'मौलिक निष्कर्ष' निम्नलिखित हैं —

१ - 'इन चरित्रों में हमें किसी भी प्रतीक अथवा सांकेतिकता के दर्शन नहीं होते...दूत में कहीं पर भी वह गंभीरता नहीं मिलती जो उसे गुरु का प्रतीक बनवा दे।

२ - सामूहिक रूप से इन कहानियों में किसी सूफी प्रेम की व्यंजना नहीं है।

१९. कंपरेटिव टेबुल्स आफ मुहंमडन एंड क्रिश्चियन डेट्स (ले० सर वाल्सेले हेग)।

२०. इस संबंध में प्रस्तुत लेखक ने हिंदी अनुशीलन, वर्ष ११, अंक ३ में विस्तारपूर्वक विचार किया है।

३ - उसके (प्रेमाख्यानक काव्य के) कथानक या तो लोकप्रचलित हैं या काल्पनिक हैं।··· फारसी से कोई कथा नहीं ली गई है।'

लेखक के उपर्युक्त सभी निष्कर्ष दोषपूर्ण हैं। सूफी प्रेमकाव्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करनेवाले हिंदी के सभी विद्वानों ने इन निष्कर्षों के विपरीत निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। डा० श्रेष्ठ के निष्कर्षों के दोषपूर्ण होने का कारण यह है कि एक तो उन्होंने केवल सात ग्रंथों के आधार पर अपना शोधग्रंथ प्रस्तुत किया है, दूसरे उन्होंने सूफी और सूफीतर प्रेमकाव्यों का वर्गीकरण करके उन पर अलग - अलग विचार नहीं किया है।

डा० श्रेष्ठ के तर्कों की दुर्बलता का एक नमूना हम पदमावत की रचना - तिथि पर विचार करते समय देख चुके हैं। एक और उदाहरण दर्शनीय है। उनका एक निष्कर्ष है कि सूफी कवि इस्लाम के प्रचारक हैं। पर इस कथन के समर्थन में उन्होंने सबल तर्क नहीं दिए हैं। अपनी इस दुर्बलता को वे स्वयं ही स्वीकार भी करते हैं – "प्रस्तुत लेखक इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करते हुए भी इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में असमर्थ है, और इस कारण इसे पूर्ण रूप से सही नहीं कह सकता।" वस्तुतः लेखक की यह स्वीकारोक्ति उसके समस्त ग्रंथ पर लागू होती है।

इस ग्रंथ का बहुत बड़ा दोष संश्लेषण का अभाव है। लेखक ने विभिन्न ग्रंथों से तथ्यों का संग्रह करके ही संतोष कर लिया है, उसे संश्लिष्ट रूप देने का प्रयास उसने नहीं किया है। उसके विचार अत्यंत अस्पष्ट और उलझे हुए हैं। किसी विषय पर वह अपना मत दृढ़तापूर्वक व्यक्त नहीं कर पाता। परिणामतः प्रेमकाव्य के किसी पक्ष का स्पष्ट विवेचन इस ग्रंथ में नहीं हो सका है।

भाषासंबंधी अशुद्धियाँ भी प्रस्तुत ग्रंथ में प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ती हैं, यों इन्हें बड़ी आसानी से प्रेस के मत्थे भी मढ़ा जा सकता है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं – पुराणों में भी कथाएँ **संग्रहीत** है।[21] ···परंतु फारसी के कवियों ने अपनी कहानियों को **मुसलमान** नहीं बनाया है।[22] ··· माँ **श्राप** देती है।[23] ··· कथा के स्वाभाविकता एवं सजीवता[24] ··· **विरहनी** जहाँ तक देखती है।[25] ··· यह **अंतर्साक्ष्य** से प्रमाणित एवं निर्विवाद है।[26] ··· एक स्थान पर तो लेखक बड़ा हास्यास्पद वाक्य लिख गया है – "पुरुष (के नख - शिख) वर्णन में कुचों का वर्णन नहीं मिलता, मूछों का मिलता है।"[27] मानो पुरुष के कुचों का वर्णन न करके लेखक ने कोई भारी चीज छोड़ दी हो।

२१. पृ० १६४।
२२. पृ० १८६।
२३. पृ० २१७।
२४. पृ० २६७।
२५. पृ० ३०४।
२६. पृ० ४२।
२७. पृ० ३४८।

सन् १६५५ ई० में प्रेमाख्यानक काव्यों के संबंध में हिंदी के तीन विद्वानों ने तीन शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किए। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित पदमावत का 'संजीवन भाष्य' साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ किसी विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रणीत नहीं हुआ था, पर हम इसे सच्चे और संपूर्ण अर्थ में अनुसंधान ग्रंथ कह सकते हैं। इस ग्रंथ में डा० अग्रवाल ने पदमावत के अर्थ का अनुसंधान किया है। इसके पूर्व पदमावत एक ऐसे गहन वन के समान था, जो अपने अगाध सौंदर्य के बावजूद इतना दुर्गम था कि उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसके सौंदर्य का अवलोकन करने का साहस कम ही लोगों को हो पाता था। डा० अग्रवाल ने प्रस्तुत भाष्य के द्वारा इस वन में प्रवेश करने के लिए मार्ग बना दिया है, और अब कोई भी व्यक्ति बड़ी आसानी से इसके सौंदर्य का रसास्वादन कर सकता है।

पदमावत हिंदी के कठिन काव्यों में से एक है, और इसी कारण इसके अर्थनिर्णय में अब तक अटकलबाजी से ही अधिक काम लिया जाता था। अर्थकर्ताओं ने, न समझने के कारण कितने ही कठिन शब्दों का रूपांतर तक कर डाला है। डा० अग्रवाल ने पदमावत में प्रयुक्त शब्दों के मूल तक पहुँचने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा फारसी साहित्य का अनुशीलन किया हैं, और वस्तुतः ऐसा किए बिना पदमावत का अर्थ करना संभव नहीं था। कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनका इतिहास देकर डा० अग्रवाल ने अपनी उल्लेखनीय बहुज्ञता का परिचय दिया है। अनेक अंतर्कथाओं का यथा-अवसर उल्लेख करके उन्होंने पदमावत के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डा० अग्रवाल ने इस ग्रंथ में लगभग ५५ पृष्ठों की एक भूमिका भी लिखी है, जिसमें उन्होंने पदमावत के पाठ, रचनाकाल, अध्यात्मपक्ष आदि पर विचार किया है। यहाँ भी डा० अग्रवाल की मौलिकता तथा विद्वत्ता दीख पड़ती है। यद्यपि पदमावत के रचनाकाल के संबंध में डा० अग्रवाल के मत से मैं सहमत नहीं हूँ,[२८] पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विवेचन गंभीर और विद्वत्तापूर्ण है। पदमावत के अध्यात्मपक्ष का विवेचन लेखक ने स्वतंत्र निबंध के रूप में किया है, और एतत्संबंधी तथ्यों के उद्घाटन में अपनी विद्वत्ता तथा मौलिकता का परिचय दिया है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'संजीवन भाष्य' अपने ढंग का अकेला है और शोधग्रंथ के सभी गुण इसमें पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

इसी वर्ष हिंदी अनुसंधान - परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की ओर से डा० विमल कुमार जैन का शोधप्रबंध 'सूफी मत और हिंदी साहित्य' प्रकाशित हुआ। इस प्रबंध पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने लेखक को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी।

ग्रंथ की प्रस्तावना में डा० नगेंद्र ने लिखा है, "इस ग्रंथ में कदाचित् पहली बार सूफी सिद्धांतों का हिंदी माध्यम से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।" डा० नगेंद्र का यह

२८. द्रष्टव्य : प्रस्तु लेखक का निबंध 'जायसी से संबद्ध तिथियों का पुनः परीक्षण', हिंदी अनुशीलन, जुलाई – सितंबर १६५८ ई०।

कथन बहुत दूर तक ठीक है। इसके पूर्व आचार्य चंद्रबली पांडेय ने अपनी 'तसव्वुफ और सूफीमत' नामक पुस्तक में सूफीमत पर विचार किया था, किंतु उनका अध्ययन विशेषतः सूफीमत के विकास के इतिहास पर केंद्रित था। 'सूफी काव्य संग्रह' की भूमिका में परशुराम चतुर्वेदी ने सूफीमत के विभिन्न अंगों का अध्ययन प्रस्तुत किया, पर वह बहुत संक्षिप्त है। आलोच्य शोधकर्ता ने प्रथम बार सूफीमत के विकास तथा उसके सिद्धांतों का अध्ययन करने के साथ हिंदी के सूफी कवियों के दार्शनिक सिद्धांतों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया।

उक्त शोधप्रबंध में सूफीमत के आविर्भाव तथा विकास का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है, किंतु सूफी दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने में लेखक को सफलता नहीं मिली है। सूफीमत में ब्रह्म के स्वरूप तथा जीव जगत् और ब्रह्म के पारस्परिक संबंध का विवेचन अस्पष्ट है। ग्रंथ के छठे अध्याय में भारतीय भक्तिमार्ग का विवेचन है। मैं समझता हूँ, इस ग्रंथ में इस अध्याय की कोई भी उपयोगिता नहीं है। अनावश्यक होने के साथ यह विवेचन नितांत हल्का तथा पिष्टपेषण मात्र है।

इस ग्रंथ का सर्वाधिक दुर्बल स्थल इसका सातवाँ परिच्छेद है, जिसमें हिंदी के सूफी कवियों तथा काव्यों का परिचय दिया गया है। शोधकार्य का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि जिस विषय पर शोधकार्य किया जा रहा है, उस विषय से संबद्ध उससे पूर्व की प्रकाशित समस्त रचनाओं का अध्ययन अनुसंधित्सु को करना चाहिए और उसके आधार पर सबल तर्कों के साथ कोई निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए। हिंदी के शोधग्रंथों में इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। किसी प्रसिद्ध आलोचक के निष्कर्षों को, चाहे दूसरों ने उसे गलत ही क्यों न सिद्ध कर दिया हो, बिना उसका नामोल्लेख किए, ज्यों का त्यों अपने शोधप्रबंध में संमिलित कर लेना हिंदी में संकोच की बात नहीं समझी जाती। उक्त शोधग्रंथ का सातवाँ अध्याय इस दोष से भरा हुआ है। इस अध्याय में 'चंदायन' का रचनाकाल १३१८ ई० दिया हुआ है; जो अशुद्ध तो है ही,[२९] आलोच्य शोधकर्त्ता ने इसके लिए कोई प्रमाण देने का भी कष्ट नहीं किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा के साक्ष्य पर लेखक मानता है कि "जायसी (१४९९ ई०) से पूर्व 'सपनावती' (स्वप्नावती) 'मुगधावति' (मुग्धावती), 'मिरगावति' (मृगावती), 'मधुमालति' (मधुमालती) और 'प्रेमावति' (प्रेमावती), प्रेमकाव्य लिखे जा चुके थे। इनमें से मृगावती और मधुमालती तो खंडित रूप में उपलब्ध हैं, परंतु शेष का पता नहीं।"[३०] अनुसंधानकर्ता को कदाचित यह मालूम नहीं कि इस विषय पर आचार्य शुक्ल और डा० वर्मा के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी विचार किया है और उन्होंने इस मान्यता के प्रति संदेह प्रकट किया है। अनुसंधानकर्त्ता को यदि इस मान्यता के संबंध में कोई संदेह नहीं, तो उसे इसके पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए था।

अनुसंधानकर्ता 'मधुमालती' को 'पदमावत' के पूर्व की रचना मानता है, पर वस्तुतः 'मधुमालती' 'पदमावत' के बाद की रचना है, और यह तथ्य बहुत पहले ही प्रकाश में आ

२९. द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेखक का निबंध 'सूफी काव्य की परंपरा और उसकी सामान्य विशेषताएँ, साहित्य, अप्रैल १९५८, पृष्ठ ५०।

३०. डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ११३।

चुका था।[३१] शेख नबी कृत 'ज्ञानदीप' और कासिमशाह कृत 'हंसजवाहर' की रचना-तिथियाँ भी अशुद्ध दी गई हैं। इन तिथियों के समर्थन में अनुसंधानकर्ता ने कोई प्रमाण भी नहीं दिया है।[३२] कुतुबन के संबंध में अनुसंधानकर्त्ता ने लिखा है, "ये शेख बुरहान के शिष्य थे, अतः चिश्ती संप्रदाय से संबंध रखते थे। इनका काल सन् १४९३ ई० के लगभग माना जाता है क्योंकि ये जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह (शेरशाह के पिता) के आश्रित थे। इन्होंने 'मृगावती' नाम का एक प्रेमाख्यानक काव्य हिजरी ९०९ (सन १५०१ ई०) में अवधी में लिखा था।" पर वास्तविकता यह है कि कुतुबन न तो शेख बुरहान के शिष्य थे, न शेरशाह के पिता के आश्रित थे और न ९०९ हिजरी के समय सन् १५०१ ई० थी। शोधकर्त्ता ने शुक्ल जी के निष्कर्षों को, जो उसके शोधप्रबंध के प्रकाशित होने के पूर्व ही संशोध्य हो चुके थे, मात्र दो - एक शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रायः उन्हीं की शब्दावली में, बिना उनका उल्लेख किए, अपहृत कर लिया है। जायसी की जन्मतिथि तथा 'पदमावत' के रचनाकाल के संबंध में भी विवेकहीन नकल दीख पड़ती है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने ९०६ हिजरी को जायसी का जन्मकाल माना था, जिसे आलोच्य शोधकर्ता ने स्वीकार कर लिया है। आश्चर्य की बात यह है कि अनुसंधानकर्ता ने डा० श्रेष्ठ के तर्कों को बड़े विश्वास के साथ बिना उनका उल्लेख किए अपना बना लिया है।

आलोच्य शोधकर्ता नूर मुहम्मद के साथ ही प्रेमाख्यानक - काव्य - परंपरा की समाप्ति मानता है। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'सूफी काव्य संग्रह' में नूरमुहम्मद के बाद के कई कवियों – शेख निसार, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, और कवि नसीर का परिचय दिया है, तथा उनकी कविताओं को संग्रह में स्थान दिया है। किंतु आलोच्य शोधकर्ता ने इस सामग्री का उपयोग न करके, शुक्ल जी की १९२४ ई० की मान्यताओं को दुहरा भर दिया है।

अनुसंधानग्रंथों में येन केन प्रकारेण पृष्ठ भर डालने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है। शोधकर्ता बहुधा विभिन्न काव्यग्रंथों की कहानी गद्य में लिख डालता है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। आलोच्य शोधकर्ता ने भी इस प्रणाली का सहारा लिया है। 'हिंदी साहित्य में सूफी कवि और काव्य' परिच्छेद में मृगावती, पदमावत, चित्रावली, हंस-जवाहर, ज्ञानदीप, इंद्रावती, अनुराग बाँसुरी आदि की कथाएँ विस्तार से दी गई हैं। किंतु इससे ग्रंथ का कलेवर चाहे जितना बढ़ गया हो, हमारे ज्ञान में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती।

आलोच्य अनुसंधान ग्रंथ के दशम से लेकर सप्तदश अध्याय तक की सामग्री मौलिक तथा ज्ञानवर्धक है। इसके पूर्व हिंदी के सूफी कवियों के सृष्टि, जीव, प्रेम, विरह तथा आचार-संबंधी विचारों पर उन्हीं के ग्रंथों के आधार पर, किसी ने विचार नहीं किया था। हिंदी साहित्य पर सूफीमत के प्रभाव का विवेचन भी मौलिक ढंग से किया गया है।

३१. द्रष्टव्य : परशुराम चतुर्वेदी, सूफी काव्य संग्रह, प्रथम संस्करण, पृ० १११ – १२०।
३२. इन ग्रंथों के प्रामाणिक रचनाकाल के लिए द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेख का निबंध 'सूफी काव्य की परंपरा और उसकी सामान्य विशेषताएँ', साहित्य, अप्रैल १९५८ ई०, पृ० ७३ तथा ७७।

इसी वर्ष के नवंबर मास में डा० हरिकांत श्रीवास्तव का शोधप्रबंध 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य', हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में लेखक ने हिंदू कवियों द्वारा लिखित प्रेमाख्यानों के विविध पक्षों पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व हिंदी साहित्य के इस अंग का, किसी विद्वान ने, गंभीर अध्ययन नहीं किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहासग्रंथों में इस धारा के कुछ कवियों का उल्लेखमात्र ही पाया जाता है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने मुसलमानों तथा हिंदुओं, दोनों के द्वारा लिखित प्रेमाख्यानों का एक साथ अध्ययन प्रस्तुत किया, पर इसी कारण उनके अधिकांश निष्कर्ष भ्रांत हो गए। वे दोनों में से किसी भी धारा का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत न कर सके। डा० हरिकांत श्रीवास्तव ने सूफ़ीतर प्रेमकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत करके हिंदी के एक उल्लेखनीय अभाव की पूर्ति की।

प्रस्तुत ग्रंथ में डा० श्रीवास्तव ने सूफीतर कवियों द्वारा लिखित प्रेमाख्यानकों का अध्ययन दो खंडों में प्रस्तुत किया है। प्रथम खंड में इस धारा की सामान्य प्रवृत्तियों का विवचन किया गया है, तथा दूसरे खंड में प्राप्य ग्रंथों का विशिष्ट अध्ययन है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ का स्तर पर्याप्त मात्रा में संतोषजनक है। विषय का विवेचन तो गंभीर है ही, लेखक ने विभिन्न स्थानों में बिखरे हुए हस्तलिखित ग्रंथों का उपयोग करके हिंदी साहित्य के अध्ययनकर्ताओं के लिए प्रचुरमात्रा में उपयोगी सामग्री उपलब्ध कर दी है। यह ग्रंथ उन दोषों से सर्वथा मुक्त है, जिन्हें हम डा० कमल कुलश्रेष्ठ के शोधग्रंथ में पाते हैं।

सन् १९५६ ई० में डा० सरला शुक्ल का शोधग्रंथ 'जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य', लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ पर लेखिका को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इस ग्रंथ में डा० शुक्ल ने जायसी के परवर्ती सूफी कवियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि इसमें लेखिका ने एक ऐसे क्षेत्र की विशेषताओं का उद्घाटन किया है, जो अपेक्षाकृत उपेक्षित था। इसके पूर्व हिंदी के विद्वान् जायसी के पदमावत पर ही अपनी लेखनी माँजकर संतोष कर लेते थे। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ 'सूफी काव्य संग्रह' में जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जायसी के परवर्ती कवियों का थोड़ा परिचय दिया है, पर वह इन कवियों के महत्व को देखते हुए अपर्याप्त है। सरला शुक्ल ने इन उपेक्षित कवियों और उनके काव्यों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत कर एक भारी अभाव की पूर्ति की है। इस अध्ययन का विशेष महत्व इसलिए भी है कि इन कवियों के अधिकांश ग्रंथ अमुद्रित रूप में ही, विभिन्न स्थानों में, प्राप्त होते हैं। इस विषय की अप्रकाशित और अमुद्रित प्रतियों को इकट्ठा कर डा० शुक्ल ने यह व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेखिका ने कुछ ऐसे सूफी कवियों द्वारा लिखित काव्यों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिनका उल्लेख परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफी काव्य संग्रह' में नहीं मिलता।

इस ग्रंथ में लेखिका ने 'सूफी मत का आविर्भाव और विकास, सूफी दर्शन, सूफी साधना, सूफी साहित्य, सूफी काव्य की पृष्ठभूमि, सूफियों की लोकदृष्टि, सूफियों की प्रबंध-कल्पना, प्रतीक योजना, रस, छंद, अलंकार, भाषा तथा शैली, सूफी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ, सूफियों की बहुज्ञता, सूफियों का स्फुट साहित्य तथा सूफी कवियों की देन, इन सामान्य विषयों पर विचार करने के साथ-साथ पदमावत के परवर्ती २९ प्रेमकाव्यों का

विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक कवि का अध्ययन—जीवन, ग्रंथरचनाकाल, कथा सारांश, कथासंगठन, प्रेमपद्धति, प्रेमतत्व, अन्य वर्णनप्रसंग, कवि की बहुज्ञता, विप्रलंभ शृंगार, संयोगवर्णन, भावव्यंजना, कुछ अन्य वर्णनप्रसंग आदि उपशीर्षकों में किया गया है।

इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेदों को छोड़कर शेष में इन कवियों के संबंध में पर्याप्त सामग्री का संकलन किया गया है। इसका सिद्धांतपक्ष निश्चित रूप से दुर्बल है। सूफीदर्शन के संबंध में लेखिका के विचार स्पष्ट नहीं हैं। पर हिंदी के सूफी कवियों के धार्मिक विचारों का विवेचन पर्याप्त व्यवस्थित और विशद् है। सूफी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा सूफी कवियों की देन – ये दो परिच्छेद भी बहुत हलके मालूम पड़ते हैं।

पर इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ में कुछ ऐसी अक्षम्य त्रुटियाँ हैं जो इसकी सारी सिद्धि पर पानी फेर देती हैं। प्रथमतः लेखिका ने इसमें दूसरे आलोचकों की न केवल पंक्तियों वरन् संदर्भों तक को खपा डालने का कौशल दिखाया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफी काव्य संग्रह की अनेक पंक्तियाँ और संदर्भ इस ग्रंथ में खपा डाले गए हैं। ख्वाजा अहमद के संबंध में परशुराम चतुर्वेदी ने सूफी काव्यसंग्रह के पृष्ठ १८५ के प्रथम संदर्भ में जो कुछ लिखा है, उसे लेखिका ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। केवल पंक्तियों का क्रम बदला हुआ है।

इस ग्रंथ के पृष्ठ ४, ५, ३४, ३५, ३७, तथा ५७, १३८, १३९, १४१ और सूफी काव्य संग्रह के पृष्ठ ५, २१, २३, ५७ तथा ६३१, ७२ का क्रमशः मिलान करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। इस तुलना से यह स्पष्ट हो जाएगा कि परशुराम चतुर्वेदी की कितनी पंक्तियाँ इस ग्रंथ में पचा डाली गई हैं। लेखिका ने इन प्रसंगों में चतुर्वेदी जी के नाम का उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझा। जान कवि के संबंध में लिखते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है, "स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने इसे (जान कवि को) फतहपुर (जयपुर) के नवाब अलफखाँ का उपनाम समझा था तथा उसे बादशाह शाहजहाँ का 'बहुत ही कृपापात्र संबंधी' भी बतलाया था। कुछ अन्य लोगों ने उसे उक्त बादशाह का साला होना तक मान लिया था। परंतु श्री अगरचंद नाहटा की खोजों द्वारा इधर पता चला है कि यह उपनाम उक्त बादशाह का न होकर वस्तुतः उसके पुत्र न्यामत खाँ का है।" किसी भी शोधकर्ता से हम यह आशा रखते हैं कि वह स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, 'कुछ अन्य लोगों' तथा अगरचंद नाहटा के लेखों का स्वयं अवलोकन करके अपना निर्णय प्रस्तुत करे, पर यह कष्ट उठाने के बदले लेखिका ने परशुराम चतुर्वेदी की पंक्तियों को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझा है। कहा जाता है कि ज्ञान के क्षेत्र में तिरछे मार्ग के लिए स्थान नहीं है। पर हिंदी में, शोधकार्य के क्षेत्र में तिरछे मार्ग का फायदा आजकल खूब ही उठाया जा रहा है, और डा० शुक्ल इसका अपवाद नहीं हैं।

इस विवेकहीन नकल का एक हास्यास्पद परिणाम कवि नसीर के 'प्रेमदर्पण' के रचना-काल के प्रसंग में दिखाई पड़ता है। इस प्रसंग में डा० शुक्ल लिखती हैं, "अपनी रचना का निर्माणकाल बताते हुए वे कहते हैं कि मैंने हिजरी सन् १३०५ के जैकीद महीने की चौबीसवीं तारीख को इस प्रेमगाथा की समाप्ति की है। उस दिन संवत १९०४ के भादों महीने की कृष्ण द्वादशी थी तथा दिन शुक्रवार था जो मुसलमानों के अनुसार जुमा कहलाता है।" ये पंक्तियाँ सूफी काव्यसंग्रह के पृष्ठ १९७ पर, तनिक परिवर्तन के साथ, देखी जा सकती है। डा० सरला शुक्ल के ध्यान में यह बात नहीं आई कि १३०५ हिजरी १९ सितंबर १८८७ ई० को आरंभ

हुई थी, अतः उस समय किसी भी हालत में १६०४ वि० सं० नहीं पड़ सकता। वस्तुतः १३०५ के स्थान पर १३३५ होना चाहिए था। इसकी सफाई में सारा दोष प्रेस के मत्थे मढ़ दिया जा सकता है, किंतु दोनों ग्रंथों में, जो भिन्न - भिन्न मुद्रणालयों से प्रकाशित हुए हैं, एक ही भूल का होना संदेह उत्पन्न करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'सूफी काव्य संग्रह' में प्रेस की भूल के कारण १३३५ हि० के स्थान पर १३०५ हिजरी छप गया, जिसे डा० सरला शुक्ल ने जिनका शोधप्रबंध सूफी काव्य संग्रह के बाद प्रकाशित हुआ, बिना विचार किए ज्यों का त्यों उतार लिया। परिणामस्वरूप तिथिसंबंधी यह अक्षम्य दोष इस ग्रंथ में आ गया।

डा० सरला शुक्ल ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कुछ पंक्तियों को भी अपने ग्रंथ में खपा डालने में संकोच नहीं किया है। शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत के संबंध में शुक्ल जी का जो विचार है[33] उसे अत्यंत अल्प परिवर्तन के साथ बिना शुक्ल जी का उल्लेख किए ही, लेखिका ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है,[34] मानो वह अपनी मौलिक उद्भावना हो। पृ० २४० में भी सूफी के विरहवर्णन के प्रसंग में शुक्ल जी की जायसी ग्रंथावली की भूमिका के पृ० ३८ की कुछ पंक्तियाँ ले ली गई हैं।

शोधग्रंथ में यदि कोई सामग्री कहीं से ली गई है, तो उसका निर्देश करना अनिवार्य होता है। डा० सरला शुक्ल ने इसमें भी मितव्ययिता से काम लिया है। उदाहरणार्थ पृ० ३७५ में, लेखिका ने जान कवि के ग्रंथों के संबंध में श्री अगरचंद नाहटा के लेखों से सामग्री ली है, पर उनका निर्देश नहीं किया। शोधकर्ता को अपने अनुसंधान के प्रकाशित या अप्रकाशित आधारग्रंथों का सविवरण उल्लेख अवश्य करना चाहिए। डा० शुक्ल ने दो-एक ग्रंथों को छोड़कर अन्य ग्रंथों के संबंध में ऐसी सूचना के प्रसंग में मौन धारण कर लिया।

इस शोधप्रबंध में तिथिसंबंधी अराजकता का तो इतना विकृत रूप प्रदर्शित किया गया है कि इसमें दी हुई अन्य सभी तिथियों पर से सामान्य रूप से हमारा विश्वास उठ जाता है। इस ग्रंथ में तीन प्रकार की तिथियाँ दी हुई हैं; १ – हिजरी, २ – विक्रम संवत् और ३ – ईसवी सन्। पर अनेक स्थानों पर कहीं तो संख्या के पहले केवल सन् दिया हुआ मिलता है और कहीं केवल संख्या ही वर्तमान रहती है। पाठक उसे क्या समझे हिजरी, विक्रम संवत् या ईसवी सन्? इस अराजकता के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं — "निसाती की मसनवी फूलबन (१६५५) फारसी किस्सा बिसातीन का अनुवाद है।"[35] "चंदायन के रचनाकाल का उल्लेख हि० सं० ७७२ फीरोज शाह तुगलक के शासनकाल सं० १४०८ – १४४५ ई० में श्री ब्रजरत्न दास ने माना है।"[36]

"फीरोजशाह तुगलक का शासनकाल ई० सन् १३५१-१३८८ अर्थात् वि० सं० १४०८-१४४५ था।"

३३. द्रष्टव्य : जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १४२।
३४. जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य पृ० ७५।
३५. पृ० १३५।
३६. पृ० १३८, इस वाक्य की बनावट द्रष्टव्य है।

डा० शुक्ल की उपर्युक्त पंक्ति में संवत् के साथ ईसवी भी लिखी हुई है। इसका अर्थ पाठक क्या लगाएँ ?

डा० सरला शुक्ल एक स्थान पर लिखती हैं —

"डा० रामकुमार वर्मा ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी का राज्यकाल सं० १३५६-१३७३ ई० का समकालीन माना है।" यहाँ फिर संवत् के साथ ईसवी भी दी हुई है। उल्लेखनीय यह है कि डा० शुक्ल ने रामकुमार वर्मा के ग्रंथ को देखकर लिखने तथा पृष्ठ संख्या देने का कष्ट नहीं उठाया है। उन्होंने यह पंक्ति सीधे 'सूफी काव्य - संग्रह' से ले ली है और एतत्संबंधी पादटिप्पणी भी वहीं से उठाकर अपने ग्रंथ में रख ली है। अलाउद्दीन का शासनकाल भी उन्होंने गलत लिख दिया है। परशुराम चतुर्वेदी ने अलाउद्दीन का शासनकाल सं १३५३-१३७३ लिखा है, जिसे सरला शुक्ल ने सं० १३५६ – १३७३ ई० बना दिया है। वस्तुतः अलाउद्दीन का शासनकाल वि० सं० १३५३ – १३७३ (ई० सन् १२९६ – १३१६) है।

इस प्रकार की तिथिसंबंधी भ्रांतियों के सैकड़ों उदाहरण इस ग्रंथ से दिए जा सकते हैं। निबंध के अधिक विस्तृत होने का भय होते हुए भी मैं एक उदाहरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। पृष्ठ ४३१ पर लेखिका लिखती है, "मुहमदशाह का शासनकाल सन् १७७६ – १८०५ है।" फिर पृ० ४५३ पर वे पुनः कहती हैं,"मुहम्मदशाह का शासनकाल सं० १७७६ – १८०५ है।" सामान्य पाठक इनमें से किसे सत्य माने ? पृ० ४३१ पर डा० शुक्ल लिखती हैं; "कवि ग्रंथ (हंस जवाहिर) का रचनाकाल हि० सं० ११४९ या सन् १७९३ बताया गया है।" सन् १७९३ विक्रमी है या ईसवी, यह लेखिका ने नहीं बताया। जहाँ तक पाठकों की बात है, वे इसे ईसवी ही समझेंगे, क्योंकि सन् के साथ ईसवी का ही प्रयोग सामान्यतः देखा जाता है। पर ११४९ हिजरी १२ मई १७३६ ई० को आरंभ होकर १ मई १७३७ ई० को समाप्त हुई थी, जिस समय वि० सं० १७९३ ही पड़ सकता है, ईसवी सन् १७९३ नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ये दोनों भूलें प्रेस के कारण हैं। पर यह उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ लखनऊ विश्वविद्यालय का प्रकाशन है, और सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रंथमाला में प्रकाशित है। लखनऊ विश्वविद्यालय जैसी संस्था को, इस ग्रंथ को इन भूलों के साथ, कदापि प्रकाशित नहीं करना चाहिए था।

अब तिथिसंबंधी कुछ ऐसी भ्रांतियों का उल्लेख किया जाए जो प्रकृतितः गंभीर हैं। शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' नामक अपने ग्रंथ का रचनाकाल बताते हुए लिखा है —

एक हजार सन् रहे छबीसा। राज सुलही गनहु बरीसा॥
संवत् सोलह सै छिहरा[३७]। उक्ति करत कीन्ह अनुसरा॥

कवि ने ग्रंथ का रचनाकाल १०२६ हिजरी के साथ - साथ १६७६ वि० सं० भी बताया है। १०२६ हि० ९ जनवरी १६१७ ई० को आरंभ हुई थी, जिस समय १६७३ या १६७४ वि० सं०

३७. श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा संपादित 'ज्ञानदीप' में जो काशी नागरीप्रचारिणी सभा से छपकर प्रकाशित होनेवाला है, 'छिहंतरा' पाठ है।

(१६७४ वि० सं० की ही अधिक संभावना है) पड़ सकता है। पर डा० सरला शुक्ल लिखती हैं – "ग्रंथ का रचनाकाल हि० सन् १०२६ दिया हुआ है। अतः सन् १६१६ ग्रंथ का रचनाकाल निश्चित होता है।" पर यह तिथि नितांत अशुद्ध है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह भ्रांति भी नकलबाजी का ही दुष्परिणाम हैं। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में शेख नबी के संबंध में लिखा है, "ये जौनपुर जिले में... मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और सं० १६७६ में... वर्तमान थे।" डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने थोड़ी मौलिकता दिखाई और लिख डाला, "शेख नबी ने ज्ञानदीप और देवजानी की प्रेमकहानी लेकर यह काव्य सन् १६१६ ई० में लिखा।" डा० सरला शुक्ल ने भी इस परंपरा की रक्षा की। इन्होंने हिजरी सन् को ईसवी सन् से मिलाकर देख लेने का कष्ट नहीं उठाया। शेख नबी ने अपने ग्रंथ का जो रचनाकाल दिया है, उसमें या तो 'छबीसा' पाठ अशुद्ध है, अथवा 'छिहरा' या 'छिहंतरा', इसका संकेत डा० सरला शुक्ल को अवश्य करना चाहिए था।

नूर मुहम्मद के प्रेमकाव्य 'अनुराग बाँसुरी' के रचनाकाल के संबंध में तो लेखिका ने एक ऐसी बात कह डाली है, जो नितांत अविवेकपूर्ण है। वे पृष्ठ ४५३ पर लिखती हैं, 'इंद्रावती' में कवि ने शाहे वक्त की प्रशंसा करते समय "मुहम्मद शाह" (यहाँ उलटे अर्द्ध विरामों की क्या आवश्यकता है ?) की प्रशंसा की है। अनुराग बाँसुरी में शाहे वक्त की प्रशंसा नहीं है। बहुत संभव है कि दोनों ग्रंथों की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल में ही हुई हो, और कवि ने अनावश्यक समझ कर मुहम्मद शाह की प्रशंसा न की हो। मुहम्मद शाह का शासनकाल सं० १७७६ – १८०५ हैं। यह कथन नितांत दोषपूर्ण है। कवि ने अनुराग बाँसुरी का रचनाकाल ११७८ हिजरी स्वयं लिखा है, जिस समय १७६४ ई० सन् पड़ता है। (लेखिका ने पृ० ४५२ पर लिखा है, 'अनुराग बाँसुरी' का रचनाकाल कवि ने सन् ११७८ ई० संवत् १८२१ दिया है। इसे लेखिका की असावधानी मानी जाए अथवा प्रकाशक की, यह समझ में नहीं आता)। मुहम्मद शाह का शासनकाल १७४८ ई० में ही समाप्त हो गया था। अर्थात् 'अनुराग बाँसुरी' की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल की समाप्ति के सोलह वर्ष बाद हुई थी। फिर भी लेखिका कहती है, "बहुत संभव है कि दोनों ग्रंथों की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल में ही हुई हो।" किसी शोधप्रबंध में ऐसा आधारहीन भ्रांत निष्कर्ष ही चिंता का विषय है।

तथ्यसंबंधी भ्रांतियों का भी इस ग्रंथ में अभाव नहीं है। पृ० ३ पर डा० शुक्ल ने लिखा है, "अब्दुल फिदा के अनुसार सूफीमत की उत्पत्ति 'सूफ' शब्द से हुई है जिससे तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि कयामत के दिन से सूफी लोग सर्वप्रथम पंक्ति में होंगे।" इस वाक्य की बनावट तो अशुद्ध है ही, इसमें तथ्यसंबंधी चिंत्य भ्रांति भी है। 'सूफ' का अर्थ 'ऊन' होता है, 'पंक्ति' नहीं। वस्तुतः डा० शुक्ल को 'सूफ' के स्थान पर 'सफ' लिखना चाहिए था। यह दोष भी प्रेस के मत्थे मढ़ दिया जा सकता है, पर लेखिका किसी तरह इस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती।

जान कवि के ग्रंथों के संबंध में भी एक अक्षम्य भ्रांति इस ग्रंथ में दीख पड़ती है। पृ० ३७५ में डा० शुक्ल का कहना है, "जान कवि के लगभग ६० ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं जो इस समय हिंदुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) संग्रहालय में सुरक्षित है, जिनमें से २६ की गणना प्रेमाख्यानों के अंतर्गत हो सकती है।" पर श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं, "इनकी (जान कवि की) इधर ७० ऐसी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से २१ की गणना प्रेमाख्यानों के अंतर्गत की

जा सकती है। ये रचनाएँ इस समय उत्तर प्रदेश की 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के प्रयागवाले संग्रहालय में सुरक्षित हैं।"[३८] द्रष्टव्य यह है कि स्रोत के एक होते हुए भी दोनों विद्वानों के दिए हुए तथ्य भिन्न हैं। कौनसी बात ठीक मानें। विचार करने पर डा० सरला शुक्ल की बात ही गलत मालूम पड़ती है। क्योंकि इस मत का खंडन स्वयं उनकी यह पुस्तक ही, अन्यत्र कर देती है। पृ० १३९ पर वे लिखती हैं, "इसके बाद जान कवि ने अपनी सिद्ध लेखनी से २१ सूफी प्रेमाख्यानों की रचना की।" इस वाक्य से २९ प्रेमाख्यानों की बात गलत सिद्ध हो जाती है। पृ० ३७६ पर डा० सरला शुक्ल ने जान कवि रचित ग्रंथों की सूची दी है, जिनकी संख्या ६५ है। इससे जान कवि द्वारा ६० ग्रंथों के लिखे जाने की बात भी खंडित हो जाती है। इस प्रकार की भ्रांतियों के रहते हुए भी, लोगों को डाक्टरेट का प्रमाण पत्र क्यों दे दिया जाता है, यह तो भगवान जानें। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस स्वतोव्याघातयुक्त ग्रंथ से विद्यार्थियों के भी बहुत उपकार होने की आशा नहीं की जा सकती। पृ० ३३३ पर इस प्रकार की एक और भ्रांति के दर्शन होते हैं। डा० शुक्ल लिखती हैं, "जायसी ने 'पदमावत' के आरंभ में जिन प्रेमाख्यानों की सूची दी है उसमें 'मधुमालत' का उल्लेख मिलता है।" पर जायसी ने प्रेमकहानियों का उल्लेख 'राजा गढ़ छेका खंड' में किया है, जो पदमावत के आरंभ में न होकर ठीक बीचोबीच में है।

अंत में इस ग्रंथ की भाषा पर भी विहंगम दृष्टि डाल लेना कम अपेक्षित नहीं है। वाक्य की अशुद्ध बनावट के उदाहरण हमने पहले ही, अनायास देख लिए हैं। इस शोधप्रबंध में भाषासंबंधी अशुद्धियों का इतना प्राचुर्य है कि परीक्षाओं के लिये प्रश्न चुनने वालों को अशुद्ध वाक्यों की खोज में कहीं अन्यत्र नहीं भटकना पड़ेगा। यदि इस ग्रंथ की भाषासंबंधी अशुद्धियों की सूची बनाई जाय, तो इसमें कई पृष्ठ लग जाएँगे।

वर्तनीसंबंधी असंख्य अशुद्धियाँ इस ग्रंथ में हैं। चंद्रबिंदु का प्रयोग लेखिका ने बहुत कम किया है। चंदबिंदु के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं — भांति (पृ० १५), हुमायूं (पृ० २५), पांति (पृ० ४५), भांति (पृ० ७२), फंसाने (२०३) मुंह (पृ० ३०३) जहां (३२६), नूरजहां (पृ० ५३९) आदि।

संस्कृत में यह नियम है कि कवर्ग के साथ 'ङ्', चवर्ग के साथ 'ञ्', टवर्ग के साथ 'ण', तवर्ग के साथ 'न्', पवर्ग के साथ 'म्' और अंतस्थ के साथ 'अनुस्वार का संयोग होता है। हिंदी में अब केवल अनुस्वार से सभी काम चलाया जाने लगा है। पर डा० शुक्ल ने एक नई ही पद्धति का प्रयोग (शायद यह भी उनका अनुसंधान ही हो) कर डाला है। नमूने द्रष्टव्य हैं — दन्ड (पृ० २७), सामन्जस्य, अखन्ड (पृ० ३२); अवगुन्ठन (पृ० २४), कुन्डलिनी (पृ० १०४), कर्मकान्ड (पृ० ११७), घन्टे (पृ० ३५१), संम्वत् (पृ० १३८) आदि। वर्त्तनीसंबंधी कुछ अन्य दोषों के उदाहरण निम्नांकित हैं:- दुरूहता (पृ० ११५), जाग्रति (पृ० १८), स्रष्टा (पृ० ५६, ६३), संग्रहीत (पृ० ३०२), तैत्रीयोपनिषद, बरेंड संहिता (पृ० १०२), वैभिन्य, संपति (पृ० ३३३), ग्राहस्थ्य (पृ० १८१ पर दो जगह), लेखिनी (पृ० ३७२), छूरी (पृ० ४३४), प्रतिष्ठा (पृ० ४६४) इत्यादि।

३८. सूफी काव्य संग्रह, पृ० १३९।

लिंग - दोष से युक्त वाक्यों के उदाहरण निम्नलिखित हैं —

"जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाती है।" (पृ० १४), "इस संसार में बिना दान दिये किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं होती।" (पृ० ८८), "वह अंधे के भाँति चारों ओर भटकता फिरता है।" (पृ० ९१), "उसने रूपनगर की चित्रावली के वर्षगाँठ के उत्सव...में उससे भी चलने को कहा।" (पृ० ३५३)।

वाक्य - रचना - दोष के कारण अस्पष्ट वाक्यों की भरमार - सी इस ग्रंथ में दिखाई पड़ती है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं – "डा० मेकालिफ ने खुलासातुत्तवारीख के आधार पर इनकी मृत्यु ३१वीं रज्जब हिजरी १५६० ... की है।" (पृ० ३०२) [मेकालिफ ने इनका मृत्युकाल निश्चित किया अथवा इनकी मृत्यु की]।

"इसके अतिरिक्त 'अल्लानामा' नाम की एक अज्ञात कवि की रचना प्राप्त होती है।" (पृ० २१४), ['अल्लानामा नाम की' शब्दसमूह 'कवि की' के बाद होना चाहिए था, तब अर्थ स्पष्ट होता।]

ऊपर जो भाषा संबंधी अशुद्धियाँ दिखाई गई हैं, वे तथ्यतः नमूना ही हैं। इस प्रकार की अनेक अशुद्धियाँ इस ग्रंथ में यत्र - तत्र - अनेकत्र बिखरी हुई हैं। किसी शोधप्रबंध में इस प्रकार की भूलों का प्राप्त होना निश्चय ही दुःख का विषय है। केवल एक ही बात, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिंदी के शोधग्रंथों का स्तर कितना निम्न हो गया है।

इसी वर्ष श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा' नामक ग्रंथ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। स्वयं लेखक के विचार से 'प्रस्तुत निबंध भारतीय प्रेमाख्यानों के वैविध्य एवं विकास के विषय में सरसरी ढंग से किया गया अध्ययन' के बावजूद इसमें अनुसंधान के तत्त्व पुष्कल मात्रा में विद्यमान हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में विद्वान लेखक ने ,वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक, लौकिक, संस्कृत, बौद्ध, जैन तथा अपभ्रंश साहित्यों में प्राप्त होनेवाले प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त, भारत के विभिन्न प्रांतों में पाई जानेवाली प्रेमकथाओं के लिखित - अलिखित रूप का विवरण देते हुए हिंदी प्रेमगाथाओं से उनका संबंध दिखाया है। इस प्रकार हिंदी प्रेमाख्यानों के मूल स्रोत का अनुसंधान करने के प्रयास में लेखक ने समस्त संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्राचीन साहित्य को छान डाला है। विभिन्न भाषाओं तथा प्रांतों में लिखित - अलिखित रूप में प्राप्त होनेवाली प्रेम कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन करके लेखक ने उनका वर्गीकरण भी बड़े सुंदर ढंग से किया है इससे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है। हिंदी प्रेमाख्यानक साहित्य के अध्ययन में इस शोधपूर्ण ग्रंथ का महत्व अक्षुण्ण रहेगा।

सन् १९५६ ई० में ही विश्वभारती के विद्वान् प्राध्यापक श्री रामपूजन तिवारी ने सूफीमत और सिद्धांत के संबंध में 'सूफीमत – साधना और साहित्य' नामक पुस्तक लिखी, जो ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस में प्रकाशित हुई। यह ग्रंथ किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिए शोधप्रबंध के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया था, पर इससे इसके महत्व में कोई कमी नहीं आती। यह सही अर्थ में उच्चकोटि का अनुसंधानग्रंथ है।

इस ग्रंथ का विषय नया नहीं है। इसके पूर्व एकाधिक पूर्वउल्लिखित अनुसंधानकर्ताओं ने इस विषय का विवेचन किया है। वस्तुतः सूफ़ी साहित्य पर अनुसंधान करनेवाले प्रत्येक शोधग्रंथ ने इस विषय को, किसी न किसी रूप में छुआ अवश्य है। पर तथ्य यह है कि यह सारा विवेचन अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा उलझा हुआ है। डा० विमलकुमार जैन ने अपने शोधग्रंथ 'सूफीमत और हिंदी साहित्य' में इस विषय पर थोड़े विस्तार के साथ विचार करने का प्रयास किया है, किंतु अंततः वह भी अपर्याप्त और अस्पष्ट रह गया है। निस्संदिग्ध रूप से हिंदी में पहली बार इस विषय का इतना सांगोपांग और गंभीर अध्ययन इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

प्रो० तिवारी ने १७ अध्यायों में सूफीमत के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया है। प्रथम आठ अध्यायों में सूफीमत का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, जिसमें इसकी पृष्ठभूमि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों, इस्लाम के विभिन्न संप्रदायों तथा प्रारंभिक काल के कुछ सूफी साधकों का परिचय दिया गया है। नवें से बारहवें अध्याय तक में सूफी सिद्धांतों का विवेचन तथा अन्य धर्मों और मतों से इसकी तुलना की गई है। शेष चार अध्यायों में भारतवर्ष में सूफी मत के प्रचार तथा सूफी साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रकार लगभग साढ़े पाँच सौ पृष्ठों में आलोच्य लेखक ने सूफीमत का गंभीर, स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ से हिंदी के एक जबरदस्त अभाव की पूर्ति हो गई है। इसके पूर्व सूफीमत को समझने के लिए, हिंदी के अनेक ग्रंथों के बावजूद, हमें अंग्रेजी ग्रंथों की सहायता लेनी पड़ती थी, पर इस ग्रंथ से अब यह कठिनाई दूर हो गई है। तिवारी जी ने अनेक प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर सूफीमत के उद्भव, विकास और स्वरूप का जो यह विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत उपयोगी तथा वैशिष्ट्यपूर्ण है।

इसी वर्ष इंद्रचंद नारंग लिखित 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' नामक पुस्तक हिंदी-भवन, जालंधर और इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। यह मात्र ५९ पृष्ठों की एक छोटी सी पुस्तक है, इसलिये हम इसे शोधग्रंथ तो नहीं कह सकते, पर विवेचन की गंभीरता और मौलिकता को ध्यान में रखते हुए, इसे शोधप्रबंध की संज्ञा बिना किसी हिचक के दी जा सकती है। शुक्ल जी ने अपनी 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में पदमावत के ऐतिहासिक आधार पर विचार किया था। नारंग जी ने, प्रस्तुत निबंध में शुक्लजी के मत से योग्यता पूर्वक पार्थक्य रखते हुए अपने मौलिक विचारों की गंभीरतापूर्वक पुष्टि की है। मैं समझता हूँ इस पक्ष पर इतनी गंभीरता और विशदता के साथ किसी अन्य लेखक ने अब तक विचार नहीं किया है।

सन् १९५७ ई० में भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ से डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ का शोध प्रबंध 'सूफी महाकवि जायसी' प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के 'परिचय' से ज्ञात होता है कि श्री जयदेव जी के प्रबंध 'जायसी, उसका काव्य और दर्शन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने १९४९ में उनको पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया। प्रस्तुत ग्रंथ थोड़े से परिवर्तन के साथ डाक्टरेट के लिए स्वीकृत प्रबंध ही है।[39] प्रश्न यह है कि इस ग्रंथ की परीक्षा इसका रचनाकाल १९४९ ई० मानकर की जाए, अथवा १९५७ ई० मानकर। ई० सन् १९४९ और १९५७ के बीच सूफी साहित्य पर प्रचुर मात्रा में अनुसंधानकार्य हुआ है, अतः १९५७

३९. डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, सूफी महाकवि जायसी, परिचय।

के बाद किसी पुस्तक पर इन अनुसंधानों के प्रकाश में ही विचार किया जा सकता है, जब कि १९४१ ई० में लिखित पुस्तक के लिए यह आवश्यक नहीं। मैं समझता हूँ कि इस ग्रंथ की परीक्षा इसकी प्रकाशनतिथि को ही ध्यान में रखकर होनी चाहिए, क्योंकि, लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि, "व्यस्त और अव्यवस्थित जीवन, अन्य विषयों पर अनुशीलन की धुन, आदि अनेक कारणों से यह प्रबंध जैसा का तैसा पड़ा रहा और प्रकाश में न आ सका, यद्यपि जायसीविषयक नवीनतम विवेचनों के प्रकाश में इसमें आवश्यक परिमार्जन होता रहा।" अतः सन् १९४९ ई० को इस ग्रंथ का रचनाकाल मानकर इस पर विचार करने में कोई तुक नहीं।

आलोच्य ग्रंथ के ग्यारह अध्यायों में डा० जयदेव ने जायसी के काव्य की विभिन्न परिस्थितियों ,कवि के जीवनवृत्त, उसकी कृतियों, काव्यकला, साहित्यिक विधान, अनुभूतिपक्ष, और सूफीमत तथा जायसी के दर्शन पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। पर इस अध्ययन में ऐसी कोई भी बात नहीं दीख पड़ती, जिसके बल पर इस ग्रंथ को अनुसंधानग्रंथ कहा जाए। आलोच्य ग्रंथ में लेखक ने न तो किसी नवीन तथ्य का उद्‌घाटन किया है, और न उसे ज्ञात तथ्यों की मौलिक व्याख्या और उनके बीच नवीन संबंधस्थापन में ही सफलता मिल सकी है। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि प्रस्तुत ग्रंथ से जायसीविषयक हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं हुई। सारा ग्रंथ अनावश्यक विस्तार, उथले विचारों और दुर्बल तर्कों से भरा हुआ है। प्रथम अध्याय में लेखक ने, २९ पृष्ठों में जायसी की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। लेखक का यह विवेचन नितांत छिछला तथा पिष्टपेषण मात्र है। जायसी के साहित्य से इन परिस्थितियों का कोई संबंध नहीं दिखाया गया है।

मौलिकता का, जो शोधग्रंथ की अनिवार्य विशेषता है, इस ग्रंथ में सर्वथा अभाव है। पदमावत के काव्यपक्ष के विवेचन में प्रस्तुत लेखक ने शुक्लजी के कुछ निष्कर्षों को, कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ, दुहरा भर दिया है। कहीं-कहीं अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए शुक्लजी की मान्यताओं के विरोध में ऐसे तर्क प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें 'कठदलील' मात्र कहा जा सकता है। एक उदाहरण दर्शनीय है। शुक्लजी के मतानुसार "तोते के मुख से पहले हो पहल पदमावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्च्छित हो जाना और पूर्ण वियोगी बन जाना अस्वाभाविक सा लगता है।" डा० जयदेव इसका खंडन करते हुए कहते हैं, "हम इससे ज्यों के त्यों सहमत नहीं। रत्नसेन का यह प्रेम एक विशेष व्यक्ति की ओर है। जिस पदमावती के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर नागमती उस तोते को मरवा डालना चाहती है, सारे चित्तौड़ में जिसकी बात फैल जाती है, जिसके कुटुंब आदि के विषय में राजा शुक से सब कुछ पूछ चुका है, जिसके विषय में वह यह भी जानता है कि वह अविवाहिता है, 'जेहि सुनत' राजा का मन 'पतंगू' हो जाता है, उससे यदि राजा प्रेम करने लगा तो उसमें लोभ की क्या बात है। यह तो नितांत स्वाभाविक ही है। तुलसीदास जी ने जनकपुर की वाटिका में मर्यादापुरुषोत्तम राम को सीता के विषय में इस प्रकार की बातें करते हुए दिखलाया है – फिर कहाँ साधारण पुरुष और कहाँ मर्यादापुरुषोत्तम।"[४०]

४०. सूफी महाकवि जायसी, पृ० २४९ – ५०।

लेखक का यह वक्तव्य अनर्गल मालूम पड़ता है। इसमें कहीं भी तुक नहीं। प्रेम और पूर्वराग का अंतर शुक्लजी ने जायसी-ग्रंथावली की भूमिका में अच्छी तरह से समझा दिया है। मैं इस संबंध में अपनी तरफ़ से कुछ न कहकर उन्हीं के शब्दों को उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ। उन्होंने लिखा है, "पूर्वराग पूर्ण रति नहीं है, अतः उसमें केवल 'अभिलाष' स्वाभाविक जान पड़ता है, शरीर का सूखकर काँटा होना, मूर्च्छा, उन्माद आदि नहीं……हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा – चाहे वह चिड़िया हो या आदमी – किसी पुरुष या स्त्री के रूप गुण, आदि को सुनकर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करने वाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं।……सुंदरी स्त्री कोई बहुमूल्य पत्थर नहीं कि अच्छा सुना और लेने के लिए दौड़ पड़े। इस प्रकार का दौड़ना रूपलोभ ही कहा जाएगा प्रेम नहीं।…बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता…आदि।"[४१] इस पर भी यदि कोई रत्नसेन के आरंभिक प्रेम को लौकिक दृष्टि से स्वाभाविक कहे तो यह उसका दुराग्रहमात्र है। डा० जयदेव ने गुणश्रवण से उद्भूत प्रेम की तुलना पुष्पवाटिका में सीता के प्रति राम के प्रेम से कर दी है, यह समझ में नहीं आता, इस तुलना की असंगति इतनी स्पष्ट है कि इसके संबंध में कुछ लिखना अनावश्यक होगा।

इस ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में जायसी का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है, किंतु लेखक न तो जायसी के जीवनवृत्त से संबद्ध किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन कर सका है, न उसके तर्क ही सुचिंतित हैं। जायसी की जन्म तथा मृत्युसंबंधी तिथियों के संबंध में आलोच्य शोधकर्ता ने शुक्लजी का अनुसरण किया है, पर इसकी पुष्टि में उसने कोई नवीन प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। कहीं कहीं अपने अनुमान को ही लेखक ने प्रमाण मान लिया है। इस अध्याय से जायसी के जीवनवृत्त से संबद्ध हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। यहाँ भी अनावश्यक विस्तार करके पुस्तक का कलेवर बढ़ाया गया है। 'आखिरी कलाम' का रचनाकाल ९३६ हिजरी पूर्वसिद्ध है। स्वयं लेखक ने ही उसका रचनाकाल लिख दिया है और किसी ने कभी इसमें संदेह नहीं किया। लेखक ने इस तिथि की प्रामाणिकता सिद्ध करने में व्यर्थ ही श्रम किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ का छठा अध्याय, जिसमें पदमावत की काव्यकला, अभिव्यक्ति, अलंकार, वर्णन, सूक्तियों तथा चरित्रचित्रण आदि का विवेचन है, शुक्लजी की जायसी ग्रंथावली का अनुकरण मात्र है। अनावश्यक विस्तार, पिष्टपेषण तथा छिछलेपन का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। 'चरित्र-चित्रण' शीर्षक उपशीर्षक में लेखक ने अपनी दयनीय विवेकशून्यता का परिचय इस प्रकार दिया है कि उसने रत्नसेन पदमावती आदि के साथ रसूल और खुदा को भी 'पदमावत' का पात्र मान लिया है। पात्र किसे कहते हैं, कम से कम इसका ज्ञान तो अनुसंधानकर्ता को होना ही चाहिए। इसी प्रकार चतुर्थ अध्याय में लेखक ने 'पदमावत' के उत्तरार्द्ध की कथा को 'एक सबल ऐतिहासिक घटना' माना है, पर इसके समर्थन में वह अपने कथन को ही प्रमाण मानता हुआ प्रतीत होता है। दूसरी तरफ श्री इंद्रचंद नारंग ने अपनी पुस्तक 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' में इस मत का सप्रमाण खंडन

४१. रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, पृ० ३० – ३२।

किया है। यहाँ भी लेखक ने 'पदमावत' की ऐतिहासिकता पर स्वतंत्र रूप से विचार करने का कष्ट न उठाकर, शुक्लजी के एतत्संबंधी मत की पुनरावृत्ति करके ही संतोष कर लिया है।

इस ग्रंथ के सभी निष्कर्ष, जिनके संबंध में मौलिकता का दावा किया गया है, भ्रामक और आधारहीन हैं। प्रेमकाव्य का अध्ययन करनेवाले प्रत्येक विद्यार्थी को यह भलीभाँति ज्ञात है कि मंझन जायसी के परवर्ती कवि हैं। पर १९५७ ई० में प्रकाशित इस शोधग्रंथ में लेखक मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती मानता है। इसी प्रकार यह एक सुज्ञात तथ्य है कि सूफी काव्यपरंपरा नूरमुहम्मद के बाद भी चलती रही, जिसके मुख्य कवि ख्वाजा अहमद, कवि नसीर आदि हैं। पर आलोच्य अनुसंधानकर्ता की धारणा है कि नूरमुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' के साथ ही इस परंपरा की परिसमाप्ति हो गई।[४२] शोधकार्य की इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है?

आलोच्य शोधकर्ता 'आखिरी कलाम' को जायसी की प्रथम रचना मानता है, पर इसके पक्ष में उसने जो प्रमाण दिए हैं, वे अत्यंत दुर्बल हैं। वस्तुतः यह मान्यता निराधार और भ्रामक है, तथा इसका खंडन लेखक की ही अन्य बातों से हो जाता है। शोधकर्ता जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी मानता है[४३] तथा उसके अनुसार 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी' का अर्थ है, 'मेरा जन्म नौ सौ सदी में हुआ और तीस वर्ष के पश्चात् कविता करने लगा।'[४४] ऐसी अवस्था में, यदि 'आखिरी कलाम' जायसी की प्रथम रचना होती तो उसका रचनाकाल ९३० या ९३१ हिजरी होना चाहिए। पर 'आखिरीकलाम' का रचनाकाल ९३६ हिजरी निर्विवाद है।

लेखक के अनुसार 'अखरावट' जायसी की अंतिम रचना है। इस कथन के प्रमाण में भी जो तर्क दिए गए हैं, वे लचरमात्र हैं। इधर हाल में पटना कालेज के प्रो० सैयद हसन अस्करी को 'अखरावट' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है, जिससे उसका रचनाकाल ९११ हि० सिद्ध होता है। यह तिथि, अन्य कारणों से भी ठीक मालूम पड़ती है।[४५] वस्तुतः 'अखरावट' के ही जायसी के प्रथम ग्रंथ होने की अधिक संभावना है। 'आखिरी कलाम' तो उनका प्रथम ग्रंथ हो ही नहीं सकता।

इस ग्रंथ का केवल एक परिच्छेद – पदमावत के दार्शनिक पक्ष का विवेचन – विद्यार्थियों के कुछ लाभ का है। एम० ए० का छात्र इसे पढ़कर, जायसी के काव्य से कवि के दार्शनिक विचारों से संबद्ध उद्धरणों को खोजने के श्रम से बच सकता है। पर किसी भी दशा में इसे

४२. डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, सूफी महाकवि जायसी, पृ० ११५।

४३. यह मान्यता नितांत भ्रामक है। मैंने इसका खंडन हिंदी अनुशीलन, अंक ३ में प्रकाशित अपने एक निबंध 'जायसी - संबंधी तिथियों का पुनःपरीक्षण' में किया है।

४४. सूफी महाकवि जायसी, पृ० ७८।

४५. द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेखक का निबंध 'जायसी से संबद्ध तिथियों का पुनःपरीक्षण, हिंदी अनुशीलन, वर्ष ११, अंक ३ (जुलाई – सितंबर – १९५८ ई०)।

शोधग्रंथ कहना तो उचित नहीं। उपर्युक्त मीमांसा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन से हिंदी आलोचना-साहित्य के विकास में लेशमात्र भी योग नहीं मिला है।

प्रस्तुत प्रबंध में प्रो० सैयद हसन अस्करी (इतिहासविभाग, पटना कालेज) के गत दशक में प्रकाशित हिंदी सूफी साहित्य संबंधी निबंधों का, जो अंग्रेजी में हैं, उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९५१ ई० में उनका 'ए फिफ्टीन सेंचुरी सत्तारी सूफ़ी सेंट आव नार्थ बिहार' शीर्षक निबंध 'द जर्नल आव बिहार रिसर्च सोसाइटी', भाग ३७, अंक १-२ में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने बिहार के एक अज्ञातप्राय सूफी संत शेख काजिन का परिचय प्रस्तुत किया। मई १९५३ के करेंट स्टडीज (पटना कालेज), अंक १ में प्रकाशित अपने एक निबंध 'हजरत हिसामुद्दीन द फिफ्टीन सेंचुरी चिश्ती सूफी सेंट आफ मानिकपुर' में प्रो० अस्करी ने मानिकपुर के सूफी संत हजरत हिसामुद्दीन का सांगोपांग परिचय, प्रथम बार सूफी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी वर्ष, इसी पत्रिका के अंक २ में, प्रो० अस्करी ने 'कंट्रीब्यूशन आफ द सूफीज आफ़ द नार्थ टू हिंदी लिटरेचर' शीर्षक एक निबंध प्रकाशित कराया, जिसमें उन्होंने हसन असरफ जहाँगीर सिमानी, हसन सैयद हमीद राजेशाह, शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही, सैयद राजा, शेख दोस्त मुहम्मद आदि कुछ स्वल्प ज्ञात सूफी संतों की कविताओं के उद्धरण देकर हिंदी साहित्य को उनकी देन के महत्व का प्रतिपादन किया।

सन् १९५३ ई० में ही अस्करी ने एतत्संबंधी कदाचित् अपना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंध 'ए न्यूली डिस्कवर्ड वोल्यूम आफ अवधी वर्क्स इन्क्लूडिंग पदमावत एंड अखरावट आफ मलिक मुहम्मद जायसी' बिहार शोधपरिषद की पत्रिका (जे० बी० आर० एस०) के वर्ष ३९, अंक १-२ (मार्च-जून) में प्रकाशित कराया। इस विद्वत्तापूर्ण शोधनिबंध में उन्होंने मनेर शरीफ के खानकाह पुस्तकालय में प्राप्त कुछ हस्तलिखित अवधी ग्रंथों, जिनमें जायसी का पदमावत और महरीनामा, बुरहान लिखित 'अरिल', बक्सन अथवा बक्श खाँ लिखित कुंडलिया, साधन लिखित एक शीर्षकरहित ग्रंथ और वियोगसागर नामक ग्रंथ हैं, का विवेचन किया है।

इस अनुसंधान से जायसी के संबंध में कुछ नए तथ्य प्रकाश में आए, यह निर्विवाद है। प्रो० अस्करी द्वारा प्राप्त 'अखरावट' की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में जुम्मा व जुल्काद ९११ हिजरी का उल्लेख है। लेखक ने यह प्रमाणित किया है कि अखरावट का रचनाकाल ९११ हिजरी है। इसके पूर्व 'अखरावट' के रचनाकाल के संबंध में हिंदी के विद्वान् अधिकतर अटकल का ही सहारा लेते थे, जिसमें 'मनमानेपन' और 'नई बात कहने' के लिए विशेष अवकाश रहता था। इस मनमानेपन का एक दृष्टांत डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ की पुस्तक में दिखाई पड़ता है। जिसका विवेचन हम कर चुके हैं — जिसमें 'अखरावट' जायसी की अंतिम रचना मानी गई है। प्रो० अस्करी ने, उचित ही, 'पदमावत' को जायसी की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ कृति माना है।[४६]

४६. जे० बी० आर० एस०, वर्ष ३९, अंक १-२, पृ० १८।

जायसी के जन्मकाल तथा पदमावत के रचनाकाल के संबंध में भी प्रो० अस्करी ने अपनी नवीन मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल, डा० कमल कुलश्रेष्ठ और आचार्य चंद्रबली पांडेय के मतों का विद्वत्तापूर्ण खंडन करते हुए, प्रो० अस्करी ने यह प्रमाणित किया है कि जायसी का जन्म नवीं सदी हिजरी के ८वें दशक के प्रारंभ में हुआ था, तथा पदमावत की रचना उन्होंने ६४७ हिजरी में की थी।

उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों से जायसी के ग्रंथों के पाठनिर्धारण में भी अमूल्य सहायता मिलेगी, यह प्रो० अस्करी ने अपने निबंध में पूरी तरह से दिखा दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'पदमावत' और पदमावत की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति में अद्भुत साम्य दिखलाई पड़ता है। उससे जहाँ एक तरफ डा० गुप्त के संपादन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है वहाँ दूसरी तरफ, इस प्राचीन प्रति के प्रकाश में पदमावत के पाठ के पुनः परीक्षण की आवश्यकता भी महसूस की जाती है। 'अखरावट' और 'महरीनामा' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियाँ भी इन ग्रंथों के पाठनिर्धारण में अमूल्य सहायता प्रदान करेंगी, इसका सप्रमाण विवेचन प्रो० अस्करी ने किया है। अंत में, पर जो कम महत्वपूर्ण नहीं है, प्रो० अस्करी ने जायसी के ग्रंथों में उल्लिखित सूफी संतों का तथा जायसी ने किस लिपि में अपने ग्रंथ रचे थे, इसका पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है।

सन् १९५५ ई० में, प्रो० अस्करी ने पटना कालेज की पत्रिका 'करेंट स्टडीज' में एक निबंध 'रेयर फ्रैग्मेंट्स आव चंदायन एंड मृगावती' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने मनेर शरीफ में सज्जादनशीन और उनके भाई मौलवी मुरादुल्ला के यहाँ से प्राप्त 'चंदायन' और 'मृगावती' के दुर्लभ अंशों का विवेचन किया। इस निबंध का महत्व इसलिए बहुत अधिक है कि इसके पूर्व हिंदी संसार इस तथ्य से तो परिचित था कि मुल्ला दाउद नामक किसी सूफी कवि ने चंदायन, चंदावत, चंदावन नामक ग्रंथ की रचना की थी, किंतु इस ग्रंथ का पता किसी को नहीं था। प्रो० अस्करी ने प्रथम बार इस निबंध में, चंदायन की कथा हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत की तथा इसके उद्धरण दिए। यद्यपि रोमन अक्षरों में और वह भी गलत ढंग से लिखने के कारण इन उद्धरणों को ठीक-ठीक पढ़ना कठिन है, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है।

कुतुबन लिखित मृगावती की एक खंडित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा को १९०० ई० में प्राप्त हुई थी, जिससे कुछ अंश लेकर परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'सूफी काव्य संग्रह' में संकलित किया है, किंतु सुनने में आता है, वह प्रति अब लुप्त हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में प्रो० अस्करी द्वारा प्राप्त 'मृगावती' की प्रति का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

अपने निबंध के उपसंहार में, प्रो० अस्करी ने कुतुबन के आश्रयदाता के संबंध में अपने मौलिक तथा विश्वासोत्पादक विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल तथा परशुराम चतुर्वेदी के एतत्संबंधी अभिमतों का खंडन करते हुए यह प्रमाणित किया है कि कुतुबन का आश्रयदाता जौनपुर का अंतिम शारकी सुल्तान हुसेन शाह था, "जो एक शक्तिशाली शासक तथा रोमांटिक व्यक्तित्ववाला राजा था। वह एक कवि और संगीतज्ञ था तथा हिंदुओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय था।"[४७] प्रो० अस्करी का एतत्संबंधी अभिमत सर्वाधिक प्रामाणिक मालूम पड़ता है।

४७. करेंट स्टडीज (पटना कालेज), १९५५, पृ० ३३।

इसी वर्ष बिहार शोधपरिषद् की पत्रिका (जे० बी० आर० एस०, वर्ष ४१, अंक ४) में प्रो० अस्करी ने अपना एक दूसरा महत्वपूर्ण निबंध 'कुतुबंस मृगावत, ए यूनीक मेनस्क्रिप्ट इन परशियन स्क्रिप्ट' प्रकाशित कराया। इस निबंध के आरंभिक अंश में उन्होंने 'चंदायन' के रचनाकाल पर विचार किया – जिसे अपने पहले निबंध में उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से छोड़ दिया था – तथा रचना - काल - संबंधी पंक्तियाँ उद्धृत कीं। इसके पूर्व हिंदी संसार 'चंदायन' के रचनाकाल से अनभिज्ञ था। इस संबंध में अनेक भ्रांत धारणाएँ हिंदी साहित्य के इतिहासकारों में फैली हुई थीं।[४८] इस निबंध में प्रो० अस्करी ने स्पष्टतः प्रमाणित कर दिया है कि चंदायन का रचनाकाल ७८१ हि० अर्थात् १३७९ ई० है।

इस निबंध के दुर्लभ महत्व का एक दूसरा कारण भी है। इसमें लेखक ने दिल्ली के एक पुराने खानकाह में प्राप्त 'मृगावत' की एक हस्तलिखित प्रति का, जो उन्हें अपने मित्र श्री जेड० ए० देसाई से प्राप्त हुई थी, विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया है। यह प्रति, प्रो० अस्करी के अनुसार प्रारंभिक सोलहवीं शताब्दी की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व 'मृगावत' की पूर्ण प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं थी, और हिंदी के विद्वान् नागरीप्रचारिणी सभा की अधूरी प्रति के आधार पर ही अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते थे। 'मृगावत' की पूर्ण कथा तक लोगों को ज्ञात नहीं थी। प्रो० अस्करी को, प्रथम वार, मृगावत की पूर्ण कथा हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष रखने का श्रेय है।

सन् १९५६ ई० में प्रो० अस्करी ने पटना विश्वविद्यालय पत्रिका, वर्ष १० में एक निबंध 'द बिहार शरीफ मेनस्क्रिप्ट आफ पदमावत' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने मुख्यतः रामचंद्र शुक्ल, ग्रियर्सन, माताप्रसाद गुप्त आदि द्वारा संपादित 'पदमावत' के विभिन्न संस्करणों तथा मनेर शरीफ की हस्तलिखित प्रति से बिहार शरीफ से प्राप्त 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रति के पाठांतरों का सविस्तर विवेचन किया।

सन् १९५७ ई० में उपर्युक्त लेखक ने पटना विश्वविद्यालय की पत्रिका, वर्ष ११ में अपना एक दूसरा निबंध 'हजरत अब्दुल कुद्दूस गंगोही' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने १५वीं शताब्दी के एक महान् चिश्ती सूफी संत हजरत अब्दुल कुद्दूस और उनकी कृतियों का सविस्तर और प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूफी साहित्यसंबंधी शोध के क्षेत्र में प्रो० अस्करी का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके एक दशक में लिखे गए निबंधों से हिंदी शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ है और अनुसंधित्सुओं को नवप्रकाश मिला है।

सूफी साहित्यसंबंधी आलोचना और अनुसंधान पर सरसरी नजर डालने पर एक तथ्य जो सामने आता है, वह यह है कि पी० एच० डी० – डी० लिट्० आदि की डिग्री प्राप्त करने के लिए जो प्रबंध लिखे गए हैं, उनमें से अधिकांश का स्तर असंतोषजनक है।

४८. द्रष्टव्य : मेरा निबंध 'सूफी कवि तथा उनके काव्यनिर्माण संबंधी तिथियों का अध्ययन' साहित्य, वर्ष १०, अंक ३ (अक्टूबर १९५९ ई०)।

स्तरसंबंधी इस ह्रास का कारण डिग्री प्राप्त करने का लोभ तथा अनुसंधित्सुओं में अनुसंधान-संबंधी वास्तविक प्रेरणा का अभाव जान पड़ता है। दो या तीन वर्षों में शोधकर्ता किसी भी तरह अपना शोधग्रंथ पूरा कर लेना चाहता है, और इस प्रयास में वह इधर उधर की पुस्तकों से सामग्री संकलन करके अपने प्रबंध का कलेवर बढ़ाता रहता है। इन महाकाय प्रबंधों का अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो शोध का उद्देश्य नए तथ्यों का अनुसंधान अथवा पुराने तथ्यों की, नवीन संदर्भ में व्याख्या करना न रहकर केवल किसी प्रकार पृष्ठ पूरा करना रह गया हो। इन शोधप्रबंधों में ऐसी बातों की अधिकता रहती है, जिन्हें शोध नहीं कहा जा सकता। दो - तीन वर्षों में शोधकर्ता समूची संकलित सामग्री का परीक्षण भी नहीं कर पाता और वह समूची सामग्री को, जिनकी शोधप्रबंध में कतई आवश्यकता नहीं होती, अपने प्रबंध में किसी प्रकार ठूँस देता है। इससे ग्रंथ का आकार तो अवश्य बढ़ जाता है, पर शोधकर्ता साहित्य को कोई नई चीज नहीं दे पाता।

यह एक दुखद सत्य है कि हिंदी में अनुसंधान की वास्तविक प्रेरणा लेकर शोधकार्य में प्रवृत्त होनेवाले अनुसंधित्सुओं की संख्या कम है। अधिकतर शोधकर्ता ऐसे हैं जो किसी प्रकार डिग्री प्राप्त करके विश्वविद्यालयों में नौकरी पाना चाहते हैं। जहाँ शोध का उद्देश्य केवल नौकरी पाना हो, वहाँ उच्च कोटि का अनुसंधान कैसे संभव है? फिर भी यह देखकर संतोष होता है कि हिंदी जगत में अनुसंधान के प्रति उत्साह और प्रेरणा जग रही है, और उस दिन की झलक दिखाई दे रही है जब हिंदी में भी, पाश्चात्य भाषाओं के समान, उच्चकोटि का अनुसंधान संभव हो सकेगा।

प्रस्तुत निबंध में सूफी साहित्य के एक महत्वपूर्ण अभाव की तरफ सूफी साहित्य के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उचित होगा। अभी तक सूफी कवियों के अधिकांश ग्रंथ हस्तलिखित पोथियों के रूप में है, जो सामान्य पाठकों के लिए दुष्प्राप्य हैं। जायसी, मंझन उसमान, नूरमुहम्मद तथा कासिमशाह के काव्यों के अतिरिक्त कोई भी सूफी काव्य प्रकाशित नहीं है। इनमें भी नूरमुहम्मद, उसमान तथा कासिमशाह के प्रकाशित ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। समझ में नहीं आता कि इस आश्चर्यजनक उपेक्षा का कारण क्या है? यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि बिना इन ग्रंथों का प्रकाशन हुए, सूफी साहित्य का समुचित अध्ययन नहीं हो सकता। हिंदी साहित्य के विद्वानों का ध्यान इस तरफ जाना चाहिए। आज हम इस अवस्था में हैं कि सभी ज्ञात सूफी कवियों की रचनाओं का मुद्रण कर सकें। सुना है, डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० विश्वनाथ प्रसाद को 'चंदायन' की कोई पूर्ण हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, जिसका संपादन कर उपर्युक्त विद्वान् उसे आगरा विद्यापीठ से प्रकाशित करनेवाले हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रंथों का विशेषकर 'मृगावत' का भी प्रकाशन होना चाहिए। इधर हाल में श्री नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्य के वर्ष १०, अंक ३ (अक्टूबर १९५९) में सूफी कवि शेख किफायत की प्रेमकथा 'विद्याधर' (रचनाकाल ११३६ हिजरी) का मुद्रण कर इस दिशा में एक स्तुत्य पथनिर्देश किया है। हिंदी में शोध करनेवालों का ध्यान यदि इस ओर आकृष्ट किया जाए और किसी एक सूफी कवि के काव्य का संपादन तथा उसकी काव्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन पी - एच० डी० के लिए प्रबंध के विषयरूप में स्वीकृत किया जाए तो इस चिंतनीय अभाव की पूर्ति सरलता से हो सकती है।

सूफी साहित्यसंबंधी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण निबंध

पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद, लेखक श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, नागरीप्रचारिणी सभा, १९९० वि० (१९३३ ई०)।

जायसी और प्रेमतत्त्व, लेखक श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिंदुस्तानी, भाग ४, अंक ३ (जुलाई १९३४)।

पदमावत (पदुमावती), लेखक श्री रामकुमार वर्मा, संमेलन पत्रिका, पौष - माघ १९९४ वि० (ई० १९३७)।

मंझनकृत मधुमालती, लेखक श्रीयुत ब्रजरत्नदास, हिंदुस्तानी, भाग ८, अंक २ (अप्रैल १९३८)।

मंझनकृत मधुमालती, लेखक चंद्रबली पांडेय, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष, ४३ सं० १९९५ वि० (१९३८ ई०)।

मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन चरित, लेखक श्री सैयद आले मुहम्मद केहर जायसी नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सं० १९९७ (१९४० ई०)।

*

संस्कृत में नायिकाभेद और रसिकजीवनम्*

करुणापति त्रिपाठी

[२]

अग्निपुराण, काव्यालंकार और शृंगारतिलक

अग्निपुराण और शृंगारतिलक – ये दो ग्रंथ ऐसे बताए जाते हैं जिनमें नए रूप से आलंबनविभाव के अंतर्गत नायक - नायिका - निरूपण किया गया है। वैसे श्रव्य काव्य के अंतर्गत रस की महत्ता को प्रारंभिक विस्तार देनेवाले आचार्य हैं 'रुद्रट'। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में श्रव्य काव्य का रसयोजना से समन्वित होना आवश्यक बताया है –

तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

[काव्यालंकार – १२।२]

इसके साथ - साथ शांतरस को नवम तथा स्नेह - स्थायिभाव 'प्रेय' रस को दशम रस कहा है। किंतु उन्होंने नायकनायिका की आलंबनात्मक प्रतिष्ठा का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। 'तत्र स्यान्नायकः ख्यातः' द्वारा नायकनायिका को 'शृंगार' का उन्होंने आधार माना है और नायक - नायिका - भेद का संक्षिप्त निरूपण किया है। नायिकादि को आलंबन मानकर स्पष्टरूप से उक्त प्रसंग का उल्लेख नहीं है।

अग्निपुराण के ३३९वें अध्याय में –

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ।।
रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ।
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादि भवस्तथा ।।"

[अग्नि० ३३९।३५ – ३६]

– के द्वारा आलंबनविभाव के संदर्भ में नायकनायिका का उल्लेख किया है। और आगे चलकर–

"स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकः।
सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहुभेदतः ।।"

[वही – ४१]

– के द्वारा स्वीया, परकीया तथा पुनर्भू या परकीया का नामोल्लेख मात्र हुआ है।

* इस निबंध का प्रथम भाग गतांक में प्रकाशित हो चुका है। – संपादक

परंतु उक्त विशेषता के रहने पर भी 'अग्निपुराण' की प्राचीनता विवादास्पद रहने से उसका महत्व कुछ कम हो जाता है। संक्षिप्त रूप में भारतीय विश्वकोशात्मक ग्रंथ अग्निपुराण का संकलन अनेक शतियों में संपन्न हुआ है। भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' या 'शृंगारप्रकाश' में उक्त पुराण की सिद्धांतच्छाया का, शृंगारमहत्ता में आभासमात्र, 'अग्निपुराण' की प्राचीनता को सिद्ध नहीं करता। अतः 'नायक - नायिका - भेद' की आलंबनसंबद्धता में उस पुराण की उद्भावना का मौलिकत्व निश्चयसोपान तक नहीं पहुँच पाता।[११] संभवतः उक्त अंश की रचना 'भोज' के बाद की मानी जाती है। 'पुनर्भू' नायिका (पुनर्विवाहिता) का स्रोत कामशास्त्रीय है।

'शृंगारतिलक' अवश्यमेव ऐसी स्थिति में है और उसका विवेचन इतना सुस्पष्ट है कि यदि 'रुद्रभट्ट' का समय ठीक - ठीक निर्धारित हो सके तो नायिकाभेद को परवर्ती शैली का प्रथम ग्रंथ उसे कहा जा सकता है। उसकी प्राचीनता - अर्वाचीनता के विषय में अंतःसाक्ष्य के आधार पर कुछ संकेत ऊपर किया गया है। एक प्रमाण अवश्य ऐसा है, जिसके कारण 'हेमचंद्र' के पूर्व 'शृंगारतिलक' के अस्तित्व को मानना आवश्यक होता है। हेमचंद्र ने 'शृंगारतिलक' के मंगलश्लोक को उद्धृत करके उसका खंडन किया है।[१२] अतः बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के पहले 'शृंगारतिलक' अवश्य निर्मित हो चुका था। फिर भी 'दशरूपक' के पूर्व 'शृंगारतिलक' की रचना हो चुकी थी – ऐसा मानने का कोई दृढ़ आधार नहीं दिखाई पड़ता। 'शृंगारतिलक' की रचना संभवतः 'अभिनवभारती - कार तथा ध्वन्यालोकलोचन - लेखक अभिनव गुप्त और 'दशरूपक - कार' धनंजय (जो दोनों ही प्रायः समकालीन थे) के पश्चाद्वर्ती काल की है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

'रुद्रट' का 'काव्यालंकार' और 'रुद्रभट्ट' का 'शृंगारतिलक' देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शृंगारतिलक' का समस्त वर्ण्य विषय वस्तुतः 'काव्यालंकार' के 'बारहवें अध्याय से पंद्रहवें अध्याय' तक के अंश का पुनराख्यान मात्र है। नवीनता उसमें कुछ भी नहीं है। श्रव्यकाव्य में 'रस' अनिवार्यतः आवश्यक है – सरसतापादन के लिए यह सिद्धांत 'रुद्रट' ने प्रवर्तित किया। वही बात 'रुद्रभट्ट' ने भी कही। इस दिशा में उनकी मान्यता नूतन नहीं है। क्योंकि उनका समय निश्चितरूपेण 'रुद्रट' से परवर्ती जान पड़ता है। 'शृंगार' का विस्तृत वर्णन, नायक - नायिका - भेद का विवरण तथा विस्तार भी उसी ग्रंथ की पद्धति पर है।

एक बात की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। श्रव्यकाव्य की रंगस्थली में नायक - नायिका की अवतारणा भी नाट्यशास्त्रवाली प्राचीन भूमिका में ही की गई है। 'रुद्रट' ने भी और

११. 'अग्निपुराण' के साहित्य - शास्त्रीय अंश पर एक स्वतंत्र ग्रंथ के प्रकाशन 'अग्नि-पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग' – की सूचना मिली है, पर अभी ग्रंथ देखने का अवसर नहीं मिला है। —लेखक।

१२. 'रसादेः स्वशब्दोक्तिः' ... के संदर्भ में 'रसादि' 'स्वशब्दाभिधान' दोष के उदाहरण में 'शृंगारतिलक' का मंगलाचरण उद्धृत किया गया है।

'रुद्रभट्ट' ने भी शृंगार के प्रसंग में ही साक्षात्‌रूप से इनको अवतारित किया है। केवल इतना ही वहाँ कहा है कि शृंगार के दो भेद होते हैं, संयोग और विप्रलंभ, जहाँ प्रेमानुरक्त स्त्रीपुरुषों के प्रणयपूर्ण व्यापार का वर्णन होता है। यहाँ उत्तम गुणसंपन्न चार प्रकार के नायक प्रसिद्ध हैं। उनकी नायिकाएँ भी तीन प्रकार की हैं – आत्मीया, परकीया और सर्वांगना (या स्वकीया, परकीया और सामान्यवनिता)।[13]

जाने कैसे कुछ लोगों में यह भ्रम चल पड़ा है कि 'रुद्रभट्ट' ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने विभाव के निरूपणप्रसंग में, शृंगारावलंबन के संदर्भ में नायिकाभेद का निरूपण किया है।

इस प्रसंग में तथ्य तो यह है कि भरत ने नाट्यशास्त्र में विभावानुभावों का लक्षण नहीं बताया वरन् यह कहकर छोड़ दिया कि 'लोकस्वभावोपगतत्वाच्चैषां लक्षणं नोच्यते —' अर्थात् विभावानुभाव स्वतः लोकप्रसिद्ध हैं। लोक स्वभावोपगत होने से उनका लक्षण नहीं कहा जा रहा है। यद्यपि आचार्य ने – 'विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनयाः इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।' – इस विवेचन के द्वारा 'विभाव' की व्याख्या की है तथापि आलंबन विभाव और उसके विस्तार का साक्षात् उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

वही परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही। संभवतः 'भट्टनाक', 'अभिनवगुप्त' और 'धनंजय' ने प्रमेयप्रमाण के परिवेश में विशुद्ध साहित्यिक अभिनिवेश के साथ रसास्वादन की प्रक्रिया और उसके अंगोपांग का विवेचनविश्लेषण किया है।

जहाँ तक नायिकाभेद का प्रसंग है – यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'दशरूपक' का विषयनिरूपण अधिक महत्व रखता है। उनका समय अभिनवगुप्त के आसपास का होने से उनकी रचना प्राचीन भी कही जा सकती है और शास्त्रीयस्तर पर विवेचन होने से विवेकपुष्ट भी।

नायिकानिरूपण के क्रम में यद्यपि उन्होंने शृंगारालंबनांतर्गत नायिकाप्रपंच का विस्तारण नहीं किया है और नाट्यशास्त्र का पूर्वोक्त प्रसंगोद्धरण देकर लोकप्रसिद्ध होने से

१३. रुद्रट –
व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः।
शृङ्गारो, स द्वेधा संयोगो विप्रलम्भश्च।
... ... तत्र स्यान्नायकः ख्यातः। एवं स चतुर्धा ... ...।
... ... तस्य स्युर्नायिकाश्चेमाः। ... ...

रुद्रभट्ट –
चेष्टा भवति पुंनार्यो रत्युत्थातिरक्तयोः। संयोगोविप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधो मतः।
... ...। स्त्रीणामभीष्टस्त्विह नायकः स्यात्।
... ... इत्थमत्र चत्वारः। भेदाः क्रिययोच्यन्ते
स्वकीया च परकीया च सामान्यवनिता तथा।
कलाकलापकुशलास्त्रिस्रस्तस्येह नायिकाः।

विभावानुभाव का लक्षण और निरूपण भी नहीं किया है – तथापि रसनिष्पत्ति के संदर्भ में उन्होंने विभावतत्व की केंद्रात्मीय महत्ता का सबल शब्दों में प्रतिपादन किया है। यह भी कहा है कि नायकनायिकादि आलंबनत्वेन विभाव्यमान होते हैं। आलंबन विभाव का एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया हैं।[१४] उन्होंने शृंगारी आलंबन के अंतर्गत नायकनायिका का निरूपण जो नहीं किया हैं उसका कारण यह है कि 'दशरूपक' नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं और नाट्यशास्त्रीय तत्वनिर्देश करते हुए आरंभ में 'वस्तु, नेता और रस' नाट्य के ये तीन तत्व माने गए हैं। उसी क्रम में नेता या पात्र के निरूपण के रूप में नायिकाभेद का वर्णन कर दिया गया है। अतः उसका पुनर्वचन अनावश्यक था। फिर भी वहाँ हमें नायकनायिका का वर्णन उसी पद्धति और सरणि से उपलब्ध होता है, जो आगे चलकर 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' आदि में अपनाई गई। इस क्रम में लक्षणलेखन और फिर उदाहरण के उद्धरण की परिपाटी चल पड़ी थी। उदाहरण भी अपने नहीं दूसरों के।

'दशरूपक' में उक्त पद्धति के साथ-साथ शास्त्रीय स्तर पर विषय के प्रौढ़ विश्लेषण का क्रम लक्षित होता हैं। गद्य-पद्य उभय रूपों के योग से यथासंभव संक्षेप में विषयप्रतिपादन उसी शृंखला की कड़ी है जिसमें 'वामन', 'आनंद' और आगे चलकर 'मंमट' आदि की कृतियाँ निर्मित हुई हैं। 'रुद्रट' की पद्धति 'भामह', 'दंडी' आदिवाली पद्धति है पर अधिक सुव्यवस्थित और सुविभाजित।

'रुद्रभट्ट' के 'शृंगारतिलक' में लक्षणलेखन की पद्धति तो श्लोक में ही लक्षणमात्र निर्देश वाली है – शास्त्रीय-चिंतन-शैली से विरहित है, पर उदाहरण उन्होंने अन्यत्र से लाकर उपस्थित किया हैं।

यह सब कहने का सारांश केवल इतना ही है कि 'रुद्रभट्ट' की अधिकांश प्रवृत्ति वही है जो आगे चलकर हिंदी के रीतियुगीन उक्त विषय की रचनाओं में पल्लवित, पुष्पित हुई।

'शृंगारतिलक' की रचना और 'नायिकानिरूपण' के जो उद्देश्य ग्रंथ में बताए गए हैं वे बहुत कुछ ग्रंथ की परवर्ती प्रवृत्ति से पोषित होने का आभास देते हैं। प्रथम परिच्छेद के अंत में उन्होंने लिखा है कि पूर्वोक्त संभोग शृंगार का तानाबाना फैलानेवाला कवि 'विदग्धगोष्ठी-वनिता – मनोज्ञ' होता है। तृतीय परिच्छेद के अंत में भी कहा है – 'कवि और कामिजन, व्युत्पत्ति के हेतु इस ग्रंथ का निषेवन करें।' और 'शृंगारतिलक' के बिना कहाँ काव्यकथा रहती

१४. ज्ञापमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्। आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा। 'एवमयं' 'एवमियं' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादि र्वा स विभावः। यदुक्तम् – "विभाव इति विज्ञातार्थं इति' ताँश्च यथास्वं यथावसरं च-रसेषू-पादयिष्यामः। अमीषां (विभावानां) चानपेक्षितबाह्यसत्वानां शब्दोपधानादेवासादित-तद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरि-वर्त्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता।" दशरूपक, प्रकाश ४, श्लो० २।

है, कहाँ विदग्धता मिल सकती है, कहाँ रसागम की उपलब्धि हो पाती है और कहाँ गोष्ठी का मंडन हो सकता है।[१५]

इन सब बातों को पृष्ठभूमि में रखकर समन्वित रूप से देखने पर ऐसा भासित होता है कि 'रुद्रभट्ट' कवि अधिक थे, शास्त्रज्ञ मनीषी कम। उनकी दृष्टि भी कुछ कुछ उसी भाँति की थी जैसी कि 'विलास से आडंबरित रीतिकालीन हिंदी के शृंगारी कवियों की, लक्ष्य की दृष्टि से भी और ग्रंथ - रचना - पद्धति की दृष्टि से भी। यह मनोवृत्ति भी सूचित करती है कि संभवतः वे 'दशरूपक' की रचना के बाद वाले उस युग के आचार्य कवि हैं जब तदनुकूल मनोवृत्ति का अंकुरण होने लगा था।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश होगा –

१. रुद्रभट्ट का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो पाता। अंतःसाक्ष्य के आधार पर वे 'रुद्रट' और 'धनंजय' के पश्चाद्वर्ती जान पड़ते हैं। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'हेमचंद्र' की रचना – 'काव्यानुशासन' – के समय तक उनकी कृति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी।

२. श्रव्यकाव्य में रसस्थिति के सिद्धांत का स्पष्ट प्रवर्तन करनेवाले प्रथम आचार्य रुद्रट थे जिनका ग्रंथ और विषयनिरूपण उपलब्ध है। उन्होंने नायक - नायिका - भेद का भी निरूपण किया है। उक्त संदर्भ के विवेचन का शृंगारालंबन के अंतर्गत साक्षात् रूप से उल्लेख नहीं हुआ है, अपितु 'शृंगार रस के नायक - नायिका' कहकर उनके प्रकारों - भेदों का विवरण दिया गया है। नाट्यशास्त्र में यही पद्धति सामान्याभिनय के परिवेश में गृहीत हुई है और वही पद्धति 'रुद्रट' तथा 'रुद्रभट्ट' के समय तक चलती रही।

३. रुद्रभट्ट का 'शृंगारतिलक' भी इसी पूर्वोक्त सरणि का अनुगमन करता है। 'रुद्रट' का ही अनुकरण करते हुए उन्होंने काव्यालंकार के समान, शृंगार के आलंबन की संदर्भ-भूमिका बिना प्रस्तुत किए शृंगाररस के नायकनायिका का निरूपण विस्तारपूर्वक और सोदाहरण उपस्थित किया है। विषय की दृष्टि से, 'रुद्रभट्ट' की यह पूरी रचना 'काव्यालंकार' के कतिपय अध्यायों का प्रायः केवल विस्तृत पुनःकथन है। विषय की दृष्टि से या उसकी क्रमयोजना की दृष्टि से भी इसमें कोई नवीनता या नवोद्भावना नहीं है। उदाहरणसंकलन अवश्य ही इसकी मुख्यता है।

१५. अनेन मार्गेण विशेषरम्यं सम्भोगशृंगारमिमं वितन्वन्।
भवेत्कविर्भावरसानुरक्तो विदग्धगोष्ठीवनिता - मनोज्ञः ॥
शृंगारतिलक – १ अंतिम।
इति मया कथितेन पथामना रसविशेषमशेषमुपेयुषा।
ललितपादपदासदलङ्कृतिः कृतधियामिह वाग्वनितायते ॥
शृङ्गारतिलको नाम ग्रंथोऽयं ग्रथितं मया।
व्युत्पत्तये निषेवन्तु कवयः कामिनश्च ये ॥
कान्या काव्यकथा कीदृग्वैदग्धी को रसागमः।
किं गोष्ठीमण्डनं हन्त शृङ्गारतिलकं विना ॥ — वही ३।५४ - ५७।

४. 'दशरूपक' की विवेचनशैली और विषयविवेचना सुव्यवस्थित, प्रौढ़, प्रकृष्ट एवं पूर्णतः शास्त्रीय है। रसनिष्पत्ति का प्रसंग भी धनंजय के गहन पांडित्य का परिचय देता है। यद्यपि नायिकाभेद का प्रसंग नेता (पात्र) - निरूपण की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है तथापि यथास्थल आलंबनविभाव की संक्षिप्त पर गंभीर चर्चा महत्वपूर्ण है।

५. 'अग्निपुराण' का संबद्ध अंश इतना संक्षिप्त और सामान्य तथा उसका निर्माणसमय इतना संदिग्ध है कि उसे विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

६. निष्कर्ष यह कि नायिकाभेद की मूलसामग्री और आधारशिला भरत के नाट्यशास्त्र में है तथा उसे श्रव्यकाव्य में स्थान मिला 'रुद्रट' द्वारा। उसे प्रौढ़ता प्राप्त हुई 'धनंजय' के 'रूपक' - संबद्ध विवेचन से। भरत के ही समान 'रुद्रट' ने केवल लक्षण और परिचायक विवरण मात्र का अपनी सरस कारिकाओं के माध्यम से उल्लेख किया है। लक्षण देने के अनंतर इस प्रसंग में उदाहरण के उद्धरण की परिपाटी मिलती है 'शृंगार-तिलक'[१६] और 'दशरूपक' में।

भोज और नायिकाभेद

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह संस्कृत - साहित्य - शास्त्र में नायिकाभेद के निरूपण की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में दृश्यकाव्य से संबद्ध विषय का श्रव्यकाव्य की परिधि में प्रवेश होने के साथ साथ उदाहरणात्मक लक्ष्यपद्यों के उद्धरण की प्रथा भी चल पड़ी थी। भोजराज के 'सरस्वतीकंठाभरण'[१७] तथा 'शृंगारप्रकाश'[१८] – दोनों ग्रंथों में उक्त प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्टतः देखा जा सकता है।

१६. 'काव्यालंकार' की अपेक्षा 'शृंगारतिलक' में 'रक्ता' और 'विरक्ता' के वर्णन में अधिक उत्साह दिखाई देता है। अन्यथा वहाँ का निरूपण प्रौढ़ पांडित्य का प्रदर्शक नहीं है। 'दशरूपक' में मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के अनेक भेद मिलते हैं। मुग्धा – वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतौवामा, मृदुकोपा। मध्या – उद्यत् यौवना, कामवती, मोहान्तसुरतक्षमा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा। प्रगल्भा – यौवनान्धा, स्मरोन्मत्ता, गाढ़यौवना, भावप्रगल्भा, रतप्रगल्भा आदि। साथ ही धीराधीरादि त्रिभेद भी प्रगल्भा में होते हैं। मध्या और प्रगल्भा — दोनों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा – ये दो प्रकार हो सकते हैं।

१७. 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' – दोनों ग्रंथों में भोज ने शृंगार रस को सर्वाधिक महत्ता देते हुए उसकी रसराजता को परंपरया सिद्ध कर दिया है। 'शृंगार' को ही भोज ने सर्व-रसाधार अथवा आदि रस माना है और उसे 'अभिमान' या 'अहंकार' स्वरूप कहा है। उसी के योग से काव्यगत सर्वकमनीयता का आविर्भाव होता है।

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥ (सरस्वती० ५।१)

संभवतः इसी मान्यता का प्रतिपादन करने के लिए 'शृंगारप्रकाश' से समान महान् ग्रंथ की रचना, भोजराज ने की। रस की निष्पत्तिपद्धति और रस - भाव - संबंध के विषय में भी उनकी नूतन दृष्टि है जो पूर्वाचार्यों से कुछ विचित्र है। इसका विस्तृत विवरण डा० राघवन् के 'भोज के शृंगारप्रकाश' नामक प्रबंध में पढ़ा जा सकता है।

१८. प्रकाशित रूप में संपूर्ण 'शृंगारप्रकाश' प्राप्त न होने के कारण तद्विषयक निर्दिष्ट सामग्री, यहाँ सधन्यवाद डा० राघवन् की रचना से संगृहीत है।

'भोज' के दोनों ग्रंथों में नायिकाभेद का विषय निरूपित है। 'सरस्वतीकंठाभरण' में कुछ संक्षेप से और 'शृंगारप्रकाश' में कुछ विस्तार से। 'सरस्वतीकंठाभरण' में नायिकाभेद का प्रसंग संक्षेप में पंचम परिच्छेद के रसनिरूपणात्मक कारिकाओं द्वारा वर्णित हुआ है। आगे चलकर १३७ कारिकाओं में रसविषयक मत निर्देश करने के अनंतर 'अथैषां लक्षणोदाहरणानि' (अब इनके लक्षण और उदाहरण दिए जायँगे) – द्वारा समस्त पंचम परिच्छेद में रससंबद्ध सामग्री का विस्तार किया गया है। वहीं यथाक्रम और यथास्थान नायिकाओं का भी अतिसंक्षिप्त लक्षण और उनके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

'सरस्वतीकंठाभरण' में भोज ने नायिका विभाजन, कुछ-कुछ भरत के समान, अनेक दृष्टियों से किया हैं। रस के संदर्भ में जिस भाँति 'अभिमान, अहंकार और शृंगार' का नाम भोज ने लिया है उसी प्रकार 'पुनर्भू' का भी उल्लेख किया। नायिका का यह भेद अंशतः 'कामसूत्र' एवं अन्य कामशास्त्रीय ग्रंथों का आधार लेकर चला है और अंशतः 'अग्निपुराण' का (यदि उक्त पुराण में संबद्ध अंश संकलित और निश्चित हो चुका रहा हो तो)। भोज ने अपने सरस्वती० में स्वीया, परकीया, सामान्या के अतिरिक्त 'पुनर्भू' की चर्चा भी की है। इस ग्रंथ का नायिकाभेद का संदर्भ निम्ननिर्दिष्ट ढंग से किया गया है। इस क्रम की विभाजनदृष्टि विभिन्न आधारों का उल्लेख करती चली है –

गुणतो नायिकापि स्यादुत्तमामध्यमाधमा।
मुग्धा मध्या प्रगल्भा च वयसा कौशलेन वा॥
धीराधीरा च धैर्येण स्वान्यदीयापरिग्रहात्।
ऊढानूढोपयमनात्क्रमाज्ज्येष्ठा कनीयसी॥
मानर्द्ध्युद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा।
सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तितः॥
आजीवतस्तु गणिका रूपाजीवा विलासिनी।
अवस्थातोऽपराश्चाष्टौ विज्ञेयाः खण्डितादयः॥

— सरस्वती० – ५।११० – ११३।

अर्थात् गुण की दृष्टि से नायिका तीन प्रकार की होती हैं – उत्तमा, मध्यमा और अधमा; वय और कौशल (प्रणयकेलि की कुशलता) की दृष्टि से उन्हें मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा कहा जाता है; धीरता, अधीरता के विचार से वे धीरा और अधीरा हैं, परिग्रह (पत्नीत्वेन परिग्रह) की दृष्टि से वे स्वीया और अन्यदीया (परकीया) होती हैं; विवाह होने न होने के कारण उन्हें ऊढ़ा और अनूढ़ा कहा जाता हैं; विवाहक्रमानुसार वे ज्येष्ठा वा कनिष्ठा होती हैं; 'मान' - संपत्ति के विचार से (मान' – ऋद्धि के अनुसार न कि धीरोद्धतादि नायकानुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में है।) उन्हें उद्धता, उदात्ता, शांता और ललिता का नाम मिलता है; वृत्ति के (शील के) अनुसार उन्हें सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी कहा जाता हैं; आजीविका की दृष्टि से उन्हें गणिका, रूपाजीवा और विलासिनी के रूप में विभाजित किया गया है और अवस्थिति (परिस्थिति) के अनुसार उनके खंडिता, कलहांतरिता आदि भेद होते हैं। इस विभाजनशृंखला की कड़ियों को जोड़ने पर ही नायिका - भेद का रूप समझा जा सकता है। पूर्वाचार्यों के 'नायिकाभेद' - निरूपण का आधार लेकर अथवा 'शृंगारप्रकाश' (?) के आधार पर सरस्वती० में इनके लक्षण बहुत छोटे छोटे पर स्पष्ट और अर्थगर्भित हैं, जैसे — सर्वगुणसंपद्योगादुत्तमा, पादोनगुणसंपद्योगान्मध्यमा, अर्धगुणसंपद्योगादधमा (सर्वगुणशालिनी -

उत्तमा, चतुर्थांश-न्यून गुणशालिनी मध्यमा, अर्धगुणशालिनी अधमा)। इसी प्रकार वयः-कौशलाभ्यामसंपूर्णा मुग्धा, वयसा परिपूर्णा मध्या, वयःकौशलाभ्यां संपूर्णा प्रगल्भा।

'शृंगारप्रकाश' का नायिका-भेद-निरूपण (डा० राघवन् के सूत्रानुसार) कुछ अधिक विस्तृत तथा व्यवस्थित है। इस ग्रंथ में **अधमा** तथा **ज्येष्ठा** – इन दो का अभाव है। 'स्वीया' और 'परकीया' के दस-दस उपभेद हैं – उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा, ऊढ़ा, अनूढ़ा, धीरा, अधीरा, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। भेदोपभेदों की परस्परयोजना द्वारा प्रत्येक के १४३-१४३ प्रकार होते हैं।

'नायिका' का तृतीय भेद 'पुनर्भू' है जिसके चार उपभेद बताए गए है — **अक्षता, क्षता, यातायाता और यायावरा**। सामान्या के पाँच उपभेद हैं – **ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या। वेश्या** (साहित्य में मुख्यतः सामान्यरूप से प्रसिद्ध) के तीन अंतर्भेद हैं – गणिका, विलासिनी और रूपाजीवा। पुनर्भू और सामान्या के अन्य अंतर्भेद – जो उत्तमा आदि के योग से हो सकते थे – यहाँ निर्दिष्ट नहीं है वरन् अनुमानगम्य हैं। मान पर आधृत **मध्या - प्रगल्भा** के तृतीय भेद **धीराधीरा** को भोज ने किसी ग्रंथ में नहीं निर्दिष्ट किया। स्वामी की अधिक प्रियतरा को ज्येष्ठा न मानकर 'वात्स्यायन' और 'हेमचंद्र' आदि के समान पूर्व विवाहिता को उन्होंने **ज्येष्ठा** बताया है।

'पुनर्भू' और 'सामान्या' के अंतर्भेद-विभाजन में भोज ने कुछ नूतनता की उद्भावना की है – अतः संक्षेप में उसका परिचय दे देना अनुचित न होगा। 'पुनर्भू'-उपभेदों के प्रथम तीन नाम धर्मशास्त्र से प्राप्त हैं। **'अक्षता'** उस नायिका को कहते हैं जिसे विवाह से पूर्व ही पुरुष का प्रथम समागम प्राप्त हो चुका हो – जैसे (शांतनुपत्नी) सत्यवती। पुरुष-विवाहिता और पुरुषसंसर्गवती का पतिनाश होने पर पुनर्विवाहिता नायिका **क्षता** पुनर्भू होती है, जैसे मंदोदरी। **यातायाता** उसे कहते हैं जो परपुरुष द्वारा व्यभिचारित होकर परप्रेयसी रहे और बाद में पुनः पति के यहाँ आवे, जैसे वृहस्पतिपत्नी तारा, जो चंद्रमा द्वारा परिगृहीत होकर उनके यहाँ रही और चंद्रपुत्र बुध को जन्म देकर पुनः वृहस्पति के यहाँ आई तथा ग्रहण की गई। **यायावरा** अटनशीला नायिका को कहते हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के कारण पूर्व-पूर्व पतियों को छोड़-छोड़ नए पुरुषों से विवाह करती चलती है। इसके उदाहरणरूप में भोज ने **माधवी** को रखा है। पौराणिक आख्यान के अनुसार ययाति-पुत्री माधवी एक स्थान से दूसरे स्थान अटन करती रही, प्रत्येक स्थान पर उसने एक-एक पुरुष से चार बार विवाह किया और क्रमशः प्रत्येक से एक-एक संतान उत्पन्न किया। चार विवाहों के अनंतर विंध्याटवी में तपश्चरणार्थ वह चली गई। शापवरदान से यह सब हुआ। उसे यह भी बरदान था कि प्रत्येक संतानप्रसव के अनंतर उसे पुनःपुनः कुमारित्व लाभ होता रहेगा। यहाँ यह स्पष्ट है कि पुनर्भू नायिका और उसके अंतर्भेद साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में अग्निपुराण को छोड़कर नवीन हैं।[१९]

१९. 'वात्स्यायन' ने कामसूत्र में कहा है – विधवारिवन्द्रियदौर्बल्यादातुरा भोगिनं गुणसंपन्नं च या पुनर्विन्देत्सा पुनर्भूः। (काम० ४।२।३९) विधवा जब इन्द्रियदौर्बल्य के कारण आतुर होकर गुणसंपन्न भोगी पति का पुनः वरण करती है तब उसे 'पुनर्भू' कहते हैं।

समान्या के उपभेदों को देखने से पता चलता है कि साहित्यशास्त्र में 'सामान्या' पद का रूढ़ अभिधेयार्थ न लेकर भोज ने उसका साधारण यौगिकार्थमात्र लिया है। पाणिगृहीता भार्या स्वीया, परपुरुषगृहीता परकीया (पुनर्विवाहिता पुनर्भू भी) – इनका संबंध (तत्कालीन पदावली में इनपर विशेष अधिकार) व्यक्तिविशेष के साथ होता है। पर जिस नारीपर, शरीरतः अथवा विवाहतः, किसी एक नर का अधिकार नहीं है या किसी की भी पत्नी बनने की जिसमें अर्हता है (चाहे स्वयंवर आदि के कारण ही सही) उसे सामान्या कहा गया है। इस विधा के उदाहरण में द्रौपदी, सीता और इंदुमती आदि तक उदाहृत हैं। [सरस्वती० में सामान्या का लक्षण लिखते हुए उन्होंने कहा है – अनियतानेकोपभोग्या सामान्या]।

सामान्या के प्रथम दो भेदों ऊढ़ा और अनूढ़ा के रूप में क्रमशः द्रौपदी और सीता का उदाहरण दिया गया है। द्रौपदी **सामान्या ऊढ़ा** इसलिए हैं कि धर्मतः उनका विवाह पाँच पुरुषों के साथ विधिपूर्वक निष्पन्न हुआ था। (ऐसा लगता है कि यह उपभेद विशेष रूप से द्रौपदी के ही लिए बनाया गया।) विवाहपूर्व की सीता को **अनूढ़ा सामान्या** इसलिए कहा कि जनक-प्रतिज्ञा को पूर्ण करनेवाले किसी भी पुरुष के साथ सीताविवाह का अधिकार घोषित था। (यह उपभेद पणस्वयंवर में वरणीया नायिका के लिए किया गया था।) तीसरे उपभेद, स्वयंवरा सामान्या के रूप में रघुवंश की इंदुमती उदाहृत है। 'सीता' वाले द्वितीय भेद और इंदुमतीवाले तृतीय भेद में अंतर यह है कि प्रथम में, निर्धारित पण या शर्त पूरी करने के बाद, वीर्यशुल्क चुकाने के बाद ही वर को नायिकावरण का अधिकार होता था, और तृतीय भेद के उदाहरण में इंदुमती के रखने से लगता है कि विवाह की स्पृहा से जुटे हुए[२०] अनेक परिणयार्थियों में से अपने मनपसंद एक नायक को चुनने का अधिकार स्वयंवरा नायिका को होता था।

चतुर्थ और पंचम सामान्या भेदों में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। सरस्वती० में कहा गया है–आत्मच्छन्दा स्वैरिणी। अपने मन के अनुसार कामाचरण करनेवाली को स्वैरिणी कहा है। (इसे कभी परकीया और कभी सामान्या के अंतर्भेदों में आचार्यों ने रखा है) पंचम भेद — वेश्या — मुख्यतः सामान्या का सर्वमहत्वपूर्ण तथा सबसे अधिक स्वीकृत रूप है। अतः उसके संबंध में कुछ अधिक न कहकर 'वेश्या' के अंतर्भेदों का थोड़ा परिचय दिया जा रहा है।

वेश्या के तीन अंतर्भेदों का नामोल्लेख ऊपर हो चुका है। चौसठ कलाओं को जाननेवाली वेश्या को गणिका कहते हैं, कुट्टमित आदि हावभाव का प्रदर्शन करनेवाली को विलासिनी तथा रूपयौवनमात्रोपजीविनी को रूपाजीवा कहा है। 'अष्टावस्था' की नायिकाएँ (वासकसज्जा, खण्डिता) आदि के निरूपण में कोई नवीनता नहीं है।[२१]

२०. ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा – तीनों ही भेद, संभवतः स्वयंवर में वरणीय क्षत्रिय - कुमारियों से ही संबद्ध लगते हैं। प्रथम – द्वितीय में वीर्यशुल्क चुकाने पर, शर्त पूरा करने पर वर या वरपक्ष को विवाहाधिकार मिलता था और तृतीय भेद में अपनी पसंद के वर चुनने का (स्वयंवर के उत्सव में एकत्र राजन्यों में से) नायिका को अधिकार था।

२१. सरस्वती० में नायिका और नायक के रूपों - प्रतिरूपों के विभिन्नस्तरों का आकलन भी ग्रंथ की एक विशेषता है। नायक के स्तर है — नायक, प्रतिनायक, उपनायक और

परवर्ती अन्य ग्रंथकारों में 'मन्दारमरन्दचम्पू' - कार ने क्षता, अक्षता आदि का निरूपण करते हुए भोज का नामोल्लेख किया है पर यातायाता के उदाहरण में कुछ भ्रमवश उन्होंने द्रौपदी का नाम ले लिया है —

> अक्षता च क्षता यातायाता यायावरेत्यपि ।
> पुनश्चतुर्विधा कथिताः पूर्वं भोजादिभिर्बुधैः ।
> यातायाता तु युगपदूढानेकैस्तु भर्तृभिः ।
> यथा पाण्डुसुतैरूढा द्रुपदस्य कुमारिका ॥

हेमचंद्र (काव्यानुशासन) और नायिका-भेद

इसी युग के आसपास या इसके कुछ ही बाद **हेमचंद्र के काव्यानुशासन** का काल आता है। इस ग्रंथ में नायिकानिरूपण अधिक विस्तार नहीं पा सका है। परंतु अपनी ग्रंथ-सरणि के अनुसार इस संदर्भ में लक्षणों के साथ साथ संकलित लक्ष्यों का उदाहरण दिया गया है।

हेमचंद्र ने **मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा** के दो-दो भेद किए हैं, जिनका आधार है वय और कौशल — वयसा मुग्धा, कौशलेन मुग्धा, वयसा मध्या, कौशलेन मध्या और वयसा प्रगल्भा, कौशलेन प्रगल्भा। साथ ही मध्या, प्रगल्भा के धीरा-अधीरा आदि भेद भी। भरतादि के मता-नुसार हेमचंद्र ने पूर्वविवाहिता को ज्येष्ठा और पश्चाद्विवाहिता को कनिष्ठा कहा है न कि परवर्ती आचार्यों के समान अधिक प्रेमभागिनी को ज्येष्ठा और न्यून प्रेमभागिनी को कनिष्ठा। इसी प्रकार 'दशरूपक' की आलोक टीका का अनुसरण करते हुए हेमचंद्र ने अष्टावस्था नायिकाओं में परकीया की केवल तीन विधाएँ मानी हैं – विरहोत्कंठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। इसके अतिरिक्त इस संदर्भ में विशेष महत्व का और कुछ उल्लेख्य नहीं है।

वाग्भट (प्रथम और द्वितीय) के 'वाग्भटालंकार' और 'काव्यानुशासन' तथा 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' आदि में भी नायिकानिरूपण है, पर विशिष्ट महत्व की कोई नूतनता या उद्भावना नहीं है। नायिकानिरूपण के प्रथमसोपान से संबद्ध विषय का प्रकरण दृश्य-श्रव्य काव्यों से संबद्ध होकर जो प्रचलित हुआ वही यद्यपि इन ग्रंथों में भी चलता रहा तथापि साक्षात्रीति से शृंगारालंबन के परिचयनरूप में नायक, नायिकाएँ उक्त ग्रंथों में निरूपित नहीं हुई। हां, लक्षण के साथ लक्ष्योदाहरण भी परवर्ती कृतियों में दिए जाते रहे पर ग्रंथकारों के स्वरचित नहीं। 'वाग्भट' ने नायिका के चारभेद — अनूढ़ा (कन्यका), स्वकीया, परकीया और पराङ्गना (सामान्या) बताए हैं। 'जिन वर्धन' नामक टीकाकार ने 'परकीया' के तीन भेद बताए है – सधवा (जीवितभर्तृका) परकीया, विधवा परकीया और केनापि स्वीकृता विधवा (पुनर्भू) परकीया।

इसके पश्चात् नायिकाभेद के विकासक्रम में एक ओर तो 'शारदातनय' का 'भावप्रकाशन' और 'शिङ्गभूपाल' का 'रसार्णवसुधाकर' - दो नाट्यशास्त्रीय कृतियाँ आती हैं तथा

अनुनायक तथा नायिका के हैं — नायिका, प्रतिनायिका, अनुपनायिका और अनुनायि-का। इसके अतिरिक्त नायिकाभास, नायकाभास और उभयाभास का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ कविराज) एवं 'रसमंजरी' (भानुदत्त) के नाम लिए जा सकते हैं।

भावप्रकाशन

भावप्रकाशन का नायिका-भेद, भरत, रुद्रभट्ट ('रुद्रट' नाम भी) धनंजय और भोज के वर्णित वस्तुओं का अनुसरण करता चलता है। 'भरत' के अनंतर 'शारदातनय' के ग्रंथ में संभवतः प्रथमबार देवशीला, दैत्यशीला, गंधर्वशीला, यक्षांगना, राक्षसशीलिनी, पिशाचशीला, नागशीला, मर्त्यशीला आदि नायिकाओं का उल्लेख हुआ है तथा उनके ग्रंथ का उद्धरण भी दिया है। भोज का अनुसरण करते हुए ग्रंथकार ने उदात्ता, उद्धता, शान्ता और ललिता नामक नायिका-चतुर्विध को मान्यता दी गई है, पर 'भोज' के समान 'मान-ऋद्धि' के आधार पर नहीं अपि तु 'धीरोदात्त' आदि प्रसिद्ध चतुर्विध नायकों से प्रतिसंबद्ध रूप में। चारों की प्रकृति, रूप, वेषभूषा, गुण और शील के भेदक गुणधर्मों का इस प्रसंग में परिचय दिया गया है। इसी प्रकार अभिनेयता और अभिनय की दृष्टि से वासकसज्जादि अष्टविध अवस्था-नायिकाओं के शील-गुण-आचार आदि का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। परकीया की, इनमें से तीन ही अवस्थाएँ, कुछ आचार्य मानते हैं, इसकी भी चर्चा उन्होंने की है (विप्रलब्धा, विरहोत्कंठिता और अभिसारिका)। भावप्रकाशन के अनुसार संख्या है [१३ (स्वीया) + २ (परकीया) + १ (सामान्या)] = १६ × ८ (वासकसज्जादि) × ३ (उत्तमादि) = ३८४। यह मत रुद्रट का बताया गया है। नाट्य-दृष्टि के उपभेद (उदात्ता, उद्धतादि) की इस प्रस्तार-गणना में ग्रहण नहीं किया गया है। भरत के अनुसार यौवन की चार अवस्थाओं का भी वर्णन हुआ है। नाट्यदृष्टि से, अभिनय - शिल्प के विचार से इन सब का विस्तृत विवेचन हुआ है। नवोद्भावना की दृष्टि विशेषता न होने पर भी नाट्य-शास्त्रीय दृष्टियों का पर्याप्त निरूपण और परिचायन किया गया है।

यह विचारणा की गई है — रसालंबन के प्रकरण में। शृंगाररस के आलंबन– संदर्भ में नायक – नायिका का भेद, शील, चेष्टा, आदि का निरूपण करते हुए इन सबकी चर्चा की गई है।

भावप्रकाशन में लक्षण और विस्तृत परिचय तो है — पर उदाहरण नहीं हैं।

रसार्णव सुधाकर

नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'रसार्णवसुधाकर' तथा सर्वसाहित्यशास्त्रीय कृतियों में 'साहित्य-दर्पण' ऐसे मुख्य ग्रंथ हैं जिनमें 'नायिकाभेद' के निरूपण की द्वितीयावस्था का सुस्पष्ट उन्मेष दिखाई देता है। इनमें अत्यंत स्पष्ट रीति से साक्षात् शृंगारालंबन के संदर्भ में सीधे-सीधे नायकनायिका के भेदविस्तार का निरूपण किया गया है। इन कृतियों के पूर्व, प्रायः सीधे-सीधे नायिकाओं का प्रपंच उपस्थित नहीं किया गया है। यद्यपि उन्हें आलंबन बताया गया है, तथापि प्रसंग की दृष्टि से उनका भेदनिरूपण या तो कथावस्तु के पात्र, नायकनायिका के परिपार्श्व में अथवा शृंगारी नायक, नायिका के रूप में किया गया है। इन दोनों कृतियों में (जिनके निर्माणकाल में कदाचित् बहुत अंतर नहीं है), आलंबन विभाव के प्रसंग में शृंगारा-लंबन का परिचय देते हुए इनका निरूपण प्रारंभ किया गया है। इस प्रसंग में 'रसार्णव-सुधाकर' में कहा गया है —

आधारविषयत्वाभ्यां नायको नायिकापि च।
आलम्बनं मतं तत्र नायको गुणवान् भवेत् ॥

अर्थात् अधारविषयता के कारण नायकनायिका रस के आलंबन होते हैं। नाटक में आलंबनभूत नायक गुणवान् होता है। उसके गुण होते हैं — महाभाग्य, औदार्य, दक्षता, उज्ज्वलता, धार्मिकता, कुलीनता, वाग्मिता, कृतज्ञता, नयज्ञत्व, शुचिता, मानशालिता, तेजस्विता, कलावत्ता और प्रजारंजकत्व। ये नायक के सामान्य गुण माने जाते हैं।

इन गुणों के लक्षण और उदाहरण देने के बाद सामान्य नायक के तीन भेद — उत्तम, मध्यम, अधम बताकर धीरोदात्तादि चतुर्विध नायकभेदों का गुणविशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। और तब सर्वरस-साधारण नायकों का विनिगमनात्मक परिचय देते हुए शृंगारसापेक्ष त्रिविध नायकों का विभाजन, है — जिन्हें स्वीया, परकीया और सामान्या के अनुरक्तिपात्र होने के कारण — पति, उपपति और वैशिक के नाम से संस्तुत किया गया है। पति के चार भेद बताए गए हैं — अनुकूल, शठ, धृष्ट, दक्षिण। नायक की शठता, धृष्टता और दक्षिणता विवाहित सपत्नीजनों की दृष्टि से मानी जाती है। अनियतता के कारण उपपति की दक्षिणता अनुकूलता और धृष्टता को अनुचित बताकर उपपति के शठतामात्र का लक्षण-लक्ष्य उपस्थित किया गया है। तदनंतर 'वैशिक' नायक के गुण और उत्तममध्यमाधम - भेद के लक्षणमात्र लिखे गए हैं — **उदाहरण नहीं।** इस प्रकार का सुस्पष्ट विभाजन, जिसमें रससामान्यनायक और शृंगारनायक का परिचय पृथक् पृथक् उल्लेखपूर्वक और सोदाहरण दिया गया हो — बहुत कम दिखाई देता है।

नायिकाभेद के प्रसंग में शृंगारसंबद्ध नायिकाओं का निरूपण हुआ है। इनके प्रसिद्ध तीन भेद **स्वीय, परकीया** और **सामान्या** का नाम लेते हुए स्वीया के तीन भेद — मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा – बताए गए हैं। मुग्धा के भेद हैं — वयोमुग्धा, नवकामा, रतौवामा, मृदुकोपा, सलज्जरतिशीला तथा क्रोध से अभाषमाणा रुदती — में छः भेद सोदाहरण उद्धृत किए गए हैं। मध्या के भेद हैं — समलज्जामदना, प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी और मोहांतसुरतमा। मानवृत्ति के विचार से मध्या के धीरा, अधीरा, धीराधीरा – नामक त्रिभेद भी बताए गए हैं। प्रगल्भा के दो ही भेद कहे गए हैं – संपूर्णयौवनोन्मत्ता तथा प्ररूढ़मन्मथा। मानवृत्ति के अनुसार धीरादि तीन भेद भी इसके सूचित किए गए हैं। नायिका के सभी भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रायः मिलते हैं।

परकीया के दो भेदों में — कन्या (अनूढ़ा) और परोढ़ा[२२] का नाममात्र आता है। कन्या के विषय में कहा गया है कि नाटकादि में इनकी अवतारणा करनी चाहिए। पर परोढ़ा के लिए (कदाचित् सदाचारप्रेरित रसाभासता के विचार से) यह निर्देश किया है कि 'सप्तशती' (आर्या सप्तशती) आदि जैसे क्षुद्र प्रबंधों में ही उनको प्रस्तुत करना चाहिए (अर्थात् नाटकों में नहीं)। अनूढ़ा कन्या के परिचय में उसे प्रायः मुग्धा की विशेषताओं वाली बताया है।

सामान्या के भी दो भेद – रक्ता - विरक्ता बताते हुए कहा है कि 'रक्ता' नाटकादि में वर्ण्य होती है पर 'विरक्ता' का अवतरण प्रहसन आदि में ही करना चाहिए। इसी प्रसंग में

२२. परोढा तु परेणोढान्यसम्भोगलालसा।
लक्ष्या क्षुद्रप्रबंधे सा सप्तशत्यादिके बुधैः॥ १। १०६

पूर्वाचार्यों का मत देते हुए यह भी कहा है कि गणिका तो गुणवान् नायक में भी नहीं अनुरक्त होती है। अतः अरक्ता के वर्णन में रसाभास लक्षित होने से नाटक में उसको वर्ण्य नहीं बनाना चाहिए। पर इस मत को शिंग भूपाल नहीं मानते। वे सामान्या को वर्ण्य ही मानते हैं। इसके पश्चात् इस ग्रंथ में प्रोषितपतिकादि आठ भेद सोदाहरण लिखे गए हैं। अंत में यह भी कहा गया है कि सभी नायिकाएँ उत्तमा-मध्यमा-नीचा होती हैं।

इस ग्रंथ के नायिकानिरूपण में सामान्यतः पूर्वसंग्रहात्मकता के रहने पर भी विवेचन में, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, अधिक चिंतनशीलता और प्रौढ़ता लक्षित होती है।

साहित्यदर्पण—यह कृति अपनी प्रौढ़चिंतना तथा सर्वांगीणता के कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में विशेष लोकप्रिय मानी जाती है। इसका नायिका - भेद - प्रकरण भी प्रौढ़तासंपन्न है। रसों में नायक-नायिका-भेद प्रस्तुत किया गया है। मुख्यभेद पूर्वप्रचलित मात्र हैं – पर उपभेदों में थोड़ी नवीनता है। **स्वीया** के त्रिविध-भेदों में निम्नलिखित रूप से विभाजन हुआ है —

मुग्धा – १ - प्रथमावतीर्णयौवना, २ - प्रथमावतीर्णमदनविकारा, ३ - रतौवामा, ४ - माने मृदु, तथा ५ - समधिकलज्जावती। (नाम और गुण विशेष के हेर-फेर से पुरानी ही बातें नए नाम से कही गई हैं – यहाँ भी, आगे भी)।

मध्या – १ - विचित्रसुरता, २ - प्ररूढ़स्मरा ३ - प्ररूढ़तारुण्या, ४ - ईषत्प्रगल्भवचना तथा ५ - मध्यमव्रीड़िता।

प्रगल्भा – १ - स्मरान्धा, २ - गाढ़तारुण्या, ३ - समस्तरतकोविदा, ४ - भावोन्नता, ५ - स्वल्पव्रीड़ा, और ६ - आक्रान्तनायका।

इनके साथसाथ मध्याप्रगल्भा के धीरादि तीन भेद दिए गए हैं। इन दोनों के ज्येष्ठा-कनिष्ठा – ये दो उपभेद भी स्वीकृत होते हैं। अतः मुख्यरूप से मध्या-प्रगल्भा के बारह और मुग्धा का एक भेद, स्वीया के कुल १३ मुख्य भेद हैं। कन्यका और परोढ़ा – दो भेद **परकीया** के तथा सामान्या का एक भेद – सब मिलाकर मुख्यतः १६ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। ये सभी अवस्थिति के अनुसार स्वाधीनभर्तृका आदि आठ-आठ प्रकार की और पुनः सभी उत्तमा-मध्यमा-अधमा-भेद से तीन (१६×८×३=३८४) प्रकार की शृंगारी नायिकाएँ होती हैं। यही संख्या नायिकाभेद की रुद्रट, शारदातनय और 'शिंगभूपाल' ने भी दी है। पर प्राचीनों के एक मत का उद्धरण देते हुए शिंगभूपाल ने कहा है कि परकीया के तीन ही भेद युक्तिसंगत होते हैं – १ - विरहोत्कंठिता, २ - अभिसारिका और ३ - वासकसज्जा –

> व्यवस्थैव परस्त्री स्यात प्रथमं विरहोन्मनाः।
> ततोऽभिसारिका भूत्वाभिसरन्ती व्रजेत्स्वयम्॥
> संकेताच्चपरिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत पुनः।
> पराधीन पतित्वेन नान्यावस्थात्र संगता॥ १।१६०

साहित्य - दर्पणकार ने भी ३।१२२ के पश्चात् किसी अन्य के मतरूप में परोढ़ा और कन्यका के संबंध में इस मत की चर्चा की है।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि इन दोनों रचनाओं में बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। जहाँ साहित्यदर्पण में कुछ प्रौढ़ता का आभास मिलता है वहाँ 'रसार्णव' में सर्व-रस-

सामान्य एवं शृंगाररस के आलंबनत्व का विभक्तीकृत एवं निर्धारणीकृत वर्णन हुआ है — जो कदाचित् इस दिशा में कुछ अधिक स्पष्टतापूर्ण निरूपण का संकेत करता है। इन दोनों ही ग्रंथों में लक्ष्य-लक्षण-समन्वित विषयनिरूपण की प्रौढ़ शैली अपनाई गई है। लक्ष्यरूप उदाहरण प्रायः पुरातन ग्रंथों से संकलित हैं। रसादिनिरूपण के प्रसंग में 'साहित्यदर्पण' की शैली 'रसार्णव' की अपेक्षा प्रौढ़तर है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के समान उदाहरण ग्रंथकारनिर्मित प्रायः नहीं हैं।[23]

इन दोनों कृतियों को नायिकाभेद के विकासक्रम की 'द्वितीयावस्था' का विकास इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि प्रथमावस्था की कृतियों में जहाँ नायकनायिकाओं का भेदविस्तारण करने के पूर्व स्पष्टतः उनमें शृंगारालंबनत्व की प्रतिष्ठा बिना किए ही निरूपण हुआ है–वहाँ इन कृतियों में उक्त पीठिका का सुस्पष्ट निर्देश किया गया है। अथ च, अब तक उदाहृत लक्ष्य संकलित हैं, आचार्य की काव्यालोचनदृष्टि में भावयित्री प्रतिभा के सूचक हैं, न कि ग्रंथकर्ता की कवयित्री-प्रतिभा के प्रदर्शक स्वनिर्मित।

रसमंजरी (भानुदत्त) में नायिकाभेद

इसके पश्चात् हमारे सामने महाकवि भानुदत्त मिश्र की **रसमंजरी** का नाम आता है। नामतः 'रसमंजरी' होते हुए भी ग्रंथ तत्वतः 'शृंगारमंजरी' है। आरंभ में कवि-आचार्य कहते हैं – 'तत्र रसेषु शृंगारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूपपते' — अर्थात् रसों में शृंगार सबसे उत्कृष्ट, सबसे अधिक अभ्यर्हित-संमानित है और उस प्रतिष्ठितपूजित शृंगाररस का आलंबनविभाव होने के कारण (नायक-नायिका-रूप आलंबन विभाव में नायिका के भी अभ्यर्हिततर होने के कारण) नायिका का निरूपण किया जा रहा है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि **'रसमंजरी'** के कर्ता ने **'रसतरंगिणी'** नाम का रस-विषयक स्वतंत्र ग्रंथ अलग से लिखा है। 'रसमंजरी' वस्तुतः उसी का पूरक परिशिष्ट है। 'रसतरंगिणी' में रस का सांगोपांग[24] निरूपण शास्त्रीय पद्धति से गद्यात्मक भाषा में किया गया है — उदाहरण अवश्यमेव ललित काव्यरचना का प्रमाण देते हैं। 'रसमंजरी' में 'विषयसंकोच' के कारण शास्त्रीय विवेचन के लिए अवकाश की कमी होने पर भी थोड़ी बहुत जो शास्त्रीय चर्चा हुई है उसमें विषयनिरूपण की गहराई का आभास मिलता ही है। स्वनिर्मित लक्ष्यपद्यों के रम्य उदाहरण, साथ ही कृतिकार की मंजुल कविप्रतिभा का भी प्रमाण देते हैं। फिर भी इनके ग्रंथ में गद्यात्मक भाषा द्वारा संक्षिप्त, पर शास्त्रीय परिचय देते रहने से ग्रंथ की प्रौढ़ता बनी रहती है। नायिकाओं और उनके मान, चेष्टा तथा भेदोपभेदों के लक्षणों में भेदक गुणधर्मों की व्याख्याविवेचना करते रहने से ग्रंथकार की आलोचनात्मक प्रवृत्ति का आभास

२३. अभिसारिका के प्रसंग में अभिसारयित्री और अभिसरणकर्त्री — दोनों का उल्लेख है। **'प्रवास'** के संदर्भ में भी **भावी, भवन** और **भूत** – तीनों का निर्देश किया गया है।

२४. भानुमिश्र ने 'रसपारिजात' नामक एक और ग्रंथ (मोतीलाल-बनारसीदास, लाहौर — १९३७) लिखा है जिसमें 'दुर्दिनाभिसारिका' का नवीन उपभेद भी मिलता है। इसके अतिरिक्त 'पद्मिनी' आदि रमणी के चार प्रसिद्ध कामशास्त्रीय भेदों का भी निर्देश किया गया है।

आद्यंत मिलता है। पूर्वाचार्यों द्वारा अविवेचित नवीन संदर्भों के निरूपण में आचार्य की नव प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है।

भानुदत्त की **'रसमंजरी'** नायिका-भेद के साहित्य में एक नवीन प्रवृत्तिवाले नवयुग का प्रवर्त्तन करती है। इनके पूर्व की रचनाओं में (अंशतः 'शृंगारतिलक' को छोड़कर) नायक-नायिका-निरूपण पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की प्रथा नहीं थी। इनका निरूपण या तो नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में यथास्थान आता रहा या रसनिरूपण के प्रसंग में। शृंगार और शृंगारालंबन की ओर आसक्तिविशेष का आभास, उनके विस्तार और प्रामुख्य में अवश्य लक्षित है। परंतु नायिका-भेद को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की परंपरा सर्वप्रथम (उपलब्ध सामग्री के आधार-पर) भानुदत्त ने ही चलाई — ऐसा कहना अनुचित न होगा। यद्यपि अंगरूप में उक्त विषय-निरूपण की शृंखला आगे भी चलती रही तथापि अंगी-ग्रंथ के रूप में नायिका-भेद का प्रवर्त्तन 'रसमंजरी' से ही माना जा सकता है।

आगे चलकर संस्कृत में भी और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में ऐसे ग्रंथों के निर्माण की धारा वह निकली जिनमें नायिका-भेद के विवेचन का ही प्रामुख्य रहा। उस युग की विलासमयी प्रवृत्ति के अनुकूल वर्गविशेष की वासना के तर्पण का साधन बनकर रीतियुग में इस साहित्य की पीनता अभूतपूर्व रूप में बढ़ गई। वर्गविशेष की वासनात्मक अभिरुचि, वैलासिक पलायनवाद, साहित्यिक कामुकता एवं ऐश्वर्यसंपन्नों की मदक्षुधा के परिपोषण में इस प्रवाह ने कितना योग दिया — उसे कहना यहाँ अनावश्यक है। इतना ही यहाँ कहना है कि उक्त नई परंपरा के मुख्य प्रवर्तक आचार्य भानुदत्त कहे जा सकते हैं।

'रसमंजरी' के अनुसार नायिका के मुख्य भेद पूर्वोक्त ही हैं – स्वीया, परकीया, सामान्या। केवल स्वामी (पति) में अनुरक्ता **स्वीया** है जिसके मुग्धा आदि तीन प्रसिद्ध उपभेद हैं। **मुग्धा** में भेदक और परिचायक वैशिष्ट्य है 'अंकुरितयौवनत्व'। इस प्रसंग में चार नाम मिलते हैं – १ - **अज्ञातयौवना** २ - **ज्ञातयौवना** ३ - नवोढ़ा और ४ - विश्रब्ध नवोढ़ा। यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि अंतिम दो भेद अज्ञात यौवनामुग्धा के हैं, ज्ञातयौवना मुग्धा के हैं या स्वतंत्र है अथवा प्रथम दोनों के ही उपभेद हैं। कुछ टीकाकार उन्हें ज्ञातयौवना के उपभेद मानते हैं पर अधिकांश विद्वानों ने उन्हें स्वतंत्र ही माना है। उदाहरणों को देखने से चारों का पार्थक्य लक्षित होता है। क्यों कि पूर्वोक्त चारों प्रकारों के अलगअलग नाम लेकर चार उदाहरण दिए गए हैं। पर नायिकाभेद की प्रस्तारगणना के अनुसार मुग्धा को एक ही प्रकार का माना गया है – यह आगे दिखाया जायगा। २ – मध्या को समानलज्जामदना कहा है और उसका एक नूतन नामकरण भी किया है — अविविश्रब्ध नवोढ़ा। ३ - प्रगल्भा का लक्षण है – पतिमात्रविषयकेलिकलाकलापकोविदा। चेष्टानुसार इसके दो रूप होते हैं — अ - रतिप्रीतिमती और आ - आनंदसंमोहिता। प्रस्तारगणना में इनका भी आकलन नहीं किया गया है।

मध्या और प्रगल्भा के, धीरा, अधीरा और धीराधीरा नामक उपभेदों के कारण छः प्रकार हैं और पुनः ज्येष्ठा, कनिष्ठा रूप में छहों के दो दो उपभेद से मध्या और प्रगल्भा के कुल बारह तथा मुग्धा का केवल एक भेद — इस प्रकार स्वीया के १३ भेद पूर्वाचार्यों के समान माना है। साहित्यदर्पण में भी ये ही १३ भेद स्वीया के स्वीकृत हैं। ख - परकीया के दो भेद – अ - परोढ़ा और आ - कन्यका – भानुदत्त ने भी पूर्वाचार्यों के समान माने हैं। परंतु इनके उपभेद (प्रस्तारगुणन में जिनकी गणना नहीं होती) छः किए हैं जो ग्रंथकार की नई उद्भावना

मानी जा सकती हैं – १ - गुप्ता [सुरतगोपना — क - वृत्तसुरतगोपना, ख - वर्तिष्यमाण-सुरतगोपना और ग - वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना,] २ - विदग्धा [अ - वाग्विदग्धा और आ - क्रियाविदग्धा], ३ - लक्षिता, ४ - कुलटा, ५ - अनुशयाना [क - वर्तमानस्थानविघटनात् अनुशयाना, ख - भाविस्थानाभावशङ्कया अनुशयाना तथा ग - स्वानधिष्ठित-संकेतस्थल के प्रति भर्ता के गमनानुमान से अनुशयाना] और ६ - मुदिता । परकीया के इन स्वरूपों की कल्पना कदाचित् अंशतः आभिजात्यवर्गीय कामशास्त्रीय विलासिता के कारण, अंशतः तांत्रिक मकारोपासना के फल से और सर्वतोधिक गीतगोविंद आदि में दृश्यमान कृष्णोपासना की परकीयारति के प्रभाव से साहित्यिकों में भी प्रचलित होने लगी थी। अन्य आचार्यों ने भी प्रस्तुत संदर्भ से संभवतः इनका उल्लेख किया था।[25] इसी कारण **'रसमंजरीकार'** ने कहा है कि गुप्ता-विदग्धा आदि नायिकाओं का परकीया में ही अंतर्भाव समझना चाहिए –

गुप्ता-विदग्धा-लक्षिता-कुलटा-ऽनुशयाना-मुदिताप्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः।

रीतिकालीन हिंदी के नायिकाभेद-विस्तार में भानुदत्त के इस निरूपण ने अत्यधिक महत्व पाया। उच्चवर्गीय वैलासिक रुचि और सामाजिक मनोरंजन में, कामपूर्ण लुकाछिपी की केलिक्रीड़ा में परकीयाप्रेम, संभवतः रईसी, अमीरी तथा मर्दानगी और रसिकता का मानदंड-सा बन गया था। फलतः उक्त भावना का साहित्य में अनुगुंजन-प्रतिध्वनन स्वाभाविक ही था।[26]

रसमंजरी में सामान्या को पूर्ववत् एक ही प्रकार का माना है। सब मिलाकर नायिका के मुख्य भेद सोलह (१६) हुए। इन्हें अर्थात् नायिका मात्र को पुनः १ - अन्यसंभोगदुःखिता २ - वक्रोक्तिगर्विता [क. प्रेमगर्विता और ख - सौंदर्यगर्विता] तथा ३ - मानवती [क. लघुमानवती ख. मध्यमानवती और ग - गुरुमानवती] – तीन प्रभेद बताए हैं (भेदसंख्या की गणना में जिन्हें संगृहीत नहीं किया गया है)। इस प्रकार नायिकासामान्य के १६ भेद (१३ स्वीया + २ परकीया + १ सामान्या) होते हैं। अवस्थाभेद के अनुसार इन सोलहों में प्रत्येक के प्रोषितभर्तृका-खंडिता आदि आठ भेद होने से संख्या १२८ पहुँचजाती है और फिर 'उत्तमा-मध्यमा-अधमा – भेदों के कारण इनकी ३८४ संख्या होती है। यही संख्या सामान्यरूप में भानुमिश्र को ग्राह्य है। दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या–त्रिभेदों के कारण ११५२ तक पहुँचने वाली भेदसंख्या को जातिभेदाश्रित होने से रसमंजरीकार ने अस्वीकृत कर दिया है।

परंतु प्रसिद्ध आठ भेदों के अतिरिक्त 'प्रवस्यत्पतिका' नामक नायिका का नवम भेद भी होना चाहिए – इस बात को आलोचनात्मक ढंग से आचार्य ने उपस्थित किया है। अर्थात् एक नवम भेद की भी उन्होंने, संभवतः नवीन उद्भावना की है – जो आगे चलकर हिंदी में स्वीकृत ही नहीं हुआ वरन् भविष्यत्प्रवास के साथ साथ वर्तमान - प्रवास - मूलक भेद का भी उद्भावक हुआ। संस्कृत के परवर्ती ग्रंथों में तथा हिंदी के भी एतद्विषयक ग्रंथों में प्रवास के

२५. अन्य आचार्यों के ग्रंथ में उपलब्ध इन भेदों की चर्चा यथास्थान की गई है।
२६. भक्तिरस और गौड़ीय आचार्यों का प्रभाव कहाँ था – इसकी संक्षिप्त चर्चा अन्यत्र इसी लेख में की गई है।

आधार को लेकर भवत्प्रवास (वर्तमान प्रवास) तथा भविष्यत्-प्रवास को लेकर अवस्था-नायिकाओं के दस भेद मिलते हैं।

सारांश यह कि अपने परवर्ती संस्कृत और हिंदी के प्रस्तुत साहित्य को प्रभावित करने के कारण 'रसमंजरी' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

गौड़ीय (वैष्णव) भक्ति की परंपरा में नायिकाभेद

कृष्णभक्ति – संप्रदाय के और मुख्यतः गौड़ीय मत के कवियों और आचार्यों ने नायिका-भेद-संबंधी निरूपण में कुछ भिन्न-मार्ग का अनुसरण किया है। कृष्ण और कृष्ण के प्रति रति, प्रेम, अनुरक्ति, मधुररति अथवा भक्ति के प्रसंग में इस विषय का विवेचन किया गया है। कृष्ण को उत्कृष्टतम, एकमात्र नायक मानकर तत्संपृक्त नायिका के भेदोपभेदों का निरूपण हुआ है। उक्त संप्रदाय में एतद्विषयक सर्वप्रमुख (संस्कृत में रचित) ग्रंथ का स्थान 'उज्ज्वलनीलमणि' को दिया जा सकता है। इसके लेखक हैं 'रूपगोस्वामी'। इस कृति को गौड़ीय भक्तिसंप्रदाय की सर्वोत्कृष्ट रचना माना जाता है। आलंबन के विषय में इस ग्रंथ का आरंभ में ही मत है –

'अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।'

(सर्वरसराज मधुर रस में कृष्ण तथा उनकी वल्लभाएँ सदा आलंबन रहती हैं।) इस मत के अनुसार 'धीरोदात्त' आदि नायक के चार भेद होते हैं। उन चतुर्भेदों के दो प्रभेद होते हैं -- पति और उपपति २७।

२७. इस प्रवाह का प्रस्तुत अंश विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यहाँ बताया गया है जो कन्या का पाणिग्राहक है, धार्मिक विधि के अनुसार कन्या का परिणेता है, वह 'पति' है, जैसे रुक्मिणी के कृष्ण, सीता के राम आदि [टीकाकार जीव गोस्वामी ने कहा है – पतिः पुरवनितानाम्, द्वितीयो (उपपतिः) व्रजवनितानाम्।] उपपति के लिए कहा है –

रागेणोल्लङ्घयन्धर्मं परकीयाबलार्थिना। तदीयप्रेमवसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः।

अर्थात् परकीया अबला की कामना वाले राग, मधुररति के कारण धर्म का उल्लंघन करते हुए और परनारी-संबंधी प्रेम के वासस्थान, लीलावेशधारी, रस मूर्ति कृष्ण ही, मधुराख्य भक्तिरस में उपपति होते हैं।

उपर्युक्त पद्य का यह सांप्रदायिक अर्थ है। सामान्यतः पद्यार्थ होगा – परकीया नायिका की कामनावाले, रति के कारण धर्म का तिरस्कर्ता तथा परकीया नायिका-संबंधी प्रेम का वासस्थान - स्वरूप जो नायक है, वही 'उपपति' या परकीयनायक कहा जाता है।

आगे चलकर कहा गया है – "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः' – जिसकी संप्रदायगत व्याख्या होती है – इस क्षेत्र में, औपपत्यविषयक प्रेमा - प्रसंग में ही, 'शृंगार' का अर्थात् परांगनारूप ब्रजबालाओं के साथ रसमूर्ति लीलारत्नाकर के मधुर शृंगार का, उज्वलाख्य रस का परम उत्कर्ष प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् कृष्ण और ब्रजरमणियों के जार - संबद्ध प्रणय की क्रीडा में (परकीयाजुष्ट शृंगारकेलि में ही) उज्ज्वलशृंगार उत्कृष्टतम भूमिका में पहुँचता है। क्योंकि परकीया - रति बहुवारित रहती है उसमें कामुकताभिव्यक्ति प्रच्छन्न रहती है, नायक - नायिका के लिए संगम परस्पर दुर्लभ रहता

इसके अनंतर नायक के भेदोपभेदों का निरूपण कर चुकने के पश्चात् नायिकाओं का प्रसंग आता है। मधुररस में केवल कृष्णवल्लभाएँ नायिकाएँ होती हैं। **उनके** यहाँ केवल **दो ही प्रभेद माने** गए हैं – **स्वकीया, परकीया**। स्वकीया की सखियाँ, दासियाँ **स्वकीया** के अंतर्गत हैं; **परकीया** की **परकीया** के अंतर्भूत है। गोकुलकन्यकाओं में जो बालाएँ पतिभाव से कृष्ण में अनुरक्त देखी जाती हैं उनको भी **स्वीया** ही समझना चाहिए। क्योंकि कृष्ण में पतिभाव से निष्ठा होने के कारण उन्हें '**स्वीया**' मानना असमीचीन नहीं है।

परकीया के दो उपभेद हैं, **कन्या, परोढ़ा**। इसके पश्चात् जो विवेचन है वह प्रायः विशुद्ध सांप्रदायिक है। इन नायिकाओं के तीन उपभेद **साधनपरा, देवी** (देवियाँ) तथा **नित्यप्रिया**। साधनपरा के दो भेद हैं **यौथिकी** और **अयौथिकी**। पूर्वजन्म में रामसौंदर्य से मोहित भक्त मुनियों ने भगवान् को प्रियतम के रूप में पाने की सामूहिक कामना की थी, वे ही स्त्रीत्व प्राप्त कर गोकुल में उत्पन्न हुईं। एकशः तद्रागसक्त होकर साधन करनेवाले भी समय - समय पर व्रज में नारी के रूप में जन्म लेते रहे। अतः गोपियाँ **साधनपरा** हैं। जो देवांगनाएँ कृष्ण प्रेम से व्रज में अवतरित हुईं वे देवियाँ हैं। राधा, चंद्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, धनिष्ठा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, पालिका आदि अंगना - यूथों की यूथाधिप हैं और ऐसे सैकड़ों रमणीयूथ हैं जिनमें आनंदकंद की सभी **नित्यप्रियाएँ** हैं।

गौड़ीय - भक्ति - परंपरा की निष्ठा - आस्था और अनुश्रुति के अनुसार इनके भेदोपभेदों का विस्तृत परिचय देने के अनंतर बताया है कि वृंदावनेश्वरी की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं – सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमश्रेष्ठ सखी। इन सबका वहाँ बड़ा विस्तार है। पर उस संप्रदाय - कल्पित अनावश्यक विस्तार में न जाकर यहाँ इतना कहा जा सकता है कि 'उज्ज्वलनीलमणि' का नायिकाभेद कृष्ण - भक्ति - संप्रदाय के आस्थामूलक मत के अनुसार निरूपित किया गया है, जिसमें पौराणिक और सांप्रदायिक आग्रहों का विशेष आदर है। नायिकाओं के अस्तित्व या कल्पना की भूमि जीवन और समाज न होकर संप्रदाय - साहित्य

है। अतः परकीयारति में रस का परम उत्कर्ष लक्षित होता है। पर वैष्णव भक्तों की परंपरा के अंतर्गत ही यह व्याख्या चलती रही। उसके अतिरिक्त सामान्य व्यवहार में मध्ययुगीन वैलासिक वासना ने उक्त अर्थ की सगुण - भक्तिपरक आध्यात्मिकता की पूर्ण उपेक्षा करते हुए उक्त भावना को लौकिक शृंगार के पक्ष में सर्वतोभावेन ग्रहण कर लिया। रूप गोस्वामी ने तो स्पष्ट कहा था –

'लघुत्वं त्वत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि ॥'

अर्थात् उपपतिनिष्ठ रति और शृंगार को व्यावहारिक मर्यादा के कारण जो अपकृष्ट माना गया है वह सामान्य लौकिक शृंगारी नायक के संदर्भ में ही। किंतु रसमूर्ति कृष्ण के संदर्भ में वह लघुतासूचक नहीं है। क्योंकि उनका (कृष्ण का) तो अवतार ही हुआ है मधुररस का, उज्वल शृंगार का आस्वादन करने - कराने के लिए। पर व्यवहार में यह भाव मधुर - संपृक्त न रहकर शृंगार सामान्य के लिए है।

का वर्णन है। नायकनायिकाओं का अस्तित्व भौतिक जगत का न होकर संप्रदायानुमोदित आध्यात्मिक जगत का है।

इसी कारण नायिकाभेद की परंपरा त्यागकर इस शाखा के आचार्यों ने **सामान्या** का अस्तित्व ही नहीं माना है। भक्तिरस के परिवेश में मधुरा प्रीति या प्रेमारति की स्थायिभाव के रूप में प्रतिष्ठा आवश्यक है। अनन्य, गाढ़ प्रेम के रहने पर, सर्वरूप से, पतिरूप से, प्रियतम रूप से भगवान् की मधुरोपासना में **स्वीया** भाव या **परकीया** भाव संभव है। जब मधुरालंबन एक ही है, रसानंदमूर्ति केवल व्रजनंदन एक एवं त्रिकाल के नायक हैं, तदरिक्त नायक की कल्पित संभावना का भी अवकाश नहीं, तब सामान्याभाव की सत्ता ही कैसी !! लीलाविग्रह आनंदकंद व्रजचंद के अतिरिक्त नायक ही कहाँ !! यहाँ तो 'सैरंध्री' तक **परकीया** है।

फलतः यहाँ नायिका के दो भेद ही हैं, **स्वकीया** और **परकीया**। 'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रगल्भा' – इन्हें यद्यपि बहुतों ने **स्वकीया** के ही उपभेद माने हैं पर मधुरोपासक रसाचार्यों ने इनको **परकीया** के भी उपभेद कहा है। मुग्धा के अंतर्भेद हैं – 'नववया', 'नवकामा' 'रतौवामा', 'सखीवशा', 'सव्रीडरतप्रयत्ना', 'रोषकृतवाष्पमौना' और 'माने विमुखी'। मध्या के अंतर्भेद हैं – 'समानलज्जामदना', 'प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी', 'किञ्चित-प्रगल्भवचना', 'मोहान्तसुरतक्षमा', 'माने कोमला' और 'माने कर्कशा' (इनके अतिरिक्त धीरा, अधीरा, धीराधीरा भी)। प्रगल्भा के अंतर्भेद हैं – 'पूर्णतारुण्या', 'मदांधा', 'उरुरतोत्सुका', 'भूरिभावोद्गमाभिज्ञा', 'रसाक्रांतवल्लभा', 'अतिप्रौढ़वचना', 'अतिप्रौढ़चेष्टा' 'माने अत्यंतकर्कशा' (मानवृत्ति के अनुसार धीरा, अधीरा, धीराधीरा भी)।

इस परंपरा में सर्वतोधिक रसोत्कर्ष होता है **मध्या** नायिका में। इसका कारण यह है कि मध्या में मुग्धा की मोहक मुग्धाकारिता और प्रौढ़ा की मादक प्रगल्भता – दोनों भावों का योग स्पष्टतः लक्षित होता है। मौग्ध्य – प्रागल्भ्य की संधिस्थली मध्यावस्था सर्वमनोरम और पूर्णतः रसमय है।[२८]

ऊढ़ा और अनूढ़ा में **कन्या** अनूढ़ा है। कन्या का एक ही उपभेद है – मुग्धा, पर स्वोढ़ा या परोढ़ा के उपर्युक्त मुग्धादि तीनों भेद होते हैं।[२९]

इन सबको लक्ष्य - लक्षण - विशिष्ट विस्तृत निरूपण करने के अनंतर अभिसारिकादि[३०] आठ अवस्था-नायिकाओं का विवरण दिया गया है। इन्हें भी दो वर्गों में बाटा गया है —

२८. सर्वं एव रसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते। यदस्यां वर्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युतिः॥

२९. नायिका सामान्य के १५ भेद होते हैं — १. कन्या मुग्धा, २. स्वीयामुग्धा ३. स्वीया धीर मध्या, ४. स्वीया अधीर मध्या, ५. स्वीया धीराधीरमध्या, ६. स्वीया धीरप्रगल्भा ७. स्वीया अधीरप्रगल्भा, ८. स्वीया धीराधीरा प्रगल्भा द्वितीय से लेकर ८ तक के सात उपभेद परकीया के भी होते हैं। इस प्रकार कुल १५ भेद हुए। अष्टावस्थाओं से गुणित ये प्रभेद १२० हो जाते हैं। प्रत्येक के — उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा – ये तीन भेद होने के कारण इनकी संख्या ३६० पहुँच जाती है।

३०. इन्होंने भी अभिसारिका के दो रूप — अभिसरणकर्त्री और अभिसारयित्री – माने हैं।

हृष्टा और खिन्ना । 'स्वाधीनपतिका,' 'वासकसज्जा' तथा 'अभिसारिका' – ये तीनों नायिकाएँ हृष्टा होती हैं, अतः 'मंडिता' (सज्जिता-शृंगारिता) भी; शेष पाँच खिन्ना होती हैं, अतः मंडनवर्जिता रहती हैं। ब्रजसुंदर आनंदभूर्ति के प्रति प्रेमा भक्ति या मधुर रति की गाढ़ता के तारतम्यानुसार नायिकाएँ उत्तवा, मध्यमा और कनिष्ठा होती हैं। गौड़ संप्रदाय की रसपद्धति के अनुकूल यूथेश्वरी, दूती, (स्वयंदूती, आप्तदूती) सखीदूती, सखी, सखीविशेष, हरिवल्लभा आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है।

संक्षेप में एतत्-संप्रदायगत नायिकाभेद की विशेषताएँ निम्न-निर्दिष्ट हैं —

१. कृष्ण और उनकी वल्लभाओं का आलंबत्व। रसमूर्ति कृष्ण की गौड़ संप्रदायानुगत आध्यात्मिक नायकता। नायक का एकत्व और नायिकाओं की असंख्यता। असंख्य होकर भी एकोन्मुख ईर्ष्याविहीन सर्वभावेन गाढ़तम मधुर रति। पति-उपपति - भाव।

२. उपपति - आलंबनात्मक परकीयारति की मधुरशृंगार में परमोत्कर्षता तथा भगद्विषयक औपपत्य प्रीति की महनीय गौरवशालिता।

३. सामान्या का अनंगीकार तथा '**परकीया**' में भी मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेद का स्वीकरण।

४. मध्या में रस की सर्वोत्कृष्टता तथा कृष्ण के प्रति मधुर प्रीति के तारतम्यानुसार उत्तमादिभेद।

५. नायिका आदि के संदर्भ में पौराणिक तथा गौड़सांप्रदायिक, गाथाओं, अनुश्रुतियों और मान्यताओं के अनुसार भेदों का आकलन।

इस संप्रदाय का दूसरा मुख्य ग्रंथ है कवि कर्णपूर गोस्वामी का 'अलंकार - कौस्तुभ' (बीरेन्द्र, रीसर्च सोसायटी–राजशाही, बंगाल), जो अलंकारशास्त्र का अच्छा संग्रह-ग्रंथ कहा जा सकता है। इन्होंने 'रति' के संदर्भ में बताया है कि रति, प्रीति, मैत्री आदि सब उसीके रूप हैं, पर नरनारी के युगल-व्यवहार को ही **रति** का नाम मिलता है (संप्रयोगविषया)। असंप्रयोग-विषया रति को ही **प्रीति** कहा जाता है। इसी प्रकार मैत्री, सौहार्द, देवरति आदि का पृथक्-पृथक् परिचय देते हुए '**रस**' का सुंदर निरूपण किया गया है। शृंगार का निरूपण करते हुए इन्होंने भी रूपगोस्वामी का अनुसरण किया है। **सामान्या को नहीं माना है, स्वीया-परकीया** दोनों के मुग्धादि त्रिभेद अंगीकृत हैं। स्वोढ़ा-परोढ़ा के भेदों को लेकर तथा '**वासकसज्जादि**' अवस्थानायिका के आठ भेदों से गुणित होकर इनकी संख्या १०२ हो गई है। अनूढ़ा (कन्या) परकीया के चार उपभेद इन्होंने बताए हैं – ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अत्यंतमृद्वी, मध्यमृद्वी। प्रकृति के अनुसार अत्युत्तमा, उत्तमा और मध्यमा — नायिका के तीन भेद होते हैं। साधना-उपासनानुसार भी नायिका के तीन भेद हैं, **सिद्धा, सुसिद्धा और नित्यसिद्धा**। कुल मिलाकर इनकी संख्या (१३×२×८=२०८+४=२१२×३=६३६×३)=१९०८ होती है।

सारांश यह कि यहाँ '**सिद्धा**' आदि नवीन त्रिभेदों का निर्देश किया गया है और **उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा** – इन तीनों में अंतिम को हटा कर प्रथम स्थान में '**अत्युत्तमा**' को स्थापित कर दिया गया है।

मंदारमरंदचंपू[३०] — कृष्ण कवि के प्रस्तुत ग्रंथ में विशेष महत्व की बातें कम ही हैं। मुग्धादि त्रिभेदों को वे **स्वीया** के ही मानते हैं। 'मुग्धा' के दो भेद हैं – **ज्ञातयौवना, अज्ञात - यौवना**। कृष्णकवि ने इनके पुनः दो भेद – शुद्ध नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा माने हैं। 'मध्या' और 'प्रौढ़ा' में कोई नवीन विशेषता नहीं हैं, केवल **ज्येष्ठा** और **कनिष्ठा** - भेद से इनके उपभेद किए गए हैं।

एक बात विशेषरूप से उल्लेख्य है। कृष्णकवि के मत से **सामान्या** और **परकीया** — ये दोनों केवल प्रौढ़ा ही होती है – **मुग्धा** और **मध्या** नहीं (सामान्या परकीये द्वे प्रौढे इत्येव संमते, पृ० ८० – काव्या०)। दूसरी बात उन्होंने यह बताई है कि मुग्धा के अतिरिक्त अन्य नायिकाओं के ही वासकसज्जादि आठ भेद होते हैं। यह ग्रंथकार का अपना मत है। पर उन्होंने यह भी कहा है कि किसी - किसी के अनुसार **मुग्धा** के भी उक्त आठ भेद होते हैं। तीसरी बात है – उन्होंने **'दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्या'** – ये भी नायिकाओं के त्रिभेद बताए हैं जो भरत तथा अन्य कुछ ही आचार्यों के ग्रंथों में निर्दिष्ट है। भोज के अनुसार इन्होंने भी 'उद्धता', 'उदात्ता', 'ललिता' और 'शांता' – भेदों की चर्चा की है। 'भोज' का नामोल्लेख करते हुए (कथिता पूर्वैर्भोजादिभिर्बुधैः) 'क्षता, अक्षता, यातायाता और यायाबरा' का भी इन्होंने उल्लेख सोदाहरण किया है। पर कदाचित् कुछ **भ्रमवश यातायाता** उस नायिका को माना है जो एक साथ ही अनेक व्यक्तियों द्वारा विवाहित हो, जैसे – द्रौपदी (परंतु 'भोज' ने बृहस्पतिपत्नी 'तारा' को 'यातायाता' कहा है)। (पूर्व पृष्ठों में देखिए)। इसके अतिरिक्त कामशास्त्रीय 'पद्मिनी' आदि चार भेदों का भी निरूपण हुआ है। वैद्यक के अनुसार प्रकृति को ध्यान में रखकर 'कफिनी, वातला और पित्तला' नामक तीन भेद भी किए गए हैं। अभिसारिका के प्रसंग में 'दिवाभिसारिका, श्यामा (निशा)-भिसारिका' दो भेद हैं और द्वितीय के पुनः प्रसिद्ध (शुक्ला - कृष्णा) दो उपभेद हैं। 'सरस्वती-कंठाभरण' के समान नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका और अनुनायिका – इनका भी निरूपण हुआ है।

इस ग्रंथ में, जैसा कि नाम से पता चलता है, गद्य - पद्य दोनों का उपयोग हुआ है। पर इस प्रकरण में पद्य ही पद्य हैं और वे भी प्रायः अनुष्टुप् छंद के ही। पहले भेदोपभेद के रूप में समस्त नायिकाओं के नाम दिए गए हैं और बाद में संक्षिप्त लक्षण तथा संक्षिप्त ही उदाहरण। लक्ष्य भी यद्यपि कविनिर्मित ही हैं तथापि लक्षणों की केवल संगति दिखाने के लिए बनाए गए हैं न कि शृंगारी अनुरंजकता, विलासपूर्ण काव्यानुरंजन अथवा काव्य-प्रतिभा दिखाने के लिए (जैसा कि रीतिकालीन कवियों में दीखता हैं)।

नाटकलक्षणरत्नकोश

इस ग्रंथ का नायिकानिरूपण परंपरागत सरणि से कुछ भिन्न लगता है।[३१] सागरनंदी ने अन्य आचार्यों की भाँति नायिका - परिचय का आरंभ **'स्वीया;**, **'परकीया'** और **'सामान्या'** से न करके 'खंडिता, विप्रलब्धा' आदि अष्ट अवस्था भेदों से किया है तथा

३०. काव्यमाला (सिरीज ५२)।

३१. नाटकलक्षणरत्नकोश –

'अभिसारिका' के प्रसंग में 'कुलजा और वेश्या, (क्रमशः स्वीया और सामान्या) का निर्देश किया है। 'परकीया' की चर्चा ही नहीं की गई है। इसका कारण संभवतः 'नाट्यसूत्र' के प्रसंग-विशेषों का प्रभाव है। भरत ने कहा है[३२] 'स्त्रियों की नानासत्वसमुद्भवा प्रकृति विविध प्रकार की होती है, बाह्या, आभ्यंतरा और बाह्याभ्यंतरा। 'आभ्यंतरा' कुलीना है, 'बाह्या' वेश्या है तथा 'बाह्याभ्यंतरा' कृतशौचा नारी को कहते हैं। प्रथम दो भेदों का तो व्याख्यात्मक विवरण दिया गया है पर अंतिम भेद का कदाचित् नाट्य में अनुपयोगी होने से विस्तृत विवरण छोड़ दिया गया है। अतः उसका आशय स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी प्रकार अष्टावस्था नायिका के प्रसंग में अभिसरण की चर्चा करते हुए वेश्या, कुलजा और प्रेष्या के उल्लेख है। कहीं भी भरत ने 'परकीया' का नाम नहीं लिया। 'सागरनंदी' के समय में प्रेष्या शब्द दूतीवाचक ही था। अतः वहाँ भी मुख्य दो ही भेद रह जाते हैं। यह भी हो सकता है कि 'नाटकलक्षणरत्नकोश' जिस परंपरा का ग्रंथ रहा हो उसमें या ग्रंथकार के समाज में परकीया का स्थान लोकसंमत न रहा हो।

आगे चलकर ग्रंथकार ने भरतानुसारी अभिसरणपद्धति बताने के बाद अभिसरणानुकूल नौ स्थितियों-समयों का वर्णन करते हुए कुलजा के लिए केवल गोधूलि या संध्या की प्रदोषवेला को कुछ आचार्यों के अनुसार सर्वोपयुक्त कहा है। यद्यपि अन्य रसिकों के मत से काम-शर-पीड़िता के लिए किसी समयविशेष का निर्देश करना कठिन बताया गया है।

इन आठों के अतिरिक्त 'लभ्या' नाम की नायिका का नवम भेद भी उन्होंने बताया है। वह अपने पतिगृह में सतत भीता बनी रहती है, उसे शारीरिक सुख के अवसर कभी-कभी मिल तो अवश्य जाते हैं परंतु उसकी भावनाएँ मन के भीतर ही घुट-घुटकर रह जाती हैं। (इस भेद को तत्वतः स्वीया का ही एक उपभेद कहा जा सकता है)। मान की चर्चा करते हुए इसी प्रकरण में पहले उन्होंने मुग्ध, मनाङ्मुग्ध, समृद्ध और अतिसमृद्ध का उल्लेख किया है न कि लघु, मध्य और गुरु मानों का। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रंथ में कोई विशेषता नहीं है।

श्रृंगारमंजरी

संस्कृत नायिका-भेद की अंतिम अवस्था के प्रमुख ग्रंथों में परवर्ती श्रृंखला की कुछ दृष्टियों से महत्वपूर्ण कृति है 'संत अकबर शाह' उर्फ 'बड़े साहेब' की रचना 'श्रृंगारमंजरी'। यह ग्रंथ कुछ समय पूर्व (सन् १९५१ ई० में) हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित किया गया है और इसका संपादन किया है डा० राघवन् ने। इसके पहले प्रस्तुत ग्रंथ अप्रकाशित ही रहा। एक फुट चौड़ी और सवा फुट लंबी विशाल कृति के इस संस्करण के संपादन में संपादक ने अथक परिश्रम के साथ ११६ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है तथा उपलब्ध पांडुलिपियों के आधार पर इसका संपादन किया है।

कुतुबशाही के अंतिम सुलतान अबुल हसन के राजगुरु संत शाह राजू के पुत्र संत अकबर शाह ने, जो संमान के कारण 'बड़े साहेब' कहे जाते थे – इस ग्रंथ की रचना आंध्र (तेलगू) भाषा में की थी। (उनका पूरा नाम था – हजरत सय्यद अकबर शाह हुसैनी)। उसी 'श्रृंगारमंजरी' को संस्कृतच्छाया में विद्वानों ने अनूदित किया।

३२. नाट्यशास्त्र – काशी संस्करण।

इस ग्रंथ के आरंभ में इस नूतन ग्रंथ की रचना का प्रयोजन विस्तार के साथ बताते हुए लिखा है - "रसञ्जरी - आमोद - परिमल - शृङ्गारतिलक - रसिकप्रिया - रसार्णव - प्रतापरुद्रीय-सुन्दरशृङ्गार - नरसकाव्य - दशरूपक - विलासरत्नाकर - काव्यपरीक्षा - काव्यप्रकाशप्रमुख - ग्रन्थान् विचार्य प्राचीनेषु यानि लक्षणानि युक्तियुक्तानि तानि संगृह्य, अन्यानि परित्यज्य प्राचीनोदाहरणानुसारेण नायिकाभेदान् कल्पयित्वा, येषामुदाहरणानि न सन्ति तेषामुदाहरणानि विरचय्य येषां नामानि न संति तेषां नामानि स्थापयित्वा ··· ··· प्राचीनलक्षणेषु यान्युपयुक्तान्युदाहरणानि तानि तत्तन्नायिकास्थलेषु लिखित्वा चर्चाग्रंथो गद्यरूपो लक्षणग्रंथः फक्किकारूप उदाहरणग्रंथः पद्यरूपः लक्षणोदाहरणे नायिकाभेदाः शृङ्गार ··· ··· नवरसेषु शृङ्गाररस्य प्राधान्यात् शृङ्गाररसालम्बनविभावा नायिकानायकाः, शृङ्गाररसानुकूलाः, सात्विकभावाः, पूर्वोक्तग्रन्थवर्णित-यामिन्यादिजातयः जातिसंकरो जातिभेदाश्चैवं सरसाशेष - विशेषा निरूप्यन्ते।"

[शृंगारमंजरी, पृ० २, हैदराबाद - पुरातत्वविभाग]

इस उपक्रमप्रस्तावना से ही प्रस्तुत ग्रंथ की विशेशताओं का पूर्ण संकेत प्राप्त हो जाता है। १ - इसके लेखक ने संबद्ध विषयवाले अनेक ग्रंथों का आलोडन किया था। २ - प्राचीन ग्रथों के लक्षणों और उदाहरणों का विश्लेषणात्मक परीक्षण - संशोधन भी किया गया। ३ - नवीन लक्षण, नवीनलक्ष्य, विषय के नूतन भेदोपभेद और उनका नवीन नामकरण किया गया, पर तभी जब विवेचना द्वारा उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। ४ - विषय के महत्वानुसार प्रसंग का संक्षेपण या विस्तारण भी किया गया। ५ - नवरसों में शृंगार की प्रधानता होने के कारण उसके नायिका-नायक का, उसके अनुकूल सात्विक भावों का **तथा पद्मिनी, चित्रिणी-शंखिनी-हस्तिनी**, आदि जाति की स्त्रियों का निरूपण किया गया है।[33] ६ - एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिन प्रमुख ग्रंथों का नामोल्लेख किया गया है — उनमें दो ग्रंथ हिंदी के भी हैं — १ - केशवदास की '**रसिकप्रिया**' और २ - सुंदरदास का 'सुंदरशृंगार"।

प्रस्तुत ग्रंथ मुख्य विषयका अत्यंत विस्तार के साथ विषय-विवेचन करता है। पर इसका मुख्य आधार 'भानुदत्त' की रसमंजरी और उसकी दो अप्रकाशित टीकाएँ — 'आमोद' और 'परिमल' हैं। इनमें से मुख्यतः सहारा लिया गया है 'आमोद' का। अधिकांश स्थलों में पूर्वपक्ष की उपस्थापना 'के रूप में 'रसमंजरी' के मतानुसारी लक्षण को उपस्थित किया गया है और और उसकी 'अव्याप्ति-अतिव्याप्ति' आदि का विचार करते हुए उत्तरपक्ष के रूप में 'आमोद' का सिद्धांतमत देते हुए आदर के साथ कहा गया है — "आमोदकारास्तु··· ।" बहुधा 'आमोद' का ही पक्ष ग्रंथकार द्वारा भी समर्थित है। पर कभीकभी उसका भी प्रत्याख्यान करते हुए 'शृंगार-मंजरी-कार' ने अपना स्वतंत्र मत उपस्थित किया है।

३३. इदानीं वात्स्यायनमतानुसारेण गुणैर्हस्तिन्यादिनायिकाभेदा भद्रादिनायकभेदाश्च निरूप्यन्ते। हस्तिनी-चित्रिणी-शङ्खिनी-पद्मिनीगुणेभ्यो भद्रदत्त-कुचमार-पाञ्चाल-गुणानामभिन्नत्वात् प्रत्येकमेषामुदाहरणानि (न) लिखामः। हस्तिन्यादिनायिकासु परस्परगुणसाङ्कर्येण जातिसङ्कराः स्त्रियो जायन्ते। [शृंगारमंजरी – पृ० ५४]

इस व्याख्यात्मक समालोचन और मीमांसन की सरणि, विषयों के लक्षणख्यान में भी दिखाई देती है, विषयविभाजन या भेदोपभेद-कथन में भी और कभी-कभी लक्ष्य के उदाहरण में भी।

प्रस्तुत ग्रंथ में नायिकाभेद के संदर्भ में, भेदोपभेदों के प्रसंग में कुछ नवीन उपभेद प्रस्तुत किए गए हैं जो बहुधा रीतियुगीन वासनात्मक विलासिता के सूचक हैं। पर एक बात इस ग्रंथ के विषय में महत्व की है। ग्रंथ यद्यपि उस युग में निर्मित हुआ जब कि मुगलबादशाहों की वैलासिक अभिरुचि के प्रखर प्रवाह में, भारत का संपन्न अभिजात वर्ग निमग्न होता जा रहा था तथापि प्रस्तुत ग्रंथ के विषयनिरूपण में शास्त्रीय गांभीर्य का स्वर पर्याप्त रूप में आदि से अंत तक मुखरित है। यह अवश्य है कि नायिकाओं के भेदोपभेदों की कल्पना और लक्ष्यों के उदाहरणों में कामज कुतूहल के नूपुरगुंजन की स्वरझंकृति भी सुनाई पड़ती है।

नायिकाभेद

ग्रंथकार ने **मुग्धा** के दो भेदों में – अज्ञातयौवना और **ज्ञातयौवना** — द्वितीय के ही दो उपभेद — **नवोढ़ा** और **विश्रब्धनवोढ़ा** – माने हैं। अतिविश्रब्ध-नवोढ़ा-रूप मध्या के भेद का सयुक्तिक खंडन किया है पर मध्या के दो अन्य भेद – **प्रच्छन्नमध्या** और **प्रकाशमध्या** माने हैं जो सर्वथा नवीन लगते हैं। **प्रगल्भा** के उपभेद हैं – रतिप्रीतिमती, रत्यानन्दपरवशा।

'धीराधीरादि' भेद के विषय में कोप को आधार मानकर 'रसमंजरी' - कार ने 'परकीया' और 'सामान्या' के भी वे भेद माने हैं – जिसका समर्थन **श्रृंगारमंजरी** में भी किया गया है। यह अवश्य है कि परकीया के भेदविशेष (**उद्बोधिता** – जिसकी चर्चा आगे की जायगी) में ही इन उपभेदों को संभव माना है।

ग्रंथकार के अनुसार परकीया के दो भेद हैं – **अन्या** और **परोढ़ा**। और परोढ़ा के दो उपभेद होते हैं, **उद्बुद्धा** (स्वयं अनुरागिणी) और **उद्बोधिता** (नायक-प्रेरित–अनुरागवती)। **उद्बोधिता** के तीन अंतर्भेद हैं – धीरा, अधीरा और धीराधीरा। **उद्बुद्धा** के भी तीन भेद हैं– गुप्ता, निपुणा और लक्षिता। (यहाँ यह स्मरणीय है कि भानुदत्त के समान परकीया के छः भेद न मान कर इन्होंने तीन ही माने हैं। 'गुप्ता' के अवांतरभेद तीन हैं – १ - वृत्तसुरतगोपना, २ - वर्तिष्यमाणसुरतगोपना और ३ - वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना। **निपुणा** भी तीन प्रकार की होती है – १ - वाङ्निपुणा, २ - क्रियानिपुणा और ३ - पतिवंचनानिपुणा (प्रथम दो भेद तो पूर्वप्रसिद्ध 'वाग्विदग्धा' और 'क्रियाविदग्धा' के स्थानापन्न हैं – पर तृतीय नवीन है और कदाचित् तत्कालीन मुसलमानी और राजपूती दरबारों में व्याप्त अनाचारवृत्ति का सूचक है)।
लक्षिता के भी दो भेद हैं – १ - **प्रच्छन्नलक्षिता** और २ - **प्रकाशलक्षिता**।

परकीया के जिन अन्य तीन भेदों का मुख्यरूप में ऊपर नाम नहीं लिया है वे **प्रकाशलक्षिता** के अवांतरभेद हैं। **प्रकाशलक्षिता** चार प्रकार की हैं – १ - कुलटा, २ - मुदिता ३ - अनुशयाना और ४ - साहसिका। **अनुशयाना** के पुनः तीन प्रकार हैं – १ - विघटित-संकेता, २ - अप्राप्तभाविसंकेता और ३ - शंकितसंकेतजारगमना। यहाँ बताया गया है कि 'रसमंजरी' - कारने यद्यपि अनुशयाना के तीन ही भेदों की कल्पना की है तथापि 'आमोद-कार' के कल्पनानुसार उसके अनेक भेद हो सकते हैं। **साहसिका** सर्वथा नवीन उपभेद है और तद्युगीन मनोवृत्ति का कदाचित् सूचक भी। इसका लक्षण है — साहसकृतजार-संभोगा साहसिका।

सामान्या के पाँच नूतन उपभेदों की इस ग्रंथ में उद्भावना की गई है – १ - स्वतंत्रा, २ - जनन्यधीना, ३ - नियमिता (नियमेन स्थापिता), ४ - क्लृप्तानुरागा और ५ - कल्पिता-

नुरागा। 'नियमिता' से तात्पर्य है, बिना विवाह के ही धननिमित्त जिसका एक ही पुरुष के साथ नियत संबंध स्थापित रहे। 'क्लृप्तानुरागा' उसे कहते हैं जो धनार्थ बहुभुक्ता होने पर भी एक पुरुष में अनुरागवती होती है। 'कल्पितानुरागा' उसे माना है – जो धन के लिए अनुराग का केवल अभिनय करती है। सामान्या के ये भेद कदाचित् तत्कालीन गणिका की विभिन्न विधाओं का परिचय देते हैं जो तत्कालीन समाज में दिखाई देती थीं।

'अन्यसंयोगदुःखिता' और 'मानवती' का 'खंडिता' के संदर्भ में निरूपण हुआ है तथा 'वक्रोक्तिगर्विता' को अवस्था - नायिका - भेदों में आठ प्रकारों के अतिरिक्त नवम भेद माना है।

अतः 'स्वाधीनपतिका' आदि के आठ भेद न होकर नौ भेद हैं। इनमें प्रत्येक के कौन - कौन से स्वीयादि भेद होते हैं – इन सबका विस्तार के साथ विवेचन और लक्षण - लक्ष्य - युक्त निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए 'स्वाधीनपतिका' के भेदों को देखा जा सकता है। इसके आठ प्रकार हैं – स्वीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या, दूतीवंचिका तथा भावि-शंकिता। 'वासवसज्जा' के अंतर्गत 'अवसितप्रवासपतिका' का नाम है – न कि प्रोषितपतिका के अंतर्गत। इसी प्रकार 'विरहोत्कंठिता' के भी दो उपभेद हैं– 'कार्यविलंबितसुरता' और 'अनुत्पन्न-संभोगा'। द्वितीय के चार प्रभेद – 'दर्शनानुतापिता, श्रवणानुतापिता, चित्रानुतापिता और स्वप्नानुतापिता' हैं। विप्रलब्धा भी दो प्रकार की होती हैं – 'नायकवंचिता, सखीवंचिता'। 'खंडिता' भी छः प्रकार की मानी गई है, 'धीरा, अधीरा, धीराधीरा, मानवती, अन्यसंभोग-दुःखिता और ईर्ष्यागर्विता'। इनके भेदोपदों का बहुत विस्तार किया गया है जो कदाचित् अन्यत्र नहीं मिलता। इसी प्रकार 'कलहांतारिता' भी 'ईर्ष्याकलह' और 'प्रणयकलह' के आधार पर दो प्रकार की मानी गई हैं। 'वक्रोक्तिगर्विता' के भी 'प्रेम, सौंदर्य, सौभाग्य, नैपुण्य' के अनुसार चार मुख्य भेद हैं। अवांतरभेदों में स्मित, यौवन, सौकुमार्य, विलास आदि को लेकर भी लक्षण - लक्ष्य प्रस्तुत किए गए हैं। प्रोषितपतिका के पूर्वप्रसिद्ध तीन भेदों – 'प्रोषितपतिका, प्रवसत्पतिका, प्रवस्यत्पतिका' के अतिरिक्त 'सख्यनुतापिता' नामक एक चतुर्थ भेद की भी परिकल्पना की गई है।

'अभिसारिका' के संदर्भ में 'रसमंजरी' के मत से स्वयं अभिसरण करनेवाली 'अभि-सारिका' और प्रिय का अभिसारण करानेवाली 'वासकसज्जिका' है। इस ग्रंथ के अनुसार प्रिय के यहाँ अभिसरण करनेवाली ही अभिसारिका है। परकीया अभिसारिका के उपभेद हैं – 'ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका, दिवाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और कामाभिसारिका'। एक और भी विधा है – 'प्रेमवाक्याभिसारिका।

उत्तमा, मध्यमा और अधमा – इन तीन त्रिभेदों को भी इन्होंने स्वीकार किया है। अंत में 'शृंगारमंजरी' के लेखक ने अत्यंत संक्षेप से अंगना के कामशास्त्रीय, चतुर्भेदों, पद्मिनी आदि का, भी निरूपण किया है।

इस ग्रंथ की विशेषता है लक्षणों का विवेचनात्मक निरूपण तथा अनेक नवीन भेदोपभेदों की उद्भावना। अनूदित होने के कारण या दूसरे ही वजह से जो भी हो, इस ग्रंथ की संस्कृत भाषा में प्रवाहमयी प्रौढ़ता का अभाव - सा है।[३८]

३४. 'शृंगार - मंजरी' के विषय में बताया गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का मूल रूप 'आंध्रभाषा (तेलगू) में विरचित हुआ था —

शृंगारामृतलहरी, रसरत्नहार, रसचंद्रिका

संस्कृत के नायिका - भेद - विषयक साहित्य की चर्चा करते हुए अंत में उपर्युक्त तीन ग्रंथों के प्रस्तुत प्रसंग का संक्षिप्त परिचय अनावश्यक न होगा ।

'शृंगारामृतलहरी' (सामराजकृत)[३५] में संक्षेप से शृंगारालंबन नायक का निरूपण करने के अनंतर आलंबनभूत नायिका का विस्तृत और शास्त्रीय निरूपण किया गया है। 'शृंगारमंजरी' के समान लक्षण और विवेचन गद्य में हैं – प्रौढ़शास्त्रीय गद्य में। इन्होंने **मुग्धा** को स्वीयामात्र का प्रभेद माना है, मध्या और प्रगल्भा को परकीया और सामान्या के भी। 'मुग्धा' या 'नवोढ़ा' के दो भेद – अज्ञाताज्ञातयौवना हैं। 'विश्रब्धनवोढ़ा' – किसी के मत से मध्या ही हैं और किसी के मत से 'मुग्धा'। 'मध्या' को 'उद्यतयौवना' भी कहते हैं। 'प्रगल्भा' में कोई नवीनता नहीं है। धीरा आदि को 'परकीया' का भेद इन्होंने नहीं माना है। ज्येष्ठा - कनिष्ठा के विषय में शास्त्रार्थ करते हुए उसे 'मुग्धा' का भी भेद और **पतिप्रेमाश्रित** ही स्वीकार किया है न कि विवाहक्रम से। **परकीया** के 'गुप्ता' आदि षट्भेद स्वीकृत हैं। (गुप्ता - २, वृत्तसुरतगोपना, वर्तिष्यमाणसुरतगोपना। विदग्धा - २ - वाग्, क्रिया। **अनुशयाना** – ३, वर्तमानस्थानविघटना, भाविस्थान०, स्वानाधिष्ठितस्थानस्य भर्तुरनधिष्ठानेन।) इन्होंने 'सामान्या' में सच्चे अनुराग का हो सकना भी माना है, पर 'परकीया' में 'मान' की सत्ता

तेनान्ध्रभाषायां रचितः शृङ्गारमञ्जरीग्रन्थः।
स्वयमकबरेण भूभृन्मुकुटमणिरञ्जिताङ्घ्रिकमलः ॥
(शृंगार० पृ० २, श्लो० १५)।

उपक्रमणिका में उपर्युक्त पद्य है, जिसका अर्थ होता है कि स्वयं 'अकबर साहि' ने ग्रंथ की रचना की थी। कुछ पंक्तियों के बाद जो अंश है – बडे साहेबाकबरशाहः शृङ्गारमञ्जरीग्रन्थराजं रुचिरं विरचयति। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि दूसरे से यह संस्कृत रूपांतरण कराया गया है।

डा० भगीरथ मिश्र ने अपने ग्रंथ 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' के नवीन संस्करण में 'शृंगारमंजरी' के हिंदीरूप को 'आचार्य चिंतामणि 'त्रिपाठी' लिखित माना है। परंतु उसी ग्रंथ में आगे चलकर अपने कथन की व्याख्या करते हुए डाक्टर साहब स्वयं कहते है – "इनके लिए (बड़े साहिब अकबरसाहि के लिए) चिंतामणि ने मूल तेलुगू के संस्कृत अनुवाद शृंगारमंजरी का ब्रजभाषा रूपांतर किया था, वही प्रस्तुत 'शृंगारमंजरी' है।" (पृ० ७५) हिंदी 'शृंगारमंजरी' का संपादन किया है डा० भगीरथ मिश्र ने और प्रकाशक है 'लखनऊ विश्वविद्यालय।

कहने का सारांश यह कि मूल ग्रंथ तेलुगु में है जिसका अनुवाद 'बड़े साहेब' ने संस्कृत में किया या कराया और उसका हिंदी रूपांतर किया 'आचार्य चिंतामणि' ने। यह कृति ग्रंथकार की मौलिक रचना नहीं वरन् अनूदित कृति है। साथ ही इसके विषयनिरूपण में जो शास्त्रीय विश्लेषण और विस्तृत विवेचना दिखाई देती है – वह सब प्रायः संस्कृत - संस्करण में ही वर्तमान है।

३५. काव्यमाला – चतुर्दश गुच्छक।

को स्वीकार नहीं किया है। 'आगमिष्यत्पतिका' को 'वासकसज्जा' का एक प्रकार कहा है। 'अवसितप्रवासपतिका' या 'आगतपतिका' को भी उसीका एक विभेद माना है। 'अभिसारिका' में अभिसरण और अभिसारण दोनों का रूप स्वीकृत है तथा 'प्रवत्स्यत्पतिका' को 'प्रोषितपतिका' के ही अंतर्गत रखा गया है।

रसरत्नहार[36] — (शिवराम त्रिपाठी) ग्रंथकार ने 'नक्षत्रमाला' (काव्यमाला पंचम गुच्छक) में इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की है पर 'रसरत्नहार' में विस्तृत निरूपण किया है। साथ ही 'रसमंजरी' में कहे गए 'नायिका' के लक्षणों की आलोचना - प्रत्यालोचना भी की है। 'धीरा' आदि के विषय में कहा है कि पूर्वाचार्यों के अनुसार 'स्वीया' के ही वे उपभेद हैं पर परवर्त्तियों के मत से 'परकीया' के भी। टीका में दो विशेष भेदों का — १ - गुरुजनभीता और २ - भुजंगभीता[37] — भी उल्लेख है। इनमें प्रथम का वही स्वरूप लगता है जिसे 'नाटक - लक्षणरत्नकोश' में **सभ्या** कहा गया है। 'रत्नहार' की प्रथम नायिका उदाहरण से परकीया जान पड़ती है (या पितृगृह की परवशा स्वीया भी), और द्वितीया स्पष्ट ही परकीया है।

रसचंद्रिका - 'अलंकार - कौस्तुभ' नामक अलंकारग्रंथ के निर्माता विश्वेश्वर पंडित का यह ग्रंथ अपनी विवेचन - शैली के लिए प्रसिद्ध है। अपने पूर्वोक्त ग्रंथ और उसकी व्याख्या में ग्रंथकार ने नव्यन्याय की प्रौढ़ और वैदुष्यपूर्ण शैली का आश्रय लेकर बड़े मार्मिक ढंग से पद - पदार्थ का विवेचन किया है। इस कृति में भी प्रौढ़शैली का आश्रय लिया है। नायिका - भेद - निरूपण में शैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ की विवेचन - पद्धति का विशेष महत्व है।

रीतिकालीन प्रवृत्ति के अनुसार आचार्य के रस-विषयक ग्रंथ का आरंभ होता है नायक-नायिका-भेद' के निरूपण से। उसमें महत्व नायिका का मानकर वहीं से विवेचन प्रारंभ हुआ है। त्रिविध नायिकाओं में इन्होंने भी **मुग्धा** के दो भेद 'अज्ञातयौवना' और 'ज्ञातयौवना' (और इसके भी दो भेद, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा - फलतः मुग्धा के तीन भेद) माने हैं। **मध्या** और **प्रगल्भा** के 'धीराधीरादि' भेद यथापूर्व इन्होंने भी ग्रहण करते हुए कहा है कि प्राचीन मत से ये भेद **स्वीया** के ही होते हैं पर नव्यों ने **परकीया** के भी 'धीरा आदि' भेद माने हैं। 'ज्येष्ठात्व-कनिष्ठात्व' का आधार स्नेह ही है न कि विवाहक्रम।

परकीया के विभाजन में दो भेद (अनूढ़ा और परोढ़ा) न करके गुप्ता, विदग्धा आदि षड्भेदों के अतिरिक्त **कन्या** (अनूढ़ा) का सप्तम भेद स्वीकार किया है। इनके उपभेद भी पूर्व प्रचलित ही हैं। **सामान्या** का कोई अवांतर-भेद नहीं है। इन सब को पुनः 'अन्यसंभोग-दुःखिता', 'मानवती' और 'वक्रोक्तिगर्विता' के रूप में तीन-तीन प्रकार का माना है। मान - 'प्रणय' और 'ईर्ष्या' (तथा लघु-मध्य-गुरु) और प्रत्यक्ष, स्वप्नायित, भोगांकदर्शन, गोत्रस्खलन और श्रवण के आधार पर भी उदाहृत है। भेदों की प्रस्तार-गणना में १३ स्वीया, २ परकीया, १ सामान्या, कुल १६ भेद हैं। आठ अवस्थाभेद और उत्तमा आदि तीन भेदों के गुणन से (१६ × ८ × ३) = ३८४ इनके कुल रूप होते हैं। 'दिव्या, अदिव्या' आदि भेदों का इन्होंने ग्रहण नहीं किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि **कन्या** को पहले **परकीया** के उपभेदों में

३६. काव्यमाला – षष्ठगुच्छक पृ० १२७।
३७. पृ० १२७।

रखा। तदनुसार यह भेद असती का एक रूप है (उदाहरणानुसार)। यह नायिका, विवाह के अनंतर अपने कन्याकालीन 'जार' के प्रति अपनी प्रणय-भावना का वर्तन बनाए रखती है।[३८]

इनकी रचना में मुख्यतः 'साहित्य-दर्पण' से और कहीं-कहीं 'भरत' से और कदाचित् 'रसमंजरी' से भी सामग्री ली गई है एवं 'पूर्वाचार्य' के उल्लेख द्वारा भी मत उद्धृत हैं। खंडन-मंडन भी संक्षेप में ही है। पर पद-पदार्थ के विवेचन की पद्धति निःसंदेह अत्यंत प्रौढ़ एवं शास्त्रार्थवाली है। उदाहरण, इन्होंने अधिकांश दूसरों का दिया है – पर बहुधा अपने लक्ष्य भी उद्धृत किए हैं।

कहने का सारांश यह कि शृंगार-प्रधान युग में भी 'रसचन्द्रिका' का विषय-निरूपण शास्त्रीय प्रौढ़ता से आद्यन्त समन्वित हैं।

कुछ अन्य ग्रंथ

सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्गधरपद्धति, पद्यरचना — 'सदुक्तिकर्णामृत'[३९] में क्रमबद्ध निरूपण न होने पर भी ये नाम (शृंगारप्रवाहवीचिप्रकरण में) आए हैं — "मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, नवपरिणीता, विश्रब्धनवोढ़ा (गर्भवती), सत्यवती (कुलजा) स्वैरिणी या असती या कुलटा (उपभेद – 'गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता') वेश्या, खंडिता, अन्य - संभोग - चिन्ह - दुःखिता, विरहिणी, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, मानिनी (उपभेद - उदात्त-मानिनी, अनुरक्तमानिनी) प्रवसद्भर्तृका, प्रोषितभर्तृका प्रोषितसंभेदा (जो वस्तुतः अवसित-प्रवासपतिका या आगतपतिका ही है) तथा अभिसारिका (तिमिरा - ज्योत्स्ना - दुर्दिना)।" इन नामों के साथसाथ उदाहरण दिए हैं – लक्षण और निरूपण नहीं है। 'वेश्या' नाम और उदाहरण के अनंतर "दक्षिणात्यस्त्री, पाश्चात्यस्त्री, उदीच्या – प्राच्या तथा 'ग्राम्या' के नाम और उदाहरण भी दिए गए हैं। 'ग्राम्या' में ग्राम्यत्व का दोष नहीं दिखाया गया है वरन् ग्रामवधू के भोले और सहज सौन्दर्य की रम्यता का वर्णन हुआ है –

न तथा नागरस्त्रीणां विलासा रमयन्ति नः।
यथा स्वभावमुग्धानि वृत्तानि ग्राम्ययोषिताम्॥

(सदु० कर्णा० पृ० १४८)

'शार्ङ्गधरपद्धति'[४०] नामक संग्रह में देव, अप्सरा आदि जातियों के नाम पर भरत के निरूपण का आश्रय लेते हुए अनेक अंगनाओं का उल्लेख मिलता है। देवस्त्री, अप्सरा, यक्षांगना और राक्षसी आदि को कुछ विशेष महत्व मिला जान पड़ता है। महत्ता की कोई अन्य विशेषता इस ग्रंथ में नहीं है।

३८. कन्यका यथा – आरोपिता शिलायामश्मेव त्वं स्थिरेण मन्त्रेण।
मग्नापि परिणयापदि जारमुखं वीक्ष्य हसितैव॥
रसचंद्रिका - चौखंभा संस्कृत सिरीज - पृ० १२ – (१९८२ -)

३९. पंजाब ओरियंटल सिरीज।

४०. बांबे गवर्नमेंट सिरीज।

आंकोलकर लक्ष्मण भट्ट (समय अज्ञातप्राय) की "पद्यरचना" (सुभाषित ग्रंथ, प्रकाशित – काव्यमाला — ८९) उसी पद्धति पर है जिसमें 'सदुक्तिकर्णामृत' संकलित है। इसके 'चतुर्थ शृंगार-व्यापार' में रमणी की 'वयःसंधि', तारुण्य और अवयवों' का वर्णन है; 'पंचम-व्यापार' में 'विरहिणी' का। सप्तम-अष्टम व्यापारों में नायिकाओं के नाम आदि और उदाहरण हैं—'कुलांगना, प्रोष्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, उत्कंठिता। 'अथाङ्गनावान्तरभेदाः' कहकर 'नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, असती (विदग्धा, गुप्ता, लज्जिता), वेश्या, कुलटा प्रेम-गर्विता, सौन्दर्यगर्विता, खंडिता, कलहान्तरिता' आदि के उदाहरण दिए गए हैं। कोई और नवीनता नहीं है। उसयुग की प्रवृत्तिमात्र का संकेत मिलता है जब लक्षण इतने परिचित थे कि उनके बिना लिखे भी काम चल जाता था।

रसिकजीवनम्

संस्कृत में विरचित प्रस्तुत ग्रंथ कवि रामामंद (त्रिपाठी रामानंद शर्मा) का है। ये कवि रामानंद काशी के सरयूपारीण ब्राह्मण थे और इनकी रचनाएँ अनेक विषयों पर मिलती है।[४१] परिचेय ग्रंथ पूर्णतः रीतिकालीन प्रवृत्ति और मनोवृत्ति की शृंखला का ही अंश है।

संस्कृत साहित्य के नायिकाभेद - संबंधी शास्त्रीय विवेचना की जो रूपरेखा उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में ही नहीं (तेलुगु में भी और) संस्कृत के आचार्यों में भी उस युग तक शृंगारी मनोभावना का प्रवाह प्रौढ़ हो चला था। शृंगारी रचनाओं की सर्जना और स्वीय लक्ष्य - श्लोकों द्वारा नारी - संपृक्त कामभाव तथा अंग - प्रत्यंग के वासनामय सौंदर्यांकन को लेकर मधुर रचनाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में होने लगा था। वैलासिक मनोरंजन के संतर्पणार्थ वासनात्मक काव्य का निर्माण उन्हें अधिक प्रिय था। यद्यपि 'रसमंजरी', 'शृंगारमंजरी' के समान ग्रंथों में शास्त्रीय स्तर पर विषय का निरूपण और विश्लेषण किया जा रहा था तथापि नायिका का कामज सौंदर्य और उसकी उद्दीपकता में मन रम - रम जाता था। 'रसतरंगिणी' लिखकर भी नायिकाभेद के दो ग्रंथों का भानुदत्त द्वारा निर्माण, इसी भावना का परिचायक है।

प्रस्तुत परिचेय ग्रंथ – 'रसिकजीवनम्' — रीतियुगीन मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचय देता है। तत्कालीन आचार्य - कवियों की भाँति ग्रंथकार का आग्रह शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लक्ष्य - काव्य द्वारा नायिका के शृंगारी रूपों का अंकन करने में अधिक प्रयत्नशील है।

ग्रंथपरिचय

'रसिकजीवन' सात तरंगों की एक लघुकाय कृति है। इसकी योजना चलती है 'शृंगाररस' के निरूपण की आशा लेकर, परंतु इस रचना को मुख्यतः नायिकाभेद का ही ग्रंथ कह सकते हैं। प्रथम तरंग ११४ श्लोकों का है जिसमें विस्तारपूर्वक नायिकानिरूपण है। द्वितीय तरंग के १६ श्लोकों में नायकनिरूपण है। तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ तरंगों में

४१. ग्रंथकार, निबंध - लेखक के पूर्वपुरुष थे। इनके विषय में विशेष विवरण के लिए देखिए – आल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस (१९४३ - ४४) के विवरण में 'हिंदी सेक्शन' में एतद्विषयक मेरा लेख। इनका समय था 'शाहजहाँ' के शासन के अंतिम वर्षों और औरंगजेब के शासन के प्रारंभिक वर्षों में।

वियोगशृंगार - संबद्ध, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और विप्रलंभ का वर्णन (क्रमशः २३, ६, ५, ५ श्लोकों में) मिलता है और अंतिम तरंग में वामलोचनाओं के यौवनकालीन सत्वजात अलंकारों का विवेचन किया गया है।

ग्रंथ पद्यात्मक है। लक्षण बहुधा नहीं दिए गए हैं और जहाँ - तहाँ मुख्य भेदों में परिभाषात्मक लक्षण हैं, वे भी परिचायक मात्र हैं। न तो वे शास्त्रीय प्रौढ़तासंपन्न हैं और न सूक्ष्म विश्लेषण करनेवाले। उदाहरण के लिए 'मुग्धा' का परिचय देखिए —

स्वस्वामिपरिचर्या च शीलसंरक्षणं तथा।
आर्जवं च क्षमा चेति स्वीयायाः कथिताः गुणाः।

अर्थात् स्वीया के गुण हैं – स्वपतिसेवा, शीलसंरक्षण, ऋजुता और क्षमा। इसी प्रकार परकीया के प्रसंग में इतना ही कहा है – 'परप्रियकृतस्नेहा'। इसी ढंग से कहीं कुछ विस्तृत, कहीं कुछ संक्षिप्त लक्षण या भेदक गुणों का जो वर्णन है – वह भी मुख्य भेदों में। अंतर्भेदों में केवल उदाहरण हैं।

पर उदाहरण, रीतियुगीन अनेक हिंदी कवियों के समान अत्यंत मनोहर और सरस हैं। इनमें कृतिकार की सहजकाव्य प्रतिभा और काव्य - रचना की धाराप्रवाहिक शक्ति के साथ साथ भावपक्ष और कलापक्ष – दोनों की रमणीयता और प्रौढ़ता लक्षित होती है। परिचय के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। ग्रंथ का मंगलाचरण अर्धनारीश्वर शंकर की वंदना से होता है –

गङ्गाम्भोविन्दुरिङ्गत्पटुतरलहरीलास्यलीलाभिरिन्दोः
संदोहैश्चन्द्रिकाणां किमसि सपुलकं सान्द्रमुद्दीपितस्य।
कान्तायाः कान्तकण्ठस्थलवहलभुजाश्लेषमुग्धा विलासाः
कल्याणं वद्धयन्तां प्रियसुखवसतेरर्द्धनारीश्वरस्य॥[४२]

अपनी इस रचना को ग्रंथकार ने साहित्यार्णव - मंथन से संभूत अमृतकुंभ कहा है जिसे पीनेवाले देवतुल्य विद्वानों के निमित्त इसे प्रस्तुत किया गया है –

साहित्यार्णवमन्थनेन हि मया स्वीये प्रबंधे शुभे
कुम्भे किन्तु नवे समुद्धृतमहो प्रज्ञावतां प्रीतये।
दृप्यद्दानवदुर्ज्जनैरसुलभं भो निर्ज्जराः सज्जना
रामानन्दकवेस्तदेतदनिशं काव्यामृतं पीयताम्॥

इसी रूपक को और आगे बढ़ाते हुए कवि ने कहा है –

विवेकविकलास्त इह दुर्बलाः प्रायशो
मदीयरचनारसार्णवमहो तरीतुं पुनः।

४२. गंगाजल बूँदनते दुरकति लहररासि नाचन की लीला करि खूब ही बढ़ायो है।
चंद्र की चाँदनी के सँदोहनिते बाढ़ पाई अतिशय पुलक उद्दीपित होइ आयो है॥
मेलि गलबाँही प्यारे प्यारी आलिगन करि सुंदर विलास औ हुलास सरसायो है।
बढ़ावै कल्याण सुखवासी महादेव सदा जाको अर्धनारीश्वर रूपनूप दरसायो है॥
(नारायणपति त्रिपाठी - कृत ग्रंथ के हिंदी पद्यानुवाद से)

भवन्ति यदि सज्जानाः कतिपये मनोरञ्जना-
स्तदेतदवगाहितुं रसिकजीवनं ते क्षमाः ॥

[होत विवेक न वेकल वे खल केवल दुर्बल ही रहि जाते।
थाह न लाइ सकैं कविता रससिंधु कहाँ उन पारहिं पाते॥
जे मनरंजन है कछु सज्जन वे इह मज्जन में सुख पाते।
है रससिंधु अगाध महा रसिकौं हित - जीवन याहि बताते॥ —वहीं से]

नीचे उद्धृत **मुग्धा** के उदाहरण में काव्य का पदलालित्य और सहज प्रवाह देखा जा सकता है –

लज्जोल्लासितनेत्रवल्लिविलसत्भ्रूवल्लरीपल्लव –
श्रीसन्दोहसमुद्भवत्सुखसुधाकल्लोलकल्लोलिनी।
मध्यस्निग्धमुरःस्थलाऽद्भुतरुचिव्याकृष्टचित्ता भृशं
धूलीकेलिविनोदमग्नहृदया मुग्धावधूः क्रीडति।

लाज - भरे चखवल्लरि पै विलसै भृकुटीवर वंक सुहावनि।
सोइ मनो अति सुंदर पल्लव चित्त सुधा सुखधार नहावनि॥
मध्य उरोज मनोहर चित्र रुची हठि चित्त समेटि लुहावनि।
धूलि विनोद ते केलि करै वह मुग्ध वधू अतिहि मनभावनि॥ [वहीं से]

सामान्य धीरा तथा मध्या धीरा के उदाहरणों को क्रमशः देखिए –

पर्यङ्के पदपङ्कजं विदधतः स्मेरं वचो जल्पतः
किञ्चित्कोपलसत्कटाक्षविशिखव्यापारमानन्वती!
अन्तःप्रेमरसप्रवाहविगलत्प्रेमाश्रुबिंदुर्दिनम्
रामानन्द-वितन्वती प्रियतमा धीराप्यधीरायते॥

कालिन्दीमञ्जुकुञ्जोदरमधि भवतः क्रीडतः क्वापि कामं
हेमन्तेऽपीदमकैर्युतिभिरिव यदुत्कीर्णमाविर्बभूव।
दूरादुत्सारयन्तं मधुमथन तवासन्नचम्बुशीताः
स्वेदाम्भःपूरमेते ह्युपवनकुसुमामोदधीराः समीराः॥

[पँलगा पर पाद सरोज धरे हँसि कै मृदु बात सुनावत ही।
करि कोप तनेन कटाच्छ सरे पिय पै अति तीच्छन चलावत ही॥
रसपूरित प्रेमप्रवाह हिये निज नेहनि आँसु बहावत ही।
आनँद देति अधीर तिया पतिकौ सोइ धीर कहावत ही॥

जमुना - तट कुंजन में नँदनंदन आप भलेहि विहार करौ।
यह पूस के मासनि जेठ समान पसेव सुखाइ कै दूर करौ॥
लखि लेहु लला जमुना जल सीतल मंदहि मंद लगाव करौ।
इन कुंजन के मधुबागन में अति धीर सरीरन को पकरौ॥ वहीं से]

इन लक्ष्य - कविताओं में शब्द - योजना और पद - लालित्य के साथ परंपरागत भावों की अत्यंत रमणीय अभिव्यंजना हुई है। साथ ही इनमें प्रसाद गुण भी वर्त्तमान है। शब्दों का संयोजन इस ढंग से किया गया है कि भावों की मधुरिमा झट झलक जाती है। पाठक

अभिव्यक्ति की गहराई में डूबकर रसास्वादन करने लगता है। मुग्धा कलहांतरिका भाव-चित्र देखिए –

मञ्जुकदम्बसुगन्धे मिलदलिपुञ्जे समीरणे वहति।
हर हर मुग्धपुरन्ध्री पतिमनुनेतुं न लज्जया व्रजति॥

मादक और रत्युद्दीपक समय है। कदंब का मंजुल सुगंध, मधुपों की भीर, मादक समीरण – सब नायिका के हृदय में मिलन की आकुलता भर रहे हैं। पर मुग्धा, अपनी ही लाज में ऐसी बँध-सी गई है कि प्रीतम को मनाने जा नहीं पा रही है। मध्या वासकसज्जा का दूसरा चित्र लीजिए –

फुल्लत्कह्लारहारं कलयति भवनद्वारमालोकयन्ती
भूषाभिर्भूषयन्ती निजतनुलतिकामुल्लसन्ती लतेव।
इत्येवं वासरस्य प्रभवति सुमुखी वासके संविधातुं
सामग्रीमात्मशिल्पप्रणयनकलनैः क्रीडतीवाङ्गनाऽसौ॥

[विकसित पंकजहार बनावति ताकति भवन दुआरी।
पुष्पित बल्लरि सम तनु साजति पहिरि बिभूसन सारी॥
अपने हिय की हुलस दिखावति दिन तें करति तयारी।
बासक हेतु मोद मन करती खेल रचति जनु प्यारी॥ वहीं से]

इसी प्रकार सामान्या वासकसज्जा की कामसज्जा का वर्णन है –

काञ्चीकङ्कणकुण्डलक्वणमिलत्केयूरकोलाहल –
क्रीडत्पादयुगाम्बुजार्पणरणत्कारोल्लसद्भूषणा।
चञ्चत्कञ्चनसूत्रचित्रवसनोत्कीर्णद्युतिद्योतित –
ध्वान्ता कान्तनिकेतनं निविशते कस्यापि वाराङ्गना॥

[कर्धनि कंगन रुन्झुन कुंडल अंगद सुंदर अतिहि बजाती।
मंजुल अंबुज-पादनि झन्झन बोलत पाजिब मधुर सुहाती॥
भासत कंचन तारनि चित्रित अंबर घोतित झलक दिखाती।
कामिनी यामिनि चाँदनि समता धारति पीतम भवन समाती॥ वहीं से]

नायिका के 'विहृत' नामक सात्विक अलंकार की एक मूर्ति देखिए –

कन्दर्पोल्लासलीलाविलसितबहलामोदसम्पाद्विचित्रा
तिर्यक्संभाव्यनेत्राम्बुजमतिललितं वाचमाचम्य भर्तुः।
ह्रीगर्भा स्वावस्थामवनतवदनच्छद्मना व्याजयन्त्या –
स्तन्व्यास्तत्रात्र चित्रं 'विहृत'मपहरन्त्यरं कस्य पुंसः॥

[रति नाह हुलास विलास बढ़ाय सुपास विकास विचित्र बनाती।
तिरछे करि नैन-सरोज तिया पिय-बात-सुधा सुनि कै हरखाती॥
धरि लाज-दसा अपनो मुखपद्म झुकावन-छद्म कला प्रगटाती।
नहिं कौन के चित्त हरै रमनी 'विहृतै' दिखरावती जो मदमाती॥ वहीं से]

संपूर्ण ग्रंथ में इसी प्रकार की सरस, सहज और सरल कविता के लक्ष्यों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे ग्रंथकार की सर्वतोमुखीन काव्यप्रतिभा का सुस्पष्ट परिचय मिल जाता है। इस ग्रंथ के निर्माता में काव्यनिर्माण की उत्कृष्ट प्रतिभा, कल्पना और भावुकता

थी। साथ ही पांडित्य और शब्दों पर असाधारण अधिकार भी था। ऐसा लगता है कि भावोन्मेष होते ही अनुकूल शब्द स्वयमेव दौड़ते हुए कवि के सामने आ खड़े होते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ का नायिकाभेद

जैसा कि कहा जा चुका है, 'रसिकजीवन' का नायिकाभेद किसी नवीनता का उद्भावक नहीं है। न तो इस ग्रंथ के विषय - विमर्शन में शास्त्रीय पांडित्य की प्रौढ़ता लक्षित होती है न शास्त्रार्थी मनोवृत्ति का पता चलता है और न नवीन उद्भावना के उदाहरण मिलते हैं। ऐसा लगता है कि कवि अपनी ललित - रचनाओं के केवल प्रदर्शनार्थ इस ग्रंथ - निर्माण में प्रवृत्त हुआ। इसी कारण अधिक मान्य तथा प्रायः सर्वस्वीकृत भेदों को ही उसने लिया है। विवादवाले प्रभेदों के चक्कर में वह नहीं पड़ा है।

साधारण नायिका के तीन **मुग्धादि** भेद कवि ने माने हैं। **'मुग्धा'** के दो भेद (अज्ञातयौवना, ज्ञात०) हैं। ज्ञातयौवना के पुनः दो उपभेद **नवोढ़ा** और **विश्रब्धनवोढ़ा**। द्वितीय भेद को **मुग्धा** और **मध्या** दोनों का माना है। **प्रगल्भा** के दो भेद हैं – 'केलिनिपुणा' और 'आनंदसंमोहिता'। इन दोनों के धीराधीरादि भेद पूर्वाचार्यवत् ही हैं। **नायक** के प्रणयाधान की दृष्टि से न कि परिणय - क्रम से **मध्या** और **प्रगल्भा** भेदों के पुनः दो उपभेद 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' यहाँ भी स्वीकृत हैं। **परकीया** के भी प्रचलित दो भेद **कन्यका** और **परोढ़ा** हैं। परकीया के प्रसंग में कहा गया है कि इस नायिका के 'गुप्ता, विदग्धा, असती, लक्षिता, कुलटा आदि (गुप्ता - विद-धा - त्वसती - लक्षिता - कुलटामुखाः) भेद होते हैं। वृत्तवर्त्तिष्यमाणादि भेद से 'गुप्ता' के तीन प्रकार तथा 'विदग्धा' के दो प्रभेद स्वीकृत हैं। **सामान्या** का कोई उपभेद नहीं है।

इनका निरूपण करने के पश्चात सभी नायिकाओं के प्रसिद्ध त्रिभेद [१ – 'अन्यसंभोग दुःखिता,' २ – 'वक्रोक्तिगर्विता' (जिसमें 'सौंदर्यगर्विता' तथा 'प्रेमगर्विता') और 'मानवती'] का लक्ष्यप्रमुख निरूपण हुआ है। इस निरूपण के अनन्तर अष्टावस्था नायिकाओं का क्रमशः (मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या के क्रम से) प्रत्येक का लक्ष्य और कहीं - कहीं लक्षण - लक्ष्य निरूपित हैं। यहाँ इनके नाम इस क्रम से हैं – प्रोषितभर्तृका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्का, वासकसज्जा. स्वाधीनभर्तृका और अभिसारिका। 'सामान्याभिसारिका' का उदाहरण दे चुकने पर 'कृष्णाअभि०' और 'शुक्लाभिसारिका' के उदाहरण भी मिलते हैं। इन सबके अंत में बिना पूर्वगणना के 'प्रोष्यत्पतिका' का लक्षण तथा पाँचों प्रभेदों के उदाहरण देकर ग्रंथ का प्रथम तरंग समाप्त होता है।

कृतिकार ने सभी तरंगों के अंत में इस प्रकार अपना परिचय दिया है –

'इति श्रीमत्सरयूपारीपण्डितधुरीणमहाकुलीनश्रीमत्त्रिपाठिमधुकरतनूजन्म - सकलविद्यचमत्कारपारङ्गम – श्रीरामानन्दशर्मविनिर्म्मिते साहित्यसागर सुधा - निधानकलशे रसिकजीवने (नायिकानिरूवणं नाम प्रथमः) तरङ्गः।'

कहने का सारांश यह कि विक्रम की अट्ठारहवीं शती के मध्य का विरचित यह ग्रंथ भी उसी प्रवृति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें ऐसे अनेकानेक ग्रंथ हिंदी के रीतियुग में मिलते हैं। हाँ, इस ग्रंथ में 'परकीया' या तद्भेद 'गुप्ता' आदि के लक्ष्यलक्षण में कवि की मनोवृति रमती नहीं दिखाई देती है, यद्यपि 'मुग्धा' आदि स्वीया-भेदों का अंकन बड़े प्रेम के साथ किया गया है।

आशा है, संस्कृत नायिकाभेद की यह संक्षिप्त रूप रेखा हिंदी के रीतिकालीन संबद्धसाहित्य के अनुशीलन में दीपक का काम कर सकेगी।

*

तुलसी के दार्शनिक विचार

पुरुषोत्तमदास अग्रवाल

•

दर्शन का प्रारंभ कब और किन परिस्थितियों में हुआ, यह तो अभी संदिग्ध है, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सृष्टि के आरंभ में जब मानव की ज्ञानेंद्रियाँ अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति को लेकर मचल पड़ी होंगी, तभी उसने अनुमान का आधार लिया होगा और यही अनुमान आगे चलकर तर्क से गठबंधन करता चिंतन की परिधि में जा पहुँचा होगा। दर्शन का मूल भी यही चिंतन है। अतः स्पष्ट है कि चिंतन की जो धारा आध्यात्मिक धरातल पर पहले पहल पहुँची, वह अवश्य ही युगों की मौखिक एवं अव्यवस्थित विचारों का प्रतिफल रही होगी। तत्पश्चात ही उसकी परंपरा ने इस वैज्ञानिकता को जन्म दिया होगा, जिसके आधार पर आज यह संपूर्ण साहित्य दृष्टिगत हो रहा है।

वस्तुतः विचारमार्ग का अवलंबन ग्रहण करने से इस भारतीय धर्म और दर्शन की तीन प्रमुख अविच्छिन्न धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। इसमें प्रथम तो वह युग रहा है, जब तर्कप्रवृत्ति अपनी शैशवावस्था में रही। इस युग में वैदिक ऋषियों के चिंतन की नैसर्गिक धारा स्वभावतः ही प्रस्फुटित हो गई। उनके मन में प्राकृतिक प्रतीकों के प्रति एक जिज्ञासा थी, और उस जिज्ञासा में भयमिश्रित एक सरल विस्मय का भाव, जिसमें वह श्रद्धा से संचालित होता रहा। आदि मानव ने इन प्रकृति - चिह्नों के तेज को देखकर इन सबके **संचालनकर्ता एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की,** इसके आगे वे बढ़ न सके क्योंकि उनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रधानता अधिक रही। अतः इस युग को दर्शन का अतार्किक युग कहा जा सकता है।

दर्शन का द्वितीय उत्थान वेदों की प्रतिक्रिया का फल है। इस युग में वेदों के विरुद्ध विप्लव करनेवाले बौद्ध चार्वाक्—जैनों का उदय हुआ। इनकी मूल धारणा प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना था। अतः वैदिक युग में जिस अदृश्य शक्ति की स्थापना की गई थी, उसका खंडन प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से अपने आप हो जाता है। ये भूत और भविष्य को न मानकर वर्तमान को ही सब कुछ समझते थे। इनकी दृष्टि से आत्मा और शरीर में कोई भी अंतर नहीं था। बौद्धों का यह दल कर्मफल को स्वीकार करता हुआ भी बुद्ध के अष्टांग धर्मपथ का अनुसरण ही मुख्य मानता रहा है। इनके चार विभाग दिखाई पड़ते हैं –

१ – मध्यम दर्शन ने तीन सिद्धांत 'सर्वम् शून्यम् शून्यम्', 'सर्वम् क्षणिकम् क्षणिकम्' और 'सर्वम् दुःखम् दुःखम्' माना है तथा **शून्य में मिल जाने को ही इन लोगों ने निर्वाण** कहा है।

२ – योगाचार में **भावजगत** के साक्षात्कार के साथ साथ **योगसाधना** का भी विधान होता है।

३ – सौत्रांतिक दर्शन शाक्तों से प्रभावित है। बौद्धों की वज्रयान शाखा का तंत्र-मार्ग इसी दर्शन को मानता है। इसके अनुसार **भावजगत और बाह्य जगत दोनों की ही सत्य सत्ता है** अर्थात् बुद्धिस्थित रूप और दृश्य पदार्थ दोनों ही सत्य हैं।

४ – वैभाषिक या सर्वास्तिवाद जड़वादी संप्रदाय है। इसमें चार्वाक के जड़वाद का ग्रहण उन्नत बौद्धिक रूप में किया गया है।

इस उपर्युक्त संप्रदाय में धर्म के सर्वशून्यत्व ने आगे चलकर तांत्रिकों और कापालिकों के कारण व्यभिचार का व्यावहारिक रूप धारण किया। झूठ, हिंसा, वासना आदि का प्राबल्य हो गया। सुरा और सुंदरी का जो सहज सुख है, उसीको इन लोगों ने मोक्ष का द्वार समझा। अतः इस धर्म का चिंतनपक्ष हीनयान और व्यावहारिक पक्ष महायान शाखा में चला गया। महायान ही आगे चलकर मंत्रयान बना, जिसमें वाममार्ग की स्थापना हुई। इस मंत्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ अतः इसका नाम बदलकर वज्रयान रख दिया गया, जिसमें मंत्र और हठयोग को भी जोड़ दिया गया। फलतः सदाचार से यह बहुत नीचे गिर गया। आगे चलकर इसी महायान का व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञानकांड से जुड़ा परंतु मूल और भैरवीचक्र - शक्ति, तंत्र - मंत्र और स्त्रीसंसर्ग आवश्यक माने जाने के कारण इस 'वज्रयान' धर्म का अधःपतन हुआ और दार्शनिकों का एक दूसरा दल बौद्ध धर्म के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और शंकर आदि आचार्यों ने दिग्विजय ने उनके अस्तित्व तक में संशय उत्पन्न कर दिया। इसके पश्चात् तो संपूर्ण साहित्य ही इन वज्रवादी दार्शनिकों से प्रभावित होता रहा।

दर्शन में तर्क युग की इस प्रवृत्ति के द्वितीय उत्थान में दुर्ज्ञेयत्व की प्रतिष्ठा की गई। निर्गुण का प्रतिपादन करते हुए अंतरात्मा, परमात्मा, जीवजगत् और ब्रह्म का संबंध तथा माया और तज्जन्य बातों का विवेचन हुआ। ज्ञानकांड की स्थापना जीवन का चरम लक्ष्य बना, उपनिषद् और मीमांसाग्रंथ इस दर्शन के आधार हुए। इस प्रणाली की चरम अभिव्यक्ति ब्रह्मसूत्र में मिलती है। श्री शंकराचार्य ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता (प्रस्थानत्रयी) का भाष्य करके अपने अद्वैतवाद का प्रतिपापन किया, जिसमें जगत् को मिथ्या - माया कहा गया है। इसमें बौद्धों के शून्यत्व और क्षणिकत्व का प्रभाव मानते हुए, लोगों ने शंकर पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। और जो सत्य प्रतीत होता है, वह भ्रम, अज्ञान या माया है। ज्ञान से ही इस भ्रम का नाश होता है और जगत का बोध हो जाता है। इसके अनुसार 'जानना' ही पाना है अतः यह ज्ञानमार्ग भी अधूरा ही है। संक्षेप में इस युग में दर्शन तर्क से युक्त उत्साह और आत्मविश्वास से ही प्रवहमान हो रहा था।

तीसरे उत्थान की अध्यात्मचर्चा में तर्क और कल्पना के स्थान पर अनुभव की ठोस गंभीरता दिखाई पड़ती है। परंतु फिर इन अनुभवसिद्ध बातों को लोगों ने तर्क द्वारा प्रमाणित करना चाहा और फलस्वरूप इस प्रयत्न में भी अति तर्क - वितर्क और वितंडवाद की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी। पर हृदय की प्रधानता के कारण भक्तिभावना का प्राबल्य हो चला और इस भक्ति में दीनता, आश्रय और अनुग्रह आदि भावों का उद्भव हुआ। अतः अद्वैतवाद के प्रतिकूल द्वैतवाद और सगुणोपासना को प्रश्रय मिला। यह मत अद्वैत के अभेदतत्व से भिन्न है, क्योंकि साधना के लिए द्वैतभाव का होना आवश्यक हो गया। बिना जीव और ब्रह्म की पृथक सत्ता के 'सेवक - सेव्य' भाव का आधार ही नहीं खड़ा हो पा रहा था। अतः जीव और ब्रह्म में द्वैतभाव का होना आवश्यक हो गया था। इस मत के प्रतिपादन के लिये रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य, विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य ने दार्शनिक ढंग से अद्वैत का विरोध करके द्वैत का समर्थन किया। सगुण की स्थापना की गई, पर ब्रह्म की

व्याख्या अज, अगुण, अचिंत्य, अविनाशी होने से उसके इंद्रियातीत हो जाने की संभावना हो गई। अतः इन आचार्यों ने 'अवतारवाद' की कल्पना की। रामचरित मानस में तुलसीदास ने ज्ञान, भक्ति, निर्गुण - सगुण, जीव - ब्रह्म में अभेद स्थापित करने के उपरांत पुनः भेद बतलाते हुए भक्ति को ज्ञान से, सगुण को निर्गुण से और ब्रह्म को जीव से श्रेष्ठ माना है। तुलसी के विचारों के आधार पर दर्शन के किसी एक क्षेत्र में उनका वर्गीकरण विद्वानों के लिए एक विवाद का विषय रहा है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत - वादों के अंतर्गत ही उनको अधिकांश विद्वानों ने माना हैं। अपना कोई मत स्थिर करने के पूर्व इन वादों के मूल रूप की चर्चा तथा उन आधारों को प्रस्तुत करना उचित होगा, जिनके आधार से तुलसी के विचार स्थिर हो सकते हैं।

सामान्यतः तुलसी के दर्शन पर विचार करते हुए उन्हें अद्वैतवादी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी ठहराने का प्रयत्न किया जाता है। अद्वैतवाद के मूल सिद्धांतों में ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं। जीव और ब्रह्म एक ही है, परंतु माया के कारण वे भिन्न दिखाई पड़ते हैं। जगत की सत्ता नहीं है, पर वह सत्य - सा प्रतीत होता है और इसका कारण माया - जन्य - अज्ञान हैं। जिस प्रकार रज्जु में सर्प, सुक्ति में रजत और रविकर में नीर का भ्रम होता हैं, उसी प्रकार जगत के विषय में भी हमारा भ्रम बना रहता है। इसीको 'विवर्तवाद' कहते हैं। वस्तुतः इस भ्रम का नाश ज्ञान के द्वारा होता है पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म ही है और यह जगत, जो हमें सत्य सा प्रतीत होता है, उसकी केवल मानसिक सत्ता ही कही जा सकती है। जब ज्ञान के द्वारा हमें इसका बोध हो जाता है, तो 'जगत का बोध' हो जाता है। तथा जगत के व्यावहारिक रूप माया के नष्ट होने पर हम ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का यही ऐक्य 'मोक्ष' कहा जाता है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है और ज्ञान से ही 'सारूप्य' की प्राप्ति होती है। ब्रह्म एक है, निर्गुण है, अजन्मा है। अतः ब्रह्म जन्म नहीं लेता। जो अंश जन्म ग्रहण करता है, वह अशुद्ध ब्रह्म है, मायोपहित है। शुद्धावस्था में वह निर्विकल्प, निर्विकार और चेतनसत्ता है। बाह्य जगत उससे भिन्न न होकर उसीकी प्रतीति हैं। यह जगत उसी ब्रह्मसत्ता में अध्यस्त है। यह नामरूप है और नामरूप मन की वृत्तियाँ हैं। इसके हट जाने से कुछ नहीं रह जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि 'जगत प्रतीति है, मिथ्या है, अभ्यास का विवर्त है'। जीव और ब्रह्म का भेद भी उपाधिकृत है जब उपाधि का लय हो जाता है तो जीव भी ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जगत मन की स्फुरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब देखना यह है कि तुलसी में इन बातों का कहाँ तक समर्थन मिलता है? ग्रंथ के उपक्रम में तुलसी ने कहा है -

> यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलम् ब्रह्मादिदेवासुरा ।
> यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः॥

इन पंक्तियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अखिल विश्व माया के वश में है जिसकी सत्ता से (अर्थात् जिस ब्रह्म की माया की सत्ता है) सभी उसी प्रकार सत्य प्रतीत होता है, जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान होना, यही विवर्तवाद है। सत्य प्रतीत होना व्यावहारिक सत्ता है। अतः ये पंक्तियाँ निस्संदेह अद्वैतवाद की कही जाएँगी। फिर उपक्रमादि षट्लिंगों द्वारा भी किसी ग्रंथ के सिद्धांत का निर्णय किया जा सकता है। कहा है कि -

उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ति च लिंग तात्पर्यनिर्णये॥

आरंभ को उपक्रम, समाप्ति को उपसंहार, आवृत्ति को अभ्यास, प्रकारांतर से प्राप्त न होनेवाले को अपूर्वता, साधन द्वारा सिद्ध होने को फल, प्रशंसा को अर्थवाद और अनुकूल युक्ति को उपपत्ति कहते हैं।

उपसंहार में तुलसी ने **'दारुन अविद्या पंचजनित विकार'** का वर्णन किया है। अभ्यास में अपने मत की पुष्टि में बार-बार एक ही बात का भिन्न-भिन्न उक्तियों द्वारा दुहराने का प्रयत्न है।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि **भुजंग बिनु रजु** पहिचानें।
जेहि जाने जग **जाय हेराई**। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥
जासु सत्यता ते जड़ माया। भास **सत्य इव** मोह सिकाया॥

रजत-सीप महँ भास जिमि, जथा **भानुकर** बारि।
जदपि **मृषा तिहुँ काल** सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

इसमें भी जगत उसी प्रकार मिथ्या है, जैसे रस्सी में सर्प। जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर 'जेहि जाने' जगत हेरा जाता है। अर्थात् जगत का बोध हो जाता है। उसीके कारण जड़ माया भी सत्य ही प्रतीत होती हैं, परंतु इस भ्रम को कोई हटा नहीं पाता है। विनयपत्रिका में भी इसी सिद्धांत का समर्थन मिलता है—

१—मैं तोहिं अब जान्यों, संसार!
देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये बिचार।
२—जग नभ बाटिका रही है फलो फूली रे,
धुँएँ के से धौरहर देखि तूँ न भूलि रे।
३—देखिय, सुनिय, गुनिय मन माहीं, **मोह भूलि** परमारथ नाहीं।
४—सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु, असि प्रपंच जिय जोय॥
५—कहि न जाय मृग वारि सत्य, भ्रम तें दुख होय विशेषे।
६—शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिन लिखा चितेरे।
७—सोवत सपनेहूँ सहै, संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगबारि खायो, जेवरी को साँप रे॥

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से जगत के मिथ्यात्व पर प्रकाश पड़ता है। इस जगत का बोध ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। स्वप्न की भाँति माया से जागने पर जगत के सत्य का ज्ञान हो जाता है, अतः स्पष्ट है कि तुलसी ने अद्वैतवाद की पंक्तियों को लिखकर अपने मत का स्पष्टीकरण किया है।

अपूर्वता में बतलाया गया है कि संसार मोहों का मूल है और उसकी परमार्थसत्ता नहीं है 'मोह मूल परमारथ नाही' से यही तात्पर्य है। मानस में माया की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि 'जेहि जाने जग जाय हेराई' और यहीं इसका फल है। 'हेराई' का तात्पर्य है—प्राप्त वस्तु का वियोग हो जाना। ज्ञान हो जाने से यह दुखमय मायाजन्य जगत जो हमें पहले

प्राप्त था, अब हेरा जाता है और पुनः जीव मुक्त होकर सांसारिक बंधनों से परे हो जाता है। अर्थवाद में माया के लिए प्रशंसायुक्त वाक्यों का प्रयोग किया गया है, यथा –

हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय बिहगेस।

और अंत में अनुकूल उक्तियों द्वारा अद्वैत का समर्थन किया गया है जैसे –

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥

अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभेद होता है। भेद माया के कारण ही प्रतीत होता है। जीव इसी माया के वश में है। 'जीव चराचर बस करि राखे' तथा उस माया-परिवार ने जीव को चारों ओर से घेर रखा है। इसीसे वह भ्रम में पड़ा हुआ तापत्रय का अनुभव करता है। इसका ज्ञान हो जाने पर जीव भी ब्रह्म हो जाता है और यह ज्ञान ब्रह्म-कृपा से ही संभव है। 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई'। यहाँ पर 'जानत तुमहिं तुमहिं होई जाई – द्वारा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' की बात कहते हुए जीव और ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन किया गया है। वस्तुतः इन दोनों में वही एकता है जो जल और उसकी लहरों में है। तुलसी ने कहा है कि 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा, बारि बीचि इव गावहिं वेदा' यहाँ व्यवहारावस्था में जीव-ब्रह्म में भेद तो है, परंतु परमार्थावस्था में दोनों एक ही हैं। वस्तुतः जीव अभिमानी होता है तथा माया के वश में है। परंतु ब्रह्म एक रस और अपने में पूर्ण है –

ज्ञान अखंड एक लीलाधर, मायावस्य जीव सचराचर।
जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥
मायावस्य जीव अभिमानी, ईसवस्य माया गुणखानी।
परवश जीव स्ववश भगवंता, जीव अनेक एक श्रीकंता ॥
सुधा-भेद जद्यपि कृत माया, बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥

यह भेद उसी प्रकार असत्य है जैसे चक्कर लगाते हुए बालकों को घरों के घूमने का असत्य भान होता है। बात यह है कि हम देह-इंद्रियों के अभिमान से कर्मों का आरोप आत्मा में कर देते हैं, इसीसे भ्रम में पड़ जाते हैं। इस भ्रम के नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। अद्वैतवादी भक्ति के दो भेद मानते है – १ – भेदभक्ति – इसमें साधक ब्रह्म में लीन न होकर तत्सान्निध्य से मोक्ष-सुख का अनुभव करता है। दशरथ ने इसी भक्ति की साधना की थी। एक स्थान पर तुलसी ने कहा है 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ, प्रथमहिं भेद भगति कर लयऊ'। २ – अभेद भक्ति – इसमें साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है –

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भई जहँ नहिं फिरे।

ब्रह्म में लीन होना केवल अद्वैतवाद ही मानता है अतः तुलसी अद्वैतवादी हुए। इनके अनुसार माया के कारण ही द्वैत है। यही अभेद नहीं होने देती परंतु स्वयं यह माया एक नर्तकी है तथा प्रभुप्रेरित होने के कारण इसकी अपनी कोई निजी शक्ति नहीं 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके'। माया की कठिनाइयों को पार कर ही 'कैवल्य परम पद' को जीव प्राप्त करता है। सारांश तुलसी की माया तर्कदृष्टि से अनिर्वचनीय है, श्रुतिप्रमाण से मिथ्या है लेकिन लौकिक दृष्टि से सत्य है, अतः उसे न तो सत् कहेंगे और न असत्। यह माया सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय भावरूप है।

अभी तक जो कुछ कहा गया उससे तुलसीदास की अद्वैतवादी विचारधाराओं का आभास मिलता है परंतु इतने से ही उनके मत का स्थिरीकरण नहीं हो सकता, जब तक कि विशिष्टाद्वैत पर भी विचार न कर लिया जाय। मानस में ऐसी बहुत सी पंक्तियाँ आती हैं जिनको देखते किसी एक ही वाद के अंतर्गत उनको रखना बड़ा ही कठिन हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी पर अपना निर्णय देते हुए कहा है कि "परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतवाद तुलसीदास को मान्य है परंतु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।" डा० ग्रियर्सन ने भी इनको विशिष्टाद्वैत-वादी मानते हुए कहा है कि उनका झुकाव अद्वैत की ओर अधिक है। रामकुमार वर्मा के अनुसार "तुलसीदास अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी में दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय है। अद्वैत के विषय में ऊपर कहा जा चुका है, अब विशिष्टाद्वैत के विषय में विचार करें। अद्वैत की चर्चा करते हुए उपक्रम, उपसंहारादि जिन षटलिंगों की चर्चा की गई है, उन्हीं के आधार पर विशिष्टाद्वैत की उक्तियों को ढूँढ़ने का यहाँ प्रयास है।

उपक्रम से ग्रंथ के आरंभ का अर्थ लगाते हैं। महाकाव्यों के लक्षण में संस्कृत ग्रंथकारों ने बताया है कि इसका आरंभ नमस्कार, आशीर्वचन अथवा वस्तुनिर्देश से होना चाहिए क्योंकि ग्रंथ का वही प्रतिपाद्य विषय होता है जिसके आधार पर ही उसका विकास और उपसंहार किया जाता है। रामचरितमानस के प्रत्येक कांड के आरंभ में ब्रह्म के सगुण रूप की प्रार्थना की गई है तथा कहीं कहीं तो स्पष्ट रूप से भक्ति का वरदान माँगा गया है, जैसे —

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

यहाँ पर राम को 'हरि' शब्द से संबोधित किया गया है तथा भवसागर को पार करने के लिये उनके चरण कमल को ही एकमात्र साधन बताते हुए भक्ति का प्रतिपादन किया गया है इसी प्रकार अन्य कांडों में भी —

१ — सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः।
२ — वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम्।
३ — भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे

इन मंगलचरणों द्वारा सगुणावतारी राम की वंदना की गई है। यह वंदना भक्ति के अनुकूल ही है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उपसंहार से ग्रंथ की समाप्ति के वर्णन का अर्थ लगाया जाता है। इस अंश में ग्रंथकार जो कुछ कहता है, ग्रंथ का वही मूल होता है। रामचरितमानस में चार वक्ता और चार श्रोता कहे गए हैं। इन वक्ताओं का मूल उद्देश्य 'रामविषयक' संशय को दूर करना था। यद्यपि अपने विषयप्रतिपादन का इनका मार्ग भिन्न रहा, परंतु सभी ने अंत में भक्ति को ही सर्वमान्य ठहराया है। काकभुशुंडि और गरुड़ के प्रसंग की समाप्ति पर —

वारि मथै घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अमेल ॥

कहहुँ नाथ हरि चरित अनूपा, व्यास समास स्वमति अनुरूपा।
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी, राम भजिय सब काम बिसारी।
कमठ पीठ जामहि बरु बारा, बंध्या सुत बरु काहुहि मारा।
यथा मोच्छ सुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

कहा गया है। उमा और महेश्वर - संवाद की समाप्ति पर जब शिव ने कहा कि मैंने 'कलिमल समनि' और 'मनोमलहरनी' राम की कथा सप्त सोपानों वाली कही है और तुमको उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिए। उमा ने भी अंत ने उसका यही उत्तर दिया है कि –

उपजी रामभगति दृढ़, बीत्यो सकल कलेस।

इस प्रकार यहाँ पर भी भक्ति का ही प्रतिपादन है। तीसरे उपसंहार में भी यही बात है तथा अंतिम में तुलसी ने तो स्पष्ट रूप से कह दिया है कि –

पुण्यं पापहरं सदासिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदम्।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

उपर्युक्त उपसंहार और उपक्रम, इन दोनों साधनों से यह सिद्ध है कि तुलसी भक्ति को मानते थे और भक्ति का मार्ग विशिष्टाद्वैत का होता है। अब तीसरे साधन – अभ्यास के आधार पर विचार करना चाहिए। प्रायः ग्रंथकार अपने अभिमत को ग्रंथ के बीचबीच में बार बार कहता हुआ चलता है ताकि उसका सिद्धांत उससे दूर न जा पड़े। विचारों की यही पुनरावृत्ति अभ्यास के अंतर्गत आती है और इसीसे उसके सिद्धांतों का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण होता है। तुलसीदास ने अभ्यासक्रम के अंतर्गत इसे तीन रूपों में प्रस्तुत किया है – १ - अपनी प्रार्थनाओंद्वारा, २ – अन्य पात्रों तथा देवताओं की प्रार्थना द्वारा और ३ – भक्तिप्रसंगों के विवेचन द्वारा।

तुलसी ने जहाँ कहीं भी अनेक देवताओं की स्तुति की है, उन सबके अंत में वरदानरूप में 'राम-चरण-रति' ही माँगी है। वे भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और कुछ चाहते ही नहीं। अर्थ, धर्म, काम इत्यादि उनके लिये सब व्यर्थ है। वे कहते हैं –

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहहुँ निरबान।
जनम - जनम रति रामपद, यह बरदानु न आन॥

माँगत तुलसिदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे।

विनयपत्रिका में भी बहुत से देवताओं की तुलसी ने स्तुति की है परंतु उन सबको राम - भक्ति - प्राप्ति का एक साधन ही माना है क्योंकि उनकी दृष्टि सर्वदा रामचरण में ही है। प्रार्थना के किसी अंश को, और कहीं से भी लेकर देखा जाय तो रामभक्ति के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा दीख नहीं पड़ती। मानस के मंगलाचरण में संतों की वंदना करते हुए उन्होंने कहा कि 'बाल - बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरण-रति देहु', इसी प्रकार भगवान् भास्कर, शंकर, भवानी, गंगा आदि सभी देवताओं की स्तुति में यही अभिलाषा प्रगट की गई है। तुलसी के राम परब्रह्म हैं इसीसे स्वयं आप तो भक्त के रूप में आए ही, मानस के अन्य पात्रों का चित्रण भी भक्त के रूप में ही किया गया है। स्वायंभुव मनु, अहिल्या, जनक,

अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, नारद, सुग्रीव, विभीषण, ब्रह्मा, इंद्र, शंकर, वेद, सनकादि, वशिष्ठ, कागभुशुंडि आदि सभी प्रसंगों में एक ही भावना दिखाई पड़ती है कि 'जनम - जनम प्रभु पद कमल, कबहुँ घटे जनि नेह।'

भक्ति का यह रूप इन्हीं प्रसंगों में समाप्त नहीं हो जाता अपितु दूसरे साधनों द्वारा भी भक्ति की दृढ़ता स्थापित की गई है। श्री राम के द्वारा वाल्मीकि से अपना निवासस्थान पूछने पर मुनिवर कहते हैं कि जिनके हृदय में तुमसे सहज स्नेह है, जो किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं करते, उन्हीं के मन में तुम सर्वदा बसते हो। अरण्यकांड में लक्ष्मण के प्रश्न करने पर राम नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति मनसा - वाचा - कर्मणा मेरी निष्काम भक्ति करता है, मैं उसी के हृदय में विश्राम करता हूँ। यही बात उन्होंने कई प्रसंगों में जैसे नारद से संतों का लक्षण वर्णन करते हुए, अयोध्या के पौरजनों से वार्ता करते हुए, कागभुशुंडि प्रसंग में और भगवद्वाक्य के रूप में कही है। उत्तरकांड का प्रसंग तो पूर्णतः तुलसी की भक्तिभावना को ही पुष्ट करता है। वाटिका में राम का उपदेश तुलसी की इसी प्रेरक शक्ति का फल है। यहाँ तक कि तुलसी के निम्न और राक्षस पात्र भी भक्ति की ही चर्चा करते हैं, जैसे मंदोदरी ने रावण से कहा कि –

नाथ **भजहु रघुनाथहि** अचल होहि अहिवात।

तिर्यक् योनि में उत्पन्न उनके पक्षी पात्रों की भी यही कामना है कि 'तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीतारवन।' इससे सिद्ध होता है कि तुलसीदास का जीवन ही भक्तिमय था क्योंकि, जब तक किसी कवि का जीवन किसी विशेष भावना से आप्लावित नहीं होता, वह अपने काम्य और जीवन के साधारण से साधारण प्रसंगों में इस प्रकार अभ्यासक्रम द्वारा एक ही बात की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अतः निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी का झुकाव विशिष्टाद्वैत की ओर अधिक था।

ग्रंथ में किसी प्रकार की विलक्षणता का होना भी तात्पर्यनिर्णय का एक साधन माना जाता है। मानस में नाम के प्रभाव को निर्गुण ब्रह्म तथा राम से भी बढ़कर माना गया है जैसे-

ब्रह्म राम ते नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जियजानि॥

फल का संबंध किसी रचना के उद्देश्य होता है। यही ग्रंथकार का प्रतिपाद्य विषय कहा जाता है। ऊपर की पंक्तियों में उपसंहार में वक्ताओं और श्रोताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य भक्ति ही है और भक्ति का मार्ग अद्वैत का नहीं होता। गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ के पाठ करने के फल पर भी प्रकाश डाला है –

१ – जे एहि कथहि सनेह समेता, कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।
होइहहिं **राम चरन अनुरागी**, कलिमल रहित सुमंगल भागी॥

२ – मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे हरि कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास॥

जो व्यक्ति स्नेहपूर्वक इस कथा का श्रवण करेगा, उसे राम - चरण में रति उत्पन्न होगी, मायाजनित सभी विकार नष्ट हो जाएँगे और मुनियों के लिए भी दुर्लभ भक्ति का परमपद प्राप्त हो जायगा।

अपने विषय को पुष्ट करने के लिए केवल उसका स्वरूपबोध करा देना अथवा उक्तियों द्वारा फलसिद्धि का वर्णन कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता अपितु उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उन प्रशंसात्मक अथवा निंदात्मक वाक्यों का प्रयोग भी हो जिससे विषय के फल और स्वरूप का बोध और अधिक स्पष्टतया हो सके। ऐसे वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। तुलसी ने भक्ति और ज्ञान, इन दोनों के प्रसंग में वर्णन करते हुए भक्ति को सर्वसाध्य और सुलभ माना है तथा इसकी तुलना में ज्ञानमार्ग को कठिन और दुरूह कहा है। वह कृपाण की धार के समान है जिसमें सर्वदा भय बना ही रहता है। वेदस्तुति के प्रसंग पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है –

> 'जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी,
> ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'

कागभुशुंडि ने इसी प्रसंग में गरुड़ से कहा है कि जो व्यक्ति रामचंद्र के भजन के बिना ही 'निर्वाण' पद को चाहता है वह साक्षात् पुच्छ और विषाणहीन पशु ही है। क्योंकि बिना भक्ति का आधार ग्रहण किए साधना में जीवन नहीं आ पाता, फिर ज्ञान का मार्ग (श्रमसाध्य) होने के नाते माया की पकड़ में जल्दी आ जाता है परंतु भक्ति का मार्ग स्त्रीप्रधान होने से उस पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी बात को पुनः तुलसी ने ज्ञानदीपक और भक्त चिंतामणि, प्रौढ़तनय और बालतनय आदि रूपकों द्वारा सिद्ध करते हुए अंत में यही कहा कि जप, तप, नियम, योग, श्रुतिपाठ, तीर्थ, मज्जन, आगम - निगम आदि धार्मिक कृत्यों के करने और ग्रंथों के अनुशीलन का एकमात्र फल यही है कि 'तव पदपंकज प्रीति निरंतर'।

कभी कभी प्रतिपाद्य विषय को उक्तियों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा भी की जाती है उसमें भिन्न भिन्न रूपों से एक ही बात का समर्थन करते हैं। मानस में राम के द्वारा भक्ति की पुष्टि इसीलिए कराई गई है। राम ने कहा है कि भक्ति से रहित होने के कारण ज्ञान भी हमको प्रिय नहीं। उत्तरकांड में केवल ज्ञान के हेतु ही भक्ति को छोड़कर श्रम करनेवाला व्यक्ति उसी प्रकार का मूर्ख है जैसे अपने घर में स्थित कामधेनु की अवज्ञा कर दूध के लिए आकवृक्षों को खोजते रहना।

अभी तक जो कुछ कहा गया है उसके द्वारा मैंने मानस में पाई जानेवाली उन उक्तियों का वर्णन किया जिनसे तुलसी की विचारधाराओं का कुछ आभास मिल जाता है। इन्हीं उक्तियों द्वारा विरोधी पक्ष वालों ने अपने - अपने मत का समर्थन करने का अथक प्रयास किया और निष्कर्ष रूप में किसी ने तुलसी को अद्वैतवादी और किसी ने विशिष्टाद्वैतवादी माना है। विशिष्टाद्वैतवादी मानने वालों ने निम्नलिखित तर्कों द्वारा अद्वैतवाद का खंडन किया है, उसका संक्षेप में दिग्दर्शन समीचीन होगा।

अद्वैतवाद में त्रयात्मक सत्ता का वर्णन अवश्य किया जाता है। परंतु श्री रामपदार्थ जी ने 'कल्याण' में प्रकाशित एक लेख द्वारा बताया है कि यदि गोस्वामी जी को यह सिद्धांत अभिमत होता तो कहीं न कहीं वे इस सत्तात्रयात्मक सिद्धांत को भी स्पष्ट करते। परंतु इन सिद्धांतों को उलटे भ्रमात्मक कहते हुए आपने उन्हें छोड़ने को कहा है। यथा –

> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
> तुलसिदास परिहरइ तीनि भ्रम, सो आपनु पहिचानै॥

श्री राजपति दीक्षित 'तुलसीदास और उनका युग' में विशिष्टाद्वैत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अद्वैतवाद में संसार को असत्य मानते हैं, तुलसी ने अपने ग्रंथ में इस प्रकार की जो भी बातें कहीं हैं, उनका उद्देश्य केवल इस जगत से विरक्ति उत्पन्न करना ही था क्योंकि जगत तो सत्य है, पर आसक्ति के कारण जीव उसकी नश्वरता को शाश्वतता मान लेता है और यही भ्रम है। मूलतः जगत तो ब्रह्म का अंश है। तुलसी तो केवल इस जगत की नश्वरता ही दिखलाना चाहते थे, परंतु उसकी सत्यता के प्रति उनके मन में कोई अविश्वास नहीं है —

१ – जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव, होत कहहु केहि लेखे।

२ – झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गवाँर है।

इन पंक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जगत को झूठा मानने वाले लोग गँवार है। यहीं एक शंका यह हो सकती है कि यदि जगत मिथ्या है, तो तुलसी क्यों उसे 'सियाराममय' मानकर प्रणाम करते। वस्तुतः तुलसी का ब्रह्म अंतर्यामी हैं, फिर इसमें उनकी भक्ति का व्यावहारिक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। विचार करने से ज्ञात होता है कि शंकर का सारा कार्य अज्ञान के आवरण या विशेष शक्ति द्वारा कराया गया है। परंतु तुलसी यह काम माया के द्वारा, जो राम की शक्ति है, कराते हैं। उनकी दृष्टि से सैकड़ों घटों में पूरित आकाश और महाकाश को हम अलग अलग नहीं मान सकते हैं। दूसरे अद्वैतवादी कहते हैं कि माया अपने बल से ब्रह्म को अधिष्ठान बनाकर संपूर्ण जगत की सृष्टि करती है और मायोपहित अशुद्ध ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है, परंतु तुलसी की दृष्टि से माया का अपना बल कुछ भी नहीं है। वह ब्रह्म के अधीन है, माया के दो भेद करते हुए उन्होंने कहा है –

१ – एक रचइ गुन गन बस जाके, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।
सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया, रचइ जासु अनुशासन पाया।

२ – सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।

३ – जीव चराचर वश करि राखे, सो माया प्रभु से भय भाखे॥

अर्थात् यह माया परवश माया है और इसकी कोई अपनी शक्ति नहीं है।

पुनः अद्वैतसिद्धांत के अनुसार यदि निर्विशेष चिन्मय, ब्रह्म मानते तो वैसी दशा में 'चिदानंद मय देह तुम्हारी' कदापि न लिखते। अतः ऐसे पदों का, जिनसे अद्वैत का समर्थन होता है, अर्थ विशिष्टाद्वैत के अनुसार लगाया जायगा।

इन लोगों ने बताया है कि निर्विशेष शुद्ध कारण ब्रह्म अवतार नहीं लेता और यही ईश्वर है परंतु तुलसी इसके विपरीत है। तुलसी ने कहा है कि –

'अविगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा' अर्थात् भगवान् माया से परे है। पुनः –

शुद्ध सच्चिदानंदमय कंद, भानुकुल केतु।
चरित करत ना अनुसरत संसृति सागर सेतु।

शिव के द्वारा मोहरहित ब्रह्म की चर्चा करते हुए **अद्वैत का विरोध भी प्रस्तुत किया गया है** –

> १ – निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी,
> प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्राणी।
> २ – निज अज्ञान राम पर धरहीं।

तथा तुलसी ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा है कि जिन लोगों ने अवतार लेने वाले ब्रह्म को मायोपहित, कार्य और अशुद्ध ब्रह्म माना है, वे 'कुतरक की रचना' और 'दारुण असंभावना' की बातें करते हैं क्योंकि सैद्धांतिक रूप से अद्वैतवाद चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, परंतु इसे भावनात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं कह सकते हैं। इसमें **बौद्धिक विलास** की संतुष्टि तो अवश्य है, पर मन की तुष्टि नहीं हो पाती । इसीसे तुलसीदास जी इस मत को नहीं मानते ।

विचार करने से ज्ञात होता है कि तुलसीदास मुक्तिमार्ग के किसी भी साधन का विरोध नहीं करते। हाँ, इतना अवश्य है कि रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की **अवस्था में भी द्वैत को स्वीकार करते हुए ब्रह्म के 'सीताराम' रूप में निमग्न** रहना चाहते हैं, उनके अनुसार **सायुज्य से सालोक्य और सारूप्य** अधिक आनंददायकी है। क्योंकि यह सायुज्य मुक्ति तो भक्त के लिए 'अनइच्छित आवइ बरियाईं'। इनकी भक्ति 'श्रुति संमत' और 'विरति-विवेक'-युक्त है। इन्होंने **ज्ञान को भक्ति का साधन माना है** पर अद्वैत सिद्धांत में भक्ति को ही ज्ञान का साधन माना गया है। अतः इन विवादों को हटाने के लिए ही तुलसी ने इन दोनों का समन्वय कर दिया और ज्ञान तथा भक्ति दोनों की आवश्यकता बताते हुए भी भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। तुलसी ने शंकर की भाँति जो 'शुक्ति में रजत' आदि का वर्णन किया है, उसका उद्देश्य संसार को मिथ्या दिखलाकर जीव में 'विरति - विवेक' उत्पन्न करना है। ज्ञान से विरति प्रादुर्भूत होती है तथा जीव के द्वैतभाव के नाश होने पर ही भक्ति का उदय होता है। यही समन्वय की भावना तुलसी की बड़ी देन है। मंगलाचरण के जिस पद में उन्होंने रज्जु में सर्प के भ्रम की बात कही है उसका भी पर्यवसान भगवान के चरण - पंकज की भक्ति में ही किया गया है। बहुत से अन्य स्थलों भी पर जहाँ हमें अद्वैतवाद होने का भ्रम होने लगता है, उसके पूर्वापर प्रसंगों पर ध्यान देने से यह विचार निर्मूल सिद्ध हो जाता है। बात यह है कि ज्ञान के द्वारा जब संसार की वास्तविकता का पता चलता है, तभी **निर्गुण के सगुण रूप राम में वैधी भक्ति उत्पन्न हो जाती है**। यहीं पर दोनों धाराओं का समन्वय हो जाता है। साधन - पद्धति में **तुलसी सेवक - सेव्य - भाव को ही** मानकर चलते हैं। यह भक्ति सत्संग से और सत्संग हरिकृपा से ही मिल सकता है। अतः यह 'अनुग्रह' का मार्ग हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि 'तुलसी - मत' में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का निर्गुण रूप, जीव और ब्रह्म का अभेद, जगत का मिथ्यात्व प्रतिपादित होता है, परंतु भक्ति के व्यावहारिक दृष्टिकोण से ब्रह्म का सगुण - निर्गुण रूप, माया के द्विविध भेद, भक्ति की श्रेष्ठता, शास्त्रानुसार कथित नवधा भक्ति, स्मृतिमतानुसार देवोपासना तथा योग, ज्ञान - भक्ति के अविरोध की स्वीकृति है। ये तत्वतः शांकर पद्धति को अपनाकर भी रामानुज का अंचल दृढ़ता से पकड़े रहते हैं। अतः तुलसीदास सिद्धांततः

अद्वैतवाद की ओर झुके हैं, परंतु व्यावहारिक रूप से वे भक्त ही हैं। तार्किक या बौद्धिक रूप से अद्वैतवाद श्रेष्ठ अवश्य है, परंतु यह अव्यावहारिक ही रह जाता है। व्यवहार केवल सिद्धांत पर चलता भी नहीं है इसीसे तुलसी ने उसका परिमार्जन किया और ज्ञान को भक्ति के साथ लेकर उन्होंने निर्गुण - सगुण जीव - माया - ब्रह्म का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उससे यह प्रकट हो जाता है कि तुलसी के सैद्धांतिक पक्ष का मूल अद्वैतवाद है, परंतु व्यावहारिक पक्ष में वे निस्संदेह विशिष्टाद्वैतवादी है। तथा उनका यह विरोधी वर्णन केवल समन्वय की दृष्टि से है।

*

वाकाटकवंश

देवसहाय त्रिवेद

वाकाटकों का इतिहास नूतन है। इस वंश का नाम भी आधुनिक इतिहासकारों को अज्ञात था। जेम्स प्रिंसेप ने शाके १७८२ में प्रथम ताम्रपत्र (सिवनी, मध्यप्रदेश) प्रकाशित किया। जेम्स फेथफुल फ्लीट ने इसे उत्तर भारत का वंश समझा क्योंकि इसकी लिपि गुप्तकालीन अभिलेखों से मिलती - जुलती है। वाकाटकों का नाम भी कहीं, पुराणों में या प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता।

शाके १८३६ में विंसेंट आर्थर स्मिथ ने इस वंश का सविस्तर वर्णन[1] प्राप्त स्रोतों के आधार पर किया। इसके ठीक ६ वर्ष बाद ही पांडीचेरी के जान डुबरिल ने 'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' में इनका विशद् वर्णन किया। काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया' में इसे स्थान दिया। इस वंश का इतिहास अनेक शोधपत्रों में बिखरा है जिन्हें एकत्र करने का यहाँ प्रयास[2] किया गया है।

पुराणों में[3] विंध्यशक्ति तथा उसके पुत्र प्रवीर का नाम मिलता है। भाऊदाजी ने (शाके १७८४) पुराणों के इस विंध्यशक्ति को अजंता गुफा का विंध्यशक्ति बताया। पुराणों में विंध्यशक्ति तथा प्रवीर को वाकाटक नहीं किंतु विंध्यक या कैलकिल कहा गया है। विष्णु पुराण में कैलकिलों को यवन कहा गया है किंतु अजंता अभिलेख विंध्यशक्ति को स्पष्टतः ब्राह्मण बतलाता है। शाके १८५७ में विंध्यशक्ति के ताम्र - अभिलेख से सभी शंकाएँ शांत हो गईं। इस वंश के सरकारी लेखों में विंध्यशक्ति को वंश का संस्थापक नहीं बताया गया है इसका श्रेय प्रवरसेन प्रथम को है क्योंकि विंध्यशक्ति केवल महाराज था न कि प्रवरसेन प्रथम के समान सम्राट्। प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किए और स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित किया अतः वह स्वभावतः वाकाटक साम्राज्य का संस्थापक माना जाने लगा।

विदर्भ या बरार वाकाटकों का देश है। वाकाटक पहले आंध्र राजाओं के सामंत थे। आंध्रों के अधःपतन - काल में वे अपनी शक्ति संचय करने लगे और पुनः स्वतंत्र हो गए। हमें अभी तक इस वंश के ११ राजाओं का पता चला है। इन ११ राजाओं ने कुल ३०० वर्ष (कलि संवत् २६७३ से कलि संवत् २९७३ तक) राज्य किया। इनका मध्यमान प्रतिराज्य ३० वर्ष है।

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१४ पृ० ३१७ - ३८, विंसेंट आर्थर स्मिथ का निबंध।

२. गोविंद पाई का जीनिओलाजी एंड क्रानोलाजी आफ दी वाकाटक, जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग १४ पृ० १ - २६ तथा पृ० १६५ - २०४।

३. पार्जिटर का कलिवंश पृ० ४८ टिप्पणी ८२।

जायसवाल[४] के विचार में वाकाटक पहले बुंदेलखंड में रहते थे और वहीं पर शासन करते थे। उनका मूल निवास वाकाट में था जो ओरछा के वगाट नामक स्थान के नाम में अब भी सुरक्षित है। महाराष्ट्र में ग्राम के नाम पर उपाधि चलती है यथा वाकाट का निवासी वाकाटकर बड़ेगाँव का निवासी बड़ेगाँवकर इत्यादि।

बुंदेलखंड में ही गंजनचना अभिलेख है तथा पन्ना के पास किलकिल नदी है। किलकिल नदी के वासी होने के कारण ये कैलकिल कहलाते थे। यह किलकिल पुराणों के कैलकिल वंश से मिलता सा है। सत्यतः गंजनचना अभिलेख उस प्रदेश से मिला है जहाँ वाकाटक पृथ्वीसेन का सामंत व्याघ्रदेव राज्य करता था। वाकाटक कहाँ से कब विदर्भ देश में गए इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं।

इस वंश के निम्न अभिलेख उपलब्ध हैं —

१. विंध्यशक्ति वाकाटक का वसीम (जिला अकोला) अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग २६, पृ० १३७।
२. प्रवरसेन द्वितीय का चंमक और दुदिया अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग ३, पृ० २५८ संख्या ५५ और ५६।
३. प्रवरसेन २ का सिवनी अभिलेख, कारपस इंस्क्रिप्शनं इंडिकेरम् भाग ३, पृ० २४३।
४. पृथ्वीसेन २ का बालाघाट अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग ९, पृ० २६७।
५. प्रवरसेन २ का तिरोदी (जिला बालाघाट) अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग २२-१६७
६. प्रवरसेन २ का पट्टन (जिला बेतूल) अभिलेख, ए० ई० २३ - ८१।
७. प्रवरसेन २ का इंदौर अभिलेख ए० इ० २४ – ५२।
८. प्रवरसेन २ का कोथुरक दानपत्राभिलेख ए० इ० २६ – १५५।
९. प्रवरसेन २ का बाडगाँव (जिला चांदा) अभिलेख, ए० इ० २७ – ७४।
१०. प्रभावती गुप्ता का रोढपुर अभिलेख ए० इ० ९ – २६८।
११. प्रभावती गुप्ता का पूना अभिलेख ए० इ० १५ – ३९।
१२. प्रभावती गुप्ता का रामगिरि अभिलेख ए० इ० ४ – १९३।
१३. पृथ्वीसेन २ का दुग जिले से प्राप्त वाकाटकों का अपूर्ण अभिलेख, ए० इ० २२ – २०७।
१४. प्रवरसेन २ के अपूर्ण अभिलेख ए० इ० २४ – २६०।
१५. देवसेन का वत्सगुल्म अभिलेख ए० इ० ९ – १९।

१. विंध्यशक्ति

विंध्यशक्ति इस वंश का संस्थापक[५] है। इस वंश के अंतिम राजा हरिषेण के मंत्री वाराहदेव के अजंता अभिलेख (जो गुम्फ १६ में है) में विंध्यशक्ति का नाम मिलता है। इस

४. जर्नल बिहार उड़िसा रिसर्च सोसायटी, १९३३ पृ० ६७, काशीप्रसाद जायसवाल का अभिलेख।

५. उद्दीर्णलोकत्रय दोषवह्निनिर्व्वायनो प्रणम्य पूर्वौं प्रवक्ष्ये क्षितिपानुपूर्वीम्। महाविमर्दैव्व-भिवद्धशक्तिः क्रुद्धस्सुरैरप्यनिवार्यवीर्यः रणदानशक्तिः द्विजप्रकाशो भुवि विंध्यशक्तिः। पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभावः स्वबाहुवीर्याजित सर्वलोकः बभूव वाकाटकवंशकेतुः।

इस वाकाटकवंश का ध्वज विष्णु के समान प्रसिद्ध था। विंध्यशक्ति ने अनेक युद्धों के बाद अपने भुजबल से राज्य स्थापित किया। इसका पिता सर्वसेन धर्ममहाराज था। इसके पितामह प्रवरसेन की माता हारीतगोत्र की थी। कहा जाता है कि इस प्रवरसेन ने भी चार अश्वमेध किये। बाद के प्रवरसेन को चार अश्वमेधकर्ता बताया गया है। वत्स गुल्म इसकी राजधानी थी। इसके बसीम अभिलेख की तिथि हैं – **सावच्छरं ३७ हेमन्त यक्खं पढमं दिवस ४।**

२. प्रवरसेन प्रथम

इस वंश के राजा प्रवरसेन प्रथम को ही इस वंश का आदि संस्थापक मानते हैं। इसने चार अश्वमेध तथा अनेक यज्ञ किये। इनका गोत्र है विष्णुवृद्ध (भारद्वाजों की एक शाखा) है। इसे सम्राट कहा गया है। यथा – **अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य षोडन्यतिरात्र वाजपेय बृहस्पति सवसाध्यस्कचतुरश्वमेधयाजिनो विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट वाकाटकानां महाराज श्रीप्रवरसेनस्य।** इन यज्ञों को (अग्निष्टोम, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पति) को केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं।

३. गौतमीपुत्र

प्रवरसेन प्रथम का पुत्र[६] गौतमीपुत्र ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। इसकी माता का नाम गौतमी था। किंतु इसने उत्तरापथ के भारशिव क्षत्रियवंश के राजा भवनाग की कन्या का पाणिग्रहण किया। स्यात इसी कारण वह गद्दी पर न बैठ सका। तुलना करें – **प्रवरसेनस्य सूनोरत्यन्त स्वामिमहाभैरव भक्तस्य अंसभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित राजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्यामलजल मूर्धाभिषिक्तानां भारशिवानां महाराज श्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य।**

४. रुद्रसेन प्रथम

रुद्रसेन गौतमीपुत्र का लड़का था। इसका एक अभिलेख नागपुर के पास देवटेक के भान शैव मंदिर से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में मंदिर को 'रुद्रसेनस्य धर्मस्थानम्' कहा गया है। यह समुद्रगुप्त का समकालिक है। प्रयाग प्रशस्ति का यह रुद्रदेव है। समुद्रगुप्त[७] ने कलिसंवत् २७७९ से कलिसंवत् २८३० तक ५१ वर्ष राज्य किया।

५. पृथ्वीसेन प्रथम

यह रुद्रसेन प्रथम का पुत्र था। इसका कोई अभिलेख अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। गंजनचना अभिलेख (एपिग्राफिया इंडिका १७ – १८) इसीके काल का बताया जाता है। व्याघ्रदेव अपने को वाकाटकराज पृथ्वीसेन का चरणसेवक बतलाता है। इस लेख में पुण्य के लिए मंदिर निर्माण का उल्लेख है। इसने कुंतल देश जीता। तुलना करें – **अत्यन्त माहे-**

६. त्रिवेद का वाकाटकवंश, रामदहिन अभिनंदनग्रंथ, पाटलिपुत्र, १९५४ पृ० १३४ – १३९।

७. वाकाटकानां महाराज श्री पृथिवीसेन पादामयथ्यातो व्याघ्रदेवो मातापित्रोः पुण्यार्थं कृतमिति। ए० इ० १७ – १२।

८. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीविद्या, बंबई, भाग १३ पृ० ९३ देखें।

श्वस्य सत्यार्जव कारुण्य शौर्यविक्रमनयविनय माहात्म्यधिमत्वगतभक्तिकधर्मविज-यित्व मनोनैर्मित्यादिगुणैः समुदितस्य वर्षशत मभिवर्द्धमानकोषदण्ड साधन सन्तान पुत्रपौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्वाकाटकानां महाराज श्री पृथ्वीसेनस्य ।

६. रुद्रसेन द्वितीय

यह पृथ्वीसेन प्रथम का पुत्र था। इसने चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता का पाणिपीडन किया। प्रभावती गुप्ता की माता कुबेरनागा नागवंश की थी। यह गुप्त - वाकाटक विवाह वस्तुतः राजनीति की एक अद्भुत चोट थी। वाकाटक महाराज अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण उत्तरापथ विजेता के शत्रु - मित्र दोनों ही सरलता से हो सकते थे। इस वैवाहिक संबंध से उत्तरापथ में गुप्तों का और दक्षिणापथ में वाकाटकों को सफल साम्राज्य स्थापित करने में खूब सहायता मिली।

रुद्रसेन २ का कोई अभिलेख अभी तक नहीं मिला है। किंतु प्रभावती गुप्ता का रामटेक के पास नंदिवर्द्धन से प्राप्त ताम्रपत्र मिलता है। संभवतः अपने पति रुद्रसेन १ का स्वर्गवास होने पर प्रभावती गुप्ता अपने पुत्रों की अभिभाविका थी। इसी रूप में इसके दानपत्र मिलते हैं। पूना के अभिलेख में इसे रुद्रसेन की प्रधान महिषी और युवराज दिवाकरसेन की माता कहा गया है।

तुलना करें – **महाराज श्री चंद्रगुप्तः ...... पृथिव्यामप्रतिरथः सवराजोच्छेत्ता चतुरुदधि सलिलास्वादितयशानेकगोहिरण्यकोटीसहस्रप्रदः परमभागवती महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रां नागकुल संभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्तवाकाटकानां महाराजश्री रुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेनस्य जननी श्री प्रभावती गुप्ता ...** । इसकी मुद्रा पर पाठ है —

वाकाटक ललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रियः।
जनन्या युवराजस्य शासनं रिपुशासनम् ॥

पूना अभिलेख रुद्रसेन द्वितीय के १३वें वर्ष का है।

७. प्रवरसेन द्वितीय

रुद्रसेन द्वितीय के दो पुत्र थे—दिवाकरसेन तथा दामोदरसेन। युवराज दिवाकरसेन संभवतः गद्दी पर न बैठ सका और रुद्रसेन की मृत्यु के पहले ही चल बसा। दामोदरसेन बालपन में ही राजसिंहासन पर बैठा और उसने चिरकाल तक राज्य किया क्योंकि इसका अंतिम दानपत्र ३७ वें वर्ष में प्रकाशित किया गया मिलता है। इसका सर्वप्रथम दानपत्र द्वितीय वर्ष में नंदिवर्द्धन (जिला बरदा) से प्राप्त है। राज्य के आदिकाल के अधिकांश दानपत्र नंदिवर्द्धन से और शेष प्रवरपुर या विभिन्न स्कंधावारों से प्रकाशित है। अतः हम कह सकते हैं कि रुद्रसेन २ और प्रवरसेन २ की भी राजधानी नंदिवर्द्धन ही थी जो संभवतः कालांतर में प्रवरपुर चली गई और जिसे प्रवरसेन द्वितीय ने अपने नाम पर बसाया। नंदिवर्द्धन आज भी इसी नाम से ख्यात है। प्रवरपुर कहाँ है पता नहीं। दामोदरसेन ही प्रवरसेन द्वितीय के नाम से ख्यात है।

इसका तिरोदी (जिला बालाघाट) अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। इसकी भाषा संस्कृत और लिपि पुरकरस्यादि (वाक्स - हेडेड) है। इसमें तिथि है — संवत्सर २३ माघ बहुलपक्ष द्वादशी। वाकाटक वंश के सभी पूर्व अभिलेखों के समान इसका आरंभ भी द्रिष्टम (= दृष्टम्) से होता है। इस अभिलेख का उद्देश्य है वरुणार्य त्रिवेद को कोशांवर खंडग्राम का दान। इसकी मुद्रा का पाठ है —

वाकाटक ललामस्य क्रमप्राप्त नृपश्रियम्।
राज्ञः प्रवरसेनस्य शासनं रिपुशासनम्॥

प्रवरसेन २ के चार ताम्रपत्र वरधा नदी के तट पर वेलोरा ग्राम से मिले। भाषा संस्कृत और लिपि पुष्करस्यादि है। ये दोनों अभिलेख पीटे हुए हैं। प्रथम अभिलेख नंदिवर्द्धन से प्रकाशित हुआ। इसमें असिमुक्ति के महललाट ग्राम दान का उल्लेख है। सूर्यस्वामी इसका आदाता है। यह अतिथि है। द्वितीय अभिलेख में दो ग्रामों के दान का उल्लेख है। इसका भी आदाता सूर्यस्वामी है। इसकी तिथि है संवत्सर ११ कार्तिक शुक्लपक्ष त्रयोदशी। सेनापति चित्रवर्मा ने इसे लिखा। संभवतः आदाता ब्राह्मण ने प्रार्थना की कि मुझे सभी दानों का एकत्र दानपत्र मिले। इसी कारण ये पीटे गये हैं और उन पर दुहरा कर लिखा गया।

प्रवरसेन द्वितीय का इंदौर अभिलेख संस्कृतभाषा और दक्षिण लिपि में है। इसकी तिथि है — संवत्सर त्रयोविंश (२३) वैशाख बहुल पञ्चमी। कोहदेव राजुक इसका लेख है और ग्रामदान उद्देश्य है।

वाडगाँव अभिलेख में प्रवरसेन द्वितीय ने द्विवेद रुद्रार्य को ४०० निवर्तन भूमि दान की। यह दान पत्र हिरण्या नदी (हिरण्यबाहुः शोणभद्र) के स्कंधावार से प्रकाशित हुआ। इसकी तिथि है — संवत्सर २५ ज्येष्ठशुक्ल १०। सेनापति वप्पदेव इसका दूतक और मारदास उत्कीर्णक है। रुद्रार्य द्विवेद को विषुववाचनक कहा गया है अतः यह दानपत्र विषुव या संपात महासंक्रांति के अवसर पर दिया गया। मीराशी के मत में हिरण्या नदी वरधा की शाखा नदी पराई है।

पट्टन अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। इसकी तिथि है संवत्सर २७ कार्तिक कृष्ण ७। महापुरुष विष्णु के उपलक्ष्य में सत्र के लिए इसमें दान का उल्लेख है। सेनापति कात्यायन का कालिदास इसका लेखक है। यह कालिदास गुप्तकाल का महाकवि है जिसका जन्म मिथिला में हुआ और जिसने काव्यत्रयी — मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश की रचना की। यह कालिदास[१] कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त का सभासद् था।

प्रवरसेन का कोबुरक दानपत्राभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। यह वरधा जिला से मिला। इसका उद्देश्य है प्रवरसेन द्वारा सुप्रतिष्ठित अग्रहार कोबुरक ग्राम का दान। इसमें वंश का आरंभ देवगुप्त चंद्रगुप्त दितीय से होता है। इसमें आदाता को गणयाजी कहा गया है। स्यात् यह अग्रहार प्रवरसेन द्वितीय ने अपनी माता प्रभावती गुप्ता की मृत्यु के अवसर पर एकादशाह के मृतकश्राद्ध के पुरोहित गणयाजी को दिया।

१. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्या, बंबई, भाग १६ खंड २, पृ० ९५ देखें।

सेतुबंध प्राकृत महाकाव्य इसी वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय की रचना है। कालिदास का 'कौन्तलेश्वरदौत्यं' काव्य प्रसिद्ध है। यह कौन्तलेश्वर वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय ही हैं।

प्रवरसेन द्वितीय की माता प्रभावती गुप्ता अत्यंत चतुर महिला थी। अपने पुत्र के अभिभावकत्व - काल में नहीं किंतु अपने पति रुद्रसेन द्वितीय तथा अपने पुत्र प्रवरसेन २ के राज्यकाल में भी (प्रवरसेन २ के १९वें वर्ष में) इसने दान दिया जिसके ताम्रपत्र मिलते हैं। ईसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वतंत्र थी किंतु इसका अर्थ यह है कि स्त्रियों को सर्वदा दान करने की सुविधा थी। किंतु अपने दानपत्रों में वह अपने मातृवंश का पूर्ण परिचय देती है न कि श्वसुरवंश का।

८. नरेंद्रसेन

यह प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र था। इसका कोई दानपत्र नहीं मिला है किंतु अजंता के गुम्फ १५ - १६ में इसका उल्लेख हैं। इसने कुन्तल राजकुमारी अज्झितभट्टारिका का पाणिपीडन किया। कदंबराज प्रवरसेन प्रथम के समय से ही वाकाटकों के सामंत थे। इसका राज्य कोसल, मेकल, मालव पर था। तुलना करें – **कोसलमेकलमालवाधिपतेः नरेन्दसेनस्य कुन्तलाधिपति सुतायां महादेव्यामज्झितभट्टारिकायाम्।**

९. पृथ्वीसेन द्वितीय

यह अञ्झितभट्टारिका - नरेन्द्रसेन का पुत्र है। बालाघाट अभिलेख इसी का है। अञ्झितभट्टारिका कदंबवंश की थी। दुग अभिलेख भी इसी का है। यह अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। यह अभिलेख अपूर्ण और केवल पाँच पंक्तियों का है। यह अभिलेख पद्मपुर के पास से मिला। वाकाटकों की राजधानी नंदिवर्द्धन, प्रवरपुर और पद्मपुर हुई। महाकवि भवभूति का जन्म इसी पद्मपुर (विदर्भ) में हुआ। यह पद्मपुर आगरा जिला में आमगाँव के पास है।

१०. देवसेन

यह नरेंद्रसेन का छोटा भाई था। इसका एक दानपत्र वत्सगुल्म (वसीम) बरार से प्राप्त है। इस वंश के प्रथम और अंतिम राजा के दानपत्र एक ही स्थान में है। देवसेन का प्रधानमंत्री हस्तिभोज[१०] ब्राह्मण था जिसके पुत्र वराहदेव ने अजंता के गुम्फ १६ – १७ का निर्माण करवाया।

११. हरिषेण

देवसेन का पुत्र यह हरिषेण वाकाटक वंश का अंतिम राजा है। इसका पता हमें केवल अजंता के गुंफ १६ – १७ से लगता है। इसे कुंतल, अवंती, कलिंग, कोसल, त्रिकूट (कोंकण), लाट, और आंध्र का अधिपति कहा गया। इनमें कुछ तो पहले से ही वाकाटक राज्य में थे। आंध्र और कोशल बाद में मिला लिए गए। यदि इस परिगणन को सत्य माना जाय तो हरिषेण का राज्य पश्चिम और पूर्व समुद्र कि मध्य समस्त भूमि पर था।

१०. न्यू इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग २ पृ० ११७।

आंध्रदेश में वेंगी के विष्णुकुंडियों का राज्य था। ये विष्णुकुंडी ब्राह्मण थे। ये ब्राह्मणों के सामंत थे। वाकाटकों की एक कन्या विष्णुकुंडवंश के चतुर्थराजा माधववर्मा द्वितीय को दी गई थी। यह कन्या संभवतः आंध्र - कलिंगाधिपति हरिषेण की दुहिता थी। इससे दक्षिण भारत में विष्णु कुंडियों का प्रभुत्व बहुत व्याप्त हो गया। स्यात् हरिषेण अपुत्र था। इसका नप्ता, माधववर्मा का पुत्र, विक्रमेंद्रवर्मा, अपने को विष्णुकुंड और वाकाटकवंश की संतान बतलाता है। इसके मंत्री वराहदेव ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहार[११] बनवाया। इससे सिद्ध है कि प्राचीनकाल में राजा कितने उदार होते थे। हरिषेण के समय वाकाटक राज्य शिखर पर था।

प्राप्त ताम्रपत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि वाकाटकों का राज्य सुदूर दक्षिण को छोड़कर सारे दक्षिण भारत व अधिकांश उत्तरापथ याने पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तट तक विस्तीर्ण था।

इस वंश के राजाओं में अनुलोम विवाह प्रचलित था तथा सिंहासनाधीश ब्राह्मण भी अपने को शर्मा के बदले वर्मा कहने लगे थे। क्या विहार - बंगाल के सेनवंशी राजा इसी वाकाटकवंश के थे? इन वाकाटकों का गोत्र विष्णुवृद्ध था।

वाकाटकों के बाद इस प्रदेश में विष्णुकुंडी कलचूरी चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों का राज्य हुआ जहाँ कालांतर में देवगिरि के यादवों ने अधिकार जमाया।

वाकाटकों की चार राजधानियाँ थी — वत्सगुल्म, नंदिवर्द्धन, प्रवरपुर और पद्मपुर।

वाकाटक राजवंश

राजनाम	राजवर्ष	कलि संवत	खीष्टपूर्व
१. विंध्यशक्ति	४०	२६७३ - २७१३	४२६ से ३८६
२. प्रवरसेन - १	४२	२७१३ - १७५५	३८६ - ३४४
३. रुद्रसेन-१- रुद्रदेव	३६	२७५५ - २७९१	३४४ - ३०८
४. पृथ्वीसेन - १	२५	२७९१ - २८१६	३०८ - २८३
५. रुद्रसेन - २	१७	२८१६ - २८३३	२८३ - २६६
६. प्रवरसेन - २	९७	२८३३ - २९३०	२६६ - १६९
७. नरेंद्रसेन	९	२९३० - २९३९	१६९ - १६०
८. पृथ्वीसेन - २	७	२९३९ - २९४६	१६० - १५३
९. देवसेन	८	२९४६ - २९५४	१५३ - १४५
१०. हरिषेण	१९	२९५४ - २९७३	१४५ - १२६

११. हैदराबाद आर्कियोलाजिकल सीरीज संख्या १४।

मुख्य तिथियाँ

कलिसंवत	खीष्टपूर्व	
२७९१	३१०	समुद्रगुप्त ने रुद्रदेव को पराजित किया।
२८१७	२८४	रुद्रसेन - २ ने चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता का पाणिपीडन किया।
२८५५	२४७	प्रभावती गुप्ता का निधन।
२८५५	२४६	प्रवरसेना - २ ने प्रवरपुर बसाया।
२९११	१९०	कालिदास प्रवरसेन के दरबार में पहुँचे।
२९२१	१८०	प्रवरसेन - २ ने सेतुबंध महाकाव्य की रचना की।
२९३६	१६५	पद्मपुर राजधानी बनी।

*

इस संबंध में समालोचनाओं का उत्तर सहर्ष दिया जायगा। —लेखक

ब्रजभाषा के कुछ पंजाबी कवि

जयभगवान गोयल

गत २० - २५ वर्षों में हिंदी - अनुसंधान - क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई है । परंतु यह कार्य मुख्यतः हिंदी प्रदेश तक ही सीमित रहा है। हिंदी के समीपवर्ती क्षेत्रों में भी मध्ययुग में ब्रजभाषा का यथेष्ट प्रचार रहा है। वस्तुतः हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद एक दिन में प्राप्त नहीं हो गया, इसके लिए भूमिका बहुत दिनों से तयार हो रही थी। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि १६वीं से १९वीं शताब्दी तक भारत के पूर्वी, उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों में हिंदी - ब्रजभाषा का बहुत प्रचार था। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय ब्रजभाषा अपने स्वर्णकाल में राष्ट्रभाषा के समान आदृत होती रही है। एक ओर ठेठ बंगाल में ब्रजभाषा के अनुकरण पर कविताएँ लिखी जाने लगी थीं, जिसे अब भी 'ब्रजबुली' काव्य परंपरा का नाम दिया जाता है। दूसरी ओर गुजरात के 'नरसिंह मेहता' आदि कवियों पर भी ब्रज की वैष्णव कविता का प्रभाव लक्षित होता है। इधर महाराष्ट्र के 'ज्ञानदेव' तथा नामदेव आदि संत कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही अपनी काव्य रचना की। सुदूर आसाम में भी ब्रजभाषा के ग्रंथ मिले हैं। ब्रज तथा गुजरात प्रदेश की इन हिंदी रचनाओं का तो अध्ययन किया गया है, किंतु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि ब्रजभाषा का प्रभाव पंजाब के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में रहा है। यहाँ तक कि १७ - १९वीं शती में पंजाब के अधिकतर कवियों ने ब्रजभाषा में ही कविता की, जो बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की रचना है। जान पड़ता है कि उस समय भारत के इस भाग में ब्रजभाषा जनता की प्रिय रही हो यही कारण है कि इस समय की धार्मिक भावनाओं को लेकर चलनेवाली कविता जो कथा कहने के लिए लिखी गई थी वह भी ब्रजभाषा में ही हुई है। इन कवियों में से यदि कुछ को सूर तथा तुलसी के समकक्ष रखें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। किंतु यह दुर्भाग्य का विषय है कि इन कवियों के नाम से भी हिंदी जगत परिचित नहीं। इसका मुख्य कारण तो यह है कि इन कवियों की भाषा यद्यपि ब्रज है तथापि इन्होंने गुरुमुखी लिपि का प्रयोग किया है। हिंदी अनुसंधान का कार्य अधिकतर हिंदी प्रदेश के निवासियों द्वारा ही हुआ है जो गुरुमुखी लिपि से अनभिज्ञ थे। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल उर्दू लिपि में लिखे जायसी के काव्य को तो प्रकाश में ला पाए पर पंजाब के किसी कवि पर उनका ध्यान नहीं गया। इन कवियों से अपरिचित रहने का दूसरा कारण यह भी है कि पंजाब में उर्दू-फारसी का प्रभुत्व रहा है और लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि पंजाब में हिंदी की, विशेषकर ब्रज की, कविता हो नहीं हुई. इसलिए विद्वानों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

इस लेख के द्वारा मेरा उद्देश्य हिंदी के कुछ ऐसे कवियों का परिचय प्रस्तुत करना है, जिन्होंने ब्रजभाषा में उत्कृष्ट कोटि की काव्यरचना की है, यद्यपि उनकी लिपि गुरुमुखी थी। श्री गुरु गोविंदसिंह एक ऐसे ही कवि थे, और उनके आश्रय में ऐसे और ५२ कवि थे। कोई

उनकी संख्या ७२ तक बताता है। किंतु मुसलमानों के आक्रमणों तथा अत्याचारों के कारण एवं इन ग्रंथों की सुरक्षा एवं खोज का उचित प्रबंध न होने के कारण, इनमें से बहुत कम के ही जीवन तथा साहित्य का पता चला है।

जिस समय इन कवियों ने काव्यरचना की, उस समय हिंदी में रीति तथा शृंगारिक रचनाओं की प्रधानता थी, इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस युग को 'रीतिकाल' का नाम दिया। अब कुछ विद्वान इसे 'शृंगार काल' का नाम भी देने लगे हैं। किंतु मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि इस समय के पंजाब के हिंदी कवियों की रचनाओं की खोज की जाए और उनका सुचारु रूप से अध्ययन किया जाए – तो इन विद्वानों को अपनी धारणाएँ बदल देनी पड़ेंगी। पंजाब में जिस समय गुरु गोविंद सिंह सिखों के धार्मिक गुरु थे, उस समय तथा उनके बाद भी, उनकी प्रेरणाओं से जो साहित्य लिखा गया, जो परिमाण में भी बहुत अधिक है, उसमें न तो शृंगारिक भावना है, न रीतिपरंपरा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। शृंगार का वर्णन यदि कहीं हुआ भी है तो बहुत ही मर्यादित रूप में। राधा कृष्ण की भक्ति के बहाने विलास क्रीड़ाओं के वर्णन उनके साहित्य में नाम मात्र को भी नहीं मिलेंगे। उसमें एक ओर वीररस का सर्वांगीण सुंदर चित्रण हुआ है, दूसरी ओर अध्यात्म का, जिसमें सिखों के धार्मिक आदर्शों एवं मान्यताओं की प्रधानता है। उसमें दर्शन, भक्ति, योग का सुंदर समन्वय हुआ है, और भक्ति के साथ विरति का भी संयोग दिखाई पड़ता है। इधर टीकम सिंह तोमर ने अपने हिंदी वीरकाव्य में इस युग के सैकड़ों वीरकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। शृंगारकाल नाम सिद्ध करने के लिए 'कवि पद्माकर' जैसे कवियों को भी शृंगारी कवि के नाम से दूषित करने की भी चेष्टा की गई है, यद्यपि वह भक्त कवि थे। वे भक्ति में सूर, तुलसी, कबीर से किसी भाँति कम नहीं थे, यह इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र सिद्ध किया है।[1] इस प्रकार इन सब बातों को ध्यान में रखकर इस युग के हिंदी साहित्य का पुनः मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। इसके लिए पंजाब के हिंदी कवियों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस लेख में इस साहित्यिक समस्या की ओर संकेत भर किया गया है, मुख्य उद्देश्य तो कुछ कवियों का परिचय देना भर है।

सेनापति

भक्त संतोषसिंह द्वारा रचित गुरु-सूरज-प्रताप ग्रंथ से पता चलता है कि सेनापति गुरू गोविंद सिंह के दरबारी कवियों में से थे। आपने स्वयं भी एक स्थान पर लिखा है —

> गुरु गोविंद की सभा महि लेखक परम सुजान,
> चाणाकै भाषा करीं कवि सेनापति नाम।

भाई वीरसिंह का कथन है कि सेनापत इनकी उपाधि थी, किंतु यह ठीक नहीं जान पड़ता। इनका, गुरु शोभा ग्रंथ' उपलब्ध है जो गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित भी हो चुका है। एक

१. सरस्वती संवाद – कवि पद्माकर।

चाणक भाषा ग्रंथ भी कहा जाता है जो प्राप्त नहीं हुआ। इनके जीवन के संबंध में विशेष पता नहीं लगता। 'गुरु शोभा ग्रंथ' से इतना भर पता चलता है कि आप गुरू साहब पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले तथा मर्यादा खालसा के आदर्शों के पूर्ण प्रेमी थे। इनमें परमार्थिक लगन भी दिखाई पड़ती है। गुरु शोभा ग्रंथ में गुरु गोविंदसिंह का कुछ जीवन चरित वर्णित है, जिसमें मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। इसके अतिरिक्त इन कविताओं में, 'खालसा सजने का हाल', खाला के गुण और केश, कृपाण आदि रहित मर्यादा का वर्णन है। गुरु गोविंद सिंह के युद्धों के वर्णन में वीर रस का संचार अच्छा हुआ है। कहीं कहीं भूषण का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कवित्त, दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय पउडी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। हिंदी के प्रसिद्ध सेनापति से यह भिन्न है। कुछ नमूने देखिए—

सवैया

काहूँ के मात पिता सुत हैं अर
काहूँ के भ्रात महा बलकारी।
काहूँ के मीत सखा हितु, साजन,
काहूँ के ग्रेह बिराजत नारी।
काहूँ के पास महानिधि राजत,
आपस मों कर हैं हित भारी।
होहु दिआल दया करके प्रभु,
गोविंद जी मुहि टेक तुहारी॥

(गुरु गोविंद - अवतार रूप)

दोहा

निरंकार आकार कर मनसा मनि बीचार।
मुकत करन संसार को प्रगट भये करतार।
करन करावन हार प्रभ समरथ सिंघ गोविंद।
कलाधार परगट भये चहुँ दिश भये अनंद॥

(अजीत सिंह का युद्ध)

ता दिन गड्यो रणखंभ सिंघ रणजीत धरत पड
धरत लरज, उठी धूर, भान छिप गये आप घर।
पवन मंद दुरि रहि रैन भई दिवस छुपानो,
लरजै सकल अकाश तोप छुटी परमानो।
बज्यौ निशान तिहुँ लोक मैं सुन देवतन मन यों भरो,
चढि चढि विवान देखन चले, सशंकर समेत नहीं को रह्यो॥

हीर कवि

हीर गुरु गोविंद सिंह के वीर रस के श्रेष्ठ कवियों में से एक थे। इनके जीवन के संबंध में अधिक ज्ञात नहीं। इनकी रचनाओं से इतना पता चलता है कि वह गुरु गोविंदसिंह जी

के चरणों में काफी समय रहे। इनके बहुत से युद्धों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था, और उनका वर्णन अत्यंत ओजपूर्ण भाषा में किया है। यह भी अनुमान किया जाता है कि खालसा सजने के पश्चात् भी आप आनंदपुर में उपस्थित थे। वीररस की इनकी रचनाओं को भूषण के समकक्ष रखा जा सकता है। यह स्वयं भी वीर स्वभाव के व्यक्ति थे और युद्धों में गुरू जी के साथ रहा करते थे। संभव है वह सिख रहे हों और आनंदपुर के अंतिम युद्धों का वर्णन भी किया हो पर वह उपलब्ध नहीं होते। इनका कोई ग्रंथ अभी नहीं मिला, कुछ छंद मिले हैं, जिनका शीर्षक है 'अंतक सभर वीर के कवित्त।'

गुरु आश्रय में आने की एक विचित्र कथा इनके संबंध में प्रचलित है। वह इस प्रकार है— गुरू जी का दरबार लगा हुआ था। सब कवि अपनी वीर रस की कविताएँ सुना रहे थे, तभी हीर कवि भी आ उपस्थित हुआ। उसे ज्ञात था कि गुरू जी वीर रस की कविता से बहुत प्रसन्न होते हैं, इसलिए आते ही वह हाथों, भुजाओं, एवं नेत्रों से इस प्रकार का अभिनय करने लगा, जैसे किसी शत्रु से लड़ रहा हो और उसे पराजित करने का प्रयत्न कर रहा हो। सारी सभा हँस पड़ी तब गुरू जी ने कवि से पूछा कि कवीश्वर जी क्या कर रहे हो? हीर कवि ने गुरू जी को संबोधित करके सुंदर छंद सुनाए।

कवि की इन चमत्कारपूर्ण उक्तियों को सुनकर गुरू जी बहुत प्रसन्न हुए तथा दान - संमान देकर अपने आश्रय में रख लिया। उदाहरण —

(नगारों की चोट)

कल नहिं परत बिकल देस बंगस को,
पलक न लागै पल रूम साम सामनी।
गोलकंडपति नगारन की धुनि सुनि,
बीजापुर बंदर बसत बन जामनी।
आसमान दहल, दहल गिरयो लंक हीर,
दरी मैं दबत फिरैं दसन जिऊँ दामनी।
तेरे डर गोबिन्द त्रिगिंद गुरू अरिनि की
टोला टोल जाइ सो खटोला भाग भामिनी।

(सेना प्रस्थानसमय)

भभरयो भभीषन भवन तजि भटकत,
ठहे पैर लंक की निशानन के बाजे ते।
पापर से फूटत धराधर सू चूर होत,
सिंधु अकुलात राजराजन के गाज ते।
बरनत 'हीर' गुरु गोविंद तिहारे त्रास,
दबत फिरति अरि कंदरान भाजे ते।
चूर होत कमठ, दरारे दाघ अरकत,
फटे फन सहस प्रबल दल साजे ते॥

(हाथियों की मार)

फोरत पहारन चुवत मद धारन जे,
गठन उदारन लखे ते बड़ी गत के[3] ।
धूरि भेरे धूसरे धरनि धसकति पग,
कज्जल से काटे वे दतारे महा गाति के ।
गाजे रन साजे, गज ऐसे पीलवान बने,
बरनत हीर महाबीर रतिपत के,
महा अंग भाटे ते विदारे श्री गुविंद सिंघ
डीलन डरारे हठे हिंदवान पति के ।।

तों सौ वैर बाँध वैरी धीर न धरति कहूँ,
धौंसा की धुंकार धराधर धसकत है ।
दल के चलत, महि हालत, हलत कोल.
कूरम कहल्ल, फनी फन न सकत है।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरू गोविंद जी,
तेरे भय भीर भारी भूप ससकत्त है ।
होत भूमचाल दिगपाल पाइमाल होति,
हलके हरल्ल हाथी माथे भतकत्त है ।
महाबाहु बीर गुरु गोविंद ! तिहारे रोस,
बैरिनि की वधु बन वन विलखानी है ।
करो न गवन भूल भवन को भीतर ते,
चठती पहार निराधार अकुलानी है ।
सुंदर सरोज मुखी दुखी भई भुक्ख प्यास,
पतिनि सों खीझैं कहैं मोतन मैं पानी है ।
चंद सी चकोर जानैं, बिंब से सुआ के मानें,
कोकल सी काक नाग मोरन की मानी है ।

हंसराम

हंसराम का गुरु गोबिंद सिंह के दरबारी कवियों में प्रमुख स्थान था। यद्यपि इनके जन्म स्थान तथा तिथि का ठीक पता नहीं, तथापि इनके ग्रंथ 'भरण करण' से ज्ञात होता है कि आप सं० १७५२ में विद्यमान थे। वह छंद इस प्रकार है –

संवत सत्रा सो वरस बावन वीतन हार,
माघ बदी तिथि दूज को ता दिन मंगलवार ।
हंसराम ता दिन कर्‌यो करन मरन आरंभ,
टका करे बख्शीश तब मोको साठ हजार ।

३. शरीर के ।

तां को आयस पायकै करण प्रश्न मैं कीन,
भाषा अरथ बिचित्र कर सुनै सुकवि परवीन।

गुरू गोविंद सिंह सुकवियों को आश्रय देकर किस प्रकार प्रोत्साहित करते थे, यह इस बात से विदित है कि उन्होंने हंसराम को प्रति दिन के दान-संमान के अतिरिक्त साठ हजार टके भेंट किए थे। यह हंसराम के एक अन्य छंद से भी स्पष्ट है –

प्रिथम क्रिपा करि राख कर गुरु गोविंद उदार,
टका करे बषशीश तब मोको साठ हजार।

गुरु जी की आज्ञा से उन्होंने महाभारत के एक भाग 'करण परब' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया, जिसकी हस्तलिखित प्रति पटियाला पुस्तकालय में प्राप्त है। इस ग्रंथ के आरंभ में संवत, गुरु प्रशंसा, आनंदपुर साहब की प्रशंसा, भवन प्रशंसा, गुरु जी की आशीश तथा उनकी साहबी के अनंतकाल तक रहने की शुभकामना[४] आदि के पश्चात् वास्तविक विषय का वर्णन है। इस ग्रंथ में गुरु गोविंदसिंह की विद्वत्ता, वीरता, दानशीलता, उदारता, सेना, दरबार का जमाव, युद्धों में विजय आदि का वर्णन भी है। वीर-रस का बहुत सुंदर परिपाक हुआ है। सेना की चढ़ाई आदि के वर्णन में भूषण का प्रभाव लक्षित होता है। गुरू जी वीर होने के साथ ही धार्मिक गुरु थे, और शांति तथा मुक्ति के दाता थे, इसीलिए हंसराम ने उन्हें अवतार शिरोमणि और 'मुक्तिदाता' माना है।

वीर रसोपयुक्त रोला, छप्पय तथा कवित्त छंदों का प्रयोग बहुतया किया गया है। अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग ने भाषा के ओजगुण को बढ़ाने में योग दिया है। कुछ उदाहरण देखिए –

(मुक्तिदाता)

अवध अनाए कहाँ, तिलक बनाए कहाँ,
द्वारका छपाए कहाँ, कहाँ तन ताईयति है।
कोविद कहाए कहाँ, वेनी के मुँडाए कहाँ,
काशी के बसाए कहाँ, लाहा लखीयत है।
मोहन मनाए कहाँ, भूपति रिझाए कहाँ,
कहाँ 'हंसराम' जो धरा में धाईयत है।
चार हूँ बरन ताँके हरन कलेश गुर,
गोविंद के चरन मुकति पाईयत है।

(दरबार शोभा)

जिनको प्रताप परि पूरन पुहमि परि,
सोऊ तेरे चरन को करत बखान है।

४. जौं लौं ध्रुव धरनि तरुन तेज राजै जग,
तौ लौं गोबिंद सिंघ तेरे शीश साहबी।

जिनै चाह चक्कवै चकित होत हंसराम,
तेऊ तेरे चाहिवे कों धारत धियान हैं।
जिनके विजय पारावार पार देखीयति,
प्रबल प्रचंड सुने जाहर जहान हैं,
जिनके न दरबार पावति महीनिक लै,
तेऊ तेरे दरबार देखे दरबान हैं।

मंगल

गुरु गोविंद सिंह के दरबारी कवियों में मंगल का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इसे गुरुजी ने स्वयं बुलाया था और महाभारत के एक भाग शल्य पर्व का अनुवाद करने को कहा था जिसे इन्होंने 'सलय परव' नाम से 'ब्रजभाषा' में किया। इस ग्रंथ की रचना सं० १७५३ में हुई जो इस पद से स्पष्ट है –

गुरू गोविंद मन हरष है मंगल लियौ बुलाइ।
सलय-परभ आग्या करीं, लीजै तुरत बनाइ।
संवत सत्रह सौ बरस, त्रेपन बीतन हार।
माधव रितु थितु चौदसी, ता दिन मंगलवार॥

गुरू जी ने हंसराम को साठ हजार टके प्रदान किए थे। जान पड़ता है, इसे भी गुरू जी ने बहुत अधिक धन प्रदान किया था, तभी इन्होंने 'अरब खरब' देने का उल्लेख किया है।

अरब खरब बहु दरब दे, करि कविजन को काज,
जौ लौ धरन अकाश, गिरि चंद सूर सुर इंद,
तौ लौ चिर जीवै जगत, साहिब गुर गोबिंद।

'सरल प्रश्न' पटियाला पुस्तकालय में उपलब्ध है। भाषा ब्रज है, परंतु लिपि 'गुरुमुखी'। इस ग्रंथ में भी अपने आश्रयदाता गुरु गोबिंद सिंह के पराक्रम, दानशीलता, वीरता, उदारता, अवतारिता तथा आनंदपुर आदि के वर्णन के साथ महाभारत की कथा का वर्णन विविध छंदों में हुआ है। वीररसपूर्ण स्थलों पर कवित्त, छप्पय आदि का ही प्रयोग हुआ है। मंगल ब्रज के अतिरिक्त पंजाबी, पहाड़ी भाषा में भी कविता किया करता था। कुछ उदाहरण –

(दान वर्णन)

जाचे ध्रू पायो है अमर पद सुर लोक,
नाभा जू के जाचे, दीउ देहुरा फिराई जी।
विपदा मैं लंका दीनी जाचे ते बिभीषन को,
मंगल सुकवि जाचें मंगल सुनाई जी।
द्रोपदी नगन होत जाच्यो सभा माहि ठाढ़े,
अंबर लै अंबर नहि पै रहे छाई जी।
ऐसौ दान देवो कौन, कोउ सति गुरू बिना,
और कउ न जाचीए बिना गोबिंद राई जी।

आनंदपुर महिमा

पूरन पुरष अवतार आन लीन आप,
जाके दरबार म० (?) चितवै सा पाईद।
घटि घटि बासी अबिनासी नाम जाको जग,
करता करनहार सोई दिखराईए।
नैमो गुरुनंद जगबंद तेरा त्याग पूरे,
मंगल सुकवि कहि मंगल सुधाईए।
आनंद को दाता गुर साहिब गोबिंद राई,
चाहै जै आनंद तै आनंदपुर आईए॥

अमृतराई

अमृतराइ लाहौर का रहनेवाला पंजाबी था। इसके पिता का नाम छैलराइ था। लाहौर से इन्हें इतना लगाव था कि किसी भी मूल्य पर इसे छोड़कर जाने को तैयार नहीं थे, इनकी यह पंक्ति 'पाइए करोर तउ न जाइए लाहौर तें' अभी भी प्रसिद्ध है। पूर्ण छंद इस प्रकार है –

बाढ़त पुरान कहूँ नाचत निरतकारी, गावत हैं गीत कहूँ मीठी धुनि मोर ते।
कौतक कहानी केल जहाँ जहाँ हासी खेल, साधन सों मेल, डर हैं न ठग चोर ते।
लौने लौने रूप सभ भूप भेष देखीयत, अमृत सहज सुख साँझ और भोर ते।
रति पति भोग तहाँ रोग ना बियोग भोग, पाइए करोर तौ न जाइए लाहौर ते।

परंतु गुरू गोबिंद सिंह जी की प्रशंसा सुनकर इनके मन में भी इनके दर्शनों की अभिलाषा उत्पन्न हुई और वह आनंदपुर आए। वहाँ गुरू जी के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि वहीं रहकर उनकी प्रशंसा में काव्य रचना करने लगे। गुरू दरबार में इन्हें अच्छा संमान प्राप्त हुआ। और गुरु जी की आज्ञा से इन्होंने महाभारत के सभापर्व का व्रजभाषा में अनुवाद किया। इस ग्रंथ की लिपि गुरुमुखी ही है। भाई संतोष सिंह ने सूरज प्रकाश में करण पर्व की रचना का उल्लेख किया है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो करणपर्व का अनुवाद हंसराम द्वारा हो गया था, दूसरे स्वयं इनके ग्रंथों से एवं 'गुरू विलास' से भी यही सिद्ध होता है कि इन्होंने सभापर्व का 'सभा परब' नाम से अनुवाद किया, यथा –

सभा परब तातें बनवायो, स्रवण जोग कविता मन भायो,
साठ सहस्र रुपया दीना, सिरोपाउ पशमंबर भीना।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस कवि को भी गुरु जी ने बहुत दान दिया था। 'गुरु विलास' से यह भी पता चलता है कि इन्होंने इस ग्रंथ से पूर्व नवरसों पर एक चमत्कारी ग्रंथ की रचना भी की थी, जो अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'चित्र विलास' नाम का एक और ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में लाहौर, इरावती (रावी) आदि की प्रशंसा में भी छंद लिखे हैं। इन्होंने गुरू जी की दानशीलता, उदारता, यश, पराक्रम आदि के साथ आनंदपुर का भी सुंदर वर्णन किया है। कवित्त, छप्पय, सवैया आदि का ही अधिक प्रयोग किया है –

(एरावती नदी का वर्णन)

गंगा जू के संग की तरंगनी तरंग अंग,
करे पाप भंग वामैं नैक जू अनाइए।
मच्छ कच्छ ततकाल भौरन में भ्रमैं व्याल,
मंगल कराल होत कहाँ लौ सुनाइए।
तीर तरु ललित बलित बेलि फूल फल,
चक्रवाक सारस मराल मन भाइए।
पापी जात तर अरु तुरत ही जात तर,
ऐसी ऐरावती लोक लोकन में गाइए।

(गुरू जी के अनेक गुणों का वर्णन जिसमें उन्हें नवरसों की साकार मूर्ति दिखाया गया है।)

प्रिया प्रेम से शिंगारी, हास्य सों विनोद भारो,
दीनन पै करुणा: अनुसारी सुख दीनो है।
कीनो अरि रुंड मुंड रुद्र रस भरयो भुंड,
फौजन सुवारन में वीर रस कीनो है।
डंक सुन लंक भयभीत, शत्रु वाम निंदा,
विक्रम प्रबल अद्भुत रोस लीनो है।
ब्रह्म ग्यान सम रस अम्रित विराजै सदा,
श्री गुरू गोविंद राइ नवो रस भीनो है।

सैणा

सैणा गुरू गोविंदसिंह के दरबार का लिखारी था। इससे एक बार कुछ अपराध हो गया। वह क्षमा माँगने के स्थान पर दरबार से भाग गया। वह अक्षर बहुत सुंदर लिखा करता था, इसलिए गुरू जी उससे बहुत प्रसन्न रहते थे। उसके चले जाने पर गुरू जी उसे कई बार याद किया करते थे। सैणा कविता भी अच्छी कर लेता था। कुछ दिन घर रहकर उसने कुछ छंद गुरू जी को लिख कर भेजे, जिन्हें पढ़कर गुरू जी ने उसे क्षमा कर दिया और फिर उसे लिखने के कार्य पर लगा दिया। एक नमूना यह है –

दोहा

जब के प्रभु ते बीछुरे, कीयो क्रिषि को ठाट।
विषमन संगति हम करी भए जाट के जाट॥

चौपाई

अब का मुख प्रभु कउ दिखराऊँ,
सिमर नाम नित आनंद पाऊँ।
गुरू गति अगम जाण नहिं जाई,
नारदादि की मति भरमाई।

चंदन

चंदन जाति का ब्राह्मण था। गुरू गोविंदसिंह जी की उदारता, वीरता, दानशीलता, तथा विद्वत्ता एवं गुणग्राहकता की प्रशंसा सुनकर वह भी उनके दरबार में आश्रय पाने की इच्छा से आनंदपुर आया और गुरू जी से प्रार्थना की कि यदि मेरे एक सवैये का अर्थ आपके दरबार का कोई कवि बतावे तब वह उसकी योग्यता को माने, और यदि उस सवैये से स्वयं कवि की योग्यता का कुछ परिचय मिल जाए तो उसे भी आश्रय देने की कृपा की जाए। वह सवैया इस प्रकार है –

नव सात तिये, नव सात किये,
नव साति पिये, नव सात पियाए।
नव सात रचे, नव सात बदे –
नव सात पिया पहि दायक पाए।
जोत कला नवसातन की –
नव सातन को मुख अंचर छाए।
मानहु मेव के मंडल में –
कवि चंदन चंद कलेवर छाए॥

इस सवैये को सुनकर गुरू जी मुस्कराए और कहने लगे कि इस प्रकार के सवैयों का अर्थ तो हमारे दरबार के कवि कर देते हैं। इस पर उन्होंने अपने कवि घन्नासिंह को बुलाया और सवैये का अर्थ करने को कहा। उसने तुरंत इसका अर्थ कर दिया। यह देखकर चंदन बड़ा चकित हुआ और लज्जित भी। फिर भी गुरू जी ने उसे अपने दरबार में रख लिया। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला।

घन्नासिंघ

घन्नासिंघ गुरू गोविंदसिंघ जी के दरबारी सेवकों में था। कभी कभी कविता भी कर लिया करता था। परंतु उसका कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। चंदन कवि का मान, जिसे अपनी कविता का बड़ा अभिमान था, इसीके द्वारा भंग हुआ था। चंदन के कहने पर उसने यह चमत्कारपूर्ण छंद उसे सुनाया, जिसका वह अर्थ नहीं कर पाया था —

मीन मरे जल के परसे,
कबहूँ न मरे पर पावक पाए।
हाथी मरे मद के परसे
कबहूँ न, मरे तन ताप के आए।
तीय मरे पिय के परसे
कबहूँ न, मरे परदेस सिधाए।
गूठ मैं बात कही दिजराज
विचार सके न, बिना चित लाए॥
कउल मरे रबि के परसे
कबहूँ न, मरे ससि की छबि पाए।

मित्र मरे मित के मिलवे
कबहूँ न, मरे जब दूर सिधाए।
सिंघ मरे जब मांस मिले
कबहूँ न, मरे जब हाथ न आए।
गूठ मैं बात कही द्विजराज
विचार सके न बिना चितलाए॥

'सुंदर'

इस कवि का नाम भी गुरु गोविंदसिंह के दरबारी कवियों में आया है। मिश्र बंधुओं तथा आचार्य शुक्ल ने जिस सुंदर कवि का उल्लेख किया है, उससे यह सुंदर भिन्न है। इसके नाम के कुछ छंद मिलते हैं जिनमें गुरु जी के प्रताप, यश, दानशीलता, उदारता, पराक्रम एवं गुणग्राहकता आदि का वर्णन है। दो छंद नीचे दिए जाते हैं।

कवित्त

साधन को सिद्ध शरणागत, समर सिंधु,
सुधाधर 'सुंदर' सरस पद पायो है।
कुल को कलस, कवि कामना को काम तरु
कोप कीए काल, कवीयन गुन गायो है।
देवन मैं, दानव मैं, मानव, मुनिनि हूँ मैं,
जाको जस जाहर जहान चलि आयो है।
तेग साचो, देग साचो, सूरमा शरण साचो,
साचो पातिसाहु गुरु गोविंद कहायो है।

(२)

वेदन मँहि शाम सुनो, सिंधु मिरजादा मेरु
मंडल मही मैं, गुरिआई गुन गाए हो।
शरम के सागर, सपूतन के सिर मौर,
सुंदर सुधासर से 'सुन्दर' गनाए हो।
रचन में दान बानि बानी हरिचंद की सी,
बिदत विनय बड़े वंस चलि आए हो।
तेज को तरनि तरवार को परसराम,
गुरन मँहि ऐसे गुरु गोविंद कहाए हो॥

'शारदा'

भाई वीरसिंह ने लिखा है कि इस नाम के दो कवियों का पता चला है, पर इनमें गुरु जी के दरबार में भी कोई था यह अभी तक सिद्ध नहीं हो सका। भाई संतोषसिंह के गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ में दो छंद 'शारदा कहित' से आए हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'शारदा' का अर्थ सरस्वती है, इसलिए सरस्वती को संबोधित करके स्वयं संतोषसिंह द्वारा ही

यह लिखे गए जान पड़ते हैं। किन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं, निश्चय है इस नाम का कोई कवि गुरू दरबार के कवियों में रहा है। इन छंदों में इन्होंने गुरू जी के गुणों की ही प्रशंसा की है। छंद –

दिश दिश देश देश ऐश दिगपाल केते,
 आज करे काल केते गुनहू गहति हैं।
प्रबल प्रतापी पातशाह साचे सुनी अति,
 तेरे सिर भार भू को शारदा कहित हैं।
ओजन के सूर महा मोजन सों घेर मार,
 और न विचार कीजै, दारिद दहति है।
हर माँगे बर देतिं, माँग गुरू गोबिंद को,
 करतार माँगे करतार दे रहत हैं॥

(२)

(गुरू जी की छड़ी की कृष्ण की वंशी से समता)

कुंज कुंज गलिनि बजाई बन बाँशरी सी,
 उनहीं के संग सोई शारदा कहति हैं।
जमना के तट बंसी बट के निकट सोई,
 तट सतुद्रव[५] आन साहिबी कुरत है।
देखो भूप भूपनि के भूप के भगत लोगों,
 भाग या छरी के मो सों कहिबे बात है।
कान्ह कै औतार यो तौ मुक्खही रहत लागी,
 कोबिद है औतरयो तो हाथ ही रहत है।

टहिकण

टहिकण कवि जलालपुर के रहने वाला था। इसके पिता का नाम रंगीलदास था तथा वह जाति के चोपड़ा क्षत्री थे। काफी समय तक वह सिपाही रहे और साथ ही काव्य रचना भी करते रहे। उसके बाद वह गुरू गोबिंद सिंह जी के दरबार में आ गए और उनके आश्रय में रहकर काव्य रचना करने लगे। वह संस्कृत के भी ज्ञाता थे। यह सब स्वयं उनके एक छंद से ज्ञात होता है, छंद इस प्रकार है।

टहिकण कवि जलालपुर बासी,
छत्रि धरम 'नंदलाल' उपासी।
पिता रंगीलदास जिह नामा,
ग्यात चोपरा कुर्ल अभिरामा।
समैं पाई करि गयो सिपाई,
है क्रित भाषा करी तहाँ ही।

५. सतलुज

प्रथम सहसकित सुति सुनि लीनी-
ता पाछे भाषा बर कीनी।

(अश्वमेध – अध्याय ७३)

इसी छंद से यह भी स्पष्ट है कि इन्होंने अश्वमेध भाषा ग्रंथ की रचना की। जिसका रचनाकाल कवि ने अषाढ़ वदी त्रयोदशी दिन बुधवार संवत १७२६ दिया है। यह ग्रंथ महाभारत के 'अश्वमेध पर्व' का भाषानुवाद ही है।[६]

संवत सर दस सपत शत, अधिक वरष षट बीस।
थित त्रयोदशी अषाढि बदि बुधि बासुर शुभदीस।

बरने कथा सुधा रस सानी
कहौं जथामत उकत कहानी
प्रथमैं सुरभाषा सुनि लीनी
दोहा सरस चउपई कीनी।
कहूँ कवित सोरठा की गति
टहकन वरनन कीओ अलप मति॥

यह ग्रंथ अधिकतर दोहा चौपाई में ही लिखा गया है, कहीं कहीं सोरठा कवित्त आदि का प्रयोग भी किया है।

सुदामा

गुरू गोविंदसिंह जी के दरबार में सुदामा नाम का एक ब्राह्मण कवि था। वह बुंदेलखंड का रहने वाला और अत्यंत निर्धन था। गुरू जी की दानशीलता एवं गुणग्राहकता को सुनकर वह आनंदपुर आया और गुरू जी को कृष्ण का अवतार कहते हुए तथा अपनी द्वापर की मित्रता की दुहाई देते हुए आश्रय देने को प्रार्थना की – वह छंद नीचे दिया जाता है। इसे सुनकर गुरू जी प्रसन्न हो गए तथा अपने आश्रित कवियों में इसे भी रख लिया।

(कवित्त)

एक संग पढे अवंतका संदीपन के,
सोई सुध आई तो बुलाई बूझी बामाँ मैं।
पुंगीफल होत तो असीस देतो नाथ जी को,
तंदुल ले, दीजै, कंध लीजै फटै जामा मैं।
दीन दुआर सुनि कै दयाल दरबार मिले,
एतो कुछ दीनो पाइ अगनत सामाँ मैं।
प्रीति करि जाने गुरु गोविंद कै मानै,
तातें वहै तूँ गोविंद वहै बाभन सुदामा मैं॥

६. अश्वमेध भाषा ग्रंथ गुरु रामदास पुस्तकालय अमृतसर में उपलब्ध है॥ १॥

कुवरेश

कुवरेश गुरू गोविंदसिंह का दरबारी कवि था। भाई वीरसिंह ने इसे हिंदी का प्रसिद्ध कवि केशवदास ही बताया है। उनका कथन है कि औरंगजेब ने जब केशव को बलपूर्वक मुसलमान बनाना चाहा तो वह भागकर गुरू जी के पास आ गया और वहीं रहकर काव्य-रचना करने लगा। किंतु उनकी यह धारणा ठीक नहीं क्योंकि केशव तथा गुरू गोविंदसिंह के जीवन की तिथियाँ मेल नहीं खातीं। भाई संतोष सिंह ने भी इन्हें केशव ही माना है। परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर भारत की संतपरंपरा' में केशव के पुत्र कुँवर का उल्लेख किया है, जो गुरू जी को उनके पुत्र के जन्म पर बधाई देने के लिए आया था और वहीं रहकर काव्य रचना करने लगा था। यह विचार ठीक जान पड़ता है, क्योंकि कुवरेश ने अपना जन्म स्थान यमुना गंगा के बीच बरी गाँव को ही बताया है।

गंगा यमुना बीच में बरी ग्राम था नाम,
तहां सु कवि कुवरेस को वास करे को धाम।

गुरु दरबार में उसे मान-संमान प्राप्त हुआ और गुरु जी की आज्ञा से उसने महाभारत के द्रोणपर्व का सन् १७५२ में ब्रजभाषा में अनुवाद किया, उसका रचनाकाल इस ग्रंथ में कवि ने स्वयं इस प्रकार दिया है —

संवत सत्रह सौ अधिक बावन बीते और,
तामैं कवि कुवरेश यह कियो ग्रंथ को डौर।

इस ग्रंथ के अंत में सभी गुरुओं की वंदना की गई है –

बाहुज बेदी कुल भयो नानक गुरु अनूप,
जिनमें पूरे पाइए पारब्रह्म को रूप।
नानक सिख कीए तिहुन अंगद शुभ नाम,
भक्ति सरोरूह के भये जे रवि आठो जाम।
अंगद निज गुरुता दई भले भले विचार,
अमरदास को निज सकल दीनो जगत ऊधार।
अमरदास अपनो सकल गुरुता प्रभुता ग्यान,
रामदास को सभ दियो जो सोठी सुलतान।
अरजुन विक्रम नाग हूँ अरजुन जग पुरहूत,
निज जग जस अरजुन कियो रामदास के पूत।
अरजुन सनु ऊदार मवि हरिगोविंद नरिंद,
जिन हरिलो मारे निखिल बैरी प्रबल करिंद।
छोड्यो गुरूदित्ता जू जग माया विसतार,
तिनके सुत हरिराय को दीनो गुरता भार।
भए सनु हरिराय के गुरू अत्रिस हरिक्रिश्न,
तज्यो जबे तिनहूँ जगत तबहि करी यह प्रश्न।
गुरुता प्रभुता को उचित तेग बहादर एक,
नारायन जा पर कियो भक्ति सुधा की सेक।

निज जन कैरव सुख करन तेग बहादर चंद,
जिन भव पारावार के दूर कियो दुख द्वंद।
गुरु गोबिंद नरिंद हैं तेग बहादर नंद,
जिन ते जीवित हैं सकल भूतल कविबुध ब्रिंद।
नदी सतंद्रु तीर तहिं शुभ अनंदपुर नाम,
गुरु गोबिंद नरिंद के राजत सुभग सुधाम।
गंगा जमना के बीच में बरी ग्राम को नाम,
तहाँ सुकवि कुवरेश को वास करै को धाम।

इनका एक और छंद देखिए जिसमें गुरु गोबिंदसिंह की प्रशंसा की गई है —

सुना निथावन को तुम थान
सदा निमानन के बड मान।
अहो नितानन के तुम तान
अस सोभा को कथै जहान।
तुरक तेज ते बिन बल हिंदू,
धरम बिनासत मेलत ब्रिंदू।
महा त्रास ते मैं चलि आयो,
चहत आपनो धरम बचायो।

इस छंद से भी पता चलता है कि धर्म रक्षा के लिए वह गुरु जी के पास आश्रय पाने के लिए आया था। यह प्रार्थना सुनकर गुरू जी ने उसे अपने आश्रय में रख लिया।

आलम

हिंदी के प्रसिद्ध कवि आलम का रचनाकाल आचार्य शुक्ल ने संवत १७४० से १७६० तक माना है। उनके कथन के अनुसार वह औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रय में रहते थे। शुक्ल जी ने यह भी माना है कि आलम ने हिंदी के अतिरिक्त उर्दू में भी कविता की है। परंतु यह तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल ही रहा कि आलम की व्रज भाषा में लिखी बहुत सी कविता गुरुमुखी लिपि में भी मिलती है। आलम १७६० के पश्चात् पंजाब गुरु गोविंद सिंह के दरबार में आ गए थे और वहीं रहकर काव्य रचना करने लगे थे गुरु गोविंदसिंह के 'विचित्र नाटक' से भी यह स्पष्ट है कि आलम उनके दरबार में रहा था –

'जब बल पार नदी के आयो
आन आलमे हमैं जगायो' (विचित्र नाटक)

शुक्ल जी ने उसके आलमकेलि ग्रंथ का ही उल्लेख किया है। आलम का एक ग्रंथ 'माधवानल कामकंदला' भी है जो 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय', अमृतसर में उपलब्ध है। आलम प्रेमोन्मत्त कवि थे, जिनके एक एक वाक्य में 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' पाया जाता है, यही कारण है कि इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' जैसे प्रेमकाव्य की रचना की। यह ग्रंथ बोध कवि की इसी नाम की संस्कृत पुस्तक का अनुवाद जान पड़ता है। इसका रचनाकाल १७७४ है। 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में एक पुस्तक 'तिलक शतक' भी आलम की ही लिखी

जान पड़ती है। इनका कविता का एक नमूना देखिए। इसमें आपने गुरु गोविंद सिंह की प्रशंसा की है —

शोभा हू के सागर, नवल नेह नागर है,
बल भीम सम, सील कहाँ लौं गनाइए।
भूमि के विभूषण, जु दूषन के दूषन,
समूह सुख हूँ के मुख देखे ते अघाइए।
हिंमत निधान, आनदान को बखाने ? जाने,
आलम तमाम नाम आठों गुन गाइए।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरू गोविंद जी,
भोज की सी मौज तेरे रोज रोज पाइए ॥

आशासिंह

आशासिंह गुरू गोविंद सिंह के दरबार में पेशाकार था, जो बहुत चरित्रवान तथा इमानदार था, इसलिए गुरू जी का बड़ा प्रिय था वह कुछ कवि भी था। एक बार एक व्यक्ति जिसे अपनी लड़की का विवाह करना था, इनके पास आया और गुरू की दुहाई देकर सहायता करने की प्रार्थना की। उसकी दयनीय अवस्था देखकर यह द्रवित हो गए और जिस स्थान का वह व्यक्ति था, वहाँ के एक सिख व्यापारी के नाम ५००) का टोवूं (हुँडी) लिख दी। उस व्यक्ति का काम तो हो गया। पर गुरू जी को कुछ समय पश्चात् जब उस सिख व्यापारी से इस बात का पता चला, तो उन्हें बड़ा दुख हुआ कि आशासिंह ने उन्हें पूछे बिना ही टोवू लिखकर उस पर उनकी मोहर लगा दी। जब आशासिंह को गुरु जी की नाराजगी का पता चला और देखा कि अपनी सफाई देने का कोई उपाय नहीं, तो वह अपना कार्य किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपकर स्वयं अपने घर में जा छिपा। वह पश्चात्ताप एवं ग्लानि से दिन रात दुखी रहता था। सोचता था कि यद्यपि उसने भलाई का काम किया और परोपकार करना प्रत्येक सिख का कर्तव्य है, पर साथ ही उसने अपने प्राथमिक कर्तव्य को भी तो पूरा नहीं किया और यह एक प्रकार से बेईमानी ही है, इसीलिए उसे बदनाम होना पड़ा। बहुत सोच विचार कर अंत में उसने निर्णय किया कि गुरू जी दयालु, क्षमाशील, उदार तथा विद्वानों के गुणों के प्रशंसक है, क्यों न उनके संमुख सारा विवरण देते हुए स्वयं क्षमा याचना करूँ और उसने इस प्रकार कविता में ही अपनी प्रार्थना लिखकर भेजी –

दोहा

मुख कारा मेरो करै, करत न पर उपकार।
ताहू को मन करत निज, कारो बदन निहार।
फट छाती दो टूक भई, रूदन-करत लिख जात।
पर स्वारथ उपकार बिन, मुझे न सुपने शांत ॥

चौपाई

यो लिखनी बच है बर रहा, सो पकराई गुरू मुरकरा।
यो रूपकार नाथ ना करों, तदपि तुम ते बहु बिधि डरों।

यो सिख तुमरी दई दुहाई, तौ मम टोबू दयो कराई।
भूजन मद्ध सदा इह जंतु, सतिगुर है बखशंद बिअंत।
मेरी खता डर नहिं जानहु, अपनो लीजै बिरद पछानहु।
सरब लच्छ जग मैं इह तोरी, खावंतु मुंच जीव करि जोरी।

गुरू जी यह सुनकर प्रसन्न हो गए और उसे फिर से उसका काम सौंप दिया। इनका समय भी १७५० के निकट का ही है।

ननुआ जी

ननुआ नयें गुरु तेगबहादुर की सेवा में रहा करता था। फिर गुरु जी की आज्ञा से लाहौर के एक फकीर नारायणी की सेवा में लगा रहा। उनसे अवकाश लेकर अपने घर चला गया तथा वहीं अपने एक मित्र कन्हैया के कहने पर उसने गुरु स्तुति, प्रेम, उपदेश तथा ज्ञान संबंधी कुछ छंद लिखे। भाई मोहनसिंह ने इस कवि का नाम पंजाब के कुछ अन्य कृष्णभक्त कवियों – भवनदास, ग्वालदास, भगवान, बालकृष्ण, रसक लाल, अनंतदास, मनहर माधो, जोगी – आदि के साथ लिया है।[७] किंतु कृष्ण - भक्ति - संबंधी इसका कोई ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। गुरु - प्रशंसा - संबंधी इसका छंद यहाँ दिया जाता है —

लोचन निपट लालची मेरे।
भुक्खे धावें तिपत न पावें
सदा रहैं गुर सूरत घेरे।
जोड़े हाथ अनाथ नाथ पहि
अपने ठाकुर केरे घेरे।
हेर हेर ननुआ हैराना
गुर सूरत विच हरि जी हेरे।

चंद कवि

चंद नाम का एक कवि गुरु गोविंद सिंह के दरबार में रहता था। वह लाहौर का रहने वाला था। भाई कान्हसिंह ने 'चंद' को महाभारत के पर्व का अनुवाद करने वाला गुरु-दरबार का एक सुनियारा कवि माना है। इससे अधिक इनके जीवन के संबंध में ज्ञात नहीं। इनके जो छंद मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वह सब गुरुओं को एक ही रूप मानते थे। यथा–

कल मैं भइओ एक मरद नानक है नाम जाको
तातें भए नो एक जोती सुहाइओ है।
फेर गुर गोबिंद सिंघ कलगी अवतार होए
खडग धारी होइ महल दसवां कहाइओ है।
तेईअन मैं आए बीच पैठे समाए
गुर दुनीआं बसाइ जाए पाऊँटा बसाइओ है।

७. इंट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर, पृ० १५७।

सतिगुर बचन सार मरद गुरका विचार
गोबिंदसिंह क्रिपा ते दास चंद सुनाइओ है।

छप्पय

गुर नानक अंगद अमरदास
रामदास गुर अरजन धारिओ।
गुरू हरिगोबिंद हरिराइ
गुरू हरिक्रिशन बिचारिओ।
गुर तेग बहादर भइयो नाम जिन इक मन लीनो।
शबद गुरू उपदेश दान संगत कउ दीनो।
कलाधार गुर गोविंद सिंघ भए
प्रगट भई कल मैं सिक्खी।
जैकार भइओ ठैलोक मैं
जो बिरद पैज सतिगुर रक्खी।।

इन कवियों के जीवन एवं साहित्य के संबंध में अभी बहुत कम ज्ञान है। इस दिशा में अधिक खोज एवं अध्ययन की आवश्यकता है। इन कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से हिंदी कवि पंजाब में हुए हैं। हस्तलिखित पुस्तक जो 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में है, उसमें पंजाब के कुछ हिंदी कवियों के यह नाम दिए गए हैं – वली, सय्यद, तेजभान, आलम, राजाराम, सालगराम, गोकल, साईदास, चंद, जादो, केशो, चंदा, गियान नंदलाल, गोनाल, बिहारी, बालमीक, देवा, नानक, महानंद, आडा, जगतभान, फतामीयाँ, लारडी, खियानी तथा सुरंग। इस प्रति में इन कवियों की रचनाओं के नमूने भी दिए हैं। निश्चय ही खोज करने पर इनके ग्रंथ भी मिल सकते हैं। डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक पंजाबी साहित्य की भूमिका में कृष्ण भक्ति धारा के कुछ पंजाबी कवियों के नामों का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह कवि हिंदी के प्रसिद्ध कवियों से किसी भांति कम नहीं थे।

डा० मोहनसिंह ने राम तथा श्याम – दो और गुरू जी के दरबारी कवि माने हैं। 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में जन्म साखी (दौलतराय), महाकारज परीक्षा (सोंधा कवि), अध्यात्म रामायण (गुलाबसिंह), होली - गजलों - रुबाइयाँ (नंदलाल गोया), सुदामा चरित (साधुजन), रासलीला (दाना) तथा 'गुरू रामदास पुस्तकालय' अमृतसर में हितोपदेश (तनसुख), बाट अमृतसर जी की (दर्शनसिंह), सभा प्रकाश (संवतसर कवि) भक्तमाल (नाभाजी का गुरुमुखी रूपांतर), भगवत गीता (गोविंद), तत्वविवेक पद दीपिका भाषा (भाई जयरामदास) आरती तुलसी जी की (सांइदास), अवगतोलास (दयाल अनेमानंद) एवं तिलक शतक, सूर रत्नावली, अंग फुरने के फल जैसे ग्रंथ भी देखने को मिले है। कहना न होगा कि हिंदी के सैकड़ों ग्रंथ (गुरुमुखी लिपि में) पंजाब के विभिन्न पुस्तकालयों एवं लोगों के पास बिखरे पड़े हैं। हिंदी साहित्य का ठीक स्वरूप निर्मित करने के लिए तथा विभिन्न समयों में हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए हिंदी के इस साहित्य की खोज एवं अध्ययन की आवश्यकता है।

*

वि म र्श

भक्तमाल का रचनाकाल

संत नाभादास कृत भक्तमाल में जिन भक्तों के चरित्रों का वर्णन हुआ है उनमें से अनेक हिंदी के उत्तम कोटि के कवि हैं। एतदर्थ उनके संबंध में नाभादास जी की भक्तमाल का साक्ष्य उपयोग करने के लिए उसके रचनाकाल का निर्णय करने के हेतु हिंदी साहित्य के इतिहास में रुचि रखनेवाले अध्येता प्रयत्नशील रहे हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में (पाँचवें संस्करण का पृ० १४७) नाभादास जी का परिचय देते हुए लिखा है –

"इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ में प्रियादास जी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे हैं।"

उक्त सूचना में जो छप्पय-संख्या ३१६ दी गई है वह ठीक प्रतीत नहीं होती। मेरे पास की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में १९७ छप्पय ही हैं। इस प्रति में प्रियादास जी की रसबोधिनी टीका के कवित्त उक्त संख्या से अतिरिक्त हैं। प्रियादास जी की रसबोधिनी टीका का रचनाकाल १७६९ इन शब्दों में अंकित है –

संवत् प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर,
फाल्गुन मास बदी सप्तमी बितायकें।
नारायन दास सुख रासि भक्तमाल लैकें,
प्रियादास उर बसौ रही छायकैं।।

इससे इस प्रसंग में इतना ही निष्कर्ष निकाला जा रहा है कि संवत् १७६९ के पूर्व भक्तमाल की रचना हुई थी।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की १९१७ – १९ की खोजरिपोर्ट में सूचना संख्या ११७ में उक्त भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६५२ वि० दिया गया है। किंतु किस आधार पर ऐसा उल्लेख वहाँ हुआ है, इसका कोई संकेत वहाँ नही मिलता। भक्तमाल की रचनाशैली तथा परिचयात्मक वर्णनों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि इस ग्रंथ के लेखन में कुछ सूचनाओं का संकलन भी संत नाभादास जी को करना पड़ा होगा। इससे ग्रंथ में रचयिता द्वारा किसी संकेत के अभाव में एक संवत् विशेष का मान लेना उपयुक्त न होगा।

अपने ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य' के पृ० ३१५ पर श्री श्यामसुंदरदास जी ने नाभादास जी को संवत् १६८० तक जीवित होना प्रकट किया है किंतु आचार्य शुक्ल जी ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक नाभादास जी का जीवित रहना बताया है। गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु संवत् १६८० में हुई थी। अतः आचार्य शुक्ल जी के मत से नाभादास १६८० के बहुत बाद तक जीवित रहे। उक्त दोनों मतों के समर्थन में कोई प्रमाण वहाँ प्रकट नहीं किए गए।

भक्तमाल में निम्न छप्पय भगवत् मुदित जी के संबंध में भी लिखा गया है –

कुंजबिहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै।
दंपति सहज सनेह प्रीति पर नित परकासै।

अननि भजन रस रीति पुष्ट मारग करि देखी।
विधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय विसेखी।
माधव सुत संमत रसिक, तिलम दाम धरि सेव लिय।
भगवंत मुदित उदार जस, रस रसना आस्वाद किय॥

भगवत मुदित जी 'सूबा' के दीवान रहे। अतः 'कुंजविहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै' वाले चरण में निहित परिचय उनके घर त्याग कर वृंदावन में आने के उपरांत की भावनाओं को प्रकट करता है। संवत् १७०७ के प्रारंभ में भगवत मुदित जी ने प्रबोधानंद सरस्वती कृत श्री वृंदावन-महिमामृत की भाषा पद्यानुवाद प्रस्तुत किया था –

संवत् दस पै सात सै अरु सात बरस है जान।
चैत मास में चतुर वर भाषा दियौ बखान॥

अतः भगवत् मुदित का भक्त रूप में प्रादुर्भाव १७वीं शताब्दी के अंत में माना जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी एवं भक्त कवि चतुर्भुजदास जी की बारह रचनाएँ द्वादश यश के नाम से प्राचीन काल से ही प्रचलित है। इनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। द्वादश यश में संग्रहीत तीसरे यश का नाम है 'भक्ति प्रताप यश' यह तीसरा यश इनका बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ है और उसकी अलग से भी प्रतिलिपियाँ हुई। भक्ति प्रताप यश में चार चार त्रिपदी छंद के १५ बंद हैं। प्रत्येक बंद का अंतिम चरण 'भक्ति प्रतापहिं गाइहौं' आता है। अतः छंदों का यह चरण स्मृति में सहज रूप से घर कर सका।

नाभादास जी ने अपनी भक्तमाल में राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी इन्हीं चतुर्भुजदास जी के परिचय में जो छप्पय लिखा है उसमें भी इनके द्वारा भक्ति प्रताप के गाए जाने का उल्लेख है यथा –

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ॥
मुरलीधर को छाप कवित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अंघिरेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनंद में प्रेम रहत भीजौ हियौ।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौड़ देश तीरथ कियौ॥

यद्यपि भक्ति प्रताप यश नामक रचना में उसका रचनाकाल नहीं दिया गया है तथापि उसी द्वादश यश ग्रंथ की दूसरी रचना 'धर्म विचार यश' में उसका रचनाकाल संवत् १६८६ इस प्रकार दिया गया है –

संवत् सोरह सौ चौरासी, अधिक द्वै बरस सिरानी जू।
मुरलीधर वर भक्त चतुर्भुज दास प्रताप बखानी जू॥

इस द्वितीय यश के प्राप्त रचनाकाल से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तृतीय यश भक्ति प्रताप की रचना भी इसीके आसपास हुई होगी। फलतः नाभादास जी के उक्त छप्पय की रचनातिथि भी उस संवत् के पूर्व की नहीं मानी जा सकती। इस आधार पर भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६८६ के पश्चात् ठहरता है।

— वासुदेव गोस्वामी

*

समीक्षा

भारतीय भाषाविज्ञान

"मैं पढ़ता कम हूँ, 'जुगाली' ज्यादा करता हूँ," ये शब्द आचार्य श्री किशोरीदास वाजपेयी ने प्रायः इन पंक्तियों के लेखक से कहे हैं। और इसी 'जुगाली' के फलस्वरूप इधर दो ग्रंथ आचार्य वाजपेयी के (हिंदी-शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा तथा भारतीय भाषाविज्ञान, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी) सामने आए हैं। जिन्होंने वाजपेयी जी को बहुत निकट से देखा है, वे जानते हैं आप निरंतर कितना चिंतन किया करते हैं; छोटे से छोटे शब्द को कितना सोचते हैं और कोई स्वतंत्र हल मिलने पर उसे तर्कपूर्वक सबके समक्ष रखते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने भारतीय भाषाविज्ञान पर स्वतंत्र चिंतन किया है। स्वतंत्र चिंतन वाजपेयी जी के लिये अधिक सुकर है। वे अंगरेजी नहीं जानते अतः उनके चिंतन की पृष्ठभूमि में कोई पूर्वाग्रह का आवरण नहीं रहता। अस्तु,

प्रस्तुत ग्रंथ आठ अध्यायों में विभक्त है। पहले में उन्होंने भाषा, भाषाविज्ञान, उसके इतिहास, शब्द आदि का विवेचन किया है, दूसरे में शब्द-निरुक्ति, वर्णागम, वर्णविवेचन आदि का निरूपण है, तीसरे में भाषा का विकास, वेद, अवेस्ता, धम्मपद आदि की भाषाओं को लिया है, चौथे में प्राकृत तथा आधुनिक जनभाषाओं के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, पाँचवें में हिंदी तथा उसके उपभेदों की व्याख्या है, छठे में भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण पर विचार किया गया है, सातवें में दक्षिण की भाषाओं तथा लिपिभेद आदि की समस्याओं का समाधान है और आठवें अध्याय में भाषा और बोलियाँ, साहित्यिक भाषा, जनभाषा एवं राष्ट्रभाषा आदि गृहीत हैं। अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत शब्द, अर्थ और ध्वनि : लोप तथा आगम आदि पर वाजपेयी जी ने अपने विचार रखे हैं। आरंभ में लेखक ने विशद भूमिका में अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया है।

सभी कुछ बड़ी सरल सुबोध भाषा में उपस्थित किया गया है। दुरूहता तो वाजपेयी जी की शैली में है ही नहीं। विद्वानों द्वारा इस ग्रंथ का समुचित अनुशीलन होना चाहिए। इस से तत्त्वबोध होगा और भाषाविज्ञान का अध्ययन-अनुशीलन विकसित होगा। हो सकता है वाजपेयी जी की सभी मान्यताएँ विद्वानों को स्वीकार्य न हों। पर विश्वविद्यालयों में इस विषय के अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से वाजपेयी जी के सिद्धांत भी तुलनात्मक अध्ययन के लिये आवश्यक हैं।[1]

आत्मनिरीक्षण

इधर हाल के अनेक महत्व के प्रकाशनों में सेठ गोविंददास का 'आत्मनिरीक्षण' भी है। नाम से ही स्पष्ट है कि इस विशाल ग्रंथ के प्रथम खंड में आत्मचरित, वंश-इतिहास आदि के

१. **भारतीय भाषाविज्ञान**, लेखक — श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ-संख्या ३१८, मूल्य ६.२५ रु०।

साथ लेखक ने आत्मचित्रण तथा आत्म-परीक्षण का समावेश किया है। दूसरे तथा तीसरे खंडों में सेठ जी ने अपने राजनीति तथा साहित्य में लगे चालीस वर्षों की घटनाओं तथा अपने संपर्कों का सिंहावलोकन किया है। यह बताना अनावश्यक है कि महाजन परिवार में जन्मने और पलने के बावजूद सेठ गोविंददास ने देश-साहित्य-समाज-सेवा का मार्ग अपनाया। इसके लिये उन्हें कितने विरोधों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा – इसकी कल्पना उनके लिये असंभव नहीं जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभिक दिन तथा अँगरेजों का दबदबा देखा है। मेरा मतलब समाज के उस उच्च कहे जाने वाले वर्ग से है जिसका संपर्क इस प्रकार की परिस्थियों से होता रहा है। सेठ जी उसी समय से हिंदी के प्रबल समर्थक हुए और आज भी निर्भीकता पूर्वक हैं। उनके शताधिक नाटक उनकी साहित्यसेवा के साथ उनके विचारों के प्रतिनिधि हैं। उनके नाटक कैसे हैं, यह अलग बात है। पर यह निर्विवाद है उन्होंने नए नए प्रयोग किए हैं और लगन के साथ नाट्यसाहित्य की अभिवृद्धि को अपना माध्यम बनाया। सेठ जी किस कोटि का लिखते हैं, यह 'आत्म निरीक्षण' के पाठक को स्पष्ट हुए बिना न रहेगा।

मुख्यतः इस आत्मकथा में उनकी राजनीतिक गतिविधि का दिग्दर्शन है – महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए असहयोग आंदोलन का विस्तृत इतिहास। वस्तुतः इस प्रकार की आत्मकथाओं का यही उद्देश्य भी होता है। इनमें लेखक के निजी जीवन के बदले युगविशेष ही प्रधान होता है। इनमें वस्तुतः युग की 'आत्मकहानी' होती है जिसका प्रतिनिधित्व लेखक करता है। सेठ जी को बड़े से बड़े नेताओं के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हैं और इस आत्मचरित से उस युग की समस्याओं की अच्छी झलक मिलती है। अपने सुदीर्घ राजनीतिक-साहित्यक-सामाजिक जीवन का चित्रण सेठ जी ने बड़ी निर्भीकता से किया है। जो कुछ कहा गया है स्पष्ट कहा गया है। अपने व्यक्तिगत संबंधों में भी उन्होंने स्पष्टता बरती है। हम इस पुस्तक का स्वागत करते हुए आशा करते हैं कि पाठकों को यह पुस्तक रोचक लगेगी और इससे उनका ज्ञानवर्द्धन भी होगा। 'आत्मनिरीक्षण' होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक आत्मश्लाघा से मुक्त है।[२]

—राधाविनोद गोस्वामी

द्विवेदी - युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र

प्रस्तुत संस्करण में द्विवेदीयुग के प्रथितयश साहित्यकारों के वैयक्तिक तथा साहित्यिक जीवन से संबद्ध २३३ पत्रों का संकलन है। संकलित पत्रों में द्विवेजी के १०१, श्री पद्मसिंह शर्मा के ९७, पं० श्रीधर पाठक के ९, श्री बालमुकुंद के २४, पं० बालकृष्ण भट्ट के ५ और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ७ पत्र हैं, जो हिंदी साहित्य की संग्राह्य निधियाँ हैं। संपादक का यह कथन कि "किसी महान् साहित्यिक के वास्तविक व्यक्तित्व की जानकारी के लिए उसकी साहित्यिक कृतियाँ जितनी उपादेय हैं, उनसे कहीं अधिक उपादेय उसके वैयक्तिक पत्र हैं," सर्वथा सत्य है। हिंदी साहित्य में युगनिर्माता साहित्यकारों के पत्रों का संकलन-प्रकाशन उपेक्षणीय रहा है, जो किसी भी समृद्ध साहित्य के लिए लज्जास्पद है। प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में पं० किशोरी दास वाजपेयी, श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद', श्री विनोदशंकर व्यास आदि अग्रसर हैं।

२. **आत्म निरीक्षण** – लेखक, सेठ गोविंद दास; प्रकाशक, भारतीय साहित्य मंदिर – दिल्ली; पहला भाग पृ० ३००, मूल्य ६.०० रु०; दूसरा भाग पृ० ५००, मूल्य ८.०० रु०; तीसरा पृ० ३३१+६२, मूल्य ८.०० रु०।

द्विवेदीयुग ने साहित्य के निर्माण के साथ साहित्यकारों का भी निर्माण किया है। अतः उस युग के निःस्वार्थ साहित्यसेवियों के पत्रों को ग्रंथरूप में प्रस्तुत कर 'विनोद' जी ने प्रशंसनीय कार्य किया है। इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। यदि प्रत्येक साहित्यकार के एक एक पत्र का ब्लाक भी इस संग्रह में दिया गया होता तो इसकी महत्ता और बढ़ गई होती।[3]

—रामबली पांडेय

'नवनीत' का दीपावली विशेषांक

'नवनीत' हिंदी का अकेला मासिक डाइजेस्ट है जिसने जीवन के आरंभ से ही अपनी दिशा में एक रेखा खींची है। विदेशों में तो ऐसे चयन-पत्र बहुत हैं और उनकी खपत भी कम से कम भारत के लिए विस्मयजनक ही है। पर हिंदी में 'नवनीत' ही इस दिशा में अग्रणी है। प्रति मास इसमें अधिक से अधिक रोचक, ज्ञानवर्द्धक तथा सूचक सामग्री का संकलन रहता है। प्रस्तुत अंक विशेषांक होने के कारण ठोस सामग्री तथा आकर्षक साज-सज्जा से पूर्ण है। सामग्री की विविधता हर प्रकार के पाठकों को आकृष्ट करने में समर्थ है। संस्कृति, इतिहास, साहित्य और महत्वपूर्ण जीवनप्रसंगों का इसमें उत्तम समावेश है।

पाठ्यसामग्री के बीच विज्ञापनों का समावेश नहीं रुचा। उन्हें आदि तथा अंत में ही रखा जाए। दूसरा सुझाव हम यह देना चाहेंगे कि इसमें जहाँ से सामग्री का चयन किया जाय, उसका भी उल्लेख रहे।[4]

—रागो

*

३. द्विवेदीयुग के साहित्यकारों के कुछ पत्र, संपादक–बैजनाथ सिंह 'विनोद', प्रकाशक – हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद। पृष्ठ १६+२२२, सजिल्द मूल्य ५-०० रु०।

४. नवनीत (हिंदी डाइजेस्ट), संपादक — रतनलाल जोशी, नवनीत प्रकाशन, तारदेव, बंबई, पृष्ठ संख्या २५०, मूल्य २.००।

संपादकीय

श्रद्धांजलियाँ

कृष्णविहारी मिश्र

पंडित कृष्णविहारी मिश्र का निधन सत्तर वर्ष की वय में उनके गाँव सिधौली-गँधौली (सीतापुर) में गत २४ मई १९५९ को हो गया। प्राचीन हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञों और विशेषज्ञों में उनका प्रमुख स्थान था। रीतिकालीन काव्यधारा की समीक्षा में उनको विशेष ख्याति मिली। उक्त क्षेत्र में उनकी मान्यताएँ आज भी महत्वपूर्ण हैं। देव-विहारी, 'मतिराम-ग्रंथावली' तथा गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित आपकी कई साहित्यिक कृतियाँ हिंदी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं। मिश्रजी गंभीर एवम् चिंतनशील प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अपने विशिष्ट ग्रंथों, शोधपूर्ण निबंधों तथा बहुत दिनों तक माधुरी और समालोचक मासिक पत्रिकाओं के संपादन से उन्होंने हिंदी-साहित्य की अपूर्व सेवा की है। उनके परलोकवास से जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में संभाव्य नहीं दीख पड़ती।

ललिताप्रसाद शुक्ल

पंडित ललिताप्रसाद शुक्ल गत २५ मई १९५९ को साठ वर्ष की वय में जयपुर में स्वर्गवासी हो गए। शुक्ल जी ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए वंगभाषा क्षेत्र में राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रतिष्ठा एवम् गौरव की वृद्धि के निमित्त आपकी कार्यशीलता सर्वथा प्रशंसनीय रही है। वंगीय हिंदी-परिषद उनकी यशःकीर्त्ति है। उनके निर्देशन में परिषद ने कई महत्त्वपूर्ण हिंदी ग्रंथों का प्रकाशन किया है। जनभारती नामक शोधपूर्ण त्रैमासिक-पत्रिका निकालकर शुक्ल जी ने शोधक्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। वे सुलझे हुए समीक्षक तथा सफल प्राध्यापक थे। उनका विनम्र एवम् विनोदी स्वभाव सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उनके निधन से राष्ट्रभाषा हिंदी की बहुत बड़ी क्षति हुई है।

गोस्वामी गणेशदत्त

गोस्वामी गणेशदत्त जी का निधन सत्तर वर्ष की अवस्था में गत ६ जून १९५९ को हो गया। गोस्वामी जी राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य सेवक थे। पंजाब तथा सीमाप्रांत में हिंदी की उपेक्षा उनको सह्य नहीं हुई और उन्होंने राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए जो कार्य किया वह श्लाघनीय और अनुकरणीय है। उनकी हिंदी सेवाओं के कारण ही उन्हें हिंदी साहित्य संमेलन जयपुर के अधिवेशन का सभापति बनाया गया था। उनका कर्मठ जीवन त्याग तथा सेवा भावना से भरा हुआ था। राष्ट्रभाषा हिंदी के अन्यतम प्रचारक और कार्यकर्ता की अभी कितनी बड़ी आवश्यकता थी किंतु काल की करालता के समक्ष वश ही क्या है।

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का देहावसान ६२ वर्ष की वय में हो गया। वे संस्कृत के विद्वान् थे। मेयो कालिज छोड़कर वे काशी में आ बसे थे और काशी नरेश के राज पंडित थे। रस गंगाधर का उन्होंने परिश्रम पूर्वक प्रामाणिक हिंदी अनुवाद किया जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने १९८४–८५ संवत् में दो भागों में प्रकाशित किया था। संस्कृत के दिग्गज विद्वान होते हुए वे अनन्य हिंदी सेवी थे। उनका व्यक्तित्व एवम् व्यवहार बड़ा सरल था। नागरी प्रचारिणी सभा के प्रति उनका अगाध प्रेम था। वे वल्लभमत के मान्य व्याख्याता थे। उनके निधन से साहित्य-जगत् की अपार क्षति हुई है।

लोचनप्रसाद पांडेय

पंडित लोचनप्रसाद पांडेय का स्वर्गारोहण पचहत्तर वर्ष की अवस्था में गत १८ नवंबर १९५९ को रायगढ़ में हृदय की गति अवरुद्ध हो जाने से हो गया। वे हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यकार थे। आचार्य द्विवेदी युग के लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकारों में उनका प्रमुख स्थान था। १९२० में मध्यप्रदेश के प्रांतीय हिंदी साहित्य संमेलन की अध्यक्षता उन्होंने ही की थी। उन्होंने महाकोशल इतिहास-परिषद् की स्थापना भी की थी। साहित्य के साथ साथ इतिहास तथा पुरातत्व में भी उनकी विशेष अभिरुचि थी और राष्ट्रीय विचारधारा से उनका जीवन ओतप्रोत था। उन्होंने खड़ी बोली की कविता के माध्यम से राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना के उन्नयन में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। गद्य तथा पद्य लेख में उनकी समान गति थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और स्वाभाविक था। उनके निधन से द्विवेदी युग का एक स्तंभ धराशायी हो गया।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

अनेक साहित्यिकों के निधन के पश्चात् नागरीप्रचारिणी सभा के भूतपूर्व उप समापति तथा वाचस्पत्य सदस्य आचार्य लक्ष्मणनारायण गर्दे का देहावसान गत २३ जनवरी को हो गया। हिंदी-पत्र-कारिता के वे अन्यतम स्तम्भ थे, इसका परिचय हिंदी-जगत् को पर्याप्त है। जिस समय भारतीय राजनीति एवं पत्रकारिता से लोग जी बचाते थे उस समय गर्दे जी ने निर्भीकता-पूर्वक उसी को अपना जीवन-पथ चुना। गर्दे जी के पूर्वज पिछली शती में रत्नागिरि जिले आकर काशी में बसे थे और तभी से यह परिवार काशी वासी हो गया। वैवाहिक संबंध से आप श्री गणेश सखाराम देउस्कर के संपर्क तथा प्रभाव में आए। वे देउस्कर जी के द्वितीय जामाता थे। कम से कम पिछली पीढ़ी से परिचित जन श्री देउस्कर की 'देशेर कथा' तथा उनके क्रांतिकारी राजनीतिक विचारों को नहीं भूलेंगे। गर्दे जी अपने विचारों में झुकने वाले नहीं थे। इस से उन्हें बहुतों का बुरा भी बनना पड़ा पर उन्होंने अपने मार्ग से कभी विचलित होना नहीं सीखा। गर्दे जी गीता के ठोस तथा बेजोड़ विद्वान् व्याख्याता थे। साप्ताहिक 'श्री कृष्ण संदेश' की पुरानी फाइलें इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। अपने विचारों की स्थापना में वे मुस्कराते हुए विरोधी विचारों को हतप्रभ कर देते थे। श्री अंबिका प्रसाद बाजपेयी के बाद आप 'भारत मित्र' के संपादक हुए। वहाँ से हटने पर आपने साप्ताहिक 'श्री कृष्णसंदेश' का संपादन किया। लखनऊ से जब 'नवजीवन' निकला तो उसके भी आप ही संपादक नियुक्त

हुए। किंतु अपने निर्भीक विचारों के कारण वहाँ अधिक दिनों तक रहे नहीं। हिंदी पत्रकारिता की त्रयी में एक वे भी थे। सच यह है हिंदी पत्रकारिता के आरंभिक काल में आप उसके पल्लवन में अग्रणी रहे। हिंदी पत्रकारिता सदैव आप की ऋणी रहेगी। हिंदी साहित्य संमेलन आपको 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि देकर गौरवान्वित हुआ। 'सादा जीवन और उच्च विचार' के गर्देजी मूर्तिमान् रूप थे और सबसे ऊपर थी उनकी स्नेहशीलता। उनके निधन से हिंदी पत्रकारिता का जो मानदंड समाप्त हुआ है, उसकी पूर्ति असंभव है।

डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर

गत २५ नवंबर को काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा बाद में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान के निर्देशक तथा प्रसिद्ध पुराविद् डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर महोदय का अचानक देहावसान ६१ वर्ष की अवस्था में हो गया। डाक्टर साहब भारतीय इतिहास कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन के निमित्त अपना अध्यक्षीय भाषण लिख रहे थे और उसे पूर्ण कर टेबुल पर ही छोड़ गए।

भारतीय संस्कृति के इन आचार्य महोदय को डा० राखालदास बंद्योपाध्याय संस्कृत अध्यापक के रूप में काशी लाए थे। मूलतः वे संस्कृत के ही विद्वान थे। आगे चलकर भारतीय संस्कृति के सभी अंगों की उन्होंने पुष्टि की। संस्कृति तथा इतिहास पर डाक्टर साहब की अनेक स्थापनाएँ हैं परंतु भारतीय मुद्राशास्त्र का क्षेत्र तो डाक्टर साहब के उठ जाने से ऐसा रिक्त हो गया है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में कठिन प्रतीत होती है।

विद्वत्ता के अतिरिक्त डाक्टर साहब का जीवन बड़ा सात्विक एवं कर्मठ तथा स्वभाव बड़ा ही सरल था। जिन्हें उनके चरणों में बैठकर विद्याभ्यास का अवसर मिला है वे उनकी शिष्य-वत्सलता को जीवन में भूल न सकेंगे।

चतुरसेन शास्त्री

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' कहानी के लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री का ६६ वर्ष की वय में निधन हो गया। उक्त कहानी उनकी ही नहीं हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में है। इस कहानी के विषय में यह विवाद चला था कि यह एक बंगला कहानी का अपहरण है। इसमें संदेह नहीं कि दोनों कहानियों में अतिशय सादृश्य है पर वैसादृश्य भी है। पहला अंतर तो भाषा बंध का है। बंगला संस्कृत गर्भित है और यह कहानी उर्दू की मिठास से भरपूर। बंगला कहानी में वातावरण, प्रकृति, भवन आदि का वर्णन भरा है जिसके कारण वह कहानी ४५ पृष्ठ लंबी है। शास्त्री जी की कहानी में रवानी इतनी है कि इस सबके लिये अवकाश ही नहीं। एक के बाद एक दृश्य सुंदर और सुगठित रूप से आँखों के सामने खुलता जाता है। फिर भी छिद्रान्वेषियों को कौन रोक सका है। स्वयं शास्त्री जी ने लिखा था कि यह कहानी मुझे एक किस्सा-गो से मिली थी। मैंने स्थिति और आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन किए। उनकी यह बात सही है। मध्यकालीन जीवन संबंधी कहानियाँ कहनेवाले इस प्रकार घटनाएँ कहते रहते हैं। शास्त्री जी बहुत पहले से लिख रहे थे पर सबसे अधिक लेखन कार्य उन्होंने जीवन के अंतिम दशक में किया। सोमनाथ, वयंरक्षामः, सोना और खून,

वैशाली की नगरवधू आदि उपन्यास उन्होंने इसी अरसे में लिखे। अपनी कृतियों के कारण वे हिंदी पाठक के मन में वे सदा आदर का स्थान बनाए रहेंगे। वे कथाकार ही नहीं सफल चिकित्सक और आयुर्वेदज्ञ भी थे। उनकी पुस्तकें अनेक विषयों की हैं जिनकी संख्या सौ से अधिक है।

नाथूराम प्रेमी

नाथूराम प्रेमी सफल प्रकाशक ही न थे पुरातत्व और जैन साहित्य के पंडित भी थे। वे जीवन में आदर्शवादी थे और आदर्शों के अनुकूल साहित्य का ही उन्होंने प्रकाशन किया। हिंदी ग्रंथ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित पुस्तकें उनकी सुरुचि का उत्तम प्रमाण है। अनुसंधान और साहित्य इतिहास विषय में उन्होंने निरंतर महत्वपूर्ण कार्य किए। प्रतिभाशाली नए लेखकों का प्रकाशन करने में वे कभी पश्चात्पद नहीं रहे। उनके देहावसान से हिंदी की अपूरणीय क्षति हुई है।

डा० बारनेट

ब्रिटिश प्राच्य विद्वान् डा० बारनेट का देहांत ८५ वर्ष की अवस्था में २८ जनवरी १९६० को हो गया। वे भारतीय भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिंदी, उर्दू, बंगला, मराठी, तमिल, कन्नड़ और तेलगू का अध्ययन तो किया ही था इनके अतिरिक्त वे कश्मीरी, बलूची और सिंहली भाषाओं के भी पंडित थे। इस दिशा में ब्रिटिश संग्रहालय में उन्होंने बड़े महत्त्व का कार्य किया है। वे लंदन के युनिवर्सिटी कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक और लंदन स्कूल आव ओरियंटल स्टडीज में भारतीय इतिहास के अध्यापक थे। उनकी हिंदुत्व तथा भारत की परंपराएँ नाम की दो पुस्तकें अनूदित हो चुकी हैं। उक्त दोनों पुस्तकों को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली है। भारत में भी उनके अनेक शिष्य हैं। भारतीय वाङ्मय डा० बार्नेट का पर्याप्त ऋणी रहेगा।

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

२९ फरवरी ६० को परम कारुणिक दुर्घटना घटी श्री रा० र० खाडिलकर के निधन से। ४६ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में अनोखी प्रतिभा दिखाई थी। १९३४ में उन्होंने इस क्षेत्र में 'आज' के माध्यम से प्रवेश किया। १९४२ के आंदोलन के कारण 'आज' जब बंद हुआ तो 'खबर' एवं तदुपरांत दैनिक 'संसार' का संपादन उन्होंने किया। १९४८ में वे पुनः 'आज' में आए तथा उसके प्रधान संपादक भी हुए। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्होंने 'आज' से त्यागपत्र दे दिया था। खाडिलकर जी ने कई पुस्तकें विभिन्न विषयों पर लिखी हैं।

क्षितिमोहन सेन

शांति निकेतन के नाम से परिचित जन आचार्य क्षितिमोहन सेन के सुनाम से भी परिचित हैं। गत मार्च मास में उनका देहावसान वर्दवान में हुआ। उनका जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। विद्यार्थी जीवन में ही उनका झुकाव आध्यात्मिकता की ओर हो गया और उन्होंने पैदल ही अधिकांश भारत का भ्रमण किया तथा अंगरेजी के अतिरिक्त कई भारतीय भाषाओं का अध्ययन भी किया। १९०८ में आप गुरुदेव रवि बाबू के संपर्क में आए और तभी से उनके 'ब्रह्मचर्य विद्यालय' के अध्यापक से शांति निकेतन विश्वविद्यालय के उप-कुलपति तक

रहे। शांति निकेतन के कलामय जीवन का स्वरूप आचार्य जी ने निखारा। आप में विद्वत्ता, सौजन्य, कार्य कुशलता एवं प्रबंध क्षमता सभी गुणों का समन्वय था। संत साहित्य के आप विशेषज्ञ थे। 'दादू' शोध और विश्लेषण की दृष्टि से आपका सर्वोत्तम ग्रंथ है। उनके द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति असंभव है।

'वचनेश' जी

वचनेश जी का देहावसान ८५ वर्ष की अवस्था में उनके फीरोजाबाद स्थित निवास में हो गया। वे बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र और मदन मोहन मालवीय के साथ कालाकाँकर से प्रकाशित होनेवाले हिंदुस्तान (दैनिक) में काम कर चुके थे। गद्य-पद्य दोनों रूपों पर उनका अच्छा अधिकार था। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं। 'शबरी' उनकी बहुत अच्छा खंड काव्य है जिसमें प्रकृति चित्रों के उपयुक्त सन्निवेश के साथ मानस के मर्मों की सुकोमल व्यंजना है। आधुनिक ब्रजभाषा की यह महत्वपूर्ण कृति है। उन्होंने नाटक भी लिखे जो काला काँकर में अभिनीत हुए। उनके जीवन के साथ हिंदी का दीर्घकालव्यापी इतिहास चला गया।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कवि, उपन्यासकार और आलोचक थे। उनका जन्म जौनपुर जिले में हुआ था पर प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० - एल० बी० की उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद वे प्रयाग में बस गए। उन्होंने कोई नौकरी नहीं की सर्वदा स्वतंत्र रहे। उनका पहला काव्यसंग्रह 'रसालवन' सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था जिसकी उस समय सबने प्रशंसा की थी। आरंभ में उन्होंने फुटकर कविताओं के संग्रह प्रकाशित कराए थे। पीछे तारकवध महाकाव्य में हाथ लगाया और कई वर्षों के प्रयत्न के बाद उसकी रचना पूर्ण की। यह उनकी महत्वपूर्ण कृति है। इसकी भूमिका श्री सुमित्रानंदन पंत ने लिखी है। उनकी आलोचनाओं में 'महाकवि हरिऔध' और 'गुप्त जी की काव्यधारा' व्यवस्थित और संतुलित समीक्षा का रूप उपस्थित करती है। इसके अतिरिक्त उनके आलोचनात्मक लेखों के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। खेद है कि उनका निधन केवल ६१ वर्ष के वय में हो गया।

'प्रणयेश' जी

देवी दयालु शुक्ल 'प्रणयेश' कानपुर के प्रसिद्ध हिंदी कवि थे। उन्होंने घनाक्षरी और सवैये को बड़ी सफलता से खड़ी बोली का अपना छंद बनाने में योग दान किया। वे सनेही जी द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपराओं के अनुगामी थे। काव्य-पाठ उनका बहुत आकर्षक और प्रभावोत्पादक था। उनके कई काव्य संग्रह प्रकाशित हैं।

हम इन सभी दिवंगत जनों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परम पिता से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें शांति एवं दुखी परिजनों को धैर्य प्रदान करें।

—संपादक

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४
संवत् २०१६
अंक ३ से ४

•

•

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक विषयसूची

विमर्श

चयन तथा निर्देश

समीक्षा

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदी प्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। निम्नलिखित भाग प्रकाशित हो चुके हैं—

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

षष्ठ भाग

शृंगारकाल (रीतिबद्ध)

संपादक डा० नगेंद्र

रायल अठपेजी आकार **आफसेट कागज**

मूल्य प्रत्येक भाग १८)

षोडश भाग

हिंदी का लोक साहित्य

संपादक

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय

मुद्रित हो रहा है तथा अति शीघ्र प्रकाशित होगा।

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४ संवत् २०१६ अंक २

★

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का २।।)

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४
संवत् २०१६
अंक २

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

विमर्श

चयन तथा निर्देश

समीक्षा

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४] संवत् २०१६ [अंक २
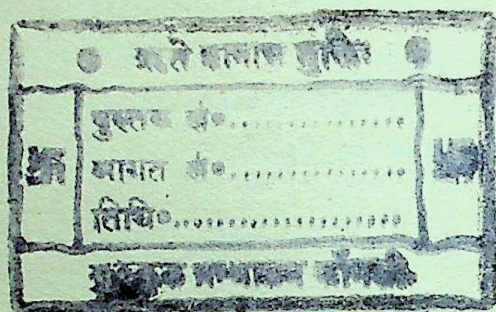
'ढोला मारू रा दूहा' और 'माधवानल कामकंदला चउपई'

माताप्रसाद गुप्त

•

'ढोला मारू' के दोहे अपनी प्राचीनता तथा अपने लालित्य के कारण राजस्थानी की अत्यंत मूल्यवान् निधि हैं। इनका ठीक-ठीक रचनाकाल निश्चित नहीं हो सका है, किंतु सं० १६०७ में इनको चउपई-बंध करते हुए वाचक कुशललाभ ने लिखा था—

दूहा घणा पुराणा अछइ। चउपई बंध कियो मइँ पछइ।[1]

इसलिए कुशललाभ ने जिन दोहों को चउपई बंध किया होगा, वे यदि विक्रमीय सोलहवीं शती के प्रारंभ के या उसके भी कुछ पूर्व के हों तो आश्चर्य न होना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि सं० १९९१ में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने सर्वश्री रायसिंह, सूर्यकरण पारीक तथा नरोत्तमदास स्वामी द्वारा संपादित एक उपयोगी संस्करण प्रकाशित किया था। किंतु 'ढोला मारू रा दूहा' के इस संस्करण में अनेक ऐसे छंद मिलते हैं जो अन्य रचनाओं में भी पाए जाते हैं। इन छंदों की स्थिति क्या है, विद्वानों को इसपर विचार करना चाहिए। 'ढोला मारू रा दूहा' के लगभग एक दर्जन छंद नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' में मिलते हैं, जिनकी स्थिति पर मैंने अन्यत्र विचार किया है।[2] उसके लगभग चार दर्जन छंद सं० १६१६ में वाचक कुशललाभ द्वारा रचित 'माधवानल कामकंदला चउपई'[3] में भी मिलते हैं। इस लेख में इन छंदों की स्थिति पर विचार करना चाहता हूँ। वाचक कुशललाभ की 'माधवानल कामकंदला चउपई' का आधार भी उनकी 'ढोलामारू

•

१. 'ढोला मारू रा दूहा' (ना० प्र० स० संस्करण), पृ० ३१७।
२. दे० उत्तर भारती (आगरा) के आगामी अंक में 'ढोलामारू रा दूहा और कबीर-ग्रंथावली' शीर्षक लेख।
३. इस रचना के लिए दे० 'माधवानल कामकंदला प्रबंध', संपादक एम० आर० मजुमदार, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, पृ० ३८१ – ४४२।

चउपई' के समान कोई पूर्ववर्ती कृति थी, यह उसमें आए हुए अनेकानेक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश छंदों से प्रकट है। ये लगभग सभी छंद आनंदधर के द्वारा संस्कृत में रचित (या संपादित ?) 'माधवानल आख्यान'[४] में मिलते हैं इसलिए यदि कुशललाभ की 'माधवानल कामकंदला चउपई' का आधार आनंदधर की उक्त रचना रही हो, तो आश्चर्य न होना चाहिए।

नीचे 'माधवानल कामकंदला चउपई' और 'ढोलामारूरा दूहा' से वे छंद दिए जा रहे हैं जो दोनों में समान रूप से मिलते हैं, मा० प्रथम रचना का संकेत है और ढो० दूसरी का। इनमें से जो छंद आनंदधर के 'माधवानल आख्यान' में भी पाए जाते हैं, उन्हें उस रचना से भी आ० संकेत के साथ दिया जा रहा है। 'ढोलामारू रा दूहा' का पाठ देते हुए कुछ पाठांतर भी दिए जा रहे हैं जो उसकी प्रतियों से उपर्युक्त संस्करण में दिए गए हैं। इन पाठांतरों से उद्धृत छंदों के 'माधवानल कामकंदला चउपई' और 'ढोलामारू' वाले पाठों की सन्निकटता और भी अधिक प्रमाणित होती है।

(१) मा० – दीसइ विविह चरियं, जाणिज्जइ सज्जण दुज्जण विसेसो।
अप्पाणं च कलिज्जइ, हिंडिज्जइ तेण पुहवीओ ॥ १६२

आ० – दीसइ विविधच्चरियं, जाणिज्जइ सुजण दुज्जण विसेसो।
अप्पाणं च कलीज्जइ, हिण्डिज्जइ तेण पुहवी ओ ।। २६

ढो० – दीसइ विविह चरीयं, जाणिज्जइ सयण दुज्जण सहावो।
अप्पाणं च कलिज्जइ, हंडिज्जइ तेण पुहवीए ।। २३४

ढो० की कुछ प्रतियों में भी उसके 'सहावो' के स्थान पर पाठ 'विसेसो' है।

(२) मा० – तरुणी पुणो विगहिउ, परियच्छ अब्भिंतरेण प्रीय दिट्ठे।
कारण कवण अयाणो, दीपको धूणइ सीसम् ।। २४५

ढो० – तरुणी पुणोवि गहियं, परीयच्चयभितरेण पिउ दिट्ठं।
कारण कवण सयाणे, दीपक्को धूणए सीसं ।। ५७५

ढो० की कुछ प्रतियों में भी उसके 'सयाणे' के स्थान पर पाठ 'अयाणो' है।

(३) मा० – वालंभ दीप पवन्न भई, अंचल सरण पइट्ठ।
करहीणउ धूणइ कमल, जाम पयोहर दिट्ठ ।। २४६

ढो० – वालँभ दीपक पवन भय, अंचल सरण पयट्ठ।
करहीणउ धूणइ कमल, जाँण पयोहर दिट्ठ ।। ५७६

ढो० की कुछ प्रतियों में भी उसके 'जाण' के स्थान पर पाठ 'जाम' है।

(४) मा० – जिमि मधुकर नइ कमलिणी, गंगा सागर वेलि।
तैणी विधि माधव रमइ, काम कुतूहल केलि ।। २५२

४. वही, पृ० ३४१ – ३८०।

ढो० – जिम मधुकर नइ कमलणी, गंगा सागर वेल।
लुबधा ढोलउ मारुवो, काँम कुतूहल केल ॥ ५६२

ढो० के 'वेल' तथा 'केल' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में भी 'वेलि' तथा 'केलि' पाठ हैं।

(५) मा० – मन मिलियां तन गड्डियां, दोहग दूरि गयांह।
सज्जण पाणी विणमहि, खिल्ली खीर थयांह ॥ २५५

ढो० – मन मिलिया तन गड्डिया, दोहग दूरि गयाह।
सज्जण पाणी खीर ज्यूँ, खिल्लोखिल्ल थयाह ॥ ५५३

ढो० के 'खीर ज्यूँ' तथा 'खिल्लोखिल्ल' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में भी 'वीण (< विण) महि' और 'खिल्ली खीर' अथवा इससे मिलता जुलता पाठ है।

(६) मा० – सेजि रमंता माणिणी, खिणि मूकी नइ जाइ।
जाणि विहसी केतकी, भमर बइठउ आइ ॥ २५६

ढो० – सेज रमंताँ मा रुवी, खिण मेल्हणी म जाइ।
जाँणि क विकसी केतकी, भमर वयठउ आइ ॥ ५६१

ढो० की एक प्रति में उसके 'मेल्हणी म' के स्थान पर 'मूक ही म' है।

(७) मा० – कामकंदला इम कहइ, अजी अछइ बहुराति।
गाहा गूढा गीय रस, कहइ को नवली वाति ॥ २६०

ढो० – माखणी इम कीनवइ, धनि आजू णी राति।
गाहा गूढा गीत गुण, कहि का नवली वाति ॥ ५६७

(८) मा० – गीत विनोद विलास रस, पंडित दीह लहंति।
कइ निद्रा कइ कलह करि, मूरख दीह गमंति ॥ २६३

आ० – गीत हास्य विनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥ ६३ [तथा मा० २६२]

ढो० – गाहा गीन विनोद रस, सगुणाँ दीह लियंति।
कइ निद्रा कइ कलह करि, मूरिख दीह गमंति ॥ ५६८

(९) मा० – कट्ठक्खरेण, विहियं मंदिर मज्झम्मि अद्धरयणीश्रे।
बाला कहइ भुयंगो, कहु सुंदरि केण कज्जेण ॥ २६५

आ० – कट्ठक्खरेण लिहियं, मंदिर मज्झम्मि अद्धरयणीये।
बाला लिहइ भुयुंगो, कहि सुंदरि कवण कज्जेण ॥ ६४

ढो० – वनितापति विदेस गय, मंदिर मझे अद्ध रयणीए।
बाला लिहइ भुयंगो, कहि सुंदरि कवन चुज्जेण ॥ ५७७

ढो० की कुछ प्रतियों में भी उसके 'चुज्जेण' के स्थान पर पाठ 'कज्जेण' है।

(१०) मा० – सा बाला प्रेमागलि खिणि रयणी विहाइ।
तिणि हर हार पठावीउ जं दीवउ उहलाइ ॥ २६६

आ० – सा बाला कामा गली खिण खिण रयणि विहाइ।
जो हर हार परट्ठिउ तिण दीवउ ओल्हाइ ॥ ६६

ढो० – सा बाला प्री चिंतवइ खिण खिण रयणि विहाइ।
तिण हर हार परठ्व्यउ, ज्यूँ दीवलउ बुझाइ ॥ ५७८

(११) मा० – बहु दिवसि प्रीउ आवीउ, मोती आणर्या तेणि।
थणि (धणि ?) कर कमले झल्लिया, हंस करि नाख्याँ तेणि ॥२७९

ढो० – परदेसाँ प्री आवियउ, मोती आँण्या जेण।
धण कर कँवलाँ झालिया, हसि करि नाँख्या केण ॥ ५७३

ढो० के 'केण' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में भी पाठ 'तेण' है।

(१२) मा० – करतल उज्जल बहुल, नयणे कज्जल रेह।
धणि मुल्ली गुञ्जाहलि, हसि करि नाख्याँ तेणि ॥ २८०

ढो० – कर रचा मोती नृमल, नयणे काजल रेह।
धण भूली गुंजाहले, हँसि करि नांख्या तेह ॥ ५७४

ढो० के 'तेह' के स्थान पर उसकी अधिकतर प्रतियों में 'तेण' है।

(१३) मा० – सुंदरी चोरह संग्रही, सवि लीधा सिणगार।
नाक फुल्ल लीधउँ नहीं, कहि प्रिय कवण विचार ॥ २८१

ढो० – सुंदरि चोरे संग्रही, सब लीया सिणगार।
नकफूली लीधी नहीं, कहि सखि कवण विचार ॥ ५७१

ढो० के 'सब लीया' के स्थान पर उसकी एक प्रति में पाठ है 'सहिलीधा'।

(१४) मा० – अहर रंगि रत्तउ हुउ, मुखि कज्जल मसिवन्न।
जाणिउँ गुंजाहल अछइ, तेणि न ढूकउ मन्न ॥ २८२

ढो० – अहर रंग रत्तउ हुवइ, मुख काजल मसि व्रन्न।
जाण्यउ गुंजाहल अछइ, तेण न ढूकउ मन्न ॥ ५७२

(१५) मा० – सुंदरि मंदिर अप्पणइ, रयणी नाद सुलीण।
वीण अलापी देखि ससि, किण गुणि मूकी वीण ॥ २८३

ढो० – विरह वियापी रयणभरि, प्रीतम विणु तन खीण।
वीण अलापी देखि ससि, किस गुण मेल्ही वीण ॥ ५७६

(१६) मा० – विरह वियापी रयणि भरि, प्रीतम विणु तनु खीण।
ससहर रथि मृग मोहिउ, तिणि हसि मूकी वीण ॥ २८४

ढो० – वीण अलापी देखि ससि, रयणी नाद सलीण।
ससिहर मृग रथ मोहियउ, तिण हसि मेल्ही वीण ॥ ५७०

ढो० के 'मेल्ही' के स्थान पर उसकी एक प्रति में भी पाठ 'मूकी' है।

(१७) मा० – चंदण कट्ठ कपूररस, सीयलु गंग प्रवाह।
मण रंजण तन उल्हवण, कदि मिले स्यइ नाह ॥ ३३५

आ० – चंदण कट्ठ कपूर रस, सीयल गंध पवाह।
जण रंजण मण उल्हवण, तूँ किम पामिस नाह॥ १२३

ढो० – चंदण देह कपूर रस, सीतल गंग प्रवाह।
मन रंजण तन उल्हवण, कदे मिलेसी नाह॥ १६१

ढो० के 'देह' के स्थान पर उसकी एक प्रति में पाठ 'काच' है जो संभवतः 'ठ' को 'च' पढ़ने के कारण हुई 'काठ' (< कट्ठ) की पाठविकृति है।

(१८) मा० – चंद मुही हँस गामिणी, कोमल कटि हरि केसि।
कंचण वन्नी कामिणी, वनी कदही दीसेसि॥ ३३६

आ० – चंद मुहि हंस गामिणी, मिय णयणे कोमला लावे।
वर कुंद कली दसणे, पुणो तुमं कहमि दीसेसी॥ १२४

ढो० – चंद मुखी हंसा गमणि, कोमल दीरघ केस।
कंचन वरणी कामनी, वेगउ आनि मिलेस॥ २०७

ढो० के 'दीरघ' के स्थान पर ढो० की एक प्रति में भी 'काटिहर' (< कटिहर) है।

(१९) मा० – थें सिद्धावउ सिधि करउ, पूगउ थांकी आस।
मत वीसारउ मन थकी, हूँ छूं थांकी दासि॥ ३३७

आ० – पुज्जउ आसा सिद्धी, सुंदर चलिओसि जेण कज्जेण।
छप्पयवास णिवासो, सो दिज्जउ अम्ह नामेण॥१२६ [तथा मा० ३४१]

ढो० – थे सिध्धावउ सिध करउ, पूजउ थाँकी आस।
मन वीसारउ मन थकी, उवा छइ थाँकी दास॥ ४०८

ढो० के 'उवाछइ' के स्थान पर उसकी एक प्रति में भी पाठ 'हूँ छूं' है।

(२०) मा० – सज्जण गुण समुद्र तूं, जिउं तरि तरि थकी तेणि।
अवगुण छेह न संचरइ, रहां विलग्गी जेणि॥ ३३८

आ० – बट्टंडि गमण दीहा, जं भणियं तं खमिज्जासु।
आहः चिय नत्थि गुणो, दोसो मइ संचरिज्जासु॥ १२७ [तथा मा० ३४२]

ढो० – सज्जण गुणे समुद्र तूं, तरतर थक्की तेण।
अवगुण एक न सांभरइ, रहूँ बिलंबी जेण॥ ३७६

(२१) मा० – थें सिधावउ सिधि करउ, बहु गुणवंता नाह।
साजोहा सयखंड हुय, जेणि कहिज्जइ जाइ॥ ३३९

आ० – सिद्धिद सुभ सत्थी मिलिउ, बहु गुणवंता नाह।
सा जीहा सतखंड हुई, जेण कहिज्जइ जाउ॥ १२८

ढो० – थे सिध्धावउ सिध करउ, बहु गुणवंता नाह।
सा जीहा सतखंड हुइ, जेण कहीजइ जाइ॥ ३४०

(२२) मा० – हीयडा भीतर पइसि करि, उग्गा सल्लिर रूख।
नित सल्लइ नित पल्लवइ, निच्च निवल्ला दुक्ख॥ ३४६

ढो० – हियड़इ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख॥ १५८

ढो० के 'नित नितनवला' के स्थान पर उसकी एक प्रति में पाठ 'नित नवल्ला' है।

(२३) मा० – संभार्यां संताप, वीसार्यां नवि वीसरइ।
कालज वचि जे काय, थरहरतु फीटइ नही॥ ३४८

ढो० – संभारियां संताप, वीसारिया न वीसरइ।
कालेज विचि कायं, परहर तूँ फाटइ नही॥ १८०

(२४) मा० – वीछडतां प्रिय माणसां, नयणे कीधउ सोग।
ऊठणि पहिरण कंचुउ, हुउ नीचोयण जोग॥ ३५०

ढो० – सज्जण चाल्या हे सखी, नयणे कीयो सोग।
सिर साड़ी गलि कंचुवउ, हुवउ निचोवण जोग॥ ३५७

(२५) मा० – इह तन जारू मसि करू, धूया जाय सरग्गि।
जब प्री बादल होइ करि, वरसि बुझावइ अग्गि॥ ३५३

ढो० – यह तन जारी मसि करूं, धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्गि॥ १८१

(२६) मा० – जिम मन पसरइ खिण खिण, तिमजउ कर पसरंति।
दूरि वसंता सज्जना, कंठा ग्रहण करंति॥ ४०३

ढो० – जिउँ मन पसरइ चिहुँ दिसइ, जिम जउ कर पसरंत।
दूरि थकाँ ही सज्जणा, कंठा ग्रहण करंति॥ २१४

ढो० के 'जिम' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में भी 'त्युं' 'त्यौं' अथवा 'तिम' तथा 'थकाँही' के स्थान पर 'वसंता' है।

(२७) मा० – पंथी एक संदेसडो भल माणस नि भाखि।
आतम तुम्ह पासइँ अछइ ओलग रूडि राखि॥ ४०४

ढो० – पंथी एक संदेसड़उ भल माणस नइ भक्ख।
आतम तुझ पासइ, अछइ ओलग रूड़ा रक्ख॥ ११४

ढो० के 'भक्ख' तथा 'रक्ख' के स्थान पर उसकी एक प्रति में भी 'भाखि' तथा 'राखि' है।

(२८) मा० – वासरि चित्त न विसरइ, निसि भर अवर न कोइ।
जउ निद्रा भरि भोलव्यां, तउ सुपनंतरि सोइ॥ ४०६

ढो० – वासर चित्त न वीसरइ, निसि भर अवर न कोइ।
जइ निद्रा भरि भोगवूँ, तउ सुपनंतरि सोइ॥ १७०

ढो० के 'भोगवूँ' के स्थान पर उसकी एक प्रति में भी 'भोलउँ' है।

(२९) मा० – तूंह जसज्जण तुहि जमन, तूंह ज जाण सुजाण।
मोरइ मन तूं जवसइ, भावि जाणि म जाणि॥ ४०९

मा० – तुंही ज सज्जन मित्त तुं, प्रीतम तूं परमाण।
हीयडा भीतर तूं वसइ, भावइ जाणिम जाणि ॥ ४२०

ढो० – तुंही न सज्जन मित तुं, प्रीतम तूं परिवाँण।
हियडइ भीतरि तूं वसइ, भावइँ जांण म जांण ॥ १७५

ढो० के 'परिवाँण' के स्थान पर उसकी एक प्रति में भी पाठ 'परमाण' है।

(३०) मा० – आडा डुंगर वीझवन, खरे पियारे मित्त।
देहु विधाता पंख जउ, मिलि मिलि आवइ नित्त ॥ ४१५

ढो० – आडा डूंगर वन घणा, खरा पियारा मित्त।
देह विधाता पंखड़ी, मिलि मिलि आवउँ नित्त ॥ ६६

(३१) मा० – कंता मइँ तूं वाहरी, नयण गमाया रोइ।
हत्थाली छालां पड्या चीर नीचोइ नीचोइ ॥ ४३७

ढो० – राति ज रूँनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ।
हाथाली छाला पड्या, चीर निचोइ निचोइ ॥ १५६

(३२) मा० – मत जाणइ प्री नेह गयु, दूरि विदेस गयाइं।
विमणउ वाधउ साजणां, ऊछउ होइ खलाइं ॥ ४३६

अा० – मा जाणसि पिय णेह, तुट्टइ दूर गमणेण।
विमण हुई सज्जन बढ्ढो णेहो दूर गमणेण ॥ १६७

ढो० – मत जाणे प्रिउ नेह गयउ, दूर विदेस गयाँह।
विवणउ बाधइ सज्जणाँ ओछउ ओहि खलाँह ॥ १६२

(३३) मा० – पंथी एक संदेसडउ, प्रीतम लगि पहुँचाइ।
जोवन कलियाँ मउरियाँ, तुं भमर न वइसइ आइ ॥ ४३८

ढो० – ढाढी जइ साहिब मिलइ, यूँ दाखविया जाइ।
जोवण कमल विकासियउ, भमर न बइसइ आइ ॥ ६१६

ढो० के 'यूँ दाख विया जाइ' तथा 'कमल विकासियउ' के स्थान पर एक-एक प्रति में क्रमशः 'प्रीतम कहिओ जाइ' तथा 'कलीयाँ मउरीयाँ' पाठ है।

(३४) मा० – हुँ कुमलाणी कंत विण, जिम जल विहूणि वेलि।
विण जारा को धाह जिम, गयउ धखंती मेल्हि ॥ ४४०

ढो० – हूँ कुँभलाणी कंत विण, जलह विहूणी वेल।
विण जारा री भाइ जिउँ, गया धुकंती मेल्ह ॥ १६३

(३५) मा० – वहिलउ आवे वल्लहा, नागर चतुर सुजाण।
तूं विण धण झाँखी फिरइ, जिम गुण विण लाल कमाण ॥ ४४५

ढो० – वहिलउ आए वल्लहा नागर चतुर सुजाण।
तुंझ विण धण विलखी फिरइ, गुण विन लाल कमाण ॥ १५५

ढो० के द्वितीय चरण में 'गुण' के पूर्व 'जिम' नहीं है, किंतु उसकी अधिकतर प्रतियों में 'ज्युँ' या 'ज्यउ' है।

(३६) मा० – सुपनंतरि नितहूं मिली जदि परतिक्ख मिलेसि।
तदि प्री मोतिहार जिउ कंठा ग्रहण करेसि॥ ४४६

ढो० – जिम सुपनंतर पा मियउ, तिम परतख पामेसि।
सज्जन मोतीहार ज्यूँ, कंठा ग्रहण करेसि॥ ५१३

ढो० के 'तिम' 'पामेसि' तथा 'सज्जन' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में 'जदि' 'मिलेस' तथा 'प्रीव' है।

(३७) मा० – आडा डूँगर वन घणा, आडा घणा पलास।
ते साजण किम विसरइ, बहु गुण तणा निवास॥ ४४७

ढो० – आडा डूँगर वन घणा, आडा घणा पलास।
सो साजण किम वीसरइ, बहु गुण तणा निवास॥ १६४

(३८) मा० – आँखडिया डंबर हुइ, नयण गमायां रोइ।
ते साजण परदेसडइ, रह्या विडाणा होइ॥ ४४८

ढो० – आँखड़ियाँ डंबर हुई, नयण गमाया रोय।
ते साजण परदेस महँ, रह्या विडाणा होय॥ १६५

(३९) मा० – प्रीतम एक संदेसडु, दिसि सज्जण सलाम।
जबही तुम थी वीछड्याँ, नयणां नीद हराम॥ ४४९

[मा० – कागल लिखूँ कतूर सिउँ, विचि विचि लिखूं सलाम।
जब थे अम्ह तुम्ह विच्छडे, तब थे निंद हराम॥ ४७०]

ढो० – पंथी एक संदेसडउ, कहिज्यउ सात सलाम।
जब थी हम तुम वीछड़े, नयणे नींद हराम॥ १३६

ढो० के 'कहिज्यउ सात सलाम' तथा 'जब थी हम तुम वीछड़े' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में क्रमशः 'दिस सज्जणा सलाम' तथा 'जब हम तुम्हि थी बीछुड़े' है।

(४०) मा० – पंथी एक संदेसडु, प्री लगि लेइ सिधाउ।
जोवन हस्ती जउ गड्डिउ, तू अंकुस ले घरि आउ॥ ४५०

ढो० – ढाढी जे राज्यंद मिलइ, यूं दाखविया जाइ।
जोवण हस्ती मद चढ्यउ, अंकुस लइ घर आइ॥ ११५

ढो० के 'ढाढ़ी जे राज्यंद मिलइ', 'यूं दाखविया जाइ' 'मद चढ्यउ' तथा 'अंकुस' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में क्रमशः 'पंथी एक संदेसडउ', 'ढोला लगि ले जाइ', 'ज्युँ गुड्यौ' या 'ज्युँ गुडै' तथा 'तुं अकुस' है।

(४१) मा० – मुख नीसासामेइलीइ, नयणे नीर प्रवाह।
सूली सरिखी सेजडी, तुझ विण जाणीइ नाह॥ ४५१

ढो० – मुख नीसाँसा मूँकती, नयणे नीर प्रवाह।
सूली निरखी सेझडी, तो विण जाणे नाह॥ १६६

(४२) मा० – जिम सालूरा सरवराँ, जिम धरती आराम।
चंपा वरणी वालहा, नेह धरितु अभिराम॥ ४५२

ढो० – जिम सालूराँ सखराँ, जिम धरणी अर मेह।
चंपा वरणी वालहा, इम पालीजइ नेह॥ १६८

(४३) मा० – काम कमोदन जल वसइ, चंदो वसइ आकासि।
जे ज्याही के मन वसइ, ते त्याही के पास॥ ४६६

ढो० – जल मँहि वसइ कमोदणी, चंदउ वसइ अगासि।
ज्यउ ज्याँही कह मनि वसइ, सउ त्याँही कइ पासि॥ २०१

ढो० के 'जलमहि वसइ कमोदणी', 'ज्यउ' तथा 'सउ' के स्थान पर उसकी कुछ प्रतियों में क्रमशः 'कमल कमोदिक जल वसइ' या 'जिम कमोदणि जल वसइ', 'जे' तथा 'ते' है।

(४४) मा० – धरती जेहि वहु खमा, नमणी जेही केलि।
मंजीठा जिम रंजणा, दइ सु सज्जण मेलि॥ ५६६

ढो० – धरती जेहा भरखमा, नमणा जेही केलि।
मज्जीठाँ जिम रच्चणाँ दई सुसज्जण मेलि॥ ५६३

(४५) मा० – लहरी सायर संदीया, वूठा संदउ वाउ।
विछुडिया सज्जण मिलइ, तउ ताढउ हीताउ॥ ६१६

ढो० – लहरी सायर संदिआँ, वूठउ संदउ वाव।
बीछुडियाँ साजण मिलइ, वलि किउँ ताढउ ताव॥ ५५६

ऊपर उद्धृत छंदों के 'माधवानल कामकंदला चउपई' तथा 'ढोला मारू रा दूहा' के पाठों को देखने पर यह प्रकट होगा कि दोनों में अंतर नगण्य है, और इतना निकट का साम्य तभी संभव है जब कि ये छंद एक से दूसरे में अथवा किसी अन्य रचना से दोनों में आए हों। जहाँ तक अन्य रचना से दोनों में आने की बात है, वह संभव नहीं लगती है, क्योंकि कोई अन्य रचना ऐसी ज्ञात नहीं है जिसमें ऊपर के चार दर्जन के लगभग छंद इसी रूप में आते हों; आनंदधर के 'माधवानल आख्यान' में भी इनमें से केवल दस छंद आते हैं, किंतु उन दस में से भी पाँच ही उस रूप में आते हैं जिस रूप में वे आनंदधर की रचना में मिलते हैं, शेष पांच आनंदधर की रचना में संस्कृत - प्राकृत में हैं, और इन दोनों रचनाओं में बदलकर पुरानी राजस्थानी में हो गए हैं। इसलिए प्रथम विकल्प ही विचारणीय है, अर्थात् किस रचना से ये छंद किस में गए हैं। इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं —

१ – ऊपर उद्धृत ढो० के छंदों में से एक (२०) के संबंध में संस्करण में कहीं नहीं बताया गया है कि वह किन प्रतियों के आधार पर संकलित किया गया है, दस अर्थात् २१, २३, २५, ३०, ३३, ३४, ३७, ३८, ४१ तथा ४२ के संबंध में उनकी पादटिप्पणियों में बताया गया है कि वे केवल एक - एक प्रति में मिलते है — जब कि रचना के लिये प्रयुक्त प्रतियों की संख्या एक दर्जन से ऊपर है और इन दस छंदों में से नौ उसकी 'म' नामक एक प्रति के प्रमाण पर लिए गए हैं, जिसका विवरण तक परिशिष्ट में यथेष्ट रूप से नहीं दिया गया है और न जिसको इस प्रकार महत्व देने का कोई कारण कहीं

बताया गया है। शेष उद्धृत दोहे भी उक्त रचना की कुछ ही प्रतियों में मिलते हैं, सभी में नहीं।

२ – 'माधवानल कामकंदला चउपई' के लेखक कुशललाभ की लिखी इसी प्रकार की 'ढोलामारू चउपई' भी है, जिसकी प्रतियों का उपयोग 'ढोलामारू रा दूहा' के संपादन में भी किया गया है। किंतु ऊपर उद्धृत छंदों में से केवल तेरह अर्थात् ५, १९, २४, २६, २७, ३०, ३१, ३२, ३५, ३६, ३९, ४०, ४३ कुशललाभ के चउपई वाले पाठ की कुछ प्रतियों में पाए जाते हैं, उस पाठ की समस्त प्रयुक्त प्रतियों में केवल छह अर्थात् २७, ३१, ३६, ३९, ४० तथा ४३ पाए जाते हैं। यदि ऊपर उद्धृत शेष छंद भी 'ढोलामारू के उस दूहा-पाठ में होते जिसको कुशललाभ ने चउपई-बंध किया, तो कोई कारण नहीं था कि वह उन्हें 'ढोलामारू चउपई' पाठ में न संमिलित करता।

३ – जहाँ-जहाँ भी 'माधवानल कामकंदला' तथा 'ढोलामारू रा दूहा' के पाठों में अंतर है, प्रथम का पाठ अधिक सार्थक और संगत है, उदाहरणार्थ ९ में मा० के 'कट्ठक्खरेण विहियं' के स्थान पर ढो० में पाठ 'वनितापति विदेस गय' है; पूरा छंद गाथा, जो प्राकृत में है और उसमें ढो० की शब्दावली न भाषा की दृष्टि से खपती है और न भाव की दृष्टि से; १३ में मा० के 'पिय' के स्थान पर ढो० में 'सखि' है, किंतु ढो० में भी संवाद ढोला और मारू में चल रहा है, उसमें 'सखि' पाठ के लिए कोई स्थान नहीं संभव है; २२ में मा० के 'सल्लि रूख' के स्थान पर ढो० में 'सज्जणरूख' है; 'सल्लि' शल्य के वृक्ष की संगति स्पष्ट है, तात्पर्य विरह-शल्य से है; 'सज्जणरूख' की कोई संगति नहीं है; ३१ में मा० के 'कंता भइ तूं बाहरी नयण गमायां रोइ' के स्थान पर ढो० में है 'राति जरूनी निसह भरि सुणी महाजनि लोई' पाठ है; ढो० के 'राति' के साथ 'निसह' का प्रयोग पुनरुक्ति से दूषित है और महाजन लोगों के सुनने की कोई संगति नहीं है।

अतः यह प्रकट है कि 'ढोलामारू रा दूहा' में ऊपर उद्धृत छंद न होने चाहिए वे वास्तव में कुशललाभ रचित 'माधवानल कामकंदला चउपई' की संपत्ति हैं, जो धीरे-धीरे 'ढोलामारू' के विभिन्न पाठों में अपनी सरसता और उपयुक्तता के कारण विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समय समय पर लिए गए और 'ढोलामारू रा दूहा' के संपादकों द्वारा भी उसकी किसी एक भी प्रति में मिलने पर उसके पाठ में स्वीकृत कर लिए गए।

*

तारातंबोल के यात्रासंबंधी कतिपय उल्लेख एवं पत्र

अगरचंद नाहटा

•

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों और फुटकर पत्रों में कई बार कुछ ऐसे आश्चर्यजनक उल्लेख मिलते हैं जिन पर सहसा विश्वास करना कठिन ही होता है। ऐसे वर्णन दंत-कथाओं जैसे लगते हैं। पर लोगों में उनकी परंपरा लंबे काल से चली आती है, उनमें वास्तविक तथ्य क्या एवं कितना है यह नहीं कहा जा सकता। तारातंबोल नगर का विस्मयकारक विवरण भी कुछ ऐसा ही है। जब मैं बालक था तो अपने बड़े - बूढ़ों से तारातंबोल नगर का नाम लोकप्रवाद के रूप में सुनने को मिला। यह भी प्रसिद्ध है कि महाराजा मानसिंह या जयसिंह ने इस नगर का जब बहुत बढ़ा - चढ़ा वर्णन सुना तो उसे देखने की उत्सुकता हुई। कई लोग कहते हैं कि वे स्वयं ही वहाँ गए और कई लोग कहते हैं कि उन्होंने अपना विशिष्ट आदमी भेजा। तारातंबोल में आने पर उन्हें केवल मोचियों का मोहल्ला दिखलाया गया और उसीके अनुकरण या नक्शे से जयपुर शहर बसाया गया। यह बात अवश्य ही अतिशयोक्तिपूर्ण या कल्पित लगती है। पर मेरे बड़े भ्राता भैंरुदान जी नाहटा ने बतलाया कि बीकानेर के बड़े उपासरे में तारातंबोल का एक बड़ा नक्शा हाथ का चित्रित उन्होंने स्वयं देखा है। पर पीछे से किसी यति ने उसे थोड़े रुपयों के लोभ में बेच डाला। यह भी कहा जाता है कि तारातंबोल से लाई हुई एक जूती के जोड़े में से एक पैर की जूती खो गई तो वैसी जूती यहाँ बहुत प्रयत्न करने पर भी बड़े बड़े कारीगरों से नहीं बन पाई, अर्थात् वह जूती बड़ी ही बहुमूल्य थी।

जब तीस वर्षों से हमने हस्तलिखित प्रतियों का अन्वेषण और संग्रह करना प्रारंभ किया तो कई गुटकों और फुटकर पत्रों में तारातंबोल की यात्रा का विस्तृत विवरण लिखा हुआ मिला। हमारे संग्रह में भी ऐसे ही दो - चार विवरणपत्र हैं। पर हमें उसकी वास्तविकता में संदेह रहा, इसलिए उन्हें प्रकाशित नहीं किया। २० वर्ष हुए जब मुनि कांतिसागर जी को भी हस्तलिखित प्रतियों को देखने का शौक लगा तो उन्हें भी एक तारातंबोल की चिट्ठी मिली। उसे उन्होंने 'जैन - सत्यप्रकाश' वर्ष ४ अंक ३ (सं० १९९४ आसोज वदी ७) के अंक में प्रकाशित किया, यद्यपि उन्होंने स्वयं उस पत्र में लिखे हुए विवरण पर शंका प्रकट की। उन्होंने लिखा कि इस पत्र में दिया हुआ विवरण विचारणीय है। इसमें ऋषभदेव का मंदिर ४ कोस तक ऊँचा होने का जो उल्लेख है उस 'कोस' शब्द का निश्चित अर्थ समझ में नहीं आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस यात्रा का विवरण एवं उसका मूल्य क्या है, पता नहीं। इसकी सत्यासत्य हकीकत पर पाठकगण विचार करें। ऐतिहासिक विद्वान् इस संबंध में कुछ खुलासा करेंगे ऐसी आशा है। यह पत्र अहमदाबाद के रतनचंद भाई को हैदराबाद से पद्मसिंह ने लिखा था सो कुटुंब सहित दूर देशांतर की यात्रा के लिए सन् १८०५ में घर से निकले और १६ वर्ष में सर्वत्र घूमकर १८२१ में सकुशल घर पहुँचे। इसमें तारातंबोल नाम के दो नगरों की यात्रा का वर्णन दिया गया है, जिसमें पहले का संक्षेप में और दूसरे का विस्तार से वर्णन है। अहमदाबाद से तारातंबोल शहर ४८०० कोस बतलाया है यथा — अहमदाबाद

से ३०० कोस आगरा, वहाँ से ३०० कोस लाहौर, वहाँ से २५० कोस मुलतान, वहाँ से ३५० बंदर शहर, फिर ६०० कोस आशापुरी (जिसका बाजार १२ कोस में है) वहाँ से ७०० कोस तारातंबोल शहर जहां मुकुट स्वामी की २८ हाथ ऊँची २८ हाथ चौड़ी बिना आधार की मूर्ति है जिसके पैर के अंगूठे पर २८ नारियल रह सकते हैं। वहाँ से ६०० कोस पर एक बड़ा तालाव है जिसमें अजितनाथ जी का मंदिर है। हम नाव में बैठकर वहाँ गए। वह मूर्ति २० हाथ ऊँची और ६ हाथ चौड़ी है। वहाँ से ५०० कोस तलंगपुर नगर जहाँ २८ जैन मंदिर हैं। उससे आगे चंद्राप्रभूजी के मंदिर में २२८ प्रतिमाएँ हैं। वहाँ से ७०० कोस पर नवापुरी पाटण शहर है और वहाँ से ३०० कोस की दूरी पर दूसरा तारातंबोल है। वहाँ के अनेकों जैन मंदिर, मूर्तियों एवं तालपत्रीय ग्रंथों तथा जैन मुनि के दर्शन करने आदि का विस्तृत वर्णन है। इससे आगे ३०० कोस पर टांगनव मुलक है, पर वहाँ आगे न जाने को हमें प्रभावचंदजी ने कहा इसलिए हम वहाँ से लौट आए। उस चिट्ठी का संक्षिप्त सार यही है।

इस चिट्ठी के प्रकाशित करने के बाद कांतिसागरजी को अपने संग्रह के लगगग ३०० वर्ष पहले के एक गुटके में तारातंबोल का एक अन्य यात्राविवरण मिला जिसके अनुसार सन् १६८४ माव सुदी १३ को शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के बाद मुलतान के क्षत्रि बुलाकी ने जो विलायत की बात कही वह लिखी गई है। इसके अंत में 'इस प्रकार जैपुर गढ़ का जयसिंह सवाई खबर कराई सो सच है।' लिखा है, इससे पूर्वोक्त लोकप्रवाद की पुष्टि होती है। इसी तरह एक और प्रति में कांतिसागरजी को तारातंबोल का विवरण मिला। इन दोनों विवरणपत्रों की नकल उन्होंने 'जैन सत्य प्रकाश' के वर्ष ५ अंक २ में प्रकाशित की। कांतिसागरजी के इन दो लेखों के प्रकाशित होने से भाव - नगर से प्रकाशित जैन साप्ताहिक पत्र में इस आश्चर्यजनक यात्रा संबंधी ऊहापोह हुई और कई दिनों तक यह एक चर्चा का नया विषय बना रहा। तदनंतर श्री सागरमल कोठारी ने एक यतिजी की संग्रह प्रति में तारातंबोल विषयक विवरण देखा तो उन्होंने भी 'जैन सत्य प्रकाश' वर्ष ६ अंक ६ में उसकी नकल प्रकाशित की।

अभी अभी डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने मुझे एक लेख 'शाहजहाँ के समय का एक बिगत - पत्र' भेजा। उस समय मैं अपने व्यापार के केंद्रों के निरीक्षणार्थ बंगाल, आसाम गया हुआ था। मैंने डा० अग्रवाल जी को सूचित किया कि आपके द्वारा प्रेषित तारातंबोल-संबंधी यात्रा विवरण पूर्ण प्रकाशित हो चुका है और उन्हें जो प्रति मिली है वह भी बहुत अशुद्ध प्रतीत हुई। अग्रवाल जी ने अपना वह लेख वापिस मँगवाया तो उन्हें लौटा दिया गया पर उस समय मेरे पास अपने संग्रह की प्रतियाँ बीकानेर में होने से उस विगत पत्र के पाठ-शुद्धि के साधन न थे। अभी साप्ताहिक हिंदुस्तान के २३ जून के अंक में उनका वह लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने प्राप्त प्रति के अशुद्ध पाठ एवं कुछ उसकी नकल करने तथा समझने के भ्रम से दो चार बातों का गलत अर्थ निकाला है। इसलिये अपने संग्रह की दो प्रतियों में तारातंबोल की उस यात्रा का जो विवरण लिखा मिला है, उसकी नकल देकर अग्रवाल जी के समझने में जो गलती हुई है उसका यहाँ संशोधन किया जाता है—

'पातिस्याह श्री साहिजहाँ जी सं० १६८४ मिगसर वदी ३ विलायत रा देस री खबर मँगाई। तिपरी विगत लिषै – आगरा सू ३०० लाहौर छे ने तठाँ सू १५० कोस मुलतान

छै तठा थी कोस ३०० पंधार छै तठाँ थी कोस ६०० ईसपाँनगर छै । तठै तिलंग पातिसाही छै। सहर रो बाजार १२ कोस छै, चोहटो १२ कोस में वसै छै। तठा थी कोस ६०० पुरासाण छै। बाजार कोस २५ रो छै। तठा थी कोस १२०० आगे आस तंबोल नगर छै कोस ७२ रो विस्तार छै। तठै रोम-सोम पातिसाह छै। मास ठयै बाहिर नीकलै छै। तिण री रिध घोडा २४ लाप, लुंडा ३ लाप, बाँदी ५ लाप, पायदल एक कोड़ २५ लाप छै नगर दौलो लोहरो कोट छै तठा थी कोस ५०० बब्बर देस छै। माणस रै लोही में रेसम रंगीजै छै तिहाँ थी ७०० कोस तारातंबोल नगर छै। जठै हींदू पातिसाह जै चंद सूर राज करै छै। कोस ४८ में बाजार छै। राजा रा महिल सोने रूपे रा छै। जैन रा देहरा सोनै रूपै रा छै रतन री मूरत छै। राजा प्रजा सर्व जैनी छै। पृथ्वी जैन मई छै। पाखती सिंधू सागर नदी छै सो वेद शास्त्र मैं छै। अहमदाबाद थी कोस ५५५१ तारातंबोल नगर छै आगे धरती छै जिकेरो विस्तार केवली भगवान् नु षबर छै। **बात साँची छै** । पिंडत हुवै सो **झूठ मता मानों**। मुलतान रो वासी खत्री व्यापारी बुलाकी नामै थो। धनवंत हुतो अरब वैसी गयो थो सं० १६८४ गयौ थौ। पछै जावै तै नै वरप ६ लागा फेर पूठौ पचर वैसी आयौ। बड़ो धनवंत हुतो। मारग में जाँवताँ आवतां घणी मुऊरा परच लागी सो बुलाकी खत्री पातिसाह साहिजहाँ रै दरबार दरीपानै मैं ऊभै कही सो लिखी छै। पातिसाहि रे दफतर में लिखी छै। इति **उत्तर धरतीरी बात छै** ।'

२ – 'पातिस्याह जी श्री साहजहाँ जी सं० १६८४ रै मिती मिगसर वदी ३ तखत विराजिया। तद मुलकरी षबर मँगावणरी हुत कीवी। तद कायथ बुलाकीदास ने बुलाय कह्यौ, धरती री खबर ल्यावो। देखां धरती में कितरी पातिस्याहि छै। प्रथम तो उत्तररी षबर मँगाई सु आगरे सूं कोस ३०० लाहोर छै। लाहौर सुं कोस १५० मुलतान छै। मुलतान सुं कोस ३०० पंधार छै। खंधार सुं कोस ८०० आठसै इसका नगर छै जठै पातिस्याही तिलंगा करै छै सु इसक नगर कोस २४ लांबो छै तेरो बाजार कोस १२ लांबो छै। इसक नगर सुं कोस ६०० पुरसाण छै खुरषाण रो बाजार बारै मैं १२ लाँबो छै। खुरषाण सु इस तंबोल कोस १२०० बारै सै छै। सु नगर कोस ६४ लांबो छै तेरो बाजार कोस २४ लांबो छै जठै पातिस्याही रावीर करै छै। तिके पातिसाहि जी रै इतरी ठकुराई छै – १४००००० घोडा छै, ५०००० हाथी छै, १००००० ऊँ छैठ लाख एक, ३००००० तीन लाष खाने जाद गुलाम, १००००००० एक क्रोड़ प्यादा, ५०००० बाँदी हजार पचास छै। इतरी ठकुराई छै। अर सहर बाजार लोह रो छै। पातिस्याह जी रे किलो सप्त धात रो छै। जठाँ सूं कोस ५००, पाँच सै बाबर नगर छै। सु नगर रो बाजार कोस ५० मैं छै जठाँ सू कोस ७०० सै तारातंबोल छै जठै पातसाही हिंदू करै छै। जिकै राजा रो नाम महाराज श्री चंदसूर जी छै। सु जैन धर्म पालै छै। सु राजा परजा सर्व एक धर्म पालै छै। तिण नगर रो बाजार कोस ४८ अड़तालीस कोस में छै। सहर कोस चौसठ ६४ में छै। सु सहर कोट अष्टधात रो छै। तिण राजा रे महिल सोने रूपै रा छै। सु सर्व लोक जैन धर्म पालै छै। सु आपरे धर्म में सावधान जठै जैन रा देहरा ७०० सात सै छै सहर चोक बीचै देहरो एक आदीश्वर जी री प्रतिमा रो छै। जिकै देहरो रो विस्तार कोस दोय में छै, सु देहरो सोने रूपै री ईंटा सुं चिणयो छै। तिण में प्रतिमा १०८ एक सो आठ छै सु प्रतिमा जड़ावरी छै। प्रतिमा बारै चौकी सोनै री छै। श्री आदीश्वर जी रे सिंहासन जड़ाव रो छै और देहरै ऊपर ईंटा छै सु मण ७०० सात सै सोनै रो तोल छै। तिण देहरै में कचोला ७२ बहुत्तर छै। त्रिकाल पूजा हमेश हुवै छै। जैन धम रो अधकार छै। सु शहर तारातंबोल रे पासै नदी एक सिंधु सागर छै। सु जंबू द्वीप

माहै नदी दोय बहुत श्रेष्ठ छै। सु नदी १ सिंधु सागर छै। दूजी श्री गंगा जी अर नगर अहमादाबाद सु कोस अट्ठावन सै इकावन ५८५१ तारातंबोल सहर छै अगली धरती सर्व साँची छै। और एक सहर में मास दोय रहने खबर लीधी छै सु आ बात साँची कर जांण ज्यौ। उपरली बात सं० १८२७ में लिखी छै।'

उपर्युक्त विगत चाहे काल्पनिक व बढ़ा-चढ़ा के लिखी हो, पर १७वीं शताब्दी से ही यह प्रसिद्ध अवश्य हुई। संभव है बुलाकी खत्री ने ही यह प्रचारित की हो। हमारे संग्रह की प्रतियाँ तो १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है पर सं० १७४६ में तपागच्छ के शील विजय ने चारो दिशाओं के जैन तीर्थों का परिचय अपनी 'तीर्थमाला' में देते हुए उत्तरदिशि के जैन तीर्थों के वर्णन में इस तारातंबोल वाली विगत का भी प्रयोग किया है। उन्होंने अपने गुरु के मुख से यह बात सुनी थी। उनका दिया हुआ पद्यबद्ध विवरण इस प्रकार है –

दूहा — उत्तरदिसि उपि सदा जैनराज अशेष,
महानगर रूडां घणु सुणयो तेह विशेष ॥ १ ॥

दुरगम पंथ उल्लंघताँ नदी नगर पाषाण;
मलेच्छ राज्य अछि, मोटां, कहिस्यु तास वषाण ॥ २ ॥

× × × ×

अहवुं दल्लीनयर मंडान दोई जोअण विस्तारि जाणि।
छ जोअण सोहिई आगरूँ नदी यमुना कंठि गुण भयुं ॥ १० ॥

गंगा तीरि वि केदार कुरुक्षेत्र निवली हरद्वार;
अे तीरथ शिवनां छ सही ... ... ॥ ११ ॥

नगर कोट माहि ज्वालामुखी देवी दरसणि सोहि सुखी;
नगटी रांणीनु तिहां राज सो जोअण उपरि ते आज ॥ १२ ॥

हींगुलाज हिमालयगिरी देवी दीप महिमा भरी;
त्रणसय कोसे लाहुर गाम नवलष्य क्षत्री वसि तस ठामि ॥ १३ ॥

ईहांथी सो पंचासे जाणि पुर मुलतान महामंडाण;
काबिलथी करि राज्य पठाण नवलष नेजांनूं दल जाणि ॥ १४ ॥

त्रणसे कोसे नयर षंधार सवालाष नामि गिरिसार;
कालंजर नगर्थी नीसरी यमुना नदी गंगा मांहि वरी ॥ १५ ॥

अेक मास पंथ ते उपरि मीठा वाहन तिहाँ संचरि;
मृग कस्तूरी हाथी घणा सेर प्रमाण हरडि फल बहु गुणा ॥ १६ ॥

मानसरोवर तिहाँ कहिवाय सो जोअणनी गंगा तिहांय;
ईहांथी नवसी गाउ मिली इसपांन नयर अछि ते वली ॥ १७ ॥

कासमीर नामि पातसाह बार लाषतणो निरबाह;
तिहाथी पूरव दिसि मांही वसि रोमनगर अति उल्हसी ॥ १८ ॥

राज करि बारी सुलतान ते पणि जीत्या विमल प्रधान;
आठसिं कोसे सासतानगर त्रिण जोअण विस्तारि सभर ॥ १६ ॥

बलख बुखारा छि दंखि तिहां लाप अढार सैनई करी इहाँ ;
त्यागी लिहां हुओ मोटो मलक छोडी सोलसय नारी थयोश्रसक ॥ २० ॥

खुरासाण पटसत उपरि हुनसान तिहां राजासिरि ;
ईपू गज नि नागरबेली तिहाँ वर्ण्ण न होई चोथी केलि ॥ २१ ॥

बारसे कोसे इस्तंबोल जोअण अढार वसि रंगरोल।
तिलंगशाह नामि पातसाह चोवीस लाप तुरंग उच्छाह ॥ २२ ॥

बबरकूल वशि पाँचसे पवनराज ईहा सुधी वसि ;
मनुज रूधिरई रंगई ते हीर नर महिमाई करि ते कीर ॥ २३ ॥

सहिसमुपी हवि कहीइ गंग जोअण सवासो पिहुली चंग ;
अष्टापह रष्यानि काजि पहिली आँणी जनुराज ॥ २४ ॥

तिहांथी पूरबदिश छिं बोध छ दरसण माहि कह्या अशुद्ध।
देस देपाल नेपाल भोटांन पई' गुरयांग कलिंगनो अंत ॥ २५ ॥

देउल महीमा मोटा घणा हर्स्ती भष्य आचारि सुणया ;
कोतुककारी वानरराज आश्वसुपा छिः आगलि आज ॥ २६ ॥

सहिसमुर्षा गंगानि पारि सोहि जैनराज्य उदार ;
सातसय कोसे जईइं जाम चालीस कोस विस्तारि ताय ॥ २७ ॥

लाटदेस 'तारातंबोल' जिन धरमीजन करि कल्लोल ;
'सूरचन्द्र' राजा जिनमती, त्रण लाष सेना तस दीपती ॥ २८ ॥

गयंवर गाजि झरि मद वारि पोढा पाचसय जस वर वारि ;
'अनूपचंद्र' सोहि सुत सार बीजो 'त्रिलोकचंद्र' कुमार ॥ २९ ॥

सदानंद मंत्री महंत, जिन धरमी मतिसागर संत,
पंचसत तुरंगम, जेहनि, अंहवीः राज लरछी तेहनि ॥ ३० ॥

जिन मंदिर सोहि सिंसात, कहीइँ तेहना सुन अवदात ,
तिण्णाकाल पूजा करि जिनमती, नाच नैवेद अनि आरती ॥ ३१ ॥

संघतणी करि भगति रसाल, आगम अरचा झाकझमाल ,
सुविहित साधु अछि तिहाँ घणा, वनवास रहि खलीश्रामणा ॥ ३२ ॥

युगप्रधान यतीस्वर जाणि, जिनवल्लभसूरि गुणखाणि ,
दानी ज्ञानी बहु धनवंत, श्रावक न तिहाँ वसिः सतवंत ॥ ३३ ॥

व्रतपालि बारि मनि खरि, जिन सासननी सोभा करि ,
संघ प्रतिष्ठा गुरूनी भगति, दिनदिन दीपिं बहुली युगती ॥ ३४ ॥

त्रणसय शिवालय सोहामणा, मिथ्याती जन मानि घणा ,
वरति जीवदया नितुमेय, आकरा कर न करि नरदेव ॥ ३५ ॥

जिन धरमी च्यारि वली वरणं, न्यायवंत पृथिवी आभरणं ,
इम अनेक सोभाँ मंडाण, केता कहीइ नगर बखाण ॥ ३६ ॥

इहांथी गाउ सो ऊपरि, सुवर्णकांति नगरी सिरि,
कल्याणसेन नामि भूपाल, जिनमति जीवदया प्रतिपाल ॥ ३७ ॥

ज्योतिवंत जिनहर चोवीस, महोच्छव महिमा होइ निसदीस,
महाधर पर्वत शेत्रुंज जोडि, पाँच प्रासाद नमुं करजोडि ॥ ३८ ॥

सोलघितालिं सेत्रुंजभणी, कल्याणसेन राजा ते गुणी,
संघ सबल लेइ महामंडणा, त्रिणवरसे करी पंथ प्रमाण ॥ ३९ ॥

समेताचल आव्या मनरंग, जिनना थूंभ नम्या ते चंग,
चंपापुरी पहोता नरराज, वासु पूज्य पूज्या जिनराज ॥ ४० ॥

भानुचंद वाचक तिहां मिल्या, तेहना संसय मनना टल्या,
विमलाचलनो पूछो पंथ, तब ते वचन कहि निग्रंथ ॥ ४१ ॥

अढारसय कोसे इहाँ थकी, अम्हे आव्या प्रणमी तिहाँथकी,
त्रिण प्रदक्षणा तेहनि दीध, सेत्रुंजयात्रा फूल ते लीध ॥ ४२ ॥

पंथ दोहिलो न सहि वारिं, माणस मांदाँ संघ मझारि;
ते कारणि संघ वच्छल करी, वित्त वावरीउँ प्रेमि धरी ॥ ४२ ॥

बावन मण मिरी शाक ह माहि, द्रव्य संख्या नहीं बीजी तिहांहि,
वासपूज्य मंदिरनी भीति, तेणे लिखीउं अेणी रीति ॥ ४४ ॥

भकतामर भाषा गीरववाणि, समझा साधु सवि सुजाण;
मोहामोहि वांद्या पाय, अेक आचारी ते मुनिराय ॥ ४५ ॥

वली मनमाहि हरष्या घणूं, दरसण दीठुं सोहामणुं,
वीर पटोधरि वंशि हुआ, पंचम आरि गच्छ जूजूआ ॥ ४६ ॥

जैनराज्य अे उत्तरदिसीं, दान दयाईं करी उलहसी,
लाहुरवासी ष्यत्री सही, अेवात विलाखी कही ॥ ४७ ॥

सोलब्यासीई (१६८२) सुपरि जेह, जोई आव्यो उल्लासि तेह,
निजगुरू मुखथी मिंह साँभली, अति आँणंद बोलीवली ॥ ४८ ॥

(प्राचीन तीर्थकल्प, प्रकाशक यशोविजय जैन ग्रंथमाला, भावनगर)

हमारे संग्रह के सं० १८०७ लिखित एक मूल गुटके में कुछ पाठ भेद भाई ठाकुरसी के हस्तलेख के साथ इस प्रकार लिखा मिलता है—

अथ देस परिख्या लिख्यते। सं० १६८४ मिति माह सुद १२ पातिसाह जहांन राज्य बैठा। तेवार पछे ए वात छे। मुलतान रो वासी जाति खित्री नाम बिलाखी बीजो भाई ठाकुरसी इणां न कह्यो थे समुद्र ताँई देस देखी आवो। तरै उवै देस देखी आया। तिका वात सारी पातसाही जी आगे कहीते लिखी छे। प्रथम अहमदाबाद थी ३२५ कोस आगरो छे तिहाथी ३०० कोस लाहौर छे। तिहाथी ३०० कोस कावल छः तिहाथी ३०० कोस खंधार छे। तिहाँथी ३०० कोस इसपान नगर छे। तिहांथी ३०० कोस परेसमान नगर। तिहाँ तिलंगी पातिसाह राज करे छे। तिहानो बजार १२ कोस लांबो छे। तिहाँथी ६०० कोस खुरसाण देस

छे ने खुरासाण नामा नगर छे। तेनो बजार १५ कोस लांबो छे। तिहाँथी १२०० कोस तंबोल नगर छ तिण नगर रो बजार ३६ कोस लांबो छे। २४ कोस चोडो छे। तिहां रोमी पातिसाह राज करे छे। ते पातिसाह छट्ठे महिने बारे निकले छे। ते पातिसाह ने २४ लाख घोड़ा छे। १२५००० हाथी छे १२५००००० हजार पायदल छे। नगर के आसपास चोफेर कोट लोह रो छै। पातिसाह रे कोटरेणे रो ताँबा को छे। तिहाँसी ५०० कोस बबर देस छे तिहाँ सपेद हीर माणस रा रुधिर में रेशम रंगीजे छे। तिहाँथी ७०० कोस तालतंबोल नगर छे तिहा राजा श्री रुपचंद राज्य करे छे। ते नगर ४८ कोस लांबो छे। ३६ कोस नगर चोडो छे। ४० कोस बजार लांबो छे। नगर के आसपास चोफेर कोट ताँबा को छे। राजा रे महल रूपा को छे। राजा रा महलाँ रा आसपास कोट सप्तधात रो छे। तिहाँ राजा जैन धर्मी छे। जैन धर्म पाले छे। तहाँ श्री वीतरागदेव विराजिया छे। तिहाँ श्री वीतरात देव रा देवल ७०० सिखर बंध छे। मैरावीं बंध बजार छे बाजार दोनूँ तरफ छै। तिहाँ नगर रे मध्य बड़ा बीच बाजार माँहि देहरो श्री पारसनाथ जी रो देवरो कोस दोय रो विस्तार छे। देवरा ऊपर काम रूपा रो छे। थांभा सोना रा छे। प्रतिमा सोना री छे। देली सोना री छे। सिंघासन जड़ाव रो छे। तिहाँ जयजयकार होयेना रह्यो छे। दिन में त्रिकाल पूजा रचीजै छे। तारातंबोल नामा नगर पास वड़ी सिंधु नामा मोटी नदी वहै छे। नदी रो पाट बड़े विस्तार कोस १म छे। इतरी वार्ता देस परिख्या री ठाकुर सी देखणे आयो सो कही, तिका लिखाणी। इति वार्ता संपूर्ण।

ऊपर दी हुई वार्ता का भी विविध रूपांतरों से अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अग्रवाल जी ने उन्हें प्राप्त पाठ के अशुद्ध होने आदि के कारण चार पाँच जगह गलत अर्थ किया है। जैसे – पातिसाह रोम सोम रो छे – इसमें रो मसो और मरो इस पाठ का संधि विच्छेद ठीक न होने से उन्होंने अर्थ लिख दिया है कि 'वह मर गया है।' इसके बाद 'पातसाह मास ६ सूँ बारै निसरै छे' इसका अर्थ कर दिया है – 'इसलिए नया बादशाह ६ महीने बाद बाहर निकलेगा, अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि वहाँ के बादशाह का मसौ (मौसा या माँ साहब जैसा कोई संबंधी) मर गया है।' कहना न होगा कि ये दोनों अर्थ गलत है। बात सीधी है कि वहाँ रोमसोम का बादशाह है वह, ६ महीने से बाहर निकलता है।

'दौलौ' शब्द का अर्थ दुहरा या दोहरा किया गया है पर वास्तव में इसका अर्थ है चारो तरफ 'सोनारी' शब्द का अर्थ किया हैं – सुनहरी पर वास्तव में अर्थ हैं सोने की। 'सात सै दौरे छे' इसका अर्थ आपने कर दिया है – मंदिर के ऊपर ७ सेर सोने का जड़ाऊ कलश है। पर अर्थ ७०० मंदिर हैं। 'तीकों' का अर्थ कर दिया है टीका (तीका)। पर वास्तव में अर्थ है वे। नीचे फिर शब्दों के अर्थ देते हुए 'माण' शब्द का अर्थ अज्ञात लिखा है पर वहाँ भी संधि चिन्ह की त्रुटि है। 'सुपेद रेशम माण सारी दुध (लोही) सूं रंगीजे छे' – इसका अर्थ है – मनुष्यों के रुधिर से सफेद रेशम रंगा जाता है। आप इसका भाव ठीक से नहीं समझने से अर्थ नहीं दे सके। फिरस 'पारी' शब्द का अर्थ बनाई हुई किया है वहाँ पर भी शुद्ध पाठ है – रूपा री छे – यानी चाँदी की है। अंत की लेखन प्रशस्ति का अर्थ आपने किया हैं कि 'वच्छराज नामक लेखक के गद्दी पर बैठने के कुछ काल बाद लिखा गया होगा। पत्र के अंत की ओर आया 'पीडत भुवेसु – अर्थात पंडित भुवेसु नाम मूल लेखक का प्रतीत होता है उसी पर से वच्छराज ने २०० वर्ष बाद नकल उतारी होगी।' पर वास्तव में पाठ है पिंडत हवै सो भूठ मानो मति – अर्थात् जो पंडित हो सो इसे भूठ न माने। पर वच्छराज के गद्दी पर

३ (२–६४)

बैठने के कुछ काल बाद पता नहीं किन शब्दों का अर्थ उन्होंने निकाला है। मूल में उसके सूचक कोई शब्द नहीं हैं। खैर अब ऊपर जो तीन प्रतियों के गद्य पाठ और एक पद्य पाठ दिया गया है उससे सारे अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं इसीलिए ही किसी प्राचीन रचना को प्रकाशित करते समय उसकी कई प्रतियों का उपयोग करना आवश्यक होता है।

*

संस्कृत में नायिकाभेद और रसिकजीवनम्

करुणापति त्रिपाठी

•

[१]

उपक्रम

मूलस्रोत : नाट्यशास्त्र

साहित्यशास्त्र के इतिहास में, आगे चलकर नायिकाभेद का प्रसंग आता है – शृंगाररस के आलंबनरूप में। परंतु इस प्रसंग की मौलिक आदिचर्चा हुई है 'भरत' के नाट्यशास्त्र में, जहाँ बीजरूप से बिखरी हुई एतद्विषयक सामग्री का उल्लेख विभिन्न संदर्भों में किया गया है। इस विषय का परिचय आगे के पृष्ठों में कुछ विस्तार के साथ दिया जायगा। यहाँ नाट्यशास्त्रीय रस - प्रसंग की भूमिका के विषय में नीचे लिखी बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

नाट्यशास्त्र में रस आदि का परिचय और विवरण आरंभ होता है षष्ठ अध्याय से। उसके पूर्व के पाँच आरंभिक अध्याय तो नाट्यशास्त्रीय विषय - अवतारणा की पौराणिक एवं सांस्कृतिक प्रस्तावना या भूमिका हैं। इस भूमिका की रूपरेखा भी आगे दी जायगी। यहाँ इतना ही कहना है कि नाट्यशास्त्र में 'नायिका' और नाट्यबद्ध पात्रों की मुख्यरूप से चर्चा हुई है बाईसवें अध्याय में या उसके बाद, और रस की चर्चा हुई छठे अध्याय में। 'रस' की चर्चा हुई है नाट्य के सर्वप्रथम प्रमुख तत्व के रूप में और नायिका - नायकों का परिचय दिया गया है आहार्याभिनय के अंतर्गत।

'नाट्यशास्त्रीय' विषयावतरण के प्रसंग में भरत ने पाँच बातों को बताने का संकेत किया – संग्रह, कारिका, निरुक्त, रस और भाव। इसी संदर्भ में संक्षेप में कारिकाबद्ध रस - रसांगों का नामोल्लेख किया गया है। रसों का नामोल्लेख करते हुए भरत ने कहा है –

> शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
> बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
> एते ह्यष्टौ रसाःप्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

अर्थात् शृंगार आदि नाम वाले आठ, जो नाट्य में 'रस' कहे गए हैं, महात्मा द्रुहिण (पितामह ब्रह्मा) ने इन्हें रस कहा है। [अतः पौराणिक आख्यान के अनुसार वे ही आद्य रसाचार्य हैं।]

यहाँ यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि उपनिषदों में निर्दिष्ट 'रसो वै सः' द्वारा जिस आध्यात्मिक भूमिका पर 'ब्रह्माभिन्न' 'ब्रह्मानंद सहोदर' रसानंद की प्रतिष्ठा 'आनंदवर्धन' 'भट्टनायक', 'अभिनवगुप्त' 'मंमट' तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने की, उसकी तुलना में,

भरतोक्त रस, नाट्याश्रित लौकिक आनंद की भूमिका पर प्रतिष्ठित आस्वादन है। इसका आधार सांस्कृतिक परंपरा की मंगलकामना है। लोकव्याप्त ग्राम्याचार से मानव को मुक्त करके सदाचरण की ओर उन्मुख करना, धर्माचरण की ओर प्रेरित करना इसका लक्ष्य है। इस 'रस - तत्व' का महत्व, आगे चलकर श्रव्यनाट्य उभयविध काव्य में प्रतिष्ठित हुआ।

सारांश यह कि आख्यानकीय परंपरानुसार नाट्य में 'रस' - तत्व के प्रवर्तक - रूप में भरत ने यद्यपि 'द्रुहिण' को आद्य उपदेष्टा बताया है तथापि शास्त्रीय स्तर पर निरूपित - विवेचित सिद्धांत के रूप में इसका प्रथम परिचय 'नाट्यशास्त्र' से ही मिलता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से 'भरत' को रस - सिद्धांत का प्रवर्तक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुशीलनकर्ता यह जानते और मानते हैं कि 'भरत' ने 'रस' की प्रस्तावना 'नाट्यांग' के रूप में की है। 'नाट्य- संग्रह' की त्रयोदश विधाओं का निर्देश करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम रस के ही नाम का उल्लेख किया है। इसीके साथ - साथ 'भाव', 'अभिनय' आदि का भी निर्देश[1] हुआ है। हम यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं इन्हीं तत्वों का विवेचन मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इनके विवेचन, सांगोपांग विस्तृत निरूपण तथा विस्तारण और वर्गीकरण में ही नाट्यशास्त्र का मुख्यांश पल्लवित हुआ है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम पाँच अध्याय तो वस्तुतः ग्रंथ की केवल भूमिका है जिसमें पौराणिक पद्धति से नाट्य के उद्भव, विकास, उपयोगिता, प्रवर्तन, उद्देश्य आदि का निरूपण किया गया है तथा प्रेक्षागृह, रंग, रंगदेवता तथा उनके पूजन आदि का भी परिचय दिया गया हैं। तदनंतर विभिन्न नाट्य - नृत्यों के प्रयोग की चर्चा विस्तार के साथ करते हुए पूर्वरंग - विधान का विवेचन हुआ है। पाँच अध्यायों का उपर्युक्त विषय वस्तुतः नाट्यशास्त्र की प्रस्तावनात्मक भूमिका है। नाट्यशास्त्र के मुख्य परिचेय - प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण तो छठें अध्याय से ही आरब्ध होता है; और प्रत्येक संबद्ध तत्व का, प्रत्येक संबद्ध विवेच्य का तत्कालीन विश्वकोषात्मक शैली में विस्तृत निरूपण किया गया है।

इस व्यापक विषय - परिचायन की परिधि इतनी विशाल है कि तत्तत् प्रंगों में प्रायः सब कुछ आवश्यक कह दिया जाता है। छठें और सातवें अध्यायों में रस और भावादिकों का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया है। यह निरूपण इतना सर्वव्यापी हुआ है कि पश्चाद्वर्त्ती रस - निरूपक आचार्य भरत - निर्देशित परिधि - परिवेश का ही प्रायः चक्कर लगाते रहे हैं। रसाभिव्यक्ति एवं रसास्वादन की पद्धति, उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि और सरणि - योजना को लेकर बहुधा शास्त्रार्थ - पोषक प्रणाली में रस - विचार होता रहा, रस - सूत्र की व्याख्या और

१. रसा भावा अभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिस्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः॥
उपचारस्तथा विप्रा माण्डपश्चेति सर्वशः।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः॥

नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, कारिका १० – ११ [काव्यमाला ४२, निर्णयसागर संस्करण — १६४३]

'संयोग' - पद - वाच्य संबंध - कल्पना में बुद्धि - वैभव का प्रदर्शन - क्रम चलता रहा। पर शास्त्रीय तत्व - चिंतन की दृष्टि से नूतन प्रमेय - परिचेय की कड़ी कदाचित् ही भरत की रस - शृंखला में जुड़ी हो।

कहने का सारांश यह कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में 'रस' तत्व को उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने दो तत्वों का महत्व अत्यंत अभिनिवेश के साथ पुरस्कृत किया है। वे दोनों तत्व हैं १ – रस - भावादि और २ – अभिनय। इन दोनों में भी केंद्रात्मा, मुख्य साध्य और प्रधान आस्वाद्य, नाट्यप्राण है 'रस'। 'रस' का साधन-प्रतिपादन रसन - आस्वादन, अधिगमन - अभिव्यंजन होता है 'अभिनय' से। अभिनय के लिये यह आवश्यक है कि वह कलानुप्रणित हो, लोकाचरण की यथासंभव यथार्थानुकृति हो। उसके लिए यह अनिवार्य है कि अभिनय लोक - शास्त्रानुसारी हो, अनुकृति - प्रतिकृति के प्रकृत उपयोजन - विनियोजन द्वारा ऐसे ढंग से प्रयुक्त हो जिससे कि साध्य - साधना में सफलता मिल सके।

नाट्य - संग्रहों में केंद्रात्म - स्थानीय साध्यता के कारण ही नाट्यशास्त्र के मुख्य विवेच्य-निरूप्य तत्वों का, रस - भावादि का आरंभ, छठें अध्याय के रसप्रकरण से होता है।

इस 'रस' तत्वात्मा को भरत ने वाग् - अंग - सत्व से युक्त नानाभिनयों से व्यंजित स्थायिभाव का आस्वादन बताया है। प्रेक्षक सुमनस जनों के लिए (सहृदय सामाजिकों के लिए) जब वैशिष्ट्य - संयोजित पूर्वोक्त अभिनय आस्वादनीय हो उठता है, उन्हें हर्षादि अधिगत होने लगते हैं तब उन्हीं स्थायिभावों को **'नाट्य- रस'** की प्रतिष्ठित अभिख्या प्राप्त होती है।[२]

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि आचार्य ने स्वकथित उक्त तत्व को **'नाट्य- रस'** कहा है। इसका महत्व यह है कि 'रस' को आचार्य ने नाट्य - संदर्भ में ही अभिख्यात किया है और अभिनय को, विशेष रूप से भावाभिनय को ही (जो वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों से अनिवार्यतः उपेत है), रस - व्यंजक बताया है।

विषय का विवेचन विस्तार के साथ अनेक प्राच्य - पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। अतः उनका पुनराख्यान न कर यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि 'भरत' ने जिस तत्व को नाट्यांग के रूप में ही, दृश्यकाव्य के संदर्भ में ही, उद्भावित किया है, वही आगे चलकर पाठ्य - श्रव्य काव्य का भी केंद्रस्थानीय तत्व मान लिया गया।

नायिकाभेद

रसके संबंध में नाट्यशास्त्रीय निरूपण की जो प्रधानता ऊपर कही गई है, नायिका - भेद के विषय में भी वही दिखाई पड़ती है। नायिका - भेद का भी मूलस्रोत, स्पष्टतः नाट्यशास्त्र

२. ...नानाभावाभिनयव्यंजितान् वाङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्याभिव्याख्याताः।
अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ —
यथा वहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नायसाः स्मृताः।
नाट्यशास्त्र (काव्यमाला ४२) – अध्याय ६, पृ० ६३।

से ही प्रवर्तित हुआ और शताब्दियों के अनंतर रीतिकाल तक पहुँचते - पहुँचते उसके उद्देश्य - केंद्र में क्रांतिकारी बाढ़ आ गई। अभिजात - वर्गीं विलास के उपासक, साहित्य - रसिकों के समाज में वह मनोरंजन का कलात्मक साधन बन गया। रईसी और अमीरी के, ऐशो - इशरत के दूसरे उपकरणों के समान यह भी एक साधन बन गया, जिसका दर्जा, काव्यात्मक और कलामय होने के परिणाम - स्वरूप, काफी ऊँचा और इज्जत का समझा जाने लगा।

गुप्तकालीन सामाज्यव्यापी शास्त्रपरिशीलन के साथ - साथ वैभव आडंबरित आभिजात्य-वर्गीय रसिकता और विलासिता की स्वच्छंद क्रीड़ा – साहित्य और कला के क्षेत्र में – बड़ी तीव्रगति से चल पड़ी थी। 'हर्षवर्धन' के युग में तथा पश्चाद्वर्ती शताब्दियों में साहित्यिक माध्यम से विलास - वृत्ति के तर्पण और कलात्मक अनुरंजन की प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती जा रही थी। पर उन दिनों साहित्यिक अनुरंजन में संवेदना की गहराई का आग्रह, रसिकता का आधार माना जाता था। उस युग का आभिजात्य - वर्गीय सहृदय सामाजिक, काव्य और साहित्य के तन्मयकारी, आत्मविभोर कर देनेवाले, काव्यानंद का निर्विकल्प आस्वादन करते थे। उन दिनों यही काव्य का प्राण, सर्वस्व माना जाता था।

पर हर्षोत्तर काल में सच्ची सहृदयता की, यथार्थ काव्य - रसिकता की यह आधार - भूमि खिसक चली। धीरे - धीरे भोजराज के समय तक पहुँचते - पहुँचते, 'शृंगार' की 'रसराजकता', विलासमय चिंतन की आधार - शिला बन गई। 'शृंगार - प्रकाश' की चिंतनपूर्ण एवं दार्शनिक अभिनव उद्भावना में, कदाचित विलासप्रिय अवचेतन मन अधिक सक्रिय योग देता जान पड़ता है। इसके बाद भारत के शासक, पंडित और कलाकार विदेशी शासन के आतंक और त्रास के कारण, विलासकला में जागरित कुतूहल को लेकर काव्यानुरंजन के माध्यम से, मनस्तोष की साधना करने लगे।

परिणाम यह हुआ कि रीतियुग में पहुंचकर साहित्य की तन्मयकारी शक्ति के द्वारा कलास्वादन की प्रवृत्ति का प्रायः विलोपन हो गया और उसके स्थान पर आसनारूढ़ हुई आतंक-संकुचित हृदय की, शरणकामना करनेवाली, येनकेन प्रकारेण आत्मरक्षातुर मनोवृत्ति, जो अपने ही आडंबर में विभ्रांत होकर समययापन करती हुई संतोष प्राप्त करना चाहती थी। आत्मविभोर कर देनेवाली भावना की सहज गहराई को छोड़कर, भौतिक वासना से उद्भावित बौद्धिक अनुरंजन के प्रयास में पड़कर, वही मनोवृत्ति नारी को अपनी संकेतदासी समझने लगी। उसके अंगों की कोमलता को, हृदय की स्नेहाप्लुप्त मंजुलता को तथा अंगचेष्टाओं की सहज भावप्रेरितता को अपनी विलासतृष्णा का संतर्पण मानने लगी। अतएव हृदयगत वासना की भूख, अस्वस्थ प्राणी की रोगज तृष्णा सी असंयत हो उठी थी, अमर्यादित हो गई थी। तत्कालीन काव्यशास्त्र के आचार्य अपने अनुरंजनशील बुद्धिवैभव द्वारा उसे संतृप्त करने के प्रयास में लग गए थे। बौद्धिक विश्लेषण और वैलासिक वर्गीकरण का अभाव लेकर इस युग ने अपने कालानुमोदित पांडित्य का सुंदर प्रदर्शन किया।

नायिकाभेद की आरंभिक रूपरेखा

ऊपर की पंक्तियों में 'भारतीय साहित्य के नायिका - भेद की स्वरूप - यात्रा' के संबंध में जो थोड़ा सा संकेत किया गया है, उसका उद्देश्य केवल यही है कि 'भरत' केकाल से 'रीति' - काल तक पहुँचते-पहुँचते, उक्त प्रकरण की आत्मा और कलेवर–दोनों में कितना अंतर पड़ गया

इसका आभास दे देना। हम यह स्पष्टतः जानते हैं कि 'रस' के ही समान 'नायिकाभेद' का जो उल्लेखन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, वह 'दृश्यकाव्य' और 'अभिनय' से अनिवार्यतः संबद्ध है। रीतियुगीन हिंदी-साहित्य में, उल्लासपूर्ण उत्साह के साथ, पुनः पुनः रीतिबद्ध रूप में निरूपित 'नायिकाभेद' का प्रसंग यद्यपि नाट्यशास्त्र में ही सर्वतः प्रथम उपलब्ध है तथापि भिन्न संदर्भ में, अभिनय की उपयोगिता के रूप में।

धनंजय और रुद्रभट्ट का दृष्टिभेद

परवर्ती संस्कृत 'साहित्यशास्त्र' के ग्रंथों में 'नायिकानायकभेद' का अभिप्रवेश जिस रूप में हुआ है, नाट्यशास्त्र से उसमें थोड़ा अंतर दिखाई देता है। 'नायकनायिकाभेद' के निरूपण की प्रस्तुत शैली रुद्रट के 'काव्यालंकार', धनंजय के 'दशरूपक' और रुद्रभट्ट के 'शृंगार-तिलक' से प्रभावित है। 'शृंगार-तिलक' को अनेक विद्वान् 'दशरूपक' से पूर्व की रचना मानते हैं। पर इस मान्यता के समर्थन में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रसंग की चर्चा आगे की जायगी।

यहाँ केवल इतना ही कहना है कि 'शृंगारतिलक' के तथाकथित श्लोकों का अन्य ग्रंथों में भी दिखाई पड़ना कुछ निर्णायक प्रमाण नहीं हो जाता। 'काव्यानुशासन', 'शार्ङ्गधरपद्धति' और 'साहित्य-दर्पण' के पूर्व 'शृंगारतिलक' अवश्य निर्मित हो चुका था—यह निश्चित है। पर, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, 'नायिकाभेद' की शास्त्र-प्रौढ़ चर्चा करनेवाले भरत-परवर्ती प्रथम आचार्य 'धनंजय' हैं और उनका संदर्भ परवर्ती नायिकाभेद-साहित्य का उपजीव्य हुआ।

'दशरूपक' चार-प्रकाश वाला ग्रंथ है। प्रथम प्रकाश में वस्तु (संविधानक) का सांगोपांग विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नेता-निरूपण के क्रोड में नायिकाभेद और तत्संबद्ध विषय का प्रपंच है। तृतीय प्रकाश में नाट्य-संबद्ध अन्य शास्त्रीय विषयों की विवेचना की गई है तथा चतुर्थ प्रकाश में रस-रसांग और उसके निष्पादन की प्रक्रिया का गहराई के साथ विवेचन किया गया है। इस क्रम से अनुयोजित ग्रंथ में नायिका भेद की अवतारणा शृंगारी आलंबन का परिचायक न होकर नेता (पात्र) का निरूपणीय बनकर आया है। अभी इतना ही कहना है। विशेष बातें इस प्रसंग की आगे की पंक्तियों में सामने आएँगी। हाँ, इतना और भी स्मर्त्तव्य है कि रीतियुगीन नायिका-निरूपण में प्रेरक वृत्ति थी वैलासिक अनुरंजना की और धनंजय में थी शास्त्रीय पक्ष के विवेचन की उत्कंठा।

रुद्रभट्ट का परवर्ती ग्रंथ उस मनोवृत्तिवाली कृतियों के अधिक समीप है जिनकी रचना रीतियुग में हुई। 'शृंगार-तिलक' का निर्माण उस युग के अधिक निकट है जिस काल में नारी की जन्मजात कोमलता और रमणीयता, उसकी निर्बलता और विवशता का रूप धारण कर चुकी थीं। अपनी सौंदर्यनिधि का रागास्पद बोझ ढोने में नारी के सहचर ने सहायता देना छोड़ दिया था। वह नारी को अबला, कामिनी और रमणी मात्र समझने लगा था। और फिर नर ने विवशता की शृंखला में बाँधकर नारी को विलास के कारागार की चिरबंदिनी बना डाला। और अपनी वैभव-प्रसूत भोगतृष्णा के तर्पण का साधनमात्र मान लिया।

'शृंगार-तिलक में' इसी विलासानुप्राणित शृंगारी-मनोरंजन का राग अधिक प्रखर और मुखर दिखाई देता है। इस प्रेरणा के फलस्वरूप ही काव्य में रस-निरंतरता (शृंगार-

रस की पुष्कलता) को प्रमुखता दी गई है जिसके बिना काव्य, विद्वद्गोष्ठी में उबानेवाला हो जाता है।[3]

अपने ग्रंथ में परंपरानुसार रस के प्रामुख्य की घोषणा करके भी रुद्रभट्ट ने रस, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि का नाम गिनाकर तथा संक्षेप में नायक - निरूपण को भी झट से निपटाकर, अत्यंत त्वरा के साथ दौड़ते हुए, मानों अपने काम्य नायिका - निरूपण के प्रसंग पर जा पहुँचते हैं। और वहाँ पहुँचकर उनका मन मानों रम जाता है। और तब पूर्वोक्त मध्यकालीन अभिजात्य वर्ग की विलास - प्रवण और कलानुरंजक मनोवृत्ति का अनुगमन करते हुए दो परिच्छेदों में नायिकाओं तथा अन्य शृंगारी विषयों का विस्तार के साथ सोदाहरण निरूपण करते हैं।

उसी भावना से आच्छन्न उनके पांडित्य से अंत में यह कहे विना नहीं रहा गया कि पूर्वोक्त विषय - विवेचन का अनुसरण करते हुए काव्य की रचना होनी चाहिए। इस रस से रहित काव्य नीरस कहा जाता है।[4] ग्रंथकार का हृदय इतना 'शृंगार' - मोहित है! उक्त रस को वह सर्वप्रमुख रसराज स्वीकार कर काव्य में उसका अभिप्रवेश अनिवार्य मानता हैं। कुछ-कुछ यही प्रवृत्ति रीतियुग में भी लक्षित होती है।

'श्रव्यकाव्य' के परिविषय में 'रस' तत्व को संयोजित करते हुए रुद्रभट्ट ने कहा है कि 'भरत आदि आचार्यों ने रसादि की अवस्थिति दृश्यकाव्य में बताई है। अपनी मति के अनुसार मैं उसकी संयोजना श्रव्यकाव्य में कर रहा हूँ।'[5] अतः यह कहा जा सकता है कि रीतियुगीन सुव्यस्थित नायिकाभेद के विशाल साहित्य का मूल यदि भरत के नाट्यशास्त्र में है तो उसका सुशृंखलित विस्तारण - क्रम दशरूपक में मिलता हैं और उसकी प्रेरणात्मक मनोवृत्ति का अंकुरण 'शृंगारतिलक' में सुस्पष्ट दिखाई देने लगता है। इतना ही नहीं, नाट्यशास्त्र में दृश्य और श्रव्य काव्य में प्रायः समस्त उपकरणों का मूल संनिहित है।[6]

३. तस्माद्यत्नेन कर्त्तव्यं काव्यं रसनिरंतरम्।
अन्यथा शास्त्रविद्गोष्ठ्यां तत्स्यादुद्वेगदायकम्॥ [शृङ्गारतिलक – १।८]

नोट – इस संबंध में 'शृंगारतिलक' के महत्व को समझने और इस ग्रंथ का आलोडन करने की प्रेरणा मिली डा० बचनसिंह के प्रबंधग्रंथ (रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यजना) से।

४. इत्थं विरचनीयोऽयं शृङ्गारः कविभिः सदा।
अनेन रहितं काव्यं प्रायो नीरसमुच्यते॥ वही २।१६६।

५. प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसास्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते॥ वही १।५।

६. रस, भाव, अभिनय, अंगचेष्टा, नृत्य, चारी, नाट्यवृत्तियां, भरतनाट्यम्, चित्राभिनय, सिद्धिव्यंजन, वाद्य - विधान, संगीतविधान, ध्रुवा (ध्रुपद) - विधि, वाद्याध्याय, चतुर्विधाभिनय, संभाषणविधि, नाटकांगपरिचय, लास्य, सांग इतिवृत्त, वृत्ति, नायिका - निरूपण, प्रकृतिविचार, छन्दोविचार, काव्यगुण - दोष, उपमा-दीपकादि अलंकार और संस्कृत प्राकृत - अपभ्रंश आदि भाषोल्लेख।

नाट्यशास्त्र की इस महत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में 'नायिका - भेद' - संदर्भ की चर्चा करते हुए इस बात का संकेत किया है कि 'परवर्ती समस्त नायिका - भेद - शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' के एक सामान्य अंग का लोकगम्य भाष्यमात्र है और उसमें एक ओर तो नायिकाभेद का विषय नाट्यशास्त्र से गृहीत है तथा दूसरी ओर उसका व्यावहारिक अंग कामशास्त्रविषयक ग्रंथों से अनुप्रेरित है।' द्विवेदीजी के उक्त निष्कर्षात्मक सूत्रोक्ति का ठीक - ठीक तात्पर्य समझने के लिए 'नाट्यशास्त्र' और परवर्ती साहित्यशास्त्र के आरंभिक ग्रंथों में उपलब्ध एतद्विषयक उल्लेख की रूपरेखा का परिज्ञान आवश्यक है।[७]

संस्कृत में नायिकाभेद की आरंभिक मूलसामग्री और नाट्यशास्त्र

इतिवृत्त के संधि - अंगों का निरूपण कर चुकने के अनंतर आचार्य भरत ने बीसवें अध्याय में – 'भारती, सात्वती, कैशिकी और आरंभटी' – इन चतुर्विध वृत्तियों का विवेचन प्रारंभ किया है। वृत्तियों का परिचय देते हुए उन्होंने बताया है –

'पुनर्नाट्यप्रयोगे च नानाभावरसान्विता।
वृत्तिसंज्ञा कृता ह्येषा नानाभावरसाश्रया॥'

इस निर्देश से संकेतित होता है कि भरत ने 'वृत्तियों' को 'भाव और रस' दोनों का आश्रित माना है। और इन्हीं का निरूपण करते हुए 'वाचिक, आंगिक, सात्विक तथा आहार्य' इन चार प्रकार के अभिनयों की विशेषता का विवरण दिया गया है। 'आहार्य' अभिनय के अंतर्गत नाट्य के उपकरणों की चर्चा करते हुए भरत मुनि ने 'दिव्या, मानुषी' आदि नायिकाओं का तथा उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेदों का उल्लेख किया हैं। इसी संदर्भ में 'वागङ्गसत्वज' (वाणी, अंग और सत्व से जन्य) अभिनय को 'सामान्याभिनय' कहा गया है और इसी प्रकरण में शृंगार की चर्चा हुई है –

यः स्त्रीपुरुषसंयोगो रतिसंभोगकारकः।
स श्रृङ्गार इति ज्ञेयो ह्युपचारकृतः शुभः॥

७. नाट्यशास्त्रीय नायिका - भेद की चर्चा के संदर्भ प्रकरण में आगे यह दिखाया गया है कि 'भरत' ने नायिकाओं का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया है। कायिक, मानसिक, यौन - वैशिष्ट्यों के आधार पर जहाँ एक ओर नायिकाओं का विभाजन हुआ है वहीं दूसरी ओर कभी-कभी अभिरुचि, शील और प्रकृति आदि का भी आधार लिया गया है। भोजनाच्छादन - वेषभूषा - शृंगार आदि भी भेदक धर्म बताए गए हैं। इन्हीं में से कुछ तत्व आगे चलकर कामशास्त्रीय ग्रंथों में स्त्री या नायिका के चतुर्विध विभाजन के प्रेरणा-स्रोत बने।

यहाँ एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है। कामशास्त्र के ग्रंथों में विशेष रूप से 'कोकशास्त्रीय' कहे जानेवाले ग्रंथों में – पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी – नाम से जो चार भेद मिलते हैं और लोकप्रिय भी हैं, 'वात्स्यायन' के कामसूत्र में उनका उल्लेख नहीं हुआ है। वहाँ तो नायक के तीन भेद हैं – **शश, वृष और अश्व** तथा नायिका के भी तीन ही प्रकार हैं – **मृगी, बड़वा और हस्तिनी।**

सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
सुखस्य च स्त्रियो मूलं नानाशीलधराश्च ताः ।।
[वही – अध्याय २२, श्लोक ९३ – ९४]

इस उद्धरण में स्त्रियों को सुख का मूल बताया है। यह भी कहा है कि वे नानाशील-धारिणी होती हैं। इसके अनुपद ही 'मुनि' ने शीलों की चर्चा यों की है –

देवतासुरगन्धर्वरक्षोनागपतत्रिणाम्।
पिशाचयक्षव्यालानां नरवानरहस्तिनाम्।
मृगीमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ।।

इस निर्देश के द्वारा देवशीलांगना, असुरशीलांगना, गंधर्वशीलांगना, राक्षसशीलांगना, नाग०, पक्षी०, पिशाच०, ऋक्ष०, सर्प०, मनुष्य०, वानर०, हस्तिशी०, मृगीशी०, मीन०, उष्ट्र०, मकर०, खर०, सूकर०, वाजि०, महिष०, अज०, गोशीला० – इस प्रकार नायिका के २२ भेद दिए गए हैं। इनका लक्षण बताते हुए तत्तत् योनियों में उत्पन्न जीवों के तथाकथित शील बताए गए हैं। परवर्ती साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में यह शीलाश्रित विभाजन प्रचलित नहीं हुआ। कदाचित् आचार्यों ने शीलाधारित इन भेदों को साहित्योपयोगी नहीं समझा – वरन् कामशास्त्रोपयोगी समझकर इन्हें त्याग दिया। 'कोक्कोक' के 'रतिरहस्य' और उसके पश्चात् निर्मित कामशास्त्रीय ग्रंथों में इन भेदों की चर्चा हुई है। 'रतिरहस्य' में अति संक्षेप से भरतकृत उक्त भेदों में से कुछ का वर्णन हुआ है। अनेक भेदों को छोड़कर एक नए भेद, 'काकसत्वा' का उल्लेख किया गया है।

स्त्रीपुरुषसंश्रित नाट्यधर्मी कामोपभोग के[८] द्विविध भेदों का निर्देश करते हुए आगे चलकर अंगना के पुनः तीन भेद बताए गए हैं – १ – बाह्या, २ – आभ्यंतरा, ३ - बाह्याभ्यंतरा। 'कुलीना' को आभ्यंतरा बताया है, संभवतः जिसका तात्पर्य है 'कुलवधू' अर्थात् स्वीया। 'बाह्या' वेश्या या सामान्या के लिए स्पष्ट ही है। 'बाह्याभ्यंतरा' को 'कृतशौचा' कहा है – जिसका अर्थ अस्पष्ट है। या तो पाठ ही कुछ गड़बड़ है या अर्थ अब ज्ञात नहीं है। संभवतः उसका अर्थ कुछ ऐसा था जिससे 'कुल को अपवित्र करनेवाली का' अर्थ रहा होगा।

८. कामोपभोगो द्विविधो नाट्यधर्मे विधीयते।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव नारीपुरुषसंश्रयः ।।
आभ्यन्तरः पार्थिवानां कर्तव्यः स च नाटके।
बाह्यो वेश्यांगनानां तु स च प्रकरणे भवेत् ।।
त्रिविधा प्रकृतिस्त्रीणां नानासत्वसमुद्भवा।
बाह्या चाभ्यन्तरा चैव स्याद्बाह्याभ्यन्तरा परा।
कुलीनाभ्यन्तरा ज्ञेया बाह्या वेश्याङ्गना कृते।
कृतशौचा च या नारी सा बाह्याभ्यन्तरा स्मृता।।
नाट्य०, अ० २२, (का०) १४१।

इन उपर्युक्त विवरणों तथा आगे की जानेवाली चर्चा से यह स्पष्टतः सिद्ध है कि नाट्य-शास्त्र में नायिका - निरूपण अनेक दृष्टि से, अनेक परिपार्श्वों में हुआ है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र और अभिनयकला की विविध परिस्थितियों और प्रयोजनों के अनुकूल अंगनाओं और नायिकाओं का अनेक प्रसंगों में अनेक बार निरूपण किया है।

कहीं तो प्रकृति के अनुसार उत्तमाधममध्यमा - नायिकाओं का विभाजन और उनके गुणधर्मों का विवरण दिया गया है, और इसी प्रसंग में राजोपचार - संबद्ध महादेवी, देवी आदि अंतःपुरीय स्त्रियों[१] का निरूपण किया गया है और कहीं, धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरप्रशांत – चतुर्विध नायकों के अनुरूप दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका – इन चतुर्विध नायिकाभेदों का उल्लेख हुआ है। इनके प्रकृतिलक्षणों को बताते हुए धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता—इन चार भेदों का भी (जो आगे चलकर नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में कभी - कभी गृहीत हैं) वर्णन मिलता है।

इसी प्रकरण में प्रसंगवश 'कुलजा', 'गणिका' और 'प्रेष्या' का भी परिचय दिया गया है। नायिका के ये तीन भेद (कुलजा, गणिका और प्रेष्या) ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व के हो सकते हैं यदि परवर्ती नायिका - भेद के साहित्य में इनकी छाप और प्रेरणा को मूलस्रोत मान लिया जाय।

आगे चलकर नायिका - भेद पर ग्रंथ निर्माण करनेवाले आचार्यों ने जिन्हें 'स्वकीया, परकीया और सामान्या' के नाम से व्यवहार किया तथा नायिका - भेद के विशाल आयाम का जो आरंभाधार माना गया है, उनका बीज, संभवतः 'भरत' का उक्त उल्लेख ही है। 'भरत' ने एक दूसरे प्रसंग में भी 'कुलजा, वेश्या और प्रेष्या' की चर्चा की है। 'प्रेष्या' सामान्यतः 'दूती' को, आगे चलकर, कहा गया है, पर असंभव नहीं कि 'परकीया' की प्रेरणा का बीज भी कहीं इसमें हो हो।

एक अन्य संदर्भ में लुब्धा, **पंडिता, चतुरा, भामिनी, पुरुद्वेषिणी, बाला, गर्विता,** उदात्ता आदि के नाम आए हैं। 'संगम' - प्रसंग में भेदक गुणधर्मों के अनुसार **'विरक्ता और अनुरक्ता'** का वर्णन हुआ है। **उत्तमा, मध्यमा और अधमा'** – इन त्रिभेदों का विभिन्न दृष्टि - बिंदुओं से अनेक परिवेशों में वारंबार नामोल्लेखन मिलता है। नाट्यशास्त्र (काशी संस्कृत सिरीज ६०) में शील की दृष्टि से इन भेदों का पुनः नाम और लक्षण मिलता है। वहीं आगे चलकर प्रकृति - स्वभाव के अनुसार 'उत्तमा' आदि का सलक्षण विवरण दिया गया है। कर्मानुसारी भेद भी वहाँ है।

१. स्त्री विभागं प्रवक्ष्यामि उपचारं तथैव। महादेवी तथा देवी स्वामिनी स्थायिनी तथा ॥
भोगिनी शिल्पकारी च नाटकीयार्थनर्तकी। अनुचारी तथा युक्ता तथा च परिचारिका ॥
तथा संचारिणी चैव तथा प्रेषणकारिका। महत्तरा प्रतीहारी कुमारी स्थविरा तथा ॥
आयुक्तिकास्तु भूपानामेष आभ्यन्तरो गणः। ... ...
... ... एतदष्टादशविधं प्रोक्तमन्तपुरं मया।
(ना० शा०, अ० २४, श्लोक० ५४ – ५७)

मुग्धा - मध्या - प्रौढ़ा

रीतिकालीन नायिका - भेद के साहित्य में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा (प्रगल्भा) के नाम से स्वीया नायिका के जो चित्र, रूपमदिरा से आत्मविभोर होकर, रस - सागर में डूब - डूबकर, विलास - कल्पना से बेसुध हो होकर, भावोद्वेलन से विह्वल होकर, आचार्य - कवियों ने अपनी काव्य - तूलिका से अंकित किए हैं – उनका मूल भी भरत में ही मिलता है। परंतु नाट्यधर्म और अभिनय के उपकारक उपकरणों की दृष्टि से जिनका भिन्न प्रकरण में भिन्न रूप से उल्लेख हुआ है, उन्हीं को आगे के रस - निरूपक आचार्यों ने शृंगारालंबन नायिका की व्यवस्थित मर्यादा में रखकर उनका स्थान सदा के लिए निर्धारित कर दिया।

भरत के यहाँ उत्तमा, मध्यमा और अधमा अंगना की चर्चा करते हुए नारी के तारुण्य को, यौवन को, चार क्रमिक सोपानों में अवस्थित किया है – १ – प्रथम यौवन, २ – द्वितीय यौवन, ३ – तृतीय यौवन और ४ – चतुर्थ यौवन[१०]। प्रथम यौवन या यौवनलाभ की प्रथमावस्था का पर्याय बनकर 'नवयौवन' शब्द भी आया है। यौवनलाभ की, यौवनक्रम की ये चार अवस्थाएँ हैं। इनमें प्रथम तीन अवस्थाएँ ही आगे चलकर अनुरंजनमयी मुग्धा - मध्या - प्रौढ़ा नायिकाओं की मधुमयी भूमिका धारण करके नायिका - भेद के रंगमंच पर उन्मद अभिनय करती लक्षित होती हैं। चतुर्थ यौवन को आचार्य भरत ने शृंगार - (रस) शत्रुभूत कहकर उसका तिरस्कारात्मक परिचय दिया है। उक्त नायिका को, चतुर्थयौवनगत नारी को, विलासियों के हृदय में कोई स्थान न मिला। फलतः तिरस्कृत - अवहेलित गत - तारुण्या नारी का परवर्ती नायिकाभेद के साहित्य में नाम भी न लिया गया।

नायिका के प्रसिद्ध अष्टभेद

नायिकाओं के उन अष्ट भेदों का भी लक्षणयुक्त विवरण नाट्यशास्त्र में मिलता है जिनकी चर्चा आगे चलकर विस्तार के साथ रीतिकाल में मिलती है। भरत ने वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका – इन आठ भेदों का उल्लेख (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, २२, श्लोक २०३ – २०४) करते हुए इनका लक्षण दिया है और अंत में इनका आधार, अवस्थिति को बताया है। यह भी कहा है कि ये नायिकाएँ नाटकाश्रय हैं, नाटक के आश्रय को लेकर बताई गई हैं –

'आस्ववस्थास्तु विज्ञेयाः नायिका नाटकाश्रयाः।'

स्पष्ट है कि इनका भी संबंध पूर्वोक्त सामान्याभिनय से ही स्वीकार किया गया है।

इन सबका निष्कर्ष सूत्ररूप से निम्नलिखित है –

१. नाट्यशास्त्र ही साहित्यिक नायिकाभेद के आधारों का मूल स्रोत है। वहीं सर्वप्रथम स्वीया - परकीया - सामान्या, मुग्धा - मध्या - प्रगल्भा तथा वासकसज्जादि अष्ट प्रकारों का

१०. सर्वासामपि नारीणां यौवनलाभा भवन्ति चत्वारः।
नेपथ्यरूपवैषैर्गुणैस्तु शृंगारमासाद्य॥ वही – नाट्यशास्त्र, अ० २३, श्लो० ४०

साक्षात या असाक्षात विवरण दिया गया है। उन्हींका प्रसार - विस्तार परवर्ती साहित्य में होता गया।

२. नायिकाओं के विवेचन का स्पष्ट संबंध नाट्य तथा सामान्याभिनय के साथ मुख्यतः है।

३. शृंगार रस और उसके अंगोपांग की महत्ता का संकेत करते हुए भी नाट्यशास्त्र ने नाट्य और अभिनय में ही उसे समुचित स्थान मात्र दिया।

४. नाट्य और अभिनय के संदर्भ ने नायिकाओं के ऐसे इतर भेद भी निर्दिष्ट हैं, जिन्हें अनुपयोगी समझकर बाद में ही छोड़ दिया गया।

५. नायिकाओं की चर्चा साक्षातरूप से शृंगारालंबन के रूप में नहीं की गई है।

इसके अतिरिक्त कामतंत्र का भी अनेकानेक बार नाम लिया गया है। अतः यह इस बात का सूचक है कि भरत के उक्त विवरणों पर कामशास्त्रीय सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

*

गोस्वामी तुलसीदास के प्रत्यक्ष शिष्य 'आनंदराम'

रामादास

रामनगर - दुर्ग - निवासी तथा काशीराज्य के महाराज काशिनरेशों की राम - भक्ति सर्वविदित रही हैं। उन्नीसवीं शती के काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह जी राम - भक्त ही नहीं मानस - मर्मज्ञ भी थे। उन्होंने रामनगर में रामलीला की समयानुकूल उत्तम व्यवस्था तथा रामचरितमानस के संपादनकार्य का वृहद् आयोजन किया था। संवत १९०३ में मानस - संपादन का श्री गणेश रामनगर दुर्ग में हो चुका था। इसके लिए मानस के प्रामाणिक प्राचीन हस्तलेख एकत्र किए गए थे और उनकी प्रतिलिपियाँ कराई गई थीं। उन्हींके राज्यकाल में महात्मा श्री काष्ठजिह्वा स्वामी ने मानस पर परिचर्या, स्वयम् महाराज ने मानसपरिचर्या पर परिशिष्ट तथा परमहंस श्री हरिहरप्रसाद जी ने मानस - परिचर्या - परिशिष्ट पर 'प्रकाश' नामक टीका प्रस्तुत की थी और उसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस, पटना से कराया था। वंश परंपरा का वही मानस अनुराग वर्तमान काशिराज महाराज श्री विभूतिनारायणसिंह जी में विशेषरूप से प्रस्फुटित हुआ। उन्होंने संवत २०१० में मानस के वैज्ञानिक संपादन का कार्य मानस के अधिकारी विद्वान् आचार्य श्री विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र को सौंपा। यह संपादन पूर्ण हो चुका है और शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है। इतना ही नहीं वर्तमान काशिराज ने रामनगर दुर्ग में 'तुलसी - मंदिर' की भी स्थापना कराई है जिसके अंतर्गत मानस के अतिरिक्त अन्य तुलसी - वाङ्मय के वैज्ञानिक संपादन का कार्य सुचारु रूप से अग्रसर हो रहा है। इन सब कार्यों के लिए तुलसी - साहित्य का विस्तृत आलोड़न एवम् शोध करने के क्रम में गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य आनंदराम भी प्रत्यक्ष हुए जिनके संबंध में उपलब्ध विवरण इस लेख में दिया जा रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास के सतसंगियों की चर्चा श्री कृष्णदत्त लिखित 'गौतम चंद्रिका' के उस अंश में आई है जिसका संबंध गोस्वामी तुलसीदास के वृत्तांत से है।[1] गोस्वामी जी के शिष्यों के संबंध में उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके प्रत्यक्ष शिष्य श्री रामू द्विवेदी के संबंधमें आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र सूचना दे चुके हैं।[2] द्विवेदी जी ने रामचरितमानस का संस्कृत उल्था किया है। उनके ग्रंथ का नाम 'प्रेमरामायण' है और इसके हस्तलेख तीन स्थानों पर सुरक्षित हैं – महाराज काशिराज के सरस्वती - भंडार में, रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के पुस्तकालय में तथा इंडिया, आफिस लंदन में। इन्होंने तुलसीदास की स्तुति में निम्नलिखित संस्कृत का श्लोक दिया है –

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, अंक १, पृष्ठ ५, आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का लेख।

२. दैनिक आज, साप्ताहिक विशेषांक, दिनांक ११ अप्रैल सन् १९५४।

गौरं 'रा' पदमात्रसंश्रवणतोप्युद्भूतरोमांकुरं,
वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटाशालिनम्।
बारंबारमिदं पदं 'भरत भे ठाढ़े' ति गाढं स्वरं,
गायन्तं नररूपिणं कमपि तं वंदे नवद्ये हितम्॥

इससे यह पता चलता है कि तुलसीदास जी राम नाम में कितनी अधिक आस्था रखनेवाले थे। 'राम' नाम का केवल 'रा' सुनकर उनको रोमांच हो जाता था। वे वक्षःस्थल पर बड़ी बड़ी तुलसी की गुरियों की माला पहनते थे और 'गीतावली' का 'भरत भए ठाढ़े कर जोरि' प्रतीकवाला पद गाढ़ ध्वनि से गाया करते थे।

तुलसीदास के महाराष्ट्रीय शिष्य संत जन जसवंत का पता श्री विनयमोहनजी शर्मा ने दिया है।[3] संत जन जसवंत की बहुत सी रचनाएँ हिंदी में हैं और इनमें रामभक्ति कथित है। हनुमत् भक्ति पर भी इनकी रचनाएँ मिलती हैं। कहा जाता है तुलसीदास जी ने इन्हें पंचधातु की बनी हनूमान् की मूर्ति अर्पित की थी जो कुकुरमुंडी ग्राम में उनके वंशजों के पास अब भी सुरक्षित है। संवत् १६७४ में संत जन जसवंत का शरीरपात हो गया था।

तुलसीदास के तीसरे शिष्य श्री आनंदराम कायस्थ का पता चला है जो हिसार के निवासी थे। इन्होंने 'वचन विनोद' नामक लक्षण - ग्रंथ लिखा है। इनके उक्त ग्रंथ का एक हस्तलेख संवत् १६७९ का लिखा हुआ हैं। कोट हिसार के रहनेवाले आनंद नामक कायस्थ का उल्लेख सभा की खोज विवरणिका में कई स्थानों पर हुआ है जिन्होंने 'कोकमंजरी' अथवा 'कोकसार' नामक ग्रंथ लिखे हैं। सन् १९२६ की त्रैवार्षिक खोज विवरणिका में दो स्थानों पर इनके ग्रंथों का निर्माणकाल दो विभिन्न पाठांतरों से यों दिया गया है –

रितु वसंत संवत् सरस, सोरह सै अरु आठ।
कोकमंजरी यह करी, धर्म कर्म करि पाठ॥
कायस्थकुल आनंद कवि, वासी कोक हिसार।
कोककला इह रुचिकरन, जिहि इन कियो विचार॥

'सोरह सै अरु आठ' के स्थान पर अन्यत्र पाठ 'सोरह सै अरु साठ' है। यह संभावना की जा सकती है कि 'कोकमंजरी' के रचयिता 'आनंद' और 'वचन विनोद' के रचयिता आनंदराम एक ही समय और एक ही स्थान के होने के कारण एक ही हों। 'वचन विनोद' की संवत् १६७९ वाली प्रति की पुष्पिका में नाम 'आनंदराम कायस्थ भटनागर हिंसारी कृत' लिखा हुआ है। यह हो सकता है कि कवि का पूरा नाम आनंदराम ही हो। कविता में छाप के रूप में केवल 'आनंद' शब्द का ही व्यवहार करते हों। 'वचन विनोद' में भी इन्होंने 'आनंद' या 'अनंद' शब्द का छाप के रूप में व्यवहार किया है। इसलिए दोनों के एक होने की संभावना की जा सकती है। 'वचन विनोद' में कुल १२५ दोहे हैं। इसमें काव्य के गुण - दोषों का विवेचन किया गया है। इसमें कई दोहे उदाहरणस्वरूप शाह महम्मद नामक किसी

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६१, अंक १, पृष्ठ १, श्री विनयमोहन शर्मा का लेख।

व्यक्ति के दिए गए हैं। ये कौन हैं, यह कहा नहीं जा सकता। कवि ने सबसे पहले राम, गुरु तथा कविजन की एक साथ वंदना की है –

राम सुमिरि गुरु सुमिरि करि, सुमिरि सबद अभिराम।
रुचिर वचन रचना रचौं, कविजन पूरण काम॥

इसके अनंतर दो दोहों में गुरु की वंदना की है और उसका शीर्षक दिया है 'गुरु नुति दोहा युग्म।'

नमो कमल दल जमल पग, श्री तुलसी गुरु नाम।
प्रगट जगत जानत सकल, जहँ तुलसी तहँ राम॥
कासीबासी जगत गुरु, अबिनासी हरि लीन।
हरि दरसन दरसत सदा, जल समीप ज्यों मीन॥

गुरु के संबंध में और अधिक उल्लेख न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने गुरु से केवल दीक्षा ही ली थी अथवा उनसे साहित्य का अध्ययन भी किया था। तुलसीदास जी का 'बरवै रामायण' यह स्पष्ट कर देता है कि वे अलंकारों के उदाहरणों के रूप में रामकथा उसमें उपस्थित कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि साहित्य - शास्त्र में उनका पूर्ण प्रवेश था। मानस के मंगलाचरण के प्रसिद्ध श्लोक 'वर्णनामर्थसंघानां' से काव्य के व्यापक स्वरूप का संकेत मिलता है। बालकांड में मानस की प्रस्तावना के प्रकरण में 'धुनि अवरेब कवित गुन जाती।' लिखकर वे ध्वनि, वक्रोक्ति (अवरेब), गुण और अलंकार (जाति) का संकेत करते हैं और 'भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।' से गुण - दोष और रस भाव का भी उल्लेख करते हैं। अन्यत्र इस बात के पूरे और पक्के प्रमाण हैं कि तुलसीदास जी साहित्य - शास्त्र के पक्के मर्मज्ञ थे। हो सकता है कि वे इस शास्त्र की शिक्षा भी शिष्यों को देते रहे हों और उन शिष्यों में एक हिसार के आनंदराम भी रहे हों।

हिसार के रहनेवाले आनंदराम और काशीवासी तुलसीदास से उस युग में भेंट कैसे हुई। 'गौतम - चंद्रिका' के अनुसार तुलसीदासजी ने बहुत से स्थानों की यात्रा की थी जिनमें से एक स्थान कुरुक्षेत्र भी है। कुरुक्षेत्र अंबाले और दिल्ली के बीच में है इसलिए हिसारवासी का उनसे वहाँ मिलना, शिष्य होना और साथ काशी आना संभव है। यदि काशी न भी आए हों तो तुलसीदास जी वहां कुछ दिन रुके रहे होंगे और इन्होंने उनका शिष्यत्व प्राप्त किया होगा। ये राम नाम के माहात्म्य की चर्चा करते हैं। रामू द्विवेदी पर लिखे गए लेख में आचार्य मिश्र जी ने यह संभावना प्रगट की थी कि हो सकता है कि तुलसीदास जी ने रामकिंकर नाम का रामभक्ति का समन्वयवादी मार्ग चलाया हो। इसी रामकिंकर मार्ग में समर्थ गुरु रामदास के होने की भी संभावना की जा सकती हैं। दक्षिण में जो भक्ति का 'बारकरी' संप्रदाय प्रसिद्ध है उससे गुरु रामदास की पद्धति भिन्न हैं। हो सकता है कि संत जन जसवंत आदि के माध्यम से यह संप्रदाय दक्षिण में गया हो। जैसे समर्थ गुरु अपने को रामदास लिखते हैं उसी प्रकार जन जसवंत के वंशजों के अधिकतर नाम में 'दास' शब्द लिखा हुआ है जो तुलसीदास के 'दास' शब्द की ओर ध्यान खींचता है। इस संबंध में और भी कुछ प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर उक्त कल्पना की पुष्टि की जा सकती है। रामदासी संप्रदाय में त्रयोदशाक्षर मंत्र प्रचलित है। यह मंत्र भी तुलसीदास जी से संबद्ध है,

हो सकता है कि इसका प्रचलन स्वयं गोस्वामी जी ने ही किया हो। पर्याप्त सामग्री मिलने पर ही विस्तार से इस संबंध में कुछ कहा जा सकता है।

बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में 'वचन विनोद' के उक्त हस्तलेख के अतिरिक्त आनंद की 'कोक मंजरी' का एक हस्तलेख संवत् १६८२ का सुरक्षित है। उक्त आनंदराम और आनंद की एकवाक्यता के लिए यह भी एक प्रमाण माना जा सकता है। हिसार से बीकानेर तक किसी की रचना उसके जीवनकाल में ही पहुँच जाय इसमें अधिक बाधा नहीं है क्योंकि स्थान की दूरी विशेष नहीं है।

*

लोकजीवन में सलोके और उनका रूपसौंदर्य

दीनदयाल ओझा

•

मानव सदैव नवीनता का उपासक रहा है। उसे पुरानी वस्तुओं से, रूढ़ियों से, नियमों और विचारों से चिपके रहने में घृणा होती है और वह नवीन वस्तुओं, नियमों और विचारों को अपनाता है और उसे कार्यरूप में लाता है। परंतु एक समय में जो पुरानी रूढ़ियाँ, नियम प्रचलित थे उनका भी अपना महत्व है, उनके पीछे इतिहास है। आज की २०वीं सदी में हमें अनेकों परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं, जिन्हें कोई वृद्ध पुरुष देखकर आश्चर्य करता है। संभवतः इसी तरह आनेवाली संतति बहुत सी बातों को, जिन्हें हम देख रहे हैं, मात्र कहानी ही मानकर दिल बहला ले।

हमारे समाज में आज से ५० - ६० वर्ष पूर्व जो मान्यताएँ, परंपराएँ थीं उनका आज लोप होता जा रहा है। यह लोप होने की प्रवृत्ति नवीन नहीं, सनातन है, पुरातन काल से चली आ रही है। इसे समाज रोक नहीं सकता यह तो मृत्यु की तरह सत्य और शाश्वत है। इसी तरह की प्राचीन परंपरा विवाह के अवसर पर जब वर तोरण पर आता था 'सलोक' बोलने की थी। आज यह परंपरा उठ सी गई हैं, लुप्त हो रही है; केवल वे सलोके इस बात के साक्षी हैं जिन्हें कभी बोला जाता था। ये किस तरह लोकजीवन में प्रयुक्त हुए, इनका क्या महत्व है, किन - किन विषयों पर सलोक लिखे गए, उनकी शैली किस तरह की है आदि-आदि विषयों पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है।

'सलोक' शब्द् की उत्पति

संस्कृत 'श्लोक' शब्द से ही सलोक, सलोका अथवा सिलोका बना है। श्लोक का अर्थ संस्कृत में निम्नलिखित रूप में मान्य है—

१ – पद्य, २ – अनुष्टुप में लिखा हुआ पद्य
३ – प्रशंसा ४ – प्रशंसा का विषय
५ – कीर्ति ६ – कहावत

इसी 'श्लोक' से 'श्लोकते' और 'श्लोकयति' दो क्रियापद बनते हैं – जिनका अभिप्राय कविता द्वारा प्रशंसा करना होता है। हिंदी में इसका अर्थ अधोलिखित रूप में मान्य है—

१. शब्द – आवाज २. पुकार – आह्वान
३. स्तुति – प्रशंसा ४. कीर्ति – यश
५. अनुष्टुप छंद ६. संस्कृत का कोई पद्य

विभिन्न कवियों ने 'श्लोक' के उपर्युक्त अर्थों को स्वीकार करके ही 'सलोक' - रचना की है। अतः 'सलोकों' में हमें स्तुति, प्रशंसा, कीर्ति और यशोगान मिलता है। कई एक आधुनिक सलोके इस प्रकार के भी लिखे गए जिनमें समाजसुधार की पुकार है।

छंद

संस्कृत साहित्य में अनुष्टुप छंद में लिखी गई रचना को श्लोक कहते हैं। परंतु यह शब्द इतना लोकप्रिय बना कि संस्कृत का कोई भी छंद श्लोक ही कहा जाने लगा। परंतु राजस्थानी भाषा के छंदग्रंथ 'रघुनाथ रूपक' में इसे स्वतंत्र छंद न मानकर गद्य का ही एक प्रकार स्वीकार किया गया है। ग्रंथ - निर्माण - कर्ता के अनुसार –

१ – यह वचनिका के समान तुकांत गद्यवाली रचना है।

२ – इसमें मात्रा आदि का विचार नहीं होता।

३ – उन व्यक्तियों द्वारा रचे गये जिन्हें छंद - शास्त्र का ज्ञान नहीं था।

परंतु उक्त पंक्तियों के आगे लिखा है – 'अंत तक तुक न मिलने के कारण और शब्दों की सीमितता से यह काव्य जैसा ही लगता है – इसलिये इसे काव्यगत सलोका छंद कह सकते हैं।

रघुनाथ रूपक में उपरिलिखित प्रमाणों की पुष्टि में निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है।

'बोले सीतापत इसडी जी वांणी।
सुर नर नागाँ नै लागै सुहाणी॥
सेसाजल हणमंत जिमही सरसाई।
वीराँ अवराँ री कीधी वडाई॥
धनुधर रा वायक साँमल जोधारा।
पोरस अंगों में वधियो अणपारा॥
पुणवै कर जोड़ी जीतव फल पायो।
मानै श्री खांवद इतरो फुरमायो॥'[1]

सैधांतिक रूप से सलोके के प्रति रघुनाथ रूपक का उक्त दृष्टिकोण सही हो सकता हैं, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से सलोका जिस काल बोला जाता है, पूर्ण छंद सा ही प्रतीत होता है और मात्राओं की कमी - वेशी ध्वनि द्वारा पूरी कर ली जाती है।

यह कहना कि अधिक सलोके उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गए जो छंद - शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे असंगत सा प्रतीत होता है; क्योंकि अनेकों जैन विद्वानों ने अपने आराध्य देवताओं की वंदना इन सलोकों में की है, जो विविध शास्त्रों के ज्ञाता और छंदों के मर्मज्ञ थे। यही नहीं कई जैन और जैनेतर सलोकों में मात्राओं की गणना भी बराबर मिलती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सलोकों के लिए एक छंदविशेष रूढ़ हो गया था, जिसके अनुसार सलोक - रचना की जाती थी।

सलोकों की प्राचीन परंपरा

विवाह के अवसर पर वर के तोरण पर पहुँचने के समय सलोक बोलने की परंपरा राजस्थान और गुजरात के लोक - जीवन में कब से प्रारंभ हुई – निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। परंतु संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के अनेकों उल्लेख मिलते हैं कि विवाह से पूर्व वर को कुछ इस प्रकार के प्रश्नों अथवा जटिल कार्यों को हल करना पड़ता था जो

१ रघुनाथ रूपक पृ० २४४।

श्वसुर या साले द्वारा रखे जाते थे। संभवतः इसी परीक्षा के अंतर्गत वर कई प्रश्नों का श्लोकबद्ध रचना में उत्तर देता हो और कालांतर में यही परंपरा सलोक बोलने के रूप में रूढ़ हो गई हो। जो भी हो गुजरात और राजस्थान में यह प्रथा आज से ३५ - ४० वर्ष पूर्व पूर्ण रूप से विद्यमान थी और आज भी राजस्थान ग्रामवासी न्यूनाधिक भाव से इसे निभा रहे हैं।

मौखिक रूप में यह परंपरा लोकजीवन में प्राचीनकाल से चली आ रही है, परंतु लिखित रूप में इसका परिचय १५वीं शताब्दी में मिलता है – इस प्रकार का उल्लेख श्री अगरचंद जी नाहटा ने '१५वीं शताब्दी की एक विशिष्ट वर परिचय श्लोक रचना' के आधार पर दिया है।[२] वर्णनात्मक शैली में लिखी गई इस रचना के तीन भाग होते हैं –

(अ) प्रारंभ में आराध्यदेव, गुरु और कुलदेवी वंदना के पश्चात् माता - पिता, नगर, तत्कालीन शासक, उसकी सभा का वर्णन।

(आ) मध्य में विवाहमंडप, कन्याप्राप्ति और साले के कौतुहल का वर्णन।

(इ) अंत में शुभ मंगलकारी वरदान की प्रार्थना की गई है।

इसके पश्चात् २०वीं शताब्दी तक जैन और जैनेतर सलोकों की रचना हुई जिसका क्रमिक विकास इस रूप में देखा जा सकता है —

१५वीं शताब्दी

१५वीं शताब्दी में प्राप्त सलोके 'शलोक' के ही रूप में प्राप्त होते हैं। इन श्लोकों की भाषा अवश्य संस्कृत है परंतु इनके नीचे दिया हुआ अनुवाद तत्कालीन लोकभाषा में किया गया है। संभवतः यह अनुवाद सर्वसाधारण की सुगमता के लिये किया गया है। इन श्लोकों के प्रारंभ में प्रयुक्त 'अहो सालकः!' इस बात का परिचायक है कि श्लोक साले को संबोधन करके कहे जाते थे और वर तथा वधू पक्षवाले इन्हें सुना करते थे।

रचना की दृष्टि से तत्कालीन श्लोकों में सर्वप्रथम आराध्य देव, गुरु और कुलदेवी की वंदना के पश्चात् गोत्र, माता - पिता, नगर और तत्कालीन शासक का वर्णन है। मध्य में विवाहमंडप - कन्याप्राप्ति आदि का उल्लेख मिलता है। अंत में आराध्यदेव से सुमंगलकारी वरदान देने की प्रार्थना है। इसी ढाँचे पर परवर्ती कवियों ने सलोक रचना की।

इस शताब्दी में कितने श्लोक बनाए गए इसकी संख्या अधिक प्राप्त नहीं होती। अद्यावधि प्राप्त सबसे प्राचीन श्लोकरचना का रूप इस प्रकार है –

'यन्नाम मंत्र स्मरणेन भव्याः,
स्वर्गापवर्गं श्रियमाश्रयन्ति।
जिनेश्वरास्ते सुरवृन्दवंद्या,
कुले मदीये परिपूजनीया॥' ॥१॥

२. राजस्थानी सलोके और उनकी परंपरा, श्री अगरचंद नाहटा, मरु - भारती वर्ष १ अंक २, पृ० ८६।

अहो शालक! जेहनइ नाम मंत्र स्मरण प्रभावि करिउ पुण्यवंत जन स्वर्ग अनइ मोक्ष लक्ष्मी पावइ। सुरासुर वंदित चरण त्रिभुवन किही अलंकरण, मुक्ति लक्ष्मी स्वयंवर, चउवीस जिनेश्वर। माहरइ कुलि पूजियइ ॥ १ ॥[3]

१६ वीं शताब्दी

सोलहवीं शताब्दी में लिखे मुनि लावण्यसमय के 'विमल प्रबंध' ग्रंथ की निम्नलिखित पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोक-जीवन में सलोकों का अच्छा प्रचार हो चुका था।

'पुहता तोरणि जोई लोक, सीख्या साला कहि सलोक।
विमल वाणी श्रवणे साँभली, ग्या साला ते दह दिशी रली ॥'[4]

उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त इस शताब्दी में लिखे गए अन्य सलोकों की जानकारी नहीं मिलती। परंतु यह निश्चय है कि इस काल में सालोक लिखे अवश्य गए होंगे, परंतु अभी तक वे प्रकाश में नही आए, हस्तलिखित ग्रंथालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं।

१७ वीं शताब्दी

इस शताब्दी में लिखे गए सलोकों में हमें पूर्वकालीन सलोकों अथवा श्लोकों से निम्न-लिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं –

१. सलोकों की रचना संस्कृत में न की जाकर लोकभाषा में की जाने लगी। अतः सलोकों के नीचे अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं रही।

२. सलोकरचना के लिये 'सलोक-छंद' रूढ़ सा हो गया और उसी के ढाँचे पर रचनाएँ होने लगीं।

३. स्वरचित सलोकों के साथ-साथ वर या वधू पक्ष वालों से अन्य कवियों के भी सलोक बोले जाने लगे।

४. वर के तोरण पर आने के समय सलोक न बोलना वरपक्षवालों का अपमान सा समझा जाने लगा था।

अतः इस काल में नवीन सलोक रचना के साथ-साथ पुरानों को भी दुहराया गया।

प्राप्त रचनाओं में सुकवि मेघराज लिखित 'पार्श्वचंद्रसूरि सलोको' और 'हरिविजय सूरि सलोके' उल्लेखनीय हैं।

१८ वीं शताब्दी

इस शताब्दी तक आते-आते सलोकों का लोक-जीवन में अत्यधिक प्रचार हुआ और अनेकों जैन तथा जैनेतर कवियों ने सैकड़ों सलोके लिखे। विषय की दृष्टि से इस काल के

३. मरु भारती – वर्ष १ अंक २, पृष्ठ ८६, (१५वीं शताब्दी की एक विशिष्ट वर-परिचय श्लोक रचना)।

४. विमल प्रबंध – मुनि लावण्य समय, पद्य संख्या ६४।

सलोकों में देवताओं या महापुरुषों का वर्णन ही रहा। परंतु भाषा की दृष्टि से इनमें पर्याप्त परिवर्तन हुआ। इस काल के सलोकों की भाषा लोक-भाषा है जो पूर्ववर्ती सलोकों से सरल, सुंदर और प्रवाहमय हैं।

तत्कालीन समाज में सलोके विवाह के अवसर पर गाए जानेवाले गीतों की तरह आवश्यक हो गए थे। वर अथवा वधू किसी भी पक्ष वालों को सलोके याद नहीं होते तो वे समाज की दृष्टि में अविवेकी गिने जाते थे। इस भय के कारण कई लोग जो नवीन सलोके नहीं बना सकते थे, किसी से लिखवाकर अथवा पुराने सलोकों को स्मरण करके काम चलाते थे। इस प्रवृत्ति से सैकड़ों जैन और जैनेतर सलोकों की रचनाएँ हुईं। प्राप्त सलोकों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है —

नाम	कर्ता	रचनासंवत्
१ – अष्टापद सलोको	विनीत विमल	१७३३ के आस पास
२ – आदिनाथ सलोको[५]	,,	१७३६ के आस पास
३ – नेमिनाथ सलोको	राजलाभ	१७५४
४ – नेमीराजुल सलोको	कुशल विनय	१७५६
५ – शंखेश्वर जी का सलोका[५]	उदयरत्न	१७५६
६ – सिद्धाचल सलोको	अमरविजय	१७७०
७ – शालीभद्र सलोको[६]	सिंह	१७८१
८ – शालीभद्र सलोको[५]	उदयरत्न	१७६०
९ – नेमीनाथ सलोको	मोतीमालू	१७९८

१८ वीं शताब्दी में गुजरात में भी अनेकों सलोकों की रचनाएँ हुईं। अद्यावधि प्राप्त सलोकों में अधोलिखित सलोक भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से उल्लेखनीय है —

नाम	कर्ता	रचनासंवत्
१ – रणछोड़ जी ना सलोको[७]	शामल भट	सं० १७८१
२ – रूस्तमनो सलोको अथवा अनरामकुलीखान नो सलोको[८]	शामल भट	सं० १७८१
३ – भाणनो सलोको[९]	शा० गंगादास	सं० १७६३

संभवतः गुजरात में इससे भी पूर्व सलोक की रचनाएँ हुई हों। परंतु इसकी प्राचीन परंपरा राजस्थान से अधिक संबंधित है।

५. ये सलोके श्लोक-संग्रह में प्रकाशित है।

६. सलोके रत्नसागर में प्रकाशित है।

७. विशेष विवरण के लिये गुजरात साहित्य नां स्वरूपो – लेखक प्रो. मंजुलाल र० मजमुदार, पृ० १३२।

८. वही—पृ० १३४

९. वही—पृ० १४०

१६ वीं शताब्दी

१६ वीं शताब्दी सलोक - साहित्य का चरमोन्नतिकाल है। इस काल के सलोक - निर्माण-कर्ताओं ने पुरानी परंपरा को आगे बढाकर विषय परिवर्तन किया और देवताओं तथा महापुरुषों के चरित्र के साथ साथ अमरसिंह, कुशलसिंह जैसे वीरों के चरित्र पर भी सलोक लिखे। यही नहीं कतिपय जैन विद्वानों ने क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनोभावों पर भी सलोक रचनाएँ कीं।

प्रचार की दृष्टि से इस शताब्दी में सलोक लोक - जीवन का अभिभाज्य अंग बन गया था। राजस्थान का कोई भी नगर अथवा गाँव ऐसा नहीं था जहाँ विवाह के अवसर पर इन सलोकों की गूँज न सुनाई देती हो। यही कारण है कि अनेकों ग्रंथालयों में एक ही व्यक्ति पर १० - १० सलोके लिखे मिलते हैं, जो इनकी लोकप्रियता के परिचायक हैं।

इस शताब्दी के सलोकों का अध्ययन करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि –

१ – सलोक सर्वसाधारण के लिये लिखे जाते थे।

२ – वर के तोरण पर आने के समय वर अथवा वधू पक्ष वालों द्वारा सलोक बोलना आवश्यक था।

३ – सलोक अधिक पढ़े लिखे ही न बनाकर साधारण पढ़े लिखे भी सलोक बनाते और बोलते थे।

४ – सलोकों का बोलना वैश्य जन अथवा ब्राह्मण समाज तक ही सीमित न रहकर अन्य जातियों में भी सलोकपाठ का प्रचार हो गया था।

५ – सलोक रचना के समय छंद आदि की ओर ध्यान न देकर तुकान्त की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था।

जो भी हो इस शताब्दी में सैकड़ों सलोक लिखे गए। लेख - विस्तार - भय से समस्त सलोकों का नामोल्लेख न करके विषयानुसार महत्वपूर्ण सलोकों का परिचय दिया जा रहा है –

देवताओं के सलोके

नाम	कर्ता	रचनासंवत्
१ – पार्श्वनाथ सलोको	जोरावरमल	१८५१
२ – ,,	गोपाल	१६ वीं शताब्दी
३ – ,,	दौलत	१८४०
४ – शांतिनाथ सलोको	मणिविजय	१६ वीं शताब्दी
५ – भैरूजी रो सलोको	...	१८५२
६ – रामदेव जी रो सलोको	अगरचंद	१८१०
७ – सूरज जी रो सलोको	...	१६ वीं शताब्दी

महापुरुषों के सलोके

नाम	कर्ता	रचनासंवत्
१ – चंदराजा रो सलोको	कन्नीराम	१८१५
२ – राठा जी तप जी सलोको	...	१६ वीं शताब्दी

३ – रामसापीर सलोको	...	१९ वीं शताब्दी
४ – माधवराव जी रो सलोको	...	१८५७
५ – जोंभोजी रो सलोको	...	१९ वीं शताब्दी
६ – शालीभद्र सलोको	...	,,

वीर पुरषों के सलोके

१ – अमरसिंह राठौड़ रो सिलोको	...	१९ वीं शताब्दी
२ – कुसलसिंह रो सलोको	...	,,
३ – जैमल जी रो सलोको	...	,,
४ – कल्याण जी रो सलोको	...	,,

मनोभावों पर लिखे सलोके

१ – क्रोधसलोको	...	१९ वीं शताब्दी
२ – मान सलोको	...	,,
३ – माया सलोको	...	,,
४ – लोभ सलोको	...	,,

प्रथम सलोक सज्झायमाला (स्वाध्याय माला) और शेष तीनों सज्झायसंग्रह में प्रकाशित हैं।

देशवर्णन के सलोके

नाम	कर्ता	रचनासंवत्
१ – जैसलमेर री चढ़ती दसा रो सलोको	रामचंद्र	१८७८

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी में विविध विषयों पर अनेक सलोक लिखे गए।

२० वीं शताब्दी

इस शताब्दी में अनेकों सलोके लिखे गए, प्रकाशित भी हुए परंतु सलोक बोलने का उत्साह पूर्वकालीन शताब्दी से कम होता गया। शहरों में सलोक बोलना भद्दा समझा जाने लगा और सलोक केवल ग्रामों अथवा पुराने व्यक्तियों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार की अरुचि ने सलोक रचना का उत्साह भंग कर दिया और समाज एवं साहित्य में उत्कृष्ट सलोकों का आना बंद सा हो गया।

परंतु इस शताब्दी में जो सलोक लिखे गये अथवा प्रकाशित हुए उनमें युग का प्रभाव है, समाज की बुराइयों का दिग्दर्शन है और सुधार की पुकार है। इस दृष्टि से निम्न सेलाके देखने योग्य है –

१ – पंच समारो सलोको
२ – वेश्यारो सलोको
३ – कलजुग प्रवाह रो सलोको
४ – छोटे कंध रो सलोको
५ – बाप बेटी रो सलोको और
६ – सुधार रो सलोको ...

दूसरी ओर पुरानी परिपाटी को भी अक्षुण्ण रखते हुए देवी - देवताओं, वीरों - महापुरुषों पर भी सलोक लिखे गए। उदाहरणार्थं —

देवी - देवताओं के सलोके

१ – गणपति जी रो सलोको
२ – शंकर महादेव रो ,,
३ – कृष्ण कुमार रो ,,
४ – कालीनाग दमण रो सलोको
५ – लक्ष्मीनारायण रो ,,
६ – सीता राम जी रो ,,
७ – सूरज जी रो सलोको
८ – भैरू जी रो सलोको
९ – सीता माता रो सलोको
१० – फलौधी माता रो सलोको

वीरों और महापुरुषों के सलोके

१ – अमरसिंह राठौड़ रो सलोको
२ – पाबू जी रो सलोको
३ – रामसापीर रो सलोको
४ – भोमसिंह रो सलोको
५ – अजीतसिंह जी रो सलोको आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इस शताब्दी में विविध विषयों पर अनेक छोटे मोटे सलोक लिखे गए फिर भी सलोकों के प्रति समाज की अरुचि होने के कारण सलोकसाहित्य का यह काल जीर्णताकाल या अवसानकाल सा ही है।

क्रमिक विकास – एक सिंहावलोकन

उपर्युक्त विवरण के आधार पर क्रमिक विकास की दृष्टि से सलोक - साहित्य का जीवन इस रूप में देखा जा सकता है –

१ – १५ वीं शताब्दी — जन्मकाल
२ – १६ वीं १७ वीं शताब्दी — बाल्यकाल
३ – १८ वीं १९ वीं शताब्दी — यौवनकाल
४ – २० वीं शताब्दी — अवसानकाल

भाषा की दृष्टि से १५ वीं शताब्दी के श्लोकों की भाषा संस्कृत और उसके अर्थ अथवा टीका की भाषा तत्कालीन लोकभाषा है। १६ वीं शताब्दी में आते - आते लोकभाषा का सलोक रचना में बाहुल्य होने लगा और संस्कृत का उत्तरोत्तर कम। १७ वीं १८ वीं शताब्दी में राजस्थानी और गुजराती में अत्यधिक सलोक लिखे गए। इस काल के सलोकों की भाषा सरल सुंदर और प्रवाहमय है। १९वीं शताब्दी में सलोक भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से परिमार्जित हो गए परंतु भाषा गुजराती एवं राजस्थानी रही। २० वीं शताब्दी में भी राजस्थानी में ही सलोके लिखे गए परंतु इस काल के सलोकों पर हिंदी की छाप है।

सलोकों की भाषा राजस्थानी एवं गुजराती होने से यह प्रतीत होता है कि सलोक बोलने की परंपरा इन्हीं प्रांतों में रही होगी। अगर इतर क्षेत्रों में यह परंपरा होती तो वहाँ भी सलोके प्राप्त होते परंतु अद्यावधि गुजरात-राजस्थान के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में सलोक-साहित्य की जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

सलोके लोकसाहित्य का अंग

१५ वीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि तक लोक जीवन में घुले मिले ये 'सलोके' लोक साहित्य का विशिष्ट अंग हैं। विषय की दृष्टि से ये उन देवी - देवताओं, वीरों और महापुरुषों पर लिखे गए जिनका लोक - जीवन पर गहरा प्रभाव है। फलोधीदेवी, सतीमाता, रामदेवजी पाबूजी, जामाजी, बाला जी, भैरव जी, अमरसिंह, कुशलसिंह आदि पर लिखे सलोके इस तथ्य के उदाहरण हैं। इनकी भाषा भी लोकसाहित्य की तरह सरल, सुबोध और तुकांत है जिसे साधारण पढ़ा लिखा भी अच्छी तरह समझ सकता है, बोल सकता है। गीतों और पवाड़ों की तरह ही ये सलोके विशेष रागिनी में गाए जाते हैं। श्री नाहटा जी ने भी सलोकों को 'देवी देवताओं के एक विशेष प्रकार के गीत कहा है।'[१०] आज भी ग्रामवासी इन सलोकों को बड़े प्रेम से गाते हैं।

१५ वीं शताब्दी से लेकर आज तक लोक जीवन में किन - किन देवी - देवताओं की मान्यता थी, किस प्रकार की रीति - रिवाजों का प्रचलन था, समाज की क्या स्थिति थी आदि आदि तथ्यों पर प्रकाश डालने में ये सलोके बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। १५वीं शताब्दी से आज तक समाज की जैसी पुष्ट जानकारी इन सलोकों से मिलती है वैसी प्रामाणिक जानकारी अन्यत्र दुर्लभ है। अतः लोकगीतों की तरह ही ये सलोके हमारी संस्कृति के अमूल्य रत्न हैं जिनकी खोज और परख होना आज आवश्यक है।

प्रस्तुत लेख के निर्माण में निम्नलिखित ग्रंथों, पत्र - पत्रिकाओं और ग्रंथालयों की सहायता ली गई है –

संदर्भ ग्रंथ, पत्रपत्रिकाएँ तथा ग्रंथालय

१ – गुजराती साहित्य का स्वरूप
२ – रघुनाथ रूपक
३ – मारवाड़ी व्याह में बोलने रा सलोका
४ – नवीन मुकलावा बहार
५ – सलोकासंग्रह
६ – सज्झायसंग्रह
७ – स्तवनसंग्रह
८ – सज्झायमाला
९ – जैनसज्झाय
१० – हिंदी शब्दसागर
११ – नागरीप्रचारिणी पत्रिका – वर्ष ५८, अंक ४
१२ – मरु - भारती, वर्ष १, अंक २
१३ – जैन सत्यप्रकाश – वर्ष ११, अंक १२
१४ – जैन सत्यप्रकाश – वर्ष १२, अंक ९
१५ – जैन सत्यप्रकाश – वर्ष १२, अंक १२
१६ – जैन सत्यप्रकाश – वर्ष १३, अंक २
१७ – श्री अभय जैन ग्रंथालय
१८ – श्री मोतीचंद खजांची संग्रहालय
१९ – श्री अनूप संस्कृत लाइब्रेरी

*

१०. मरु भारती वर्ष १, अंक २, पृ० ८४।

विमर्श

राजस्थानी की 'ने' विभक्ति

•

भाषाविज्ञान के ग्रंथों में लिख दिया गया है कि हिंदी (खड़ी बोली) की 'ने' विभक्ति राजस्थानी तक चली गई है। इस पर हमें विचार करना है।

'खड़ी बोली' की 'ने' विभक्ति केवल कर्ता - कारक में लगती है, जब कि क्रिया सकर्मक हो और उसके कृदंत - भूतकालिक रूप का प्रयोग हो। यह विभक्ति संस्कृत 'बालकेन' आदि में दृष्ट 'इन' का वर्ण - व्यत्यय और 'गुण'-संधि से बना रूप है। 'इन' का 'नइ'। न+इ=ने' रूप। संस्कृत - पद्धति पर ही चलती हैं –

बालकेन भक्तं भुक्तम्
बालक ने भात खाया

हिंदी में शब्दों का नपुंसक वर्ग नहीं है; इसलिए 'भक्तम्' का 'भात' पुंवर्गीय प्रयोग और उसी के अनुसार क्रिया – 'खाया'।

बालकेन वृक्षः दृष्टः
बालक ने वृक्ष देखा

और —

बालकेन लता दृष्टा
बालक ने लता देखी

इस विषय का निरूपण 'हिंदी शब्दानुशासन' में विस्तार से किया गया है। वहीं देखने की चीज है। यहाँ तो राजस्थानी की 'ने' विभक्ति पर ही विचार करना है, जिसके लिए पहली बात यह कही गई कि 'खड़ी बोली' की 'ने' विभक्ति केवल कर्ता - कारक में लगती है; अन्यत्र नहीं। इसे 'करण कारक' की विभक्ति लोगों ने भूल से ही लिख दिया है।

परंतु राजस्थानी की 'ने' विभक्ति का प्रयोग - क्षेत्र भिन्न है। वह कर्म, संप्रदान तथा (अवश्यकर्तव्यता - द्योतनार्थ) कर्ता कारक में भी लगती है। संक्षेप में यह समझिए कि हिंदी की 'को' विभक्ति की जगह राजस्थानी में 'ने' चलती है –

१ – **राम ने** लाडू दियो — **राम को** लड्डू दिया (संप्रदान)।
२ – **राम ने** थँ कठे देख्यो ? — **राम को** तुमने कहाँ देखा ? (कर्म)
३ – **राम ने** जाण दै — **राम को** जाने दे (कर्म)
४ – **राम ने** रोटी खाणी छै — **राम को** रोटी खानी है (कर्ता)

परंतु भूतकाल की वैसी (खाया - खाई, पिया - पी आदि) क्रियाओं के कर्ता में राजस्थानी की यह 'ने' विभक्ति नहीं लगती है। यही 'ने' विभक्ति गुजराती में भी है –

वैष्णव जन तो **तेने** कहिए।

(वैष्णव जन तो **उसे** कहेंगे)।

'तेने' में 'ने' विभक्ति कर्म - कारक में है। इसी तरह संप्रदान आदि में समझिए।

राजस्थानी तो दूर, ब्रजभाषा में भी यह 'ने' विभक्ति प्रकृत्या नहीं है –

मैया, मोहि **दाऊ** बहुत खिझायो

'दाऊ' ने नहीं है। कभी कहीं 'खड़ी बोली' के संसर्ग - संस्कार से 'ने' का प्रयोग अलग बात है। ब्रजभाषा में राजस्थानी की भी 'ने' विभक्ति नहीं है। उसकी जगह 'कूँ' चलती है, जिसका साहित्यिक रूप 'कौं' है। इसी तरह 'बाँगरू' में और पंजाबी में भी 'खड़ी बोली' की 'ने' विभक्ति नहीं है; ब्रजभाषा की ही तरह काचित्क प्रयोग संसर्गतः पृथक् चीज है। हाँ, हिमालय को कूर्मांचली (कुमायूनी) भाषा में 'ने' का रूपांतर 'ले' अवश्य है –

राम ले मैकणि लाडू घोछ
(राम ने मुझे लड्डू दिया)

'राम ने' का रूपांतर ही 'राम ले' है; जैसे कि 'नँगोटी' का 'लँगोटी' हो जाता है। नंगे की जरा सी ओट 'नँगोटी'। 'लँगोटी' का भी रूपांतर 'नँगोटी' कह सकते हैं। इंद्रिय विशेष की ओर 'लँगोटी'। बात इतनी की 'न' और 'ल' एक दूसरे का स्थान लिया करते हैं।

परंतु अचरज की बात यह कि सुदूर महाराष्ट्र की जनभाषा में यह 'ने' विभक्ति ज्यों की त्यों चलती है –

रामाने मला वस्त्र दिला
(राम ने मुझे वस्त्र दिया)।
रामाने मला साड़ी दिली
(राम ने मुझे साड़ी दी)।

केवल प्रकृति का अन्त्य स्वर दीर्घ हो गया है; शेष सब समान। क्रिया के कर्म - वाच्य रूप भी समान। संस्कृत 'त' का हिंदी में 'य' रूप और मराठी में 'ल'। 'त' को 'ल' संस्कृत में भी होता रहता है।

'खड़ीबोली' का क्षेत्र उत्तर प्रदेश में हिमालय की तलहटी के मेरठ - सहारनपुर आदि ढाई जिले हैं, जहाँ से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की किसी भी भाषा में 'ने' विभक्ति नहीं। राजस्थानी की 'ने' अलग चीज है। परंतु मराठी में यह ज्यों की त्यों है। इतनी दूरी पर भाषाओं का एक दूसरी से प्रभावित होना संभव नहीं। जब समीपतम की ही भाषाएँ प्रभावित नहीं, तब उतनी दूरी की चर्चा ही क्या! निश्चय ही इन सभी भारतीय भाषाओं का अपने - अपने क्षेत्र में स्वतंत्र विकास हुआ है; परंतु मूल सबका कहीं न कहीं एक है। इसीलिए इतनी समता है –

राजस्थानी और पंजाबी

राजस्थानी की 'ने' विभक्ति और पंजाबी की 'नू' विभक्ति का विकास किसी एक ही मूल से है। दोनों के प्रयोग - क्षेत्र एक हैं।

राम ने जाण दे — राजस्थानी (राम को जाने दे)
राम नू जाण दे — पंजाबी (राम को जाने दे)

× × ×

राम ने लाडू दियो — राजस्थानी (**राम को** लड्डू दिया)
राम नू लड्डू दीता — पंजाबी (**राम को** लड्डू दिया)

× × ×

राम ने रोटी खाणी छै — राजस्थानी (**राम को** रोटी खानी है)
राम नू रोटी खाणी है — पंजाबी (**राम को** रोटी खानी है)

हिंदी में जहाँ - जहाँ 'को' है, वहाँ राजस्थानी में 'ने' और पंजाबी में 'नू' विभक्ति है। यह प्रयोग - क्षेत्र की समानता और रूप (ने - नू) की समानता सिद्ध करती है कि राजस्थानी की 'ने' तथा पंजाबी की 'नू' का उत्स एक ही है। कहाँ से इनका उद्भव है, उत्स क्या है, यह अलग सोचने की चीज है। मेरा अपना ख्याल है कि संस्कृत के 'फलानि आनयति' दृष्ट 'नि' के ही रूपांतर 'नू' और 'ने' है। प्रयोग - क्षेत्रों में संकोच - विकास तो होता ही रहता है। संस्कृत में 'इन' विभक्ति का प्रयोग कहीं कर्ता में, कहीं करण में और कहीं 'हेतु' आदि में होता है, पर उसके विकास 'ने' का प्रयोग केवल कर्ता - कारक में होता है। इसी तरह संस्कृत में 'फलानि' का प्रयोग कर्ता तथा कर्म में ही होता है; परंतु उसके विकास ने 'नू' का प्रयोग संप्रदान में भी होता है। 'प्राकृत' में ही विभक्तियों के प्रयोग - क्षेत्र व्यापक हो गए थे।

'नि' का 'नू' हो जाना बहुत सरल है। 'इ' को 'उ' तथा 'ऊ' जनभाषाओं में होता ही रहता है। 'बल्कि' को पूरब में 'बलुक' बोलते हैं। 'इ' को 'ए' हो जाना तो बहुत साधारण बात है – संस्कृत में भी और जनभाषाओं में भी। यह सब 'भारतीय भाषाविज्ञान' में विस्तार से समझाया गया है।

सो भाषाविज्ञान के ग्रंथों में यह लिख देना बड़ी गलती है कि 'खड़ी बोली' की 'ने' विभक्ति राजस्थानी में भी चलती है। कढ़ी और दाल में पड़नेवाला सेंधा नमक और चीज है, मिसरी दूसरी चीज है। दोनों चीजों के उद्गम भिन्न, उपादान भिन्न और प्रयोग - क्षेत्र भिन्न हैं। ऊपरी रंग - रूप मात्र देखकर सेंधा नमक को मिसरी या मिसरी को सेंधा नमक कोई बच्चा कह देगा, परंतु स्वाद देखकर वह भी समझ जाएगा कि ये दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं।

— किशोरीदास बाजपेयी

*

'भक्तिवाद' – एक प्रश्न

आनंदवर्द्धन ने 'ध्वनितत्त्व' को स्थापना या स्वरूपचर्चा करने से पूर्व कुछ ध्वनि-विरोधियों की कल्पना की है, जिन्हें क्रमशः अभाववादी[1], भक्तिवादी[2] एवं अनिर्वचनीयतावादी[3] कहा जाता है। अभाववादी ध्वनितत्त्व नामक वस्तु की किसी भी रूप में सत्ता नहीं स्वीकार करते। भक्तिवादी उस ध्वनितत्त्व को मानते हैं, परंतु उसे भक्ति या 'लक्षणा' से पृथक् नहीं मानते और 'अनिर्वचनीयतावाद' वालों का यह उद्घोष है कि ध्वनितत्त्व की सत्ता है, और 'भक्ति' से पृथक् अस्तित्व भी, परंतु उसकी विशेषताएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि बुद्धि की की पकड़ में आती ही नहीं और इसीलिए उन अग्राह्य विशेषताओं से उस तत्त्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता। हाँ, तो 'भक्तिवाद' के संबंध में आनंदवर्द्धन का यह वक्तव्य है कि इस वाद का कोई प्रवर्तक इनसे पूर्व था नहीं, बल्कि स्वयं अपनी बुद्धि से इस वाद की इन्होंने ही परिकल्पना[4] की। परिकल्पना का बीज यह बताया कि प्राचीन आलंकारिकों ने लक्षणावृत्ति या भक्तिवृत्ति की चर्चा अनेकशः की – अनेक चामत्कारिक अलंकारों में उसका उपयोग बताया। लक्षणा का प्रयोग परंपरा या प्रयोजनवश होता है। परंपरा का अनुरोध मानकर चलनेवाली लक्षणा का चमत्कार मरा होता है, जीता रहता है तो केवल प्रयोजन का नियंत्रण मानकर गतिशील रहनेवाली लक्षणा का। सारांश यह कि यही प्रयोजनवती लक्षणा चामत्कारिक प्रयोगों का बीज मानी गई। लोचनकार[5] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ऐसे आलंकारिकों की परंपरा दी है, जिन्होंने लक्षणा की चर्चा की, परंतु ऐसे लक्षणागर्भ प्रयोगों में जो 'प्रयोजनांश' निहित रहता है, जिसपर सारा प्रयोग - गत - चमत्कार निर्भर है, उसकी प्रतीति में क्षम व्यंजनावृत्ति का नाम नहीं लिया। व्यंजना नाम का अनुल्लेख ही निषेधात्मक प्रमाण है और उसी के बल पर आचार्य ने यह कल्पना की कि संभव है उन आलंकारिकों ने व्यंजना को (जो किसी रूप में ध्वनितत्त्व है) लक्षणा से पृथक् न माना हो।

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि आनंदवर्द्धन (८५६ ई०) के ठीक बाद और संभवतः अत्यधिक संनिहित होनेवाले मुकुलभट्ट (९ – १० शतक) ने आनंदवर्द्धन के इस पक्ष का कि

१. 'तस्याभावंजगदुरपरे' – ध्व० आ०, प्र० उ०, पृ० १।
२. 'भाक्तमाहुस्तामाहुः' – वही।
३. 'केचिद्वाचां स्थितिमविषये तत्वमूचुस्तदीयम्' – वही।
४. 'तथापि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् – 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' – वही, पृ० ३२।
५. 'भामहेनोक्तं शब्दाँश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे – 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्ति च' इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। – लोचन, पृ० ३२।

ध्वनितत्व 'भक्ति' से भिन्न है – पूर्णतः खंडन किया है और कहा है कि उन्होंने अपनी कृति में शब्द - शक्ति - संबद्ध जो कुछ विचार किया है वह केवल यह दिखाने के लिए कि ध्वनिमार्ग सारा का सारा लक्षणामार्ग का ही अवगाहन करता है और इसलिए सहृदय का यह कहना कि ध्वनिमार्ग सर्वथा नूतन है – बिलकुल तथ्यहीन[६] है।

मुकुल का यह खंडन कुछ विचित्र जिज्ञासा को जन्म देता है। ध्वन्यालोककार ने जिस पक्ष को इतने विशाल समारंभपूर्वक स्थिर किया, उसे मुकुल ने बिना किसी तर्क के यह कह दिया कि ध्वनिमार्ग अक्षरशः लक्षणा का ही अनुगमन है। क्या सचमुच ध्वनि के जिन प्रभेदों की चर्चा आनंदवर्द्धन ने की है, उन प्रभेदों की चर्चा लक्षणामार्ग में होती आ रही थी? अथवा स्वयं मुकुल ने ही उन प्रभेदों की संभावना लक्षणामार्ग में भी की? मुकुल ने कहा है कि किस प्रकार लक्षणाप्रभेदों को ध्वनिकार ने आत्मसात् किया है इसकी दिशाभर उन्मीलित करने का प्रयास किया है, यों कहा तो बहुत कुछ जा सकता है। मुकुल के इस कथन से यह संभावना की जा सकती है कि यदि मुकुल सर्वथा नई बात कहते होते तो उसे सिद्ध करने के लिए अपना वक्तव्य देते और खूब देते। कोई भी बात इतनी उपेक्षा के साथ तभी कही जाती है जब वह बात बहुत ही प्रसिद्ध हो। तो क्या यह बात मुकुलभट्ट तक इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि उन्हें इस विषय में इतने हलके ढंग से कहना पड़ा? इस हलके ढंग से किए गए खंडन से यह अनुमान किया जा सकता है कि संभव है भक्तिवादी धारा कोई रही हो। पर ऐसा कहने में लोचनकार एक बड़ी जबर्दस्त रुकावट डालनेवाले हैं। लोचनकार एक सजग अध्येता हैं और वे मुकुल के परवर्ती हैं। यदि ऐसी जीवित धारा कोई होती तो उसका पता उन्हें होता और पता होता तो उन्होंने उसका उल्लेख किया होता पर यह सब कुछ नहीं। बात यहीं तक होती तो भी कुछ गनीमत थी, भोजराज ने भी कुछ ऐसी बातें की हैं जिनसे यह अनुमान पुनः सिर उठाने लगता है। भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण में प्रसंगवश द्वितीय परिच्छेद में प्रकीर्ण - घटना की चर्चा चलाई है और कहा[७] है यहीं लक्षणा आदि शब्दशक्तियों के उपयोग की बात सुनी जाती है। इसी प्रसंग में एक उदाहरण देकर उसकी व्याख्या में यह कहा है कि रस आदि भी लक्ष्य[८] ही हैं। ध्वनिसंप्रदायानुयायियों ने इस बात का खंडन किया है कि लक्षणा शक्ति द्वारा एक अन्वयोपयोगी अर्थ की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् प्रयोजनात्मा अर्थ के लिए लक्षणा नहीं, व्यंजना ही कार्यकर हो सकती[९] है। पर इस सिद्धांत की अवहेलना करते हुए भोजराज ने प्रयोजनांश को भी लक्ष्य[१०] ही कहा और

६. 'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमुक्तम् – अभिधावृत्तिमातृका, पृ० २१।

७. 'तेन या इमा महाकविप्रबंधेषु मुख्य गौणीलक्षणास्तद्भावापत्तिरुपचरिता लक्षितलक्षणेति शब्दवृत्तयस्ता रूपीह श्रूयन्ते – सरस्वतीकंठाभरण, पृ० १८५।

८. वही, पृ० १८९।

९. काव्य प्रकाश, द्वितीय उल्लास ।

१०. वही, पृ० १८९।

इसके टीकाकार रत्नेश्वर[११] ने भी दोहरी एवं तेहरी लक्षणा तक की भी चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि ये लोग भी व्यंजना को लक्षणा में ही समेटना चाहते हैं।

सारांश यह कि मुकुल एवं भोजराज में 'भक्तिवाद' की सरस्वती जो गुप्त - प्रकट प्रवाहित होती हुई परिलक्षित होती है, क्या उसकी निश्चित सीमा मुकुल ही हैं अथवा उनसे भी पूर्व का अतीत उसे क्रोडीकृत किए है ?

— राममूर्ति त्रिपाठी

*

११. 'एवं लक्षणात्रय पूर्वाऽपि लक्षणा बोद्धव्येत्याह' — पृ० १६० 'रत्नदर्पण' टीका (सरस्वती कंठाभरण)।

चयन

बीज का सौत्रांतिक सिद्धांत

पद्मनाभ एस० जैनी

•

बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, युनिवर्सिटी आफ लंदन, खंड बाइस, भाग २ में प्रकाशित 'द सौत्रांतिक थियरी आफ बीज' का सारांश –

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'समयभेदोपरचनचक्र' में वसुमित्र ने सौत्रांत्रिक शाखा के लक्षणरूप चार तत्व प्रतिपादित किए हैं, १ – वाद, २ – मूलांतिक - स्कंधों और एक - रस-स्कंधों की उपस्थिति, ३ – साधारण मनुष्य (पृथग्जन) में भी बुद्ध होने की शक्ति होती है, ४ – परमार्थ पुद्गलों की अवस्थिति । वसुमित्र के समसामयिक ग्रंथ 'शुचि' ने स्कंध की व्याख्या बीज कह कर की है। बीज - सिद्धांत के उदय तथा विकास की जानकारी बहुत कम है। हाल में नवोपलब्ध वैभाषिक ग्रंथ अभिधर्मदीप (विभाषाप्रभावृत्ति नाम्नी टीका सहित) से ऐसी सामग्री मिलती है जिससे सौत्रांतिकों के अतिगूढ़ सिद्धांतों, विशेषतः बीजसिद्धांत पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

१. मानसकर्म तथा क्लेश – सूत्रों में तीन प्रकार के विशुद्ध मानसिक (दुष्) कर्म कहे गए हैं। इस सूत्र में अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि शुद्ध मानसकर्म हैं। इस दार्ष्टांतिक मत को वैभाषिक नहीं मानते। कोशकार सामान्यतः दार्ष्टांतिक मत का समर्थक है) दीपकार वैभाषिक मत का पोषक है । अभिध्या, व्यापाद, और मिथ्यादृष्टि के संबंध में वैभाषिक तर्क का हेतु संभवतः इस अभिधार्मिक सिद्धांत में है कि दो चेतनाएँ एक साथ क्रियाशील नहीं हो सकतीं। ऐसे ही मत की मान्यता पालिभाष्यकारों की भी प्रतीत होती है। कर्म और क्लेश के बीच इस अभिधार्मिक वर्गीकरण का निकट संबंध बीजसिद्धांत से है। दुष्कर्मों के इन तीन मूलों के समानांतर बौद्ध शुभकर्मों यथा अलोभ, अद्वेष और अमोह के तीन मूल मानते हैं। सभी शुभ कर्मों का इन तीन कुशलमूलों से उदय होता है। थेरवादी इस मत का निराकरण इस मत की उपस्थापना करके कहते हैं कि अकुशल और कुशल चित्त, एक के बाद दूसरा, अव्याकृत चित्त के अंतर के बिना नहीं आता। वैभाषिक इसके समाधान में यह कहते हैं कि चित्त - विप्रयुक्त-संस्कार अर्थात् प्राप्ति ही इस प्रकार की परिस्थिति का निरोधक है। उदाहरणार्थ, जब किसी अकुशल - चित्त के उपरांत कुशल - चित्त आता है तो कुशलचित्त कुशलधर्मों की प्राप्ति के द्वारा कार्यरत होता है। सौत्रांतिक प्राप्ति और अप्राप्तिमूलक वैभाषिक धर्मों का खंडन करते हैं, यह कहकर कि इनके आगम के लिये अन्य प्राप्ति और अप्राप्ति की अपेक्षा होती है। अकुशल - बीच अनुशय कहाता है और शुभ के बीज को कुशल - धर्म - बीज कहते हैं।

२. अनुशय – पालिशास्त्रों तथा भाष्यों में अनुशय विषयक विवाद के अनेक संदर्भ हैं। शौ - (शय) से निष्पन्न अनुशय पद सह-वास का बोधक है। अपनी रूढ़ता के कारण

अनुशय वासना का नाम है। कोशकार इसे स्थिति का हेतु बताता है। वृत्ति उसे वह वस्तु मानती है जो मस्तिष्क के क्रम में उद्भूत होती है। वैभाषिक परंपरा में विभिन्न क्लेशों की गणना पर्यवस्थानों में की गई है। वृत्ति में इनकी गणना दस है – अत्र, ईर्ष्या, अह्री, अनपत्राप्य, स्त्यान, मिद्ध, औद्धत्य, क्रोध, मात्सर्य तथा कौकृत्य। अनुशय एवं पर्युत्थान के पारस्परिक संबंध का स्पष्टीकरण महा - मालुक्य - सुत्त में किया गया है। बौद्ध इस स्थिति को नहीं मानते। उनके मतानुसार बालक में भी क्लेश होते हैं। सौत्रांतिकों का मत है कि अनुशय तथा कुशल बीजों की वर्तमानता साथ साथ होती है।

कोश, वृत्ति तथा अट्ठकथा में सुरक्षित एक ही सूत्र पर उक्त मतांतर स्पष्ट विवाद का संकेत करते हैं। अट्ठकथा में अनुशयों पर अनेक विवाद आकलित हैं। अंधकों का मत है कि अनुशय पर्युत्थान से भिन्न हैं। महासंघिकों तथा संमितीयों के मतानुसार वे अव्यक्त तथा अहेतुक अतः चित्तविप्पयुत्त हैं। इस पर बुद्धघोष का उत्तर यही है कि अनुशय और पर्युट्ठान एक ही है। उसने पुनः इस विषय को यमक पर अपनी टीका में उठाया है।

कोशकार ने स्पष्टतः अपने भाष्य में बीजसिद्धांत पर सौत्रांत्रिक मत को मान्यता दी है। कोशकार के इस बीज के सिद्धांत की कठोर आलोचना संघभद्र ने अपने न्यायानुसार में की है। यशोमित्र ने सौत्रांतिक मत का पक्षसमर्थन किया है। उसके अनुसार यदि बीज को चित्त के समान ही मानें तो भी कोई दोष नहीं। यशोमित्र की व्याख्या से ऐसा लगता है कि सौत्रांतिकों ने मूलतः बीजसिद्धांत की स्थापना प्राप्ति नामक वैभाषिक धर्म के बदले में की थी।

३ – कुशल - धर्म - बीज – यद्यपि थेरवादी बीज के सौत्रांतिक सिद्धांत को नहीं मानते फिर भी सुत्तों में इसके उद्भव का संकेत देनेवाले अनेक प्रमाण हैं। अंगनिकाय में एक लंबा सुत्त है जिसमें छह प्रकार के व्यक्तियों में कुशल और अकुशल - मूल की प्रक्रिया का निरूपण है। यह शास्त्र सौत्रांतिक मत के पक्ष में है। इस सूत्र को वैभाषिक भी मानते हैं परंतु उनके अनुसार यह बीज नहीं, प्राप्ति का संकेत करता है। वैभाषिकों के मतानुसार मिथ्या - दृष्टि तथा कुशल - मूल, दोनों में तीन मौलिक स्तरों का समावेश है – मृदु, मध्य, अधिमात्र। समुच्छिन्न - कुशल - मूल पर कोशकार की व्याख्या, योगाचार की परिभाषा के अनुरूप ही है।

प्रभास्वर - चित्त का सिद्धांत पालिग्रंथों में अविदित नहीं है। परंतु अंग निकाय के संबद्ध सुत्त की व्याख्या थेरवादी भवंगचित्त के रूप में करते हैं। थेरवादियों के मत से प्रतिसंधि-चित्त मनुष्य चाहे कुशल - विपाक या अकुशल - विपाक चित्त हो सकता है। थेरवादी अभिधंम के अनुसार केवल कुशल - विपाक - चित्त सहेतुक होते हैं। अकुशल - विपाक - चित्त अहेतुक होते हैं। इस प्रकार के भेद का कोई तर्क अट्ठकथाओं या परवर्ती टीकाओं में नहीं मिलता।

*

जावर (राजस्थान) का एक शिलालेख

रत्नचंद्र अग्रवाल

•

इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, खंड चौंतीस, अंक ३ - ४, १९५८ में प्रकाशित 'ऐन इंस्क्रिप्शन फ्राम जावर, राजस्थान' शीर्षक अंगरेजी निबंध का सार —

जावर (उदयपुर से प्रायः २५ मील दक्षिण) में एक छोटी नदी के तट पर रामस्वामी का विष्णुमंदिर है। सिंहद्वार के दाहिनी ओर कभी एक चौकोर कृष्ण शिलापट्ट (३६ × २७ इंच) था जिस पर ४० पंक्तियों का महत्वपूर्ण अभिलेख था। खेद है कि अब इस शिलालेख का खंडित अंश ही विक्टोरिया हाल म्युजियम, उदयपुर (सं० ११८, पुरातत्व विभाग) में सुरक्षित है। डा० गौ० ही० ओझा ने संक्षेपतः इस पर दृष्टिपात किया था (एनुअल रिपोर्ट आफ द राजपूताना म्युजिअम, अजमेर, १९२५) तथा डा० एन० पी० चक्रवर्ती ने भी (एनुअल रिपोर्ट आर्क० सर्वे आफ इंडिया, १९३४ – ५, पृ० ५६)। कविराज श्यामलाल दास ने इसका पाठ वीरविनोद (हिंदी, भाग दो, पृ० ५६ - ८) में प्रकाशित किया। प्रस्तुत निबंध में इस अभिलेख को पुनः पढ़ने तथा समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। शिलालेख इस प्रकार है –

पंक्ति १ ॐ नमः श्रीगणेश प्रसा [दात्] सरस्वत्यै नमः॥ श्रीचित्रको (कू) टाधिपति श्रीमहाराजाधिराज - महा

„ २ रां (रा) णा श्रीकुंभकर्ण पुत्री [श्रीजी] र्ण प्राकारे सोरठपतिमहारायां राय श्री – मंडलीक - भार्या श्री **रमां (मा) बाई ए**

„ ३ **प्रासाद रामस्वामि रु राम (कुण्ड) कारापिता संवत् १५५४ वर्षे चैत्र शुदि ७ सप्तमी रवौ म (मु) हूर्त्तं क्रताः (कृतम्)॥** शुभं भवतु।

„ ४ श्रीमत्कुंभनृपस्य दिग्गजरदातिक्रां [त] कीर्त्यं बुधेः। कन्या यादव वंशमंडन श्रीमंडलीक प्रिया॥ संगीतागम दुग्धसिंधु

„ ५ जसुधास्वादे परादेवता। प्रद्यु [म्नं कु] रुते राजते वनीपकवनं कं न स्मरंतं रमा॥१॥ **श्रीमत्कुंभलमेर (रु) दुग शिष (ख) रे दामोदर मंदिरं श्रीकुंडेश्व**

„ ६ **रदच्च (चि) णाश्रित गिरेस्तीरे सरः** सुंद [रं] श्रीमद्धारि मद्दा [ब्धि सिंधु] भुवने श्रीयोगिनीपत्तने भूयः कुंडमचीकरत्किल रमा लोकत्रयेः

„ ७ कीर्त्तये॥ २॥ श्रीकुंभोद्भवं यांबु [धि] नियमितष्किंवा सुधा दीधिते। निक्षेपस्थि-दशौरशे पणभिया॥ किंवाप्सरः सु (सुं) दरं॥ प्राप्तुं।

„ ८ पौर पुरंध्रिवृंदमभुजद्भुमी (मि) तलं मा [न] सं चित्रं रामशरप्रहारभयतोब्धिर्वेह कुंडायते॥ ३॥ यस्मिन्नीर विहारि कोकमिथुनं कीडा

„ ९ समुन्मीलिते शीतांशावितरेत [रे] ण नितरां विश्लेषमासाद्य च॥ तापं नैव तनौविभर्त्यविरतं सोपानभित्तिस्फुरत् (द) स्वीयां

,, १० गप्रतिबिंबसंगम वशाद्दूरेपि तीरे चरतू (त) ।। पानीयहारविहार सवरसु (सुं) दरीवदनं निजं प्रतिबिंबभूतमितीह निर्मलधी

,, ११ रनीरगमंबुजं ।। आदातुमुद्यतपा [णि] नाजलदोलने न ग [तभ्र] मावितनोति कांचनकुंभपूरणमत्र विस्मयविभ्रमा ।। ५ ।।

,, १२ रसालतरुं मंजुलं पिकविनोदनादोत्कलं क्वचित्कनककेतकोद्ध तपरागपिंगांचलं ।। स शीकर सुशीतलं सुरभिवृंद मं

,, १३ दानिलं य दीयम [तिनिर्मलं जयति तो] रभूमी (मि) तलं ।। ६ ।। यदीयतट-भूतलं हसितं कुंदपुष्पोज्वलं क्वचिद्विकचमालती कुसुमलोल भृं

,, १४ गैष्क [लं ।। क्वचित्सरलसारणि तरलनीरतापे] शलं सुवंति सुरयोषितः किमुत नंदनादप्यलं ।। ७ ।। एतद्भित्ति तटालयेषु रुचिरोत्कीर्णैः ।

,, १५ [सुराणां] गणैः क्रीडोपागत यौव [न] युतोपांतैर [?] तैरपि ।। तत्पादृक्प्रतिबिंबि-तैरुपलसन्नागांगनासंगिभिर्मन्ये कुंडमिदं

,, १६ रमाविरचितं लोकत्रयादद्भुतं ।। ८ ।। य [द्वा] रुणप्रतिष्ठासमये समुपेत विबुधवृंदेभ्यः।। कनकदुकूल वितरणं ।। विदधाति रमेतिलोलु

,, १७ पतिसुराः ।। ९ ।। यावच्छेषशिरस्सुशेष (ख) रपदभूर्भूतधान्यमयं मेरुर्मेरुगिरेरुपर्युपरितो ब्रह्मादिलोकत्रयं ।। धत्ते यावदमुत्र वा दिन म –

,, १८ णिर्माणिक्य नैराजनं तावच्चरुतरं रमाविरचितं कुंडं चिरं नंदतु ।।१०।। **श्रीरमावर्णनं** ।। उन्मीलद्गुणरत्नरोहण महीप्रौढप्रभालं क्र (कृ) ता ।।

,, १९ सौन्दर्यामृतवाहिनी मधुसूदनसाम्राज्यसर्वस्वभूः । सौराष्ट्रेश्वरः-यादवान्वयमणेः श्रीमंड-लीकप्रभोराज्ञी चारु रमावती वितनुते सं

,, २० गीतमानंददं ।। १ ।। कुंभत्र (त्र) ह्मसुमीरित क्रमगादुच्छिन्नतं यत्क्षितौ तत्प्रोद्धृत्य गिरीश भक्ति परमारं (र) म्या (म्यां) रमाभारती (रतीं) ।। संगीतभरतादिनोक्त

,, २१ विधिना त्र (त्र) छौंकतानोपमा मंदानंदविधाय [कं] विलसति प्रोल्लासयंतीपरं ।। २ ।। नादानंदमयीवरोन्नतकं (क) रालीलोल्लसद्वल्लको रामारक्त

,, २२ गिरीश्वर स्मरकलाशर्मोर्मिरम्योज्वला । लीलां [दो] लित [राजहंस गमनासद्भो] गिभर्तृस्तुता पद्मा मोदितमानसा विजयते वागीश्वरी श्रीरमा ।। ३ ।।

,, २३ संजाता जलधेर्विवेकविधुरा धीरेष्ववद्धादरा चापल्याभिरता प्रमोदमयते या पंकजाता स्थितौ । [विद्वत्कुंभ] नृपोद्भवा गुणगणपूर्णा प्रवीणे (णा)

,, २४ दी स्थैर्यप्रीतिमतीति ता विजयते श्रेयोचितश्रीरमा ।। ४ ।। राजद्वैतभूधरांतररतं श्रीकांतमाराधयत्कांतानंदित [मान] सा यदनिशं [राजद्रमा] ।

,, २५ वत्यतः ।। मेरो कुंभकृते **'महीपतनय – श्रीमंडलीक - प्रिया श्रीदामोदर मंदिरं व्यरचयत्** कैलाशशैलोज्वलं ।। ५ ।। श्रीरस्तुः (तु) ।। **सूत्रधार रा [मा]।**

,, २६ **अथ श्रीमहाराज श्रीमंडलीकप्रबन्धः** ।। इंदोरनिदितकुलं बहुबाहुजातवंशेषु यस्य वसतेरतुलं बभूव ।। श्रीमंडलेंद्रगिरि**रैवतकाधि**

" २७ वासो दामोदरो भवतु वः सुचिरं विभूत्यै ॥ १ ॥ श्रीमंडलीकदर्शनपरितुष्टमना महेश्वरः सुकविः ॥ श्रीमेदपाटवसतिर्गुणनिधिमेनं यथाम

" २८ ति स्तौति ॥ २ ॥ आश्लिष्टः सुरविटपी संप्रति चिंतामणि [मंया] कलितः । लब्धः सुवर्ण शिखरी मिलिते त्वयि मंडलाधीश ॥ ३ ॥ सुरविटपिविटप विशालभुजदलक

" २९ लित विपुलमहत्फलं । कविचित्तचिंतामणि महागुण [ज]ाल जन्म महीतलं अनवरत-सुरसरिदमलतम जललुलित सुरशिखरिप्रभं ॥ कल [या]

" ३० मि मंडलराजमहमिहतोपमेमिहिमप्रभं ॥ ४ ॥ वरिकलितः पुरुहूतो धननाथो नयन-गोचरो रचितः ॥ साचात्कृतो रतीशरस्त्वयि मिलि [ते]

" ३१ मंडलाधीश ॥५॥ पुरुहूतमिवगुरुमंत्र यंत्रि [तमतु] लमंगलमंडितं ॥ धननाथमिव-धनदानतोषित चंद्रमौलिमखंडितं ॥ रतिमाण

" ३२ मिव वरयुवतिकृतनुतिभहतविषमशर [युत] परिचिंत्य मंडलराजमिहमोदमगमनुव्रतं ॥६॥ अंकु (कु)रिता शर्मलता कोरकिता

" ३३ चिराचंपकव्रत [...] उल्लसिता तनुनलिनी मिलिते त्वयि मंडलाधीश ॥ [७] ॥ कलधौत वितरणतरलकर-जल-जनित शर्म सद (दं) कुरं जनचिराचंपक [कु]

" ३४ सुम-संभवमधुरतर - मधुबंधुरं ॥ गगनैकमणि [वि] स्फुरण पुलकित तनुनलिनीदलं । अनुभूयमंडलराजमिदमपि भवति

" ३५ हृदयमनाकुलं ॥ ८ ॥ कपू (पूं) रं नयनयुगे वपुषि [सुधा र] शिम रश्मिपरिषेकः ॥ हृदये परमानंदस्त्वयि मिलितं मंडलाधीश ॥ ९ ॥ घनसार सार समाग

" ३६ मे [द्रव] लोचने हिप्रनिर्भ(र्झ)रे । सकलं प्लुतं वपुरघ हि [महि] ॥ म धामधामनि निर्झरे ॥ मम मनसि परमानंद संपदुदार तरमभिवर्द्धते नरनाथ भवति

" ३७ विलोकिते सति मंडलेश शुचिशिम (रिम) ते ॥१०॥ सुरतरु [रघ न] नरेश गेहदशं मम कलयति सुरगिरिरिति यदुराजराजमान समुज्वलयति ॥ सुरपति

" ३८ रयमिति मतिरुदेति संप्रति नरनायक ॥ रतिपतिरिति [नय] नानुरक्तिरुदयति दृढसायक ॥ अनुपमतममहिम महीपसुत - मंडल — सकलकलाकुशल

" ३९ [सद्ध] ष्टमतिभवत्यवधि नवनिधिसंविधिरधि [कवला] [॥ ११ ॥ श्री [मेद] पा [टे वरे देशे] कुंभकर्णनृपमहे (?) चैत्रा कसूत्रधारस्य पुत्रो मंडन आत्मवान ॥१२।

" ४० **[सूत्रधार मंडन सुत ईशर ए कमठाणु विरचितं देवीदास प्रतिकारित] ॥**

निर्देश

इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, खंड बाइस, संख्या ३ - ४

पुअर मेन्स थालीज - ए डेकन पाटर्स टेकनीक – एफ० आर० अल्चिन, बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज, लंदन, खंड २२, भाग १, १९५९ । प्रस्तुत निबंध में दक्षिण भारत के कुम्हार परिवारों तथा उनकी कला का अध्ययन किया गया है ।

डेवलपमेंट एंड ग्रोथ आफ तांत्रिक रेलिजन इन मिथिला – डा० उपेंद्र ठाकुर । मिथिला में तांत्रिक धर्म का विकास और संवर्द्धन ।

क्रिमिनल जस्टिस अंडर दि चोलज—एस० के० रामचंद्रन् । चोलों की अपराध - न्याय - व्यवस्था ।

दि कल्ट आफ व्रात्यज – श्री राधाकृष्ण चौधरी । व्रात्यों का धर्म ।

*

समीक्षा

बीकानेर जैन लेख - संग्रह

सहस्राधिक खोज भरे लेखों के लेखक 'श्री नाहटा' जी का प्रस्तुत संपादन अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। इस लेखसंग्रह में नवम - दशम शताब्दी से लेकर वर्तमान युग तक के लगभग ३००० (२८८८ + कुछ अन्य) लेख हैं। राजस्थान में फैली हुई धातु और प्रस्तर की प्रतिमाओं से संगृहीत इन 'लेखों' का ऐतिहासिक मूल्य तभी ठीक - ठीक आँका जा सकेगा जब इतिहास - लेखन की परंपरा में प्रस्तुत संग्रह के अनेक 'लेखों' का ठीक - ठीक विनियोग और उपयोग होगा। न जाने कितने ज्ञात पर संदिग्ध विषयों का समर्थन, अज्ञात विषयों का उद्घाटन एवं पूर्वानुमित बातों का साधार प्रत्याख्यान — इन 'लेखों' के प्रमाण पर किया जा सकता है तथा अनेक विषयों पर नवीन प्रकाश पड़ सकता है। इतिहास लेखकों के लिए धातु - प्रस्तरों के लेख कितने असंदिग्ध प्रमाण होते हैं – इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। अतः इस ग्रंथ का इतिहासोपयोगी महत्व अत्यंत विशिष्ट है।

परंतु इसके साथ - साथ भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी ऐसे शब्द इन लेखों में भरे पड़े हैं, जिनका अध्ययन ज्ञानवृद्धि में सहायक सिद्ध हो सकता है। शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र आदि से संबद्ध शब्दों का प्रयोग इन लेखों में हुआ है जिनका ठीक - ठीक अर्थ समझने में अनुशीलकों को प्रस्तुत लेखों से अवश्य प्रेरणा प्राप्त होगी।

अपने दस पृष्ठों के विस्तृत 'प्राक्कथन' में डा० वासुदेवशरण जी ने विद्वत्तापूर्ण आस्था के साथ इन 'लेखों' की महत्ता का परिचय दिया है और एक लेख में निर्दिष्ट 'त्रैलोक्यदीपक' प्रासाद तथा 'त्रैलोक्यतिलक', 'त्रैलोक्यभूषण' और 'त्रैलोक्यविजय' नामक प्रासादों को वास्तुशास्त्रीय अध्ययन का विषय बताया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में 'डा० अग्रवाल' के महत्वपूर्ण परिचायक 'प्राक्कथन' के अलावा ११२ पृष्ठों की 'भूमिका' लिखी गई है जो अत्यंत महत्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक है। इस भूमिका में लेखक ने बीकानेर के जैन इतिहास पर प्रकाश डालते हुए वहाँ के जैन मंदिरों का तथा जैन उपाश्रयों का भी संक्षिप्त इतिहास बताया है। इनके अतिरिक्त 'बीकानेर के जैन भांडारों' का परिचय देते हुए वहाँ के दुर्लभ ग्रंथों का भी उल्लेख किया है। इन सबके साथ - साथ अन्य अनेक स्फुट बातों की चर्चा की गई है। इन सबके कारण ग्रंथ अत्यंत महनीय हो गया है। उक्त विषयों में अभिरुचि रखनेवाले शोधकों को इसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, शिल्पकला - विषयक, भाषावैज्ञानिक तथा धार्मिक प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो सकती है जो अद्यावधि अज्ञात या अनिर्णीत रही हो। इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का संपादनकार्य भी बड़े श्रम और अभिनिवेश के साथ किया गया है। अनेक प्रतिमाओं और मंदिरों, महापुरुषों और लेख - लिपियों आदि के बहुसंख्यक सुस्पष्ट चित्रों ने ग्रंथ की महत्ता का अभिवर्धन किया है। अंत के पाँच परिशिष्टों में संवत् की, स्थानों की, राजाओं की, श्रावक-संबद्ध गोत्रादि की तथा आचार्यों के गच्छ और संवत् की सूचियों के देने से ग्रंथ की उपादेयता और भी बढ़ गई है।

इस महत्वपूर्ण लेख - संग्रह के संकलन और विद्वत्तापूर्ण संपादन के लिए 'नाहटा - द्वय' अभिनंदनीय हैं। आशा है, उनके संपादन और तत्वाधान में ऐसे प्रकाशन निरंतर होते रहेंगे।[1]

ज्ञानसार ग्रंथावली तथा समयसुंदर - कृति - संग्रह

'श्री अभय जैन ग्रंथमाला' के १४वें और १५ वें ग्रंथ के रूप में प्रकाशित इन दोनों कृतियों का संपादन किया है – श्री अगरचंद नाहटा तथा श्री भँवरलाल जी नाहटा ने। श्री अगरचंद जी नाहटा और उनके शोधपूर्ण कार्यों से हिंदी - शोधपत्रों के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। श्री नाहटाजी प्राचीन हिंदी - ग्रंथों के अन्वेषक और तद्विषयक शोधकर्ता तो है ही, साथ ही उनके उद्धारक भी हैं। जैन - भांडारों के प्राचीन प्राकृत - अपभ्रंश ग्रंथों और राजस्थानी साहित्य के संबंध में नाहटा जी को जितनी जानकारी और जितना परिज्ञान है, उतना बहुत दुर्लभ है। साथ ही वे अश्रांत भाव से निरंतर उद्धार और शोध का कार्य करते चल रहे हैं।

'ज्ञानसार ग्रंथावली' वस्तुतः मुनि ज्ञानसागर की रचनाओं का संग्रह है – जिसका संकलन नाहटा जी के तीस वर्षों की अथक और अप्रतिहत लगन एवं कर्मठता का परिणाम है। अनेक वर्षों तक, बारंबार विघ्नों के पड़ने पर भी 'नाहटा' जी ने सामग्री - संकलन का कार्य जारी रखा और अंत में अपने लक्ष्य में वे सफल हुए। 'किंचिद्वक्तव्य' में नाहटा जी ने ग्रंथ - संपादन की कहानी दे दी है। 'श्री श्री मुनि ज्ञानसार' का आविर्भाव उन्नीसवीं विक्रमशताब्दी के आरंभ में हुआ था। वे जैनों के बहुत ही आदरणीय संत थे। श्री श्री मुनि ज्ञानसार जी द्वारा निर्मित वाङ्मय बड़ा विशाल है। भाषा, विषय, भाव और शैली सभी दृष्टियों से उसका अध्ययन होना ही चाहिए। इस अनुशीलन द्वारा अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चल सकता है।

'समय सुंदर - कृति - कुसुमांजलि' भी ऐसी ही महत्वपूर्ण कृति है। महामहोपाध्याय कविपुंगव समयसुंदर जी का नाम राजस्थान (विशेषतः बीकानेर) के जैनों में बड़े आदर और उत्साह के साथ लिया जाता है। कविवर के अनेक 'स्तवन' और 'रास' का पाठ बड़े धार्मिक भाव से किया जाता है। युगप्रधान श्री श्री जिनदत्तसूरि, परिचेय ग्रंथकार के गुरु थे। श्री समयसुंदर जी का जन्म सं० १६२० वि० के आसपास और मृत्यु सं० १७०२ वि० में हुई। संस्कृत में लगभग पचीस और हिंदी में भी तेईस रचनाएँ इनके द्वारा लिखित मानी जाती हैं। कविवर की ग्रंथ - नामावली देखने से ही ग्रंथों की महत्ता का अनुमान हो जाता है।

प्रस्तुत संपादन एक खोजपूर्ण प्रयास है तथा साहित्य, छंद, शैली, भाषा, विवेच्य विषय और मुख्यतः ऐतिहासिक सामग्री के विचार से यह ग्रंथ विशेषरूप से अध्ययनीय है। संपादक - संग्राहक 'नाहटा' - द्वय का यह प्रयास उनके अविरत अनुशीलन का आस्वादनीय फल है।

१. बीकानेर जैन लेख संग्रह – संपादक सर्वश्री अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा, प्रकाशक 'नाहटा ब्रदर्स', कलकत्ता, मू० १०)।

आशा है – इन ग्रंथों की परंपरा में नाहटा जी द्वारा और भी महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित होती रहेंगी।[२]

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

प्रस्तुत ग्रंथ के 'प्रथम' तथा 'द्वितीय' – दोनों भाग धर्मसंघ शिक्षा मंडल - ग्रंथमाला के षष्ठ तथा सप्तम पुष्प हैं। प्रथम भाग पाँच प्रकरणों का है — १ – 'वेदों की अपौरुषेयता', २ – 'वेदों का स्वतः प्रामाण्य', ३ – 'समस्त वेद का प्रामाण्य', ४ – 'विध्यर्थ भावना-विचार' तथा ५ – 'अर्थवादों का प्रामाण्य'। द्वितीय भाग में निम्नांकित प्रकरण हैं — १ – 'मंत्र - प्रामाण्य - विचार', २ – 'वेदशाखाओं का शास्त्रीय विवेक', ३ – 'ब्राह्मण - भाग का वेदत्व - विचार', ४ – 'ब्राह्मणों के वेदत्व पर विशिष्ट विचार' तथा ५ – 'परिशिष्ट' और 'थीवो साहब का शास्त्रार्थ - निर्णय।

ग्रंथ के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। आदरणीय स्वामी जी महाराज प्रस्तुत संदर्भ के तलस्पर्शी एवं मर्मज्ञ विद्वान् है। उन्होंने आस्तिक दर्शनों और ग्रंथों के सिद्धांत - प्रतिपादन की सरणि का अनुसरण करते हुए विषय का वैदुष्यपूर्ण मीमांसन किया है। वेद - वेदांगों, कल्पसूत्र - स्मृतियों, आस्तिक - दर्शन - शाखाओं में विश्वास-श्रद्धा रखनेवाले भारतीयों के लिए ग्रंथ अत्यंत उपादेय एवं ज्ञान - वर्द्धक है। 'पूर्व - मीमांसा' की शास्त्रीय विवेचन - पद्धति के अनुसार वेद (संहिताब्राह्मण) का अनुयोग - विनियोग, अनुशीलन - परिशीलन कैसे किया गया है – इसका परिचय हमें मिल जाता है। शास्त्र-निर्णय में जिनकी पूर्ण आस्था नहीं है, वे ग्रंथ को पढ़कर चाहें 'वेद - प्रामाण्य' में तनिक भी विश्वास न करें किंतु 'मीमांसा' दर्शन की वेदानुशीलन - प्रणाली देखकर अवश्य उनकी प्रशंसा करेंगे। भौतिक विज्ञान के प्रत्यक्ष- अनुमान - साधित सत्यों में विश्वास रखनेवाले लोगों के लिए ग्रंथ का सैद्धांतिक महत्व नहीं है। इसी प्रकार 'वेदों' को 'ईश्वर - वचन' अथवा 'अपौरुषेय' मानकर जो नहीं चलेंगे – उनकी दृष्टि में इन ग्रंथों की सैद्धांतिक मान्यता नहीं है। परंतु हिंदू धर्म में विश्वास रखनेवालों के लिए ग्रंथ पठनीय और मननीय है। आस्तिक जनता और पाठकों का इन कृतियों द्वारा निश्चय ही प्रशंसनीय ज्ञान - वर्द्धन होगा।[3]

नकेन के प्रपद्य

नकेन में तीन प्रयोगवादी कवियों – नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश – की कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह के प्रारंभ में 'प्रपद्य - द्वादशसूत्री' – प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप संलग्न है और अंत में पस्पशा – कवियों की प्रयोगवाद संबंधी धाराओं का विश्लेषण। इसलिए आवश्यक है कि पहले 'प्रपद्य द्वादशसूत्री' तथा 'पस्पशा' पर विचार कर लिया जाय जिससे उसके प्रकाश में संगृहीत कविताओं का मूल्यांकन करने में सुकरता हो।

२. ज्ञानसार ग्रंथावली तथा समयसुंदर - कृति - कुसुमांजलि – संपादक सर्वश्री अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा, प्रकाशक, नाहटा ब्रदर्स, कलकत्ता।

३. वेद का स्वरूप और प्रामाण्य लेखक – श्री स्वामी करपात्री जी महाराज, प्रकाशक – धर्मसंघ शिक्षा मंडल, दुर्गाकुंड (वाराणसी)। भाग प्रथम – पृ० सं० २७६, भाग द्वितीय – पृ० सं० ४३२।

इस संग्रह के प्रकाशन और प्रयोगवादी दर्शन के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य आलोचकों की उस धारणा का प्रत्याख्यान करना है जिसमें अज्ञेय द्वारा संपादित सप्तकों की कविताओं को (जिन्हें अज्ञेय ने स्वयं प्रयोगशील कहा है) प्रयोगवादी स्वीकारा गया है। अज्ञेय के विचारों को स्पष्ट करते हुए 'पस्पशा' में बताया गया है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। प्रयोग अपने आप में इष्ट वा साध्य नहीं है, वह साधन है। प्रयोग 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने तथा भाषा में अधिक सारगर्भित अर्थ भरकर अपनी संवेदनाओं को पाठक तक पहुँचाने के लिए है। इस प्रकार सप्तकों में जिस काव्य की सैद्धांतिक व्याख्या हुई वह प्रयोगशील की थी, प्रयोगवादी की नहीं; और अगर हिंदी के सुधी समीक्षक अज्ञेय की उपर्युक्त व्याख्या को प्रयोगवाद की व्याख्या न मान लेतें तो 'प्रयोग - दश - सूत्री' के प्रकाशन की आवश्यकता न होती।' इनके कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय द्वारा संपादित सप्तकों की कविताएँ प्रयोगशील हैं तो नकेन संग्रह की कविताएँ प्रयोगवादी। अज्ञेय तथा उनके साथी प्रयोग को साधन मानते हैं तो नकेन साध्य।

प्रयोगशील कवि ने नई अनुभूतियों को रूप देने के लिए भाषा - संबंधी प्रयोगशीलता को अपनाया तो नकेनवादी अथवा प्रपद्यवादी कवि उसे वाद की सीमा तक घसीट ले गए। उन्होंने प्रयोगवाद को एक दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की, यद्यपि यह दर्शन जगह - जगह काफी कमजोर है। इसके घोषणापत्र का पहला ही सूत्र लीजिए – प्रयोगवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है। इससे साफ है कि प्रपद्यवादी भाव और व्यंजना दोनों के प्रति सचेत है। प्रयोगशील कवि अपने भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए ही तो शब्द को नया अर्थ देता हैं। इसका दसवां सूत्र है – प्रयोगवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है। इसकी व्याख्या अन्यत्र दी गई है – 'प्रयोगवादी कवि मानता है कि कविता की सच्ची प्रेरणा वस्तु - स्थिति से मिलती हैं, जब कि वस्तुस्थिति के संश्लेष को लेखक अथवा साहित्यकार एक नए दृष्टि - विंदु से देखता है। वह दृष्टिविंदु भी विषयगत की तरह कुछ अज्ञेय अथवा धुँधला नहीं। वह विषयगत ही होता है। लेखक विषय से ही वह दृष्टि - विंदु प्राप्त करता है और उसीके आलोक में वह विषय को फिर एक नई जगह से, शक्ति के नए संश्लेष के रूप में देखने लगता है। ऐसा देखना अनिवार्यतः निस्संग देखना है।' दूसरे शब्दों में इसे ही वस्तु - निष्ठ दृष्टिकोण कहा जाता है जिसे टी० एस० ईलियट ने व्यक्तित्व से पलायन कहा है। पर खेद तो यह है कि न तो प्रयोगशील कवि निर्वैयक्तिक हो सका और न प्रयोगवादी। वैयक्तिक कुंठाओं और उलझी हुई संवेदनाओं को युग के मत्थे फेंक कर किनारा कस लिया गया। प्रयोगशील कवि साधारणीकरण का विश्वासी होने के कारण निस्संग हो भी सकता है पर प्रयोगवादी तो साधारणीकरण में विश्वास ही नहीं करता, इसलिये उसके निस्संग होने की तो कोई संभावना ही नहीं है। सिद्धांत और व्यवहार की यह खाईं ही कवि और पाठक के बीच की खाईं है।

कवि और पाठक के संबंध को संकेतित करते हुए पस्पसा में लिखा गया है – 'तात्पर्य यह कि कवि अपने शब्दों से पाठकों को प्रतिश्रुत नहीं करा देता उन्हें स्वतंत्रता दे देता है कि वे अपने को जिस प्रकार चाहें प्रतिश्रुत करें, यानी सामान्य अनुभूति के क्षेत्र के आगे जाकर कविता पाठक को भी स्वतंत्र कर देती है, प्रतिक्रिया के मानी में।' प्रतिक्रिया के मानी में पाठक को स्वतंत्र करना एक बात है और मनमाने ढंग से पाठकों को अपने को प्रतिश्रुत करना दूसरी बात। यदि पाठक मनमाने ढंग से, जिस प्रकार चाहे, अपने को प्रतिश्रुत करने लगेगा तो वह आज की कविताओं का वैसा ही अर्थ लगाने लगेगा जैसा किसी ने विहारी सतसई का वैधक - परक अर्थ लगाया था। यह एक ऐसा अंतर्विरोध है जो स्पष्टीकरण की माँग करता है।

प्रपद्यवादी घोषणा-पत्र के सूत्रों में से कई ऐसे हैं जो स्वयं विदेशी फार्मूलों पर आधारित हैं, जैसे १, ११, १२ सूत्र। इनमें से कुछ 'सम इमेजिस्ट पोएट्स' की भूमिका में उद्धृत षट्सिद्धांतों के मेल में हैं तो कुछ हर्बर्टरीड द्वारा 'आर्ट एंड लेटर' के तीसरे अंक में प्रकाशित लेख 'डेफिनिशंस टुवर्ड्स ए माडर्न थ्योरी आफ पोएट्री' में उल्लिखित फार्मूलों के मेल में। दूसरे स्थानों के सूत्रों को आवश्यकता पड़ने पर अपनाया जा सकता है। लेकिन कतिपय व्याख्याएँ जो यहाँ प्रस्तुत की गई हैं उनमें अपेक्षित सफाई नहीं आ पाई है। बारहवें सूत्र के संबंध में तीसरे तार सप्तक में अज्ञेय ने जो आपत्तियाँ उठाई है वे द्रष्टव्य हैं। लेकिन इसकी व्याख्या उत्तरार्ध में (दे० पृ० १४३-४४) अच्छी तरह से कर दी गई हैं। उसका अर्थ भी लगभग वही है जो अज्ञेय का।

पस्पशा के उत्तरार्ध में प्रयोगवादी काव्य के संबंध में आलोचकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का जो जवाब दिया गया है वह पर्याप्त गंभीर और विचारोत्तेजक है। नकेनवादियों का यह कथन सर्वथा सही है कि कविता राग की जागीर नहीं रह गई हैं। वेलरी, ईलिएट, हर्बर्टरीड, रिचार्ड्स आदि ने बौद्धिकता को काव्य की चौहद्दी से बाहर नहीं हाँका है। आज की दुर्बोधिता को पार करने के लिए पाठकों को भी अभ्यास की आवश्यकता होगी। 'सेंट परसीस एनावसिस' की भूमिका में ईलिएट ने लिखा है कि उस काव्य को समझने के लिए उसे कविता को चार-पाँच बार पढ़ना पड़ा। पहले वह उसके संगीत से प्रभावित हुआ, तत्पश्चात उसने देखा कि उसका काव्य-सौंदर्य, बौद्धिकता और संगीत अलग-अलग तत्व नहीं हैं। पर आगे चलकर जहाँ यह कहा जाता है कि 'कविता का दायित्व मौलिक दृष्टिकोण के रसात्मक स्थलों की खोज, अपने भाव तथा व्यंजना का स्थापत्य उतारना है वहाँ वैचारिक अंतर्विरोध खड़ा हो जाता है। दोनों में से या तो एक ही सही है या फिर दोनों ही।

कविता को इन लोगों ने मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि माना है और उसकी उपयोगिता संस्कृति को आगे ले चलने में है। पर क्या निर्बाध वैयक्तिक स्वातंत्र्य द्वारा यह संभव है? इनके मतानुसार 'मनुष्य के वैयक्तिक स्वातंत्र्य की रचनात्मक प्रतिभा की रक्षा एवं वृद्धि कर कविता सामाजिक दायित्व का निर्वाह करती है।' इसी दृष्टिकोण के कारण दूसरों की पीड़ा और अपनी पीड़ा में कोई साम्य नहीं स्थापित किया जा सका है। कवि और उसके पाठक के बीच जो दुर्लंघ्य खाई दिखाई पड़ने लगी है उसके मूल में यही तथ्य अनुस्यूत है। कवि का निरंकुश अहं अपने को पाठक की ओर न ले जाकर पाठक को ही अपने तक घसीटना चाहता है। यह आज के काव्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। प्रयोगशील कवि इस दशा में कुछ जागरूक मालूम पड़ता है पर प्रयोगवादी इससे सर्वथा निस्संग मालूम पड़ रहा है। आज प्रेषणीयता अपने निम्नतम विंदु पर है। पहले के कवि स्वयं अनेक घटनाचक्रों से संबद्ध होने के कारण सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण अनुभव करते थे। इसीलिये समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। आज आवश्यकता है कि कवि अपने दायित्व का पुनर्मूल्यांकन करे।

अब आइए इन तीनों कवियों की रचनाओं का भी विवेचन करें। नया विश्लेषण करते समय मुख्य रूप से यह देखना होगा कि इन्होंने किस दृष्टिकोण का अनुसंधान किया है? ये किस सीमा तक निस्संग हैं? इनका वैयक्तिक स्वातंत्र्य कहाँ तक सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता है? नलिन जी की कविताओं को पढ़ने से लगता है कि कवि 'मौलिक

दृष्टिकोण' (?) के रसात्मक स्थलों की खोज कम ही कर पाया है। प्रत्यूष, चित्रधाम, गीतिदर्शन, किरीटमिश्रा जैसी कविताओं में राग-बोधात्मक शक्ति नहीं है। कोई कह सकता है कि यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कविता राग की जागीर नहीं है। मुझे इससे इनकार नहीं है। पर उनमें बौद्धिकता भी तो होनी चाहिए। गीत, नवजातक क्या, पहली अजंता अपेक्षाकृत अच्छी कविताएँ हैं। केसरीकुमार मूलतः रोमैंटिक हैं। नए कवियों में कई ऐसे हैं। अंग्रेज कवि आडेन और डायलन टामस में भी रोमैंटिक प्रवृत्ति का पुनर्जागरण देखा जा सकता है। पर हिंदी के कवि (नकेनवादी) वादी बनने की धुन में कुछ दूसरे ही धरातल पर उतर आते हैं। केसरीकुमार की पहली दो कविताएँ – सालगिरह और मरण तू – नई होते हुए भी रोमैंटिक हैं। फिर तो साँझ को असभ्य आदमी की जम्हाई, एक शरीर लड़की, स्याही-सोख कहने पर उतर आते हैं। क्या यह छायावादी कवियों की प्रतिक्रिया नहीं है? उन्होंने संध्या को परी सी सुंदरी माना तो इन्हें कुछ ऊटपटांग कहना ही चाहिए। ऐसी कविताओं में निरसंगता तो है पर मौलिक दृष्टिकोण का कुछ अजीब अनुसंधान है। 'बोधिवृक्ष' अपने व्यंग्य में तीखी बन पड़ी है। 'युगपत्थर' अपने कथ्य की नवीनता तथा प्रपद्य-प्रारूप (?), भाव तथा शिल्प के स्थापत्य के कारण उल्लेख्य है। यद्यपि नरेश की कविता में भी नुस्खेबाजी और विज्ञापन की कमी नहीं है फिर भी उनका कवि अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और प्रबुद्ध जान पड़ता है। कुछ कविताओं को छोड़कर शेष के व्यंग्य की सोद्देश्यता उन्हें जीवंत बना देती है। 'मिस मोनिका' ऐसी ही कविता है। यों नरेश की बड़ी कविताओं की अपेक्षा छोटी कविताएँ अधिक अच्छी बन पड़ी हैं। शुक्रिया, खामोशी, शाम, याद आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। यहाँ पर कवि की वादी प्रवृत्ति न दिखाई देकर सहज कवि उभर आया है।

साधारणतः दायित्व से निश्चिंत होने के कारण भाव या बौद्धिकता से भी ये लोग निश्चिंत ही दिखाई पड़ते हैं, वैयक्तिक स्वातंत्र्य का आत्यंतिक आग्रह व्यक्ति को इन्हीं धारों तक घसीटता है। कैडेंस का अंग्रेजीवत प्रयोग अपनी भाषा के मेल में कैसे बैठ सकता है। अधिकांश अप्रस्तुत जो आज के परिवेश से लिए गए हैं वे प्रस्तुत का ऐंद्रिय अथवा बौद्धिक चित्र खींच सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। इनमें से कुछ जो बिना प्रयास आ गए हैं अच्छे बन पड़े हैं जैसे, 'सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेमने' (पर क्या यह वैदिक नहीं है?), 'दो उँगलियों में दबी सस्ती सिगरेट के जलते टुकड़े की तरह जिसे कुछ लहमों में पीकर नाली में फेंक दूंगा' आदि।

हिंदी कविता का इस दिशा में विकसित न होना शुभ लक्षण का सूचक है। इस संग्रह का, इस संग्रह में संगृहीत कविताओं का, ऐतिहासिक महत्व माना जा सकता है। शायद जाने-अनजाने इन तीन कवियों का उद्देश्य भी इससे भिन्न नहीं है।[४]

— बच्चनसिंह

सूरज की धूप

प्रत्येक एकांकी की रचना किसी न किसी सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक समस्या को लेकर की गई है। 'यादगार' में श्राद्धकर्म में होनेवाले अपव्यय के स्थान पर धन को समाजो-

४. **नकेन के प्रपद्य** – प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, पटना ४, मूल्य पाँच रुपए।

पयोगी कार्य में करने के लिए कहा गया है। 'सूरज की धूप' में लड़के का पिता उसे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने देना ठीक नहीं समझता और उसके विपरीत अपने इच्छानुसार चलाना चाहता है। किंतु उससे गुत्थियाँ पड़ने लगती हैं जिनके कारण उसे इससे विरत होना पड़ता है। 'अपशकुन' में हरिजनों के मंदिरप्रवेश का समर्थन किया गया गया है और मद्यपान की बुराइयाँ दिखाई गई हैं। 'बकरे की माँ' में साधुबाबा लोगों के पाषंड का दिग्दर्शन और उसका भंडाफोड़ है। 'महज एक कारटून' एक बने हुए सामाजिक कार्यकर्ता का मखौल है।

इस प्रकार जितने भी एकांकी हैं अथवा पात्र हैं, उनका आधार लेखक के अपने आदर्श विचार हैं न कि जीवन का यथार्थ। इस संबंध में भूमिका में स्पष्ट कर दिया गया है कि कला जीवन के लिए है। यही नहीं उनके 'नम्र मतानुसार रंगमंच पर ही नाट्यसाहित्य की सार्थकता है। इसीलिए लेखक ने कथोपकथन को छोटा और भाषा को सरल बनाने की चेष्टा की है। किंतु इतने से ही और शुभ उद्देश्यों को लेकर ही सफल नाटकों की रचना नहीं हो सकती। यदि नाटकों की सार्थकता मंच पर ही है तो कथानक में नवीनता होनी चाहिए, पात्रों में विशेषता होनी चाहिए, स्थलों में मर्मस्पर्शिता होनी चाहिए और भाषा में चलतापन होना चाहिए। थोड़े में दर्शकों के लिए नाटक को रोचक होना चाहिए। इन सबका इन एकांकियों में अभाव है। कथानक, भाषा तथा चरित्रसृष्टि की दृष्टि से ये प्रारंभिक अवस्था में हैं।[५]

न्याय की रात

आज के भारतीय जीवन में थोड़े से लोगों का, किंतु एक महत्वपूर्ण वर्ग दिखाई पड़ने लगा है जो व्यापार तो करता है, किंतु, उसकी पूँजी, धन न होकर उसकी बुद्धि होती है। एक ओर तो उच्च प्रशासकीय पदाधिकारियों में उनकी पैठ होती है, जिसके कारण वे सरलता पूर्वक उनसे परमिटें और लाइसेंस प्राप्त कर लेते हैं और दूसरी ओर धनवाले व्यापारियों को ये परमिट और लाइसेंस देकर उनसे अच्छी खासी रकम बनाते हैं, जिसमें से एक अंश उन पदाधिकारियों की जेब में भी जाता है। हेमंत इसी प्रकार का एक बुद्धिअवलंबी दलाल है, जो बिना परिश्रम किए ही इस प्रकार धन प्राप्त करता है। आवश्यकता पड़ने पर फर्जी कंपनी खड़ी कर जनता से भी धन दुहना उसके बाएँ हाथ का खेल है। यही उद्यम और उसका व्यक्तित्व उसकी शक्ति, सत्ता और महत्व का आधार रहा है। स्वाभाविक रूप से इसके अतिरिक्त उसके लिए सफलता का और कोई मार्ग नहीं हो सकता।

दूसरी ओर सदानंद वह पदाधिकारी है जो हेमंत को परमिटें इत्यादि देकर उसके बदले रुपए प्राप्त करता है। उच्चपदाधिकारियों में और भी जो चरित्रगत दोष हो सकते हैं अथवा धाँधलियाँ हो सकती हैं, सब इसमें है। अंत में इन सब दोषों का कमला के, जो एक शरणार्थी बालिका है, संपर्क में आने पर और युगलकिशोर जैसे दृढ़ चरित्रवाले युवक के प्रभाव से मार्जन

५. **सूरज की धूप (एकांकी संग्रह)** – ले० – श्री मदनमोहन मदारिया; प्रकाशक – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य – रु० १.५० नया पैसा; एकांकी संख्या ५; पृष्ठ संख्या – ७८।

हो जाता है। सदानंद में सुधार होने का कारण उसकी दृढ़ता नहीं दुर्बलता है। उसकी आय, मानमर्यादा यहाँ तक परमिटों इत्यादि सबका स्रोत रहा है उसका पद। इसलिए जहाँ उस पर आँच आती दीखती है तो उस आशंका से एक ओर वह अपने संकल्पों से च्युत होता है तो वहीं उसमें सुधार भी होता है।

इन पात्रों में थोड़ी बहुत यथार्थता का पुट है क्योंकि ये वर्गभूत हैं। किंतु राजीव तो नाटककार के आदर्श विचारों और संकल्प का मूर्तिमान रूप है। क्योंकि उसने 'भारत से भ्रष्टाचार का उन्मूलन तथा देश में गहरी भावनात्मक एकता का प्रसार' नाटक की रचना का ध्येय बनाया है। यही कारण है कि राजीव आई० सी० एस० का महत्वपूर्ण पद छोड़कर भ्रष्टाचारविरोधी गुप्त पुलिस का प्रधान हो जाता है, जिसका पता हेमंत को अंत में लगता है। उसकी आदर्शवादिता की पराकाष्ठा वहाँ पर दिखाई पड़ती है जब वह हेमंत का बहनोई होते हुए भी, उसके फँसने पर किसी प्रकार की सहायता देना अस्वीकार कर देता है। यही नहीं अंत में इस प्रकार का जाल फैलाता है कि हेमंत उसमें बुरी तरह फँस जाता है। व्यवहार में हेमंत और राजीव के साले बहनोई के संबंध की अनौपचारिकता का अभाव भी दिखाई पड़ता है।

आरंभ में नाटक अच्छे ढंग से विकसित होता है। घटनाओं के आगे बढ़ाने और हेमंत के स्वभाव - प्रकटीकरण में मुंशी जी और टेलीफोन का प्रयोग अच्छे ढंग से किया गया है। किंतु दूसरे अंक में शिथिलता और तीसरे अंक में आकर अतिनाटकीयता (मेलोड्रामा) से नाटक अभिभूत हो जाता है।

यही नहीं, नाटककार का जो संकल्प रहा है, उसकी दृष्टि से जो समाधान उसने उपस्थित किया है, उसके संबंध में भी संदेह होने लगता है। सब पढ़ लेने पर यही मालूम होता है कि हेमंत और उसका वर्ग ही सारे भ्रष्टाचार के मूल में हैं और उनके ठीक करने पर ही भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सकता है। दूसरी ओर नाटककार सदानंद के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। कहनेवाला कह सकता है कि यदि हेमंत का वर्ग भ्रष्टाचार के लिए प्रेरित करता है तो वस्तुतः भ्रष्टाचार करता है सदानंद और उसका वर्ग नौकरशाही। यदि नौकरशाही अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो तो हेमंत ऐसे लोगों के लिए परिश्रम करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जायगा! सबसे बड़ा अभिशाप तो देश के लिए है नौकरशाही की व्यवस्था और उसके ऊपर के दुर्बल राजनैतिक शासक। नाटककार ने इन्हें भ्रष्टाचार के ऊपर रखने की चेष्टा की है। अथवा उनके लिए सुधार का प्रमाणपत्र दे दिया है। इसीलिए समाधान से संतोष नहीं होता। संदेह होता है कि क्या वर्तमान शासकीय व्यवस्था के संरक्षण में यह प्रचारात्मक कृति तो नहीं?

सब कुछ होने पर भी इसमें संदेह नहीं कि मंच पर यह नाटक एक नागरिक वर्ग की दृष्टि से सफल और रोचक होगा। नाटककार का दूसरा संकल्प था इसे अभिनेय बनाना। इसलिए जहाँ कथानक की काव्यात्मकता अथवा चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह दुर्बल है वहीं मंच की दृष्टि से सफल है। कुल तीन अंक हैं। प्रत्येक अंक एक ही सेट पर चलता है। सेट भी पूरे नाटक के लिए केवल दो ही है। पात्रों की संख्या भी कम है। पाँच प्रधान पुरुष पात्र, दो स्त्री पात्र और दो चपरासी। भाषा चलती हुई, सरल, अवसर वा स्थितियों के अनुकूल अभिव्यक्ति में समर्थ। कथोपकथन छोटे, चुस्त, मँजे हुए स्वाभाविक हैं। प्राविधिक दृष्टि से प्रौढ़

है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मंच पर हल्के मनोरंजन के लिए एक उपयुक्त प्रयोग है।

समीक्षा समाप्त कर लेने के उपरांत नाटक का परिवर्द्धित - परिमार्जित संस्करण भी आ गया। इसमें नाटककार ने घटनाओं तथा पात्रों में काफी परिवर्तन किए हैं। इसमें उक्त अतिनाटकीयता (मेलोड्रामा) का दोष दूर हो गया है।[६]

रूपलक्ष्मी

भगवान बुद्ध के समकालीन वैशाली की अंबपाली (अथवा आम्रपाली) की कथा हमारे सहृदय लोगों के आकर्षण का विषय रही है। उसी को लेकर प्रस्तुत काव्यात्मक रेडियो रूपक की रचना की गई है।

इसमें आम्रपाली ही मात्र रूप से मुख्य चरित्र है। अन्य पात्र अथवा पात्राओं अथवा घटनाओं की अवतारणा केवल उसके चरित्र के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने के लिए अथवा उसके विकास के लिए की गई है। यदि एक वाक्य में ही समेटने की चेष्टा की जाय तो हम कह सकते हैं कि जीवन, उसके विविध व्यापारों और उसके भोगविलास में संलग्न रहकर भी स्थिर रूप से उनके प्रति अनासक्ति और विरक्ति का भाव ही उसके चरित्र की कुंजी है।

वह पूर्णतः मानवी है अवश्य। क्योंकि उसे अपने पालक पिता के प्रति स्नेह है, पत्नीत्व और मातृत्व के अधिकारों के प्रति जागरूकता है, सुंदर और प्रभावशाली व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण है, शत्रुओं के प्रति शत्रुता का भाव है और संगीत के प्रति रुचि है। फिर भी ये मानवोचित भाव भी अपने उदात्त रूप में ही आये हैं। यही कारण है कि वह सामान्य नारी नहीं है। उसका निर्माण असामान्य धरातल पर हुआ है।

उसके यौवन की सुरभि दिग्दिगंत तक फैलती है और गंधअंध युवक भ्रमरवत् उसकी ओर आकृष्ट होते आते हैं। आरंभ में वह अनल शिखा सी दिखती है जिसमें वे मुग्ध युवक शलभवत् होम हो जाते हैं। इससे चिंताकुल बज्जिगण का सन्निपात उसे सबकी सामान्य पत्नी अथवा नगरवधू बनाने का आदेश देता है। अपने व्यक्तिगत एवं नारी - निसर्ग - अधिकारों से वंचित किए जाने पर एक बार उसका हृदय विद्रोह कर उठता है फिर भी वह कर्तव्यवश नतशिर इसे स्वीकार करती है।

नगरवधू के रूप में उसकी ख्याति दूर दूर तक फैलती है। दिग्दिगंत से लोग उसकी ख्याति सुनकर आते हैं। उसपर रत्नराशि और स्वयं अपने को लुटाकर वापस जाते हैं किंतु संतुष्ट। वह दूसरों को आकृष्ट करती है किंतु स्वयं किसी के प्रति आकृष्ट नहीं होती। दूसरों को सुख प्रदान करती है किंतु स्वयं सुख नहीं प्राप्त करती। निःसंदेह छद्मरूप मगध सम्राट के प्रभावशाली और मोहक व्यक्तित्व के प्रति एक बार उसमें प्रणय का भाव जाग्रत होता है किंतु वास्तविक परिचय का आभास मिलते ही, यह जानकर कि वह उसके शत्रु - देश का सम्राट है, उसके प्रति रोष और तिरस्कार का भाव उठता है। उसे उसके द्वारा होनेवाली अपनी भावी संतान के प्रति भी विरक्ति का भाव आता है।

६. **न्याय की रात (नाटक)** ले० श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार, प्रकाशक – प्रकाश एंड कंपनी नई दिल्ली; मूल्य ३.००, पृष्ठ संख्या – १३६।

इस प्रकार नागरिकता के भाव से जन्य कर्तव्यशीलता का भाव तो उसमें अद्भुत रूप से है। उसे जीवन के प्रति नैसर्गिक विरक्ति है फिर भी नगरवधू के अपने कर्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक करती है। आगंतुकों का कंठसंगीत, वाद्यसंगीत, नृत्य और सान्निध्य, प्रत्येक ढंग से मनोरंजन करती है - तल्लीन भाव से। वैशाली के शत्रु और पश्चात्कालीन आक्रामक मगधसम्राट अजातशत्रु के प्रख्यात नीतिकुशल और भयंकर आमात्य वस्सकार का आतंक उसे अभिभूत नहीं कर पाता। वह अपना शीश लुटाने के लिये तैयार हो जाती है किंतु देश के साथ घात करने के लिए नहीं। इसी प्रकार युद्धकाल में वह पूरी धीरता और शांति के साथ देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करती है। आवश्यकता पड़ने पर युवकों को युद्धभूमि में देश के रक्षार्थ जाने के लिए प्रेरित करती है। अवसर पड़ने पर परिचारिका बनकर आहतों की परिचर्या करती हैं। उनके लिए अपना घर परिचर्यागृह बना डालती है। कोमल कुसुमवत् शय्या पर शयन करनेवाली कठोर भूमि को ही अपनी शय्या मान लेती है।

उसकी यह कर्तव्यशीलता नीरस शांति अथवा भार नहीं। वह निष्प्रयास सहज उद्भूत भाव है, धर्म है।

उसमें अनुरक्ति है किंतु वह देहजन्य न होकर रागजन्य है। वह भगवान् बुद्ध के विरागात्मक सिद्धांतों से प्रभावित होकर उनके प्रति उन्मुख होती है। वे भी उसकी उज्वलता के इस मर्म को समझते हैं और उसका आमंत्रण प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करके उसके यहाँ जाते हैं। रूपककार ने उसके चरित्र की इस विशेषता को बड़ी पटुता के साथ चित्रित किया है। वह आनंद, भोग और विलास में रत दिखाई जाती है किंतु उनमें मग्न नहीं। वह उनसे ऊपर रहती है। वह कमल की भाँति है जिसका मूल कीच में है फिर भी वह उससे मुक्त है और उसके कलमष से अभिन्न। इसमें संदेह नहीं कि सब मिलाकर अंबपाली का एक बहुत ही उज्ज्वल और भव्य चरित्र इसमें चित्रित किया गया है जो अपने ढंग का है।

यद्यपि अन्य पात्र अथवा पात्राएँ बहुत थोड़े समय के लिए आते हैं, फिर भी इनमें से भी प्रमुखों की संख्या १७ है। रूपककार के लिए यह श्रम का विषय है कि थोड़ा अवसर मिलने पर भी उसने इनका भी चित्रण कुशलतापूर्वक किया है। अम्बपाली के पालक पिता, वैशाली के राजचेटक, सम्राट बिंबसार, भगवान् बुद्ध, भिक्षु आनंद दासी चटुला तो अपनी विशेषताओं से संपन्न है। किंतु इनमें भी सबसे अधिक सफलता अमात्य वस्सकार के चित्रण में मिली है।

इस रूपक की भाषा स्वाभाविक रूप से संस्कृत प्रधान है। तत्कालीन विशेष अर्थ, भाव अथवा बोधक शब्दों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में किया गया है। भाषा स्वाभाविक, सशक्त और प्रवाहपूर्ण है। संवाद छोटे, चुस्त और अवसर और पात्र के अनुकूल है। एकाध स्थान पर गलत दार्शनिक व्याख्या है जैसे 'मृत्यु क्या है?' 'जो है उसका न रहना।' यहाँ 'है' के अंतर्गत निर्जीव पदार्थ का भी बोध है, और उनमें परिवर्तन होता है अथवा होता है उनका नाश।

रूपककार ने थोड़ा सा परिश्रम करके यदि इसे नाट्यरूप प्रदान किया होता तो संभवतः मंच पर भी इसकी अवतारणा सफलता पूर्वक हो सकती थी फिर भी काव्य के रूप में भी यह प्रशंसनीय प्रयास है।७

—दिलीप

७. **रूपलक्ष्मी (रेडियो रूपक)** ले० - श्री कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खु'; प्रकाशक - साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, प्रयाग, मूल्य - १. ५० नया पैसा; पृ० सं० - ९५।

संस्कृत और उसका साहित्य

संस्कृत के विशाल साहित्य का संक्षेप में परिचय कराने की दृष्टि से लिखित यह लघुग्रंथ 'सरस्वती सहकार' की 'भारतीय साहित्य परिचय' माला के अंतर्गत है। लगभग २० भारतीय भाषा - उपभाषाओं के संबंध में इसी प्रकार के परिचयात्मक ग्रंथों के प्रकाशन की योजना है। इस माला के संपादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' हैं। माला की अधिकांश पुस्तकें प्रकाशित हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने प्रथम अध्याय में संस्कृत भाषा की उत्पत्ति और विकास के संबंध में प्रकाश डाला है और ८ अध्यायों में वैदिक साहित्य, इतिहास - पुराण, महाकाव्य, लघुकाव्य; नाटक, गद्य साहित्य, शास्त्रीय साहित्य [दर्शन, ज्योतिष, छंद, व्याकरण; अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र, कामशास्त्र आदि] तथा जैन और बौद्धसाहित्य के प्रमुख, प्राचीन और मध्ययुगीन ग्रंथों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है। काल - विवरण और अन्य विवाद - ग्रस्त विषयों का उल्लेख मात्र करते हुए नवीन तथ्य और अन्वेषण एवं विचारधाराओं को भी संक्षेप में यथा-संभव रखा गया है। अंतिम अध्याय 'उपसंहार' में आधुनिक संस्कृत रचनाओं पर अतिसंक्षेप में प्रकाश डाला गया है। संस्कृत भाषा के इतिहास का साधारण ज्ञान इस के द्वारा सरलता से संभव है। संस्कृत साहित्य का परिचय प्राप्त करनेवालों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी है।[८]

फूल बच्चा और जिंदगी

लेखक की 'अपनी बात' में 'चेतन, अर्धचेतन और अचेतन' भी आ गया है, 'क्षण' का भी उल्लेख है और 'मिसिंगलिंक' का भी। कहानी के जन्म को एक तरह की प्रसव - पीड़ा बताते हुए लेखक ने अंत में यह भी कह डाला है कि बिना जिगर का खून पिये महान रचना संभव नहीं। किंतु इन कहानियों के प्रति लेखक का कलात्मक विवेक संतुष्ट है अतः उसने इनका संग्रह पाठकों के सामने छपा कर धर दिया है। इन सबों की संपृक्त गोलमगोल स्थिति 'अपनी बात' के पहले ही वाक्य से कि 'इसमें मेरी दस कहानियाँ संगृहीत है', साफ हो जाती है। कहानियाँ १६, उल्लेख १० का शायद इसीलिए कि 'चेतन, अर्धचेतन, अचेतन, क्षण, कलात्कक विवेक, प्रसव - पीड़ा, जिगर का खून पीना' इन सबों ने मिलकर व्यावहारिक विवेक की हत्या कर डाली हो। १६० पृष्ठ के इस संग्रह की चार - छ कहानियाँ ही लेखक की कला के प्रति पाठक को जागरूक करती हैं। साधारणतः कहानियों में कथोपकथन और अस्तव्यस्त दर्शन का चक्कर यह समझने ही नहीं देता कि लेखक आखिर क्या कहना चाहता है। फलस्वरूप वे प्रभावकर नहीं, पाठक उन्हें पढ़ने में ऊब उठता है। साथ ही मुद्रण संबंधी त्रुटियाँ – शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ मिले जिसमें उनकी भरमार न हो, पाठक को बाध्य करती है कि वह पढ़ना बंद कर दे।[९]

टूटते बंधन

ग्रामीण जीवन से संबद्ध यह एक यथार्थवादी उपन्यास है। यथार्थवादी शायद इसलिए कि इसमें बड़े लोगों और छोटे लोगों के संघर्ष का चित्रण है जिसमें छोटे लोगों की विजय

८. **संस्कृत और उसका साहित्य,** लेखक – डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास; प्रकाशक – राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, पृ० सं० १६०; मूल्य – २ रुपया २५ नये पैसे।

९. **फूल बच्चा और जिंदगी** (कहानी संग्रह); लेखक – श्री देवेन्द्र इस्सर, प्रकाशक – साहित्य संगम, लुधियाना, पृ० सं० १६४, मूल्य ३)।

होती है। साधारणतः ग्रामीण जीवन की कहानी या उपन्यास का ढाँचा ऐसा ही रहता है, चाहे वह गाँव में रहकर लिखा गया हो अथवा सुनकर पर यह संघर्ष केवल ग्रामीण नहीं, हाँ, ग्राम में इसके विकास की उर्वरा भूमि अवश्य मिलती है। चौधरी दलथंभन और मुंशीजी के अनेक प्रतिरूप आज भी गाँवों में मिलते हैं। उपन्यास के पात्रों में गोपी एक नेता जैसा प्रतीत होता है, रूपा और सुगनी का चरित्र चित्रण सुंदर है और चौधरी तथा मुंशी जी की चालबाजी अपना अलग स्थान रखती है। अमिरती और गोपी की कूएँ पर की वार्ता दोनों के आंतरिक विचारों की अभिव्यक्ति करने में सक्षम है। चित्रण की दृष्टि से उपन्यास का १३ वाँ अंश उत्कृष्ट है और वही एक ऐसी वस्तु है जहाँ बड़ा और छोटा ग्रामीण समान हो उठता है और प्रत्येक पाठक लेखक का सामीप्य प्राप्त कर लेता है। पुस्तक की छपाई आकर्षक और सुंदर है। ग्रामजीवन में प्रतिक्षण प्रयुक्त होनेवाले सुंदर शब्दों का प्रयोग उपन्यास की पृष्ठभूमि को सबल करता है। मुख पृष्ठ का चित्र भव्य सा नहीं। सरल होते हुए भाषा परिनिष्ठित है और उपन्यास की रोचकता को बढ़ाती चलती है। उपन्यास पठनीय है।[१०]

राजस्थानी लोकगीत

भारतीय जनजीवन की स्पष्ट स्वच्छता लोकगीतों में व्यक्त होती है। सरल भाषा में मानव-हृदय की सजीव भावनाओं और मनुष्य जीवन के उन भावों की अभिव्यक्ति इन गीतों में होती है जिनके आधार पर वह अपने को मनुष्य कहता है। समाज के अतीत, उसके आदर्श और उसकी स्थिति का सरल शब्दों में अभिव्यंजन इन्हीं गीतों में हो पाया है। आज भी जनजीवन इनसे प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त करता जा रहा है। राजस्थान का भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। वीरों की इस भूमि में शौर्य, साहस, प्रतिज्ञापूर्ति और देश के लिए जीवनोत्सर्ग के साथ-साथ स्नेह, प्रेम, कारुण्य और वदान्यता की सरसधारा भी अपनी गति से बहती रही है। अतिरिक्त इसके मनुष्य जीवन के उन भावों की भी अपनी एक गति रही है जो सार्वत्रिक हैं।

प्रस्तुत संग्रह में राजस्थानी संस्कृति का सजीव और सर्वांगपूर्ण चित्र ९० लोकगीतों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इस संबंध में संपादिका का प्रयत्न सफल है; खास तौर से इसलिए कि संकलन में व्यर्थ की भरती नहीं की गई है। ४४ पृष्ठों की भूमिका में गीतों का विवेचन और उनसे संबद्ध कथाओं का विश्लेषण गीतों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने में सहायक है। गीतों के अर्थ के साथ आवश्यक शब्दों पर टिप्पणी भी दी गई है और अंत में राजस्थानी शब्दार्थ भी दिये गए हैं। इससे संग्रह की उपयोगिता बढ़ गई है। अच्छा होता यदि भूमिका में अन्य जनपदीय समान लोक गीतों के साथ इनका तुलनात्मक विवेचन किया जाता। लोकभाषा रसिकों के लिये प्रस्तुत संग्रह उपादेय है। प्रारंभ में राष्ट्रपति की शुभकामना और डा० दशरथ शर्मा की प्रस्तावना द्वारा संकलन महत्त्वपूर्ण हो उठा है।[११]

१०. टूटते बंधन (उपन्यास), लेखक – श्री हर्षनाथ, प्रकाशक – उषा प्रकाशन, कलकत्ता; पृष्ठ संख्या – १९२, मूल्य – ३.०० रुपये।

११. राजस्थानी लोकगीत; संपादिका रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत; प्रकाशक राजस्थानी संस्कृति परिषद्, जयपुर; पृ० सं० ३००; मूल्य ६.००।

ब्रह्म और माया

कमलजोशी के प्रकाशित ४ कहानी संग्रहों में यह एक है जिसकी कहानियाँ अनुभवी कहानीकार की कलम से निकली हैं। इसमें दार्शनिक विचारों का चक्कर नहीं, शैली का व्यामोह नहीं और न तो आजकल की जनपदीय बोली के शब्दों को सजाने की ईहा है। सीधे ढंग से, सरल भाषा में जनजीवन के विभिन्न भावनाओं पर आधारित तथ्य की अभिव्यक्ति की गई है। कस्तूरी - मृग एक मनोवैज्ञानिक कहानी है, इसका रहस्य अंत में स्पष्ट होता है। ममता का बंधन भिखारियों की करुण कथा के साथ एक अबोध शिशु के प्रति राधा और नंदू की ममता पर आधारित है। ब्रह्म और माया एक व्यंग्य है। आध्यात्मिकता के आवरण में अपनी कुत्सा पूरी करनेवाले रामानंद आज समाज में सर्वत्र हैं। वैनिटी एक निम्नमध्यवर्गीय जीवन की रूढ़ियों के खोखलेपन पर आघात करती है। नर्स में नारी की सहज मातृत्व की आकांक्षा व्यक्त हो उठी है जब वह कहती है कि 'कुछ नहीं- मैं सोचती हूं मैं नर्स की नर्स रह गई।' शीराजी एक अजीब चरित्र है जिसके चित्रण में सजग लेखनी सफल रही है। नायक-नायिका का कथानक हृदय पर एक अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। इस प्रकार संग्रह की सभी कहानियाँ तटस्थ जिज्ञासा की वृत्ति से प्रेरित, पैनी दृष्टि से अनुकरणीय चरित्र एवं स्वभाव का अध्यन और विवेचन करती हैं। चुटकुला एक मामूली बात को लेकर लिखी गई है। स्मरण शक्ति मनुष्य के साथ कभी I कभी जो खिलवाड़ कर बैठती है उसीको लेकर यह कहानी है। इसकी स्वाभाविकता और सरलता पाठक के मन को झकझोर देती है। इस संग्रह की कहानियों में इस छोटी सी कहानी का अपना स्वतंत्र स्थान है। जोशीजी की कहानियों का अंत बड़ा ही प्रभावकर होता है, ओ० हेनरी की कहानियों की तरह। जहाँ पहुँचकर कहानी मूलतः पकड़ में आ जाती है और आगे उसके संबंध में जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण हमें इन कहानियों में छोटे-छोटे पर प्रभावकर वाक्यों में मिलता है। अनुभवी कलाकार की सृजन शक्ति का परिचय देनेवाली ये कहानियाँ आज के कहानीकारों में लेखक का अपना एक सुरक्षित स्थान रख छोड़ती हैं। पुस्तक की छपाई सुंदर है।[१२]

— विश्वनाथ त्रिपाठी

सिंधी भाषा का संक्षिप्त परिचय

सिंधी भाषा पर यद्यपि अंग्रेजी में स्टैक और ट्रंप आदि विद्वानों की पुस्तकें बहुत पहले निकल चुकी हैं जिनमें प्रामाणिकता के नाते ट्रंप अधिक विश्रुत है, किंतु हिंदी में इस दिशा में यह पहली पुस्तक है। ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषाओं में सिंधी का जो महत्व है उसे देखते हुए ट्रंप और टर्नर के बाद इस ओर गंभीर प्रयत्न का लगभग अभाव रहा। भारत - विभाजन के बाद की विपरीत परिस्थितियों में श्री जैतली का इस ओर कलम उठाना उनकी विशेष लगन और भाषा - प्रेम का सूचक है।

१२. **ब्रह्म और माया** (कहानी संग्रह), लेखक – श्रीकमलजोशी; प्रकाशक – शुभ्रा प्रकाशन, जमशेदपुर; पृष्ठ संख्या – १६२; मूल्य – ३.०० ।

पुस्तक के पहले दो परिच्छेदों में सिंधी के स्रोत और विकास आदि की चर्चा है। लेखक ने स्वयं माना है कि पैशाची और व्राचड़ आदि पर लिखते हुए वह प्रसंग से कुछ दूर हो गया है। भाषा और इतिहास के विस्तृत अध्ययन में उक्त चर्चा की आनुषंगिकता में हमें आपत्ति नहीं। उक्त विवेचन को शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो कुछ बातों में मतभेद हो सकता है, जैसे कि 'पश्तो' शब्द को अधिक प्राचीन सिद्ध न कर उससे 'पैशाची' की संभावित व्युत्पत्ति बताना। किंतु पेरु, मग, असुर, दस्यु आदि पर व्यक्त विचारों में अनुसंधान और दिलचस्पी की बहुत सी सामग्री मिलती है जिसके जुटाने में लेखक द्वारा किया गया श्रम श्लाघनीय है। इसी प्रकार, 'व्याकरण के बंधनों से मुक्त' देशी भाषा या अपभ्रंश को, शब्दों की व्युत्पत्ति का चिंतन आरंभ होने पर मध्यम अवस्था या प्राकृत कहना गंभीर पाठकों को न रुचेगा किंतु दूसरी ओर आभीर और यादवों आदि से संबंधित बातें, विशेष रूप से 'लाड़ी' से संबंधित विचार अनुसंधान के महत्त्व के हैं।

तीसरे और चौथे परिच्छेद में सिंधी की विविध बोलियों का परिचय और व्याकरण है। बोलियों के प्रसंग में उनमें होनेवाले ध्वनि - परिवर्तन के विशिष्ट लक्षणों को देने से विषय की अध्ययनीयता बढ़ गई है। बोली के साथ श्री ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' से उद्धृत लोकवार्ता के विभिन्न रूपांतर देना भी अध्येताओं के लिये रुचिकर होगा।

श्री जैतली की प्रस्तुत पुस्तक का स्वागत करते हुए हमें आशा है कि यह पुस्तक सिंधी ही नहीं अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलनकर्ताओं को भी अपनी ओर आकृष्ट करेगी।[13]

— पूरन गिर गोस्वामी

❀

१३. **सिंधी भाषा का संक्षिप्त परिचय**—लेखक-श्री कृष्णचंद्र टोपणलाल जैतली। प्रकाशक—मुरलीधर कृष्णचंद्र जैतली बी० ए०, पदमजी कंपाउंड, भवानी पेठ, पूना – २, पृष्ठ संख्या २३१- मूल्य ४.००।

प्राप्ति स्वीकार

निम्नलिखित पुस्तकें सधन्यवाद समीक्षार्थ प्राप्त हुई। इनमें समीक्ष्य पुस्तकों की समीक्षाएँ क्रमशः प्रकाशित होती रहेंगी। * तारांकित पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

मानस मणि — स्वामीनाथ शर्मा, लाखाणी बुक डिपो, गिरगाँव, बंबई, मूल्य २.२५।

सप्तपदी — ताराशंकर बंद्योपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – ६, मूल्य २.००।

रूपाजीवा — डा० लक्ष्मीनारायण लाल, „ „ मूल्य ६.००।

मध्यकालीन हिंदी गद्य—हरिमोहन श्रीवास्तव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–६ मूल्य ३.००।

चिदंबरा — सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–६, मूल्य १०.००।

कलरव — ऋषिनारायण 'पावन', पावन प्रकाशन, बड़ागाँव (गोपीगंज) वाराणसी, १.००।

* ज्ञानसार ग्रंथावली — अगरचंद नाहटा, नाहटा ब्रदर्स, ४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता, मूल्य २.५०।

* समयसुंदर कृति कुसुमांजलि — „ „ „ „ मूल्य ५.००।

* बीकानेर जैन लेख संग्रह — „ „ „ „ कलकत्ता, मूल्य १०.००।

* चंद्रमहीपति — आचार्य श्रीनिवास शास्त्री 'कविताकांत', ११८ अमहर्स्ट स्ट्रीट, कलकत्ता, मूल्य ६.००।

स्वाध्याय सुधा — आत्मानंद गिरि, रामकृष्ण आश्रम, अहमदाबाद, मूल्य २.००।

कृषि कहावतें — जगदीश सिंह गहलोत, चंद्रलेखा गहलोत हिंदी साहित्य मंदिर, मेड़ती दरवाजा, जोधपुर, मूल्य २.००।

राजस्थानी वातालाथ — जगदीश सिंह गहलोत, „ „ , „ मूल्य २.००।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक केंद्र — सुखवीर सिंह गहलोत, चंद्रलेखा गहलोत हिंदी साहित्य मंदिर, मेड़ती दरवाजा, जोधपुर, मूल्य ५.००।

अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग — रामलाल वर्मा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ६६ दरियागंज दिल्ली।

* कोई कुछ कह गया — कमल सुख, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ६६ दरियागंज, दिल्ली, मूल्य २.००

* दूसरी दुनियाँ — अक्षयकुमार जैन, „ „ मूल्य ३.००।

आधुनिक हिंदी कविताओं में प्रेम और सौंदर्य — डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस–६६, दरियागंज, दिल्ली मूल्य १२.५०।

अपराध और दंड — मोहिनी जुत्शी, सरस्वती सदन, मसूरी, उ० प्र०, ८.००।

दर्शनानंद दर्शन — श्रीराम शर्मा, विनोदशीलबंधु, प्राची प्रभामंडल, आगरा, मूल्य २.००।

* सूरज की धूप — मनमोहन मदारिया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरियागंज, दिल्ली, मूल्य १.५० ।

* पिया — उषादेवी मित्रा, ,, दिल्ली, मूल्य ४.५० ।

शुक्र ग्रह पर मानव — राल्फ एम० फारेल–अनुवाद – स्वर्णलता भूषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरियागंज, दिल्ली, मूल्य ३.०० ।

आदित्यनाथ—बलभद्र ठाकुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरियागंज, दिल्ली, मूल्य ५.०० ।

बुद्ध वैभव — डा० भगवतशरण उपाध्याय, ,, ,, ,, ,, २.०० ।

साहित्य भारती–२ भाग, वसंतदेव व पं० कड़ेपुरकर, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना–२, मूल्य १.५० ।

युग स्रष्टा – प्रेमचंद — परमेश्वर द्विरेफ, लक्ष्मीराम केडिया, चिड़ावा, मूल्य ५.०० ।

सीगफ्रिड — विराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १.५० ।

सूर — बालकृष्ण एम० ए०, ,, ,, मूल्य १.०० ।

तुलसी — ,, ,, ,, ,,

भगवान् बुद्ध — संतराम वत्स्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, मूल्य ०.८० ।

लोभ बुरी बला — बालकृष्ण एम० ए०, ,, ,, ,, ,, ०.७५ ।

सतलुज की कहानी — राजेंद्र शर्मा, ,, ,, ,, ,, १.१० ।

चंद्रगुप्त और चाणक्य — डा० भगवतशरण उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, मूल्य १.२५ ।

आज की लोक कथाएँ — मदन मोहन मदारिया, ,, ,, ,, मूल्य १.०० ।

भारत भारती तेलगु — मदनमोहन मदारिया, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, मूल्य १.२५ ।

,, ,, कन्नड़ — ,, ,, ,, ,, १.२५ ।

,, ,, तमिल ,, ,, ,, ,, १.२५ ।

शाकाहार का नैतिक आधार — गांधीजी, (संग्रह आर० के० प्रभु), नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, मूल्य ०.२५ ।

आधुनिक हिंदी व्याकरण और रचना — प्रो० वासुदेवनंदन प्रसाद, भारती भवन पटना, मूल्य ४.५० ।

प्रकाश प्रार्थना (प्रथम खंड), प्रकाश मोहता प्रकाश, मोहता हाउस, २१ स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता, मूल्य १.०० ।

चित्ररेखा — शिवसहाय पाठक; हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, काशी, मूल्य २.५० ।

अर्थांतर — सनेहिया लाल ओझा, सुप्रभात प्रकाशन, १७६ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता मूल्य ६.०० ।

राजस्थानी गूँज — मनोहर शर्मा मंजुल, राजस्थान प्रकाशन, १७।१ बी० नीमतल्ला घाटस्ट्रीट कलकत्ता, मूल्य १.५० ।

संगीत निबंधावली — लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस, मूल्य २.०० ।

रवींद्र संगीत — राधेश्याम पुरोहित ,, ,, ,, २.०० ।

अली आदिलशाह का काव्यसंग्रह — श्रीराम शर्मा, श्रीमुबारिजुद्दीन रफत, हिंदी विद्यापीठ, आगरा वि० वि०, आगरा, मूल्य ४.५० ।

छंदोहृदयप्रकाश — डा० विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी विद्यापीठ, आगरा वि० वि०, आगरा, मूल्य ५.०० ।

गुंजाल — कमल शुक्ल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, मूल्य १.५० ।

द्वारका शतक — द्वारकाप्रसाद द्वारका, किशोरचंद कपूर, लाठी महाल, कानपुर।

ताज की छाया में (कविता संग्रह) — शिवदान सिंह चौहान, 'साहित्यरत्न भंडार, आगरा, मूल्य ४.०० ।

अनेक देश एक इंसान — कुल भूषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस ६६, दरियागंज, दिल्ली, मूल्य ६.०० ।

फैली — बालकृष्ण, एम०ए०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस ६६, दरियागंज, दिल्ली, मूल्य १.२० ।

लाल हाथी — शिवमूर्ति सिंह वत्स, " " " " १.०० ।

माण्डवी — हरिशंकर सिनहा, ६३।१२२ छोटी पियरी, वाराणसी, मूल्य २.५० ।

पंछी जाल अहेरी — अनंत, विश्वास प्रकाशन, कलकत्ता, मूल्य २.०० ।

स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ — गांधी जी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, मूल्य १.०० ।

हिंद — गांधी जी, नवजीवन प्रकाश मंदिर, अहमदाबाद ।

* न्याय की रात — चंद्रगुप्त विद्यालंकार, प्रकाश ऐंड कं० पब्लिशर्स, नई दिल्ली, मूल्य ३.०० ।

सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य — डा० शिवप्रसाद सिंह, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी, मूल्य १२.५० ।

एक हस्ताक्षर और — राजादूबे, नवहिंद पब्लिकेशंस, ८३१ बेगमबाजार, हैदराबाद, ३.०० ।

विचार प्रवाह — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर (प्राइवेट) लि०, बंबई-४, मूल्य ५.०० ।

चार यार — प्रमथ चौधरी, अनुवादक मदनलाल जैन, " मूल्य १.२५ ।

* प्यार की जिंदगी — टालस्टाय, हिंद पाकेट बुक्स प्रा० लि०, शाहदरा, दिल्ली, मूल्य १.०० ।

* आपका शरीर — आनंद कुमार " " " " १.०० ।

* ज्वार भाटा — मन्मथनाथ गुप्त " " " " १.०० ।

* उमर खैयाम की रुबाइयाँ — बच्चन " " " " १.०० ।

* मुक्ता — सत्यकाम विद्यालंकार " " " " १.०० ।

*

भारतीय अभिलेखसूची

डाक्टर देवसहाय त्रिवेद एम० ए०; पी - एच० डी०

प्राङ्मौर्य (१५३६ खृष्टपूर्व से पहले)

१

कलिसंवत्		खीष्टपूर्व
१३०८	पिपराहवा (जिला बस्ती, उत्तर प्रदेश) बौद्ध कलशाभिलेख प्राकृत - ब्राह्मी, जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी पृ० ३८७ ब्युहलर; इंडियन ऐंटिक्वेरी ३६ – ११७ वार्थ; लुडर्स सूची ९३१; शाक्य भगवत् बुद्ध का अवशेष कलश। सुकीर्ति के भ्राताओं का स्वसा, पुत्र, भार्या सहित दान।	ल० १७९३

२

१३३२	पारखम मूर्ति - अभिलेख, प्राकृत - ब्राह्मी (अब मथुरा संग्रहालय)। आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट २० – ४१ कनिंघम; जर्नल विहार - उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ५ – १७३, काशीप्रसाद जायसवाल; प्राङ्मौर्य विहार १०९ देवसहाय त्रिवेद; लुडर्स सूची १५०। यह मूर्ति शिशुनागवंशी राजा अजातशत्रु की है। संभवतः कनिष्क के काल में यह मूर्ति मथुरा पहुँची।	ल० १७६९

३

१३४१	साँची स्तूप ३ अवशेषमंजूषा (१) अभिलेख, प्राकृत - ब्राह्मी भिलसा - स्तूप पृ० २९७ कनिंघम; लुडर्स सूची ६६५ सारिपुत्त का अवशेष।	ल० १७६०

४

१३४१	साँची स्तूप ३ मंजूषा (१) अभिलेख, प्राकृत - ब्राह्मी भिलसास्तूप पृ० २९९ कनिंघम; लुडर्स सूची ६६७ सा······ सारिपुत्त का अवशेष।	ल० १७६०

५

१३४१	शतधारा स्तूप २ मंजूषा, ढक्कन पर अभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी भिलसा स्तूप पृ० ३२४ कनिंघम; लुडर्स सूची १५२, सारिपुत्त का शवचिह्न।	ल० १७६०

६

कलिसंवत्		खीष्टपूर्व
१३४६	साँची स्तूप ३ अवशेष मंजूषा (२) अभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी भिलसा स्तूप पृ० २९७ कनिंघम; लुडर्स सूची ६६६ महामोग्गलान का अवशेष।	ल० १७५५

७

१३४६	साँची स्तूप ३ मंजूषा (२) अभिलेख, प्राकृत - ब्राह्मी म······ महामोग्गलान का अवशेष।	ल० १७५५

८

१३४६	शतधारा स्तूप २ मंजूषा - ढक्कन पर अभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी भिलसा स्तूप पृ० ३२४ कनिंघम; लुडर्स सूची १५३, महामोग्गलान का शवचिह्न।	ल० १७५५

९

१३५१	महास्थान (बोगरा, पूर्वी पाकिस्तान) शिलाभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी एपिग्राफिया इंडिका २१-८३ देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर। (आजकल यह स्तंभ भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है। भाषा मागधी प्राकृत अशोक के अभिलेखों से मिलती है। कुल ६ पंक्ति। इसके अनेक पाठ भग्न और भ्रष्ट हैं। दुर्भिक्ष के कारण वंग के गलार्दन को यह आज्ञा दी गई। पुण्ड्रनगर का अमात्य इसे पूरा करेगा। वंग में धान्य बाँटा गया तथा कौडी भी। आपत्ति टल जाने पर धन और धान्य से राजकोष भरा जाएगा। पुंड्रवर्द्धन ही महास्थानगढ़ है। यह करतोया नदी के तट पर था। सोहगौरा (जिला गोरखपुर) अभिलेख से भी दुर्भिक्ष में अन्न बाँटने का पता चलता है। भंडारकर के मत में यह अभिलेख खृष्ट पूर्व चतुर्थ शती का है। राजा का नाम मिट गया है जो संभवतः मौर्यवंशी था।)	ल० १७५०

१०

१३७३	पटना (अब कलकत्ता संग्रहालय) मूर्ति - अभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी, आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १५ - ३ कनिंघम; जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग ५ काशीप्रसाद जायसवाल; प्राङ्मौर्य बिहार ११२ त्रिवेद; लुडर्स सूची ९५८। पृथ्वी के स्वामी राजा अज। यह शिशुनाग वंशी राजा उदयी की मूर्ति है।	ल० १७२८

११

१४२२	पटना (अब कलकत्ता संग्रहालय) मूर्ति - अभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी, आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १५ - ३ कनिंघम; जर्नल	ल० १६७९

कलिसंवत		खीष्टपूर्व
	बिहार – उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ५ – २११ राखालदास बनर्जी; इंडियन ऐंटिक्वेरी १९०९ – ३३ राखालसाद चंदा; प्राङ्मौर्य बिहार ११४ देवसहाय त्रिवेद; लुडर्स सूची ९५७ सभी क्षत्रियों में प्रमुख नन्दि। यह मूर्ति शिशुनाग[1] राजा नंदिवर्द्धन की है।	

१२

१४५१	जोगीमारा (रामगढ़, बिहार) गुंफाभिलेख, प्राकृत-ब्राह्मी, जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ३४ - २ - २७ डाल्टनगंज, जर्नल एशियाटिक सोसायटी १९०७ पृ० ५११ फ्लीट; जर्नल बिहार - उड़ीसा रिसर्च सोसायटी १९२३ पृ० २७३ अनंत प्रसाद बनर्जी शास्त्री; प्राङ्मौर्य बिहार ३० देवसहाय त्रिवेद; लुडर्स सूची ९२१। इस मठ में सुतनुका नाम की देवदासी थी। वरुणसेवक या वाराणसी का वासी उसके प्रेमजाल में पड़ गया। देवदीन न्यायकर्ता ने उसे विनय के नियमों को भंग करने के कारण दंड दिया।	ल० १६५०

मौर्यवंश[2] ३६ – १२२० खीष्टपूर्व

१३

१५६८	तख्तवाही (मर्दान से ८ मील पश्चिमोत्तर) अभिलेख, प्राकृत-खरोष्ठी (अब लाहौर संग्रहालय)। एपिग्राफिया इंडिका १८ –	१५३३

१. शिशुनागवंश १९९८ खृष्टपूर्व से १६३६ खृष्टपूर्व तक

कलिसंवत्	राजानाम	भुक्तवर्ष	से	तक
१३००	अजातशत्रु	३२	१८०१	१७६९
१३३२	दर्शक	२५	१७६९	१७४४
१३५७	उदयी	१६	१७४४	१७२८
१६७३	अनिरुद्ध	९	१७२८	१७१९
१७८२	मुंड	८	१७१९	१७११
१३९०	नंदिवर्द्धन	४२	१७११	१६७९
१४२२	महानंदी	४३	१६७९	१६३६

२. मौर्यवंश

कलिसंवत्	राजानाम	भुक्तवर्ष	से	तक
१५६५	चंद्रगुप्त मौर्य	३४ वर्ष	१५३६	१५०२
१५९९	बिंदुसार	२८	१५०२	१४७४
१६२७	अशोक	३६	१४७४	१४३८
१६६३	कुणाल	८	१४३८	१४३०

कलिसंवत् खीष्टपूर्व

२६१ स्तेनकोनो । कुल ६ पंक्तियाँ हैं । महाराज गुंदफरनेस के २६ वें वर्ष में संवत् १०३ वैशाख १ (संभवतः वैशाखी) को सुपुत्रपुत्री मीर का पुण्यदान पितामाता के हेतु बलस्वामी को चैत्यदान । स्तेनकोनों के मत में संवत् १०३ विक्रमसंवत् का द्योतक है । कुछ लोग इसे सेल्पवस संवत्, कुछ मौर्यसंवत् और कुछ विद्वान शालिवाहन शाके का द्योतक मानते हैं । यदि इसे नंदसंवत मानें तो इसका काल १६३३ ख्. पू. होगा ।

१४

१५६६ सड्डो शिलाभिलेख । प्राकृत-खरोष्ठी, एपिग्राफिआ इंडिका २१ - २५ स्तेनकोनो । स्वात से चित्राल के मार्ग पर पंजकोरा नदी के पूर्वी तट पर ग्राम में पुल के पास है । बाढ़ में यह अभिलेख पानी में डूब जाता है । तख्तवाही से इसकी लिपि मिलती है । कुल चार पंक्ति । संवत् १०४ श्रावण ८ को यह सेतु भारी बोझ के लिए बनाया गया । स्तेनकोनो के मत में प्राचीन खरोष्ठी में दो संवतों का प्रयोग किया गया है यथा मैरा, कूप, मनसेहरा, सहदौरा, पतिकपत्र, तक्षशिला रजतघट, लोरिया तंगाई, हस्तनगर तथा स्करादेरी के अभिलेखों में शकसंवत् और तख्तवाही, सड्डी, पंजटार और तक्षशिला रजतपत्र पर विक्रम संवत् का प्रयोग है । स्तेनकोनो के मत में इस अभिलेख में प्रयुक्त संवत् का प्रथम वर्ष है ८४ खीष्टपूर्व, अतः इस अभिलेख का काल है १६ जून २० ई० । १५३२

१५

१५८१ सोहगौरा (जिला गोरखपुर, उ० प्र०) ताम्रपत्राभिलेख – प्राकृत - ब्राह्मी (आजकल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल) प्रोसिडिंग्स बंगाल एशियाटिक सोसायटी १८९४ पृ० ८४ हुई; १५२०

१६७१	दशरथ या बंधुपालित	८	१४३०	१४२२
१६७९	इंद्रपालित	७२	१४२२	१३४४
१७५७	संप्रति	९	१३४४	१३३५
१७६६	शालिशुक	१३	१३३५	१३२२
१७७९	देवधर्मा	७	१३२२	१३१५
१७८६	शतधनुष, शतधन्वा	८	१३१५	१३०७
१७९४	बृहद्रथ	८७	१३०७	१२२०

जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी १९०८ पृ० १८७, ५०९, ८२२ फ्लीट - बारनेट - लेनमन - याकोबी; एपिग्राफिया इंडिका २२-१ काशीप्रसाद जायसवाल; लुडर्स सूची ९५७।

इसकी लिपि महास्थान की लिपि से मिलती है। इस पर का चंद्र चिह्न चंद्रगुप्त का और 'मो' मौर्य का द्योतक है अतः यह शिलपलिपि चंद्रगुप्त मौर्य की द्योतक है। नंद और मौर्य के समय श्रावस्ती मगध का एक प्रदेश मात्र था। श्रावस्ती महामात्रों के अधीन थी। बार बार दुर्भिक्ष या सूखा रोकने के लिए इस प्रकार ताम्रपत्र पर लिखकर अनेक स्थानों में वितरण किया गया था जिससे जनता को कष्ट न हो। इसके दो वृक्ष सपत्र और अपत्र वृक्ष के तथा गृह कोष्ठागार के द्योतक हैं—जायसवाल।

श्रावस्ती के महामात्रों का दो कोष्ठागारों के संबंध में निर्देश, लुडर्स; तीन महापथ के यात्रियों के लिए विज्ञप्तिपट। दो कोष्ठागार त्रिवेणी मथुरा और चंचु के संघटन मार्ग पर मनवासी में अन्नसंचय के लिए निर्मित। इसके अर्थ के संबंध में विद्वानों में घोर मतभेद है।

१६

१९३८ प्रथम लघुशिला लेख – उद्योग का फल – प्राकृत - ब्राह्मी, अशोक के धर्म लेख ६९ जनार्दनभट्ट; कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् १ – १६६ हुल्श। १४६३

देवप्रिय (अशोक)[3] कहते हैं – ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ किंतु मैंने अधिक उद्योग न किया।

३. अशोक का इतिहास जानने के लिये इन अभिलेखों से उत्तम कोई अन्य साधन नहीं है। इसके अभिलेख चट्टानों पर, पत्थर की ऊँची लाटों पर और गुफाओं में उत्कीर्ण है। ये अभिलेख विभिन्न स्थानों में विकीर्ण हैं।

लघुशिला लेख : ये साम्राज्य के विभिन्न भागों में उपलब्ध है। यथा –

१. रूपनाथ (जिला जबलपुर, मध्य प्रदेश) – कैमूर पर्वत की उपत्यका में एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान दुर्गम चट्टानों और जंगलों से पूर्ण है। इस प्रसिद्ध तीर्थ स्थान पर सहस्रों यात्री शिव जी के दर्शन और उपासना के लिये एकत्र होते हैं।

२. सासाराम (जिला शाहाबाद, बिहार) – सासाराम नगर से पूर्व चंदनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा में ये लेख उत्कीर्ण है। रोहतासगढ़ और गुप्तेश्वरनाथ

कलिसंवत् खीष्टपूर्व

किंतु एक वर्ष से अधिक हुए जब से मैंने संघ में प्रवेश किया, तब से मैंने अच्छी तरह उद्योग किया है। इस जंबूद्वीप में जो देवता असह्य माने जाते थे वे दूसरे धर्मों के लिये सह्य हो गए हैं। यह उद्योग का फल है। यह काम

मंदिर को मार्ग इस रास्ते से जाता है। प्राचीनकाल का प्रसिद्ध राजमार्ग जिसे आजकल ग्रांडट्रंक रोड कहते हैं इसी के समीप से गुजरता है। अब यहाँ एक फकीर की दरगाह है।

३. बैराट (जयपुर, राजस्थान) – बैराट के पास हिंसगीर नामक पहाड़ी के नीचे लघु शिला लेख उत्कीर्ण है। अनुश्रुति के अनुसार पांडवों ने अपना गुप्त वास इसी स्थान को बनाया था।

४. सिंहपुर (जिला चीतलदुर्ग, मैसूर राज्य)।

५. जतिंग रामेश्वर (जिला चीतलदुर्ग, मैसूर राज्य)।

६. ब्रह्मगिरि (जिला चीतलदुर्ग, मैसूर राज्य) – ये तीनों रामेश्वरम् के मार्ग में हैं।

७. मास्की (जिला रायचूर, आंध्र प्रदेश) – इस स्थान पर जो अभिलेख मिले हैं वे अत्यन्त भग्नावस्था में हैं। प्रियदर्शी नामक राजा के अभिलेखों का ठीक पता इसी शिला लेख से सर्वप्रथम चला कि वे सम्राट् अशोक के हैं। इनमें स्पष्ट रूप से अशोक का नाम उत्कीर्ण है।

सिंहपुर, जतिंग – रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में कुछ साधारण पाठ भेद के साथ एक ही लेख उत्कीर्ण है। यह अभिलेख दो भागों में है। प्रथम भाग कुछ पाठ भेद के साथ सासाराम, रूपनाथ, बैराट और मास्की में मिलता है। किंतु द्वितीय भाग जिला चीतलदुर्ग के तीनों स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता।

चतुर्दश शिलालेख – अशोक के लेखों में ये सर्वप्रधान है। एक के नीचे क्रमशः सभी एकत्र खुदे हुए हैं। अशोक ने अपनी राजधानी से इन अभिलेखों को तैयार कराकर स्थानीय भाषाओं में और लिपियों में विभिन्न स्थानों में उत्कीर्ण करवाया। ये सभी अभिलेख प्राचीन राजमार्ग, तीर्थ स्थान या प्रमुख नगरों के पास उत्कीर्ण करवाये गए जिन्हें देखकर और पढ़कर लोग अपना ऐहिक और पारलौकि जीवन सुधारें। ये चतुर्दश अभिलेख इन स्थानों पर मिले हैं—

१. शाहबाजगढ़ी (जिला पेशावर) – पेशावर से ४० मील उत्तर - पूर्व युसुफजाई तालुका में शाहबाजगढ़ी नामक गाँव है। उससे आध मील की दूरी पर एक विशाल शिला है – २४ फीट लंबी, १० फीट ऊँची और १० फीट मोटी। इस पर १२ वें अभिलेख को छोड़कर अन्य सभी लेख उत्कीर्ण हैं। बारहवाँ लेख ५० गज की दूरी पर एक पृथक शिला पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढ़ी के पास प्राचीन काल में एक विशाल नगर था। जिसके खंडहर मिलते हैं। एक इतिहासकार के अनुसार अशोक के

कलिसंवत् खीष्टपूर्व

केवल बड़े लोग ही कर सकें ऐसी बात नहीं है। यदि छोटे लोग भी उद्योग करें तो यह महान् स्वर्ग बन जाय। अतः यह अनुशासन लिखा गया कि छोटे और बड़े उद्योग करें। मेरे पड़ोसी राजा भी इस अनुशासन को जानें और मेरा

अधीनस्थ यवन राज्य की राजधानी संभवतः यहीं पर थी। यहाँ के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि में हैं।

२. मानसेरा (जिला हजारा, सीमांत पश्चिमी प्रदेश) – यहाँ केवल प्रथम द्वादश अभिलेख ही मिले हैं। त्रयोदश और चतुर्दश अभिलेख अभी तक इस स्थान के समीप कहीं नहीं मिले है। मानसेरा के समीप से होकर स्यात् प्राचीन काल में वह सड़क जाती थी जिससे तीर्थयात्री भट्टारिका देवी के दर्शन को जाते थे। अब भी उधर ब्रेरी नामक तीर्थ स्थान हैं। यहां के भी अभिलेख प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि के हैं।

३. कालसी (जिला देहरादून) – यमुना नदी के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के पूरे १४ लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान हिमाचल की उपत्यका के द्वार पर बदरीनाथ और मानसरोवर के राजमार्ग पर पड़ता है, जिस मार्ग से अनेक यात्री प्रति वर्ष आते जाते थे। प्राचीन समय का श्रुघ्न नगर भी इसी के समीप था।

४. गिरनार – काठियावाड़ की प्राचीन राजधानी गिरिनगर के समीप ही एक विशाल शिला पर ये १४ लेख उत्कीर्ण है। आजकल बम्बई राज्य में है।

५. सोपारा (थाना जिला, बम्बई) – प्राचीन सूर्पारिक नगरी संभवतः यहीं पर थी। ग्रीक लेखकों ने इसे सुधारा और सुपारा नाम से लिखा। यहाँ आठवें शिलालेख का केवल तिहाई भाग ही भग्नावस्था में ही मिला है। इससे सिद्ध है कि प्राचीनकाल में यहाँ पूरे १४ अभिलेख थे।

६. धौली (उड़ीसा, भुवनेश्वर से सात मील) – प्राचीनकाल में कलिंग देश की राजधानी तोषाली संभवतः यहीं थी। धौली गाँव के पास अश्वस्तंभ शिला पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। यहाँ पर एकादश, द्वादश और त्रयोदश अभिलेख नहीं मिलते। उनके बदले दो अन्य लेख मिलते हैं जिन्हें अशोक ने विशेष रूप से उत्कीर्ण करवाया।

७. जौगढ़ जयगढ़ (गंजाम जिला, आंध्रराज्य) – यह भी कलिंग राज्य में था। यहां भी एकादश, द्वादश और त्रयोदश अभिलेख नहीं मिलते। उनके बदलेमें धौली वाले दो विशेष अभिलेख मिलते हैं जिन्हें कलिंग के लिये अशोक ने उत्कीर्ण करवाया था।

८. अशोक के चतुर्दश अभिलेखों की एक प्रति आंध्रदेश के कुर्नूल जिले से मिली है। इरागुडी – रामेश्वरम् के मार्ग पर।

९. कांधार – अशोक के चतुर्दश अभिलेख हाल में ही ग्रीक – आरंभिक लिपि में प्राप्ति की सूचना मिली है। इनका अध्ययन अभी बाकी है।

कलिसंवत् — खीष्टपूर्व

उद्योग चिरस्थायी रहे। इस बात का विस्तार होगा और अच्छा विस्तार होगा, कम से कम डेढ़ गुणा विस्तार होगा। यह अनुशासन यहाँ और सुदूर प्रांत पर्वत शिलाओं पर लिखा जाना चाहिए, जहाँ कहीं शिलालेख हों वहाँ यह अनुशासन शिलास्तंभ पर भी लिखा जाना चाहिए। इस अनुशासन के अनुसार जहाँ तक आप लोगों का अधिकार हो वहाँ आप लोग सर्वत्र इसका प्रचार करें। यह अनुशासन मैंने उस समय लिखा जब मैं प्रवास कर रहा था और अपने प्रवास के २५६ वें पड़ाव में था।

१७

१६३८ — १४६३

द्वितीय शिलालेख – धर्म के सिद्धांत – प्राकृत–ब्राह्मी अशोक के धर्मलेख ६५ जनार्दनभट्ट; कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इंडिकेरम् १ - १७५ हुल्श; देवप्रिय कहते हैं – माता पिता की सेवा करनी चाहिए। प्राणियों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। धर्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। अपने जातिभाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिए। यही प्राचीन रीति है। इससे आयु बढ़ती है और इसी के अनुसार चलना आहिए। इसे पड नामक लेखक ने लिखा।

१८

१६३६ — १४६२

चतुर्दश शिलालेख – प्रथम लेख – अहिंसा और प्राणियों का आदर, प्राकृत, ब्राह्मी – खरोष्ठी, अशोक के धर्म लेख १०३ जनार्दनभट्ट; कारपस इंसक्रिप्शनम् इंडिकेरम् भाग १ पृ० १ हुल्श। यह धर्मलेख देवप्रिय प्रियदर्शी ने लिखवाया। यहाँ कोई जीव मार कर होम न किया जाय। सामूहिक मेले (समाज) में बच्चे भी पैदा न किये जायँ क्योंकि देवप्रिय प्रियदर्शी राजा सामूहिक प्रजनन में बहुत दोष देखते हैं। एक प्रकार का ऐसा समाज है जिन्हें देवप्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं। पहले देवप्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन सहस्रों जीव सूप के लिए बध किए जाते थे। किंतु अब जब से यह धर्म लेख लिखा गया केवल तीन जीव ही मारे जाएँगे – दो मयूर और एक मृग। अपितु मृग का बध आवश्यक नहीं है। भविष्य में ये तीनों जीव भी न मारे जाएँगे।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदी प्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। निम्नलिखित भाग प्रकाशित हो चुके हैं—

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

षष्ठ भाग

श्रृंगारकाल (रीतिबद्ध)

संपादक डा० नगेंद्र

रायल अठपेजी आकार — आफसेट कागज

मूल्य प्रत्येक भाग १८)

षोडश भाग

हिंदी का लोक साहित्य

संपादक

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय

मुद्रित हो रहा है तथा अति शीघ्र प्रकाशित होगा।

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४ संवत् २०१६ अंक ३-४

★

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : : इस अंक का ५)

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४
संवत् २०१६
अंक ३-४

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

विमर्श

समीक्षा

संपादकीय

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४] संवत् २०१६ [अंक ३-४

रायसेन का शासक सलहदी तँवर

रघुबीर सिंह

दिल्ली को जीत कर ईसा की १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब मुसलमान आक्रमणकारियों ने उत्तरी भारत में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की तब से ही उनकी दृष्टि बराबर मालवा पर लगी हुई थी। सन् १२३४ – १२३५ ई० में अल्तमिश ने मालवा पर आक्रमण कर भेलसा (विदिशा) को जीता और वहाँ से उज्जैन पहुँच कर महाकाल के सुविख्यात मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तथापि मुसलमान आक्रमणकारी उस प्रदेश पर उस समय अपना आधिपत्य नहीं कर पाए और अलाउद्दीन खिलजी के समय नवंबर, १३०५ ई० मांडू के जीते जाने के बाद ही मालवा के स्वाधीन परमार राज्य का अंत हुआ। तदनंतर ही मालवा दिल्ली के मुसलमान राज्य का एक सूबा बना।[1] दिल्ली के सुलतान द्वारा नियुक्त सूबेदार अब मालवा पर शासन करने लगा था, फिर भी प्रदेश में सर्वत्र छोटे-बड़े हिंदू जमींदारों और राजाओं का अधिकार एवं महत्व बहुत-कुछ बना ही रहा, तथा उनसे कर वसूल करने के लिए भी प्रायः हर बार सेना भेजनी पड़ती थी। प्रारंभिक तुगलक सुलतानों ने अन्य प्रांतों के साथ ही मालवा के शासन को भी व्यवस्थित कर वहाँ मुसलमानी सत्ता को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। यही कारण था कि फिरोज तुग़लक़ की मृत्यु के बाद दिल्ली का यह साम्राज्य जब छिन्न-भिन्न होने लगा तब मालवा के तत्कालीन सूबेदार दिलावर खाँ गोरी को मालवा का स्वाधीन शासक बनकर उस प्रदेश के छोटे-बड़े सभी राजा-जमींदारों पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में कोई भी कठिनाई नहीं हुई।

परंतु स्वाधीन मालवा के सुलतानों को प्रारंभ से ही पास-पड़ोस के अन्य स्वाधीन शासकों से बारंबार संघर्ष करना पड़ा। पुनः उत्तराधिकार को लेकर समय-समय पर होने वाले गृहयुद्धों से भी मुसलमान शासकों की सत्ता को हानि ही पहुँची। उधर मालवा के

१. हबीबुल्ला, फ़ाउंडेशन आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० १०१; बरनी, तारीख-इ-फ़िरोजशाही (बिब० इंडिका), पृ० ५०; हबीब: कैंपेंस आफ अलाउद्दीन खिलजी, पृ० ४२-४६।

उत्तर पश्चिम में मेवाड़ का हिंदू राज्य दिनोंदिन विस्तृत और शक्तिशाली होता जा रहा था, तथा राणा कुंभा ने मालवा के प्रतापी सुलतान महमूद खिलजी (प्रथम) को पराजित भी किया था। अतः समय पाकर मालवा के राज्यशासन में हिंदुओं का महत्व और विशेषतया राजपूत वीरों का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। सुलतान गयासुद्दीन खिलजी के समय खालसा परगनों का प्रबंध करने वालों में मुंज बक्काल और शिवदास (अथवा सोमदास) बक्काल प्रमुख थे।[2] सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी का वजीर बसंत राय (अथवा निस्वतराय) नामक हिंदू था, तथा नक़्द-उल-मुल्क नाम से सुज्ञात एक और हिंदू भी तब राज्यशासन में किसी उच्च पद पर था। किंतु हिंदुओं को यों शासन में महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त होना मुसलमान सेनानायकों तथा अमीरों को कदापि रुचिकर नहीं होता था और अवसर मिलते ही उन्हें मार डालने या पदच्युत करने को वे सदैव तत्पर रहते थे।[3] तथापि अगस्त, १५१२ ई० में सुलतान महमूद खिलजी (द्वितीय) ने मेदिनी राय नामक पूरबिया राजपूत[4] को अपना वजीर बनाया।

मेदिनी राय बहुत ही वीर और सुविख्यात अनुभवी सेनानायक था। महमूद खिलजी के राज्यारोहण के समय वह पूर्वी मालवा में किसी थाने का अधिकारी था। महमूद के विद्रोही वजीर मुहाफ़िज खाँ ने जब उसके बड़े भाई साहिब खाँ को मालवा का सुलतान घोषित किया तब महमूद को मांडू से भागना पड़ा। उस कठिन समय में जब अन्य मुसलमान अमीर और सेनानायक महमूद के विरुद्ध या उससे उदासीन हो गए थे, तब मेदिनी राय ने ही स्वयं आकर महमूद का साथ दिया था और उसीके प्रयत्नों तथा सफल युद्धों के फलस्वरूप महमूद मांडू पर पुनः अपने राज्याधिकार प्राप्त कर सका था। मेदिनी राय के साथ ही उसके कई

२. तबकात०, ३, पृ० ५५४ – ५।
ब्रिग्ज० (४, पृ० ११७) में सलहदी पूरबिया को 'सुलतान गयासुद्दीन का भूतपूर्व वजीर भी लिखा है। परंतु उसके इस कथन का यत्किंचित् भी समर्थन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता है। फरिश्ता० (पृ० २११) के मूल फारसी ग्रंथ में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

३. तबकात०, ३, पृ० ५७६ – ८; ब्रिग्ज० ४, पृ० २४६; फ़रिश्ता० पृ० २६२ – ३।

४. 'पूरबिया राजपूत' से यहाँ राजपूतों के किसी कुल या शाखा विशेष का निर्देश नहीं है। मालवा के स्थानीय या अन्य प्रदेशीय राजपूतों से उनका विभेद करने को ही तब यमुना के पूर्वी तट या आगे अवध प्रदेश से आए हुए सभी कुलों के राजपूतों को साधारणतया 'पूरबिया' कहा जाता होगा एवं तदनुसार इतिहासकारों ने भी उनका वैसा उल्लेख किया है।

चौहान राजपूतों की २४ शाखाओं में से एक 'पूरबिया' कही जाती है, ('टाड० १, ११५)। खानवा के युद्ध के समय (१५२७ ई० में) यमुना के पूर्वी तट पर मैनपुरी के आसपास के प्रदेश के कुछ सेनानायक अपने सैनिकों के साथ राणा सांगा की सेना में संमिलत होकर तब वहाँ काम आए थे। उस युद्ध के बाद वे अथवा उनके वंशज मेवाड़ पहुँच कर वहाँ राणा की सेवा करने लगे। तब पूर्व से आए हुए तथा उस पूर्वी प्रदेश में बसने वाले चौहान राजस्थान में 'पूरबिया चौहान' कहलाए। यों चौहानों की इस शाखा विशेष का यह नामकरण १५२७ ई० के बाद ही राजस्थान में हुआ था। ओझा, उदय०, १, पृ० ३७४ फुटनोट; २, पृ० ८७४, ८७७।

कुटुंबी, संबंधी तथा अनेकों राजपूत सेनानायक अपने अपने सैनिकों और साथियों को लेकर महमूद की सेना में तब संमिलित हो गए। उनमें से कुछ को राज्यशासन में उच्च पदों पर भी नियुक्त किया गया। राय पिथौरा को मांडू के किले की सुरक्षा का भार सौंपा गया, तथा भीम करण (अथवा हेम करण) पूरबिया गागरोन किले का किलेदार नियुक्त हुआ।

मेदिनी राय के ऐसे अन्य प्रमुख राजपूत साथी सेनानायकों में सलहदी[५] भी था। वह तँवर राजपूत था।[६] उसका जन्म ग्वालियर के पास ही सूखजन (अथवा सुखजान) नामक

५. 'सलहदी' नाम का वस्तुतः ठीक स्वरूप प्रामाणिक रूप से कहना संभव नहीं। वीर० (२ पृ० ३) में उसके 'शल्यहती' होने का सुझाव दिया है। बेवरिज (ए० रि०) के अनुसार यह संस्कृत नाम 'शिलादित्य' ही का विकृत स्वरूप है। अर्स्किन० (२ पृष्ठ ४७१ फु० नो०) ने इसे मालवा के सुलतान द्वारा दिए गए खिताब 'सिलहेदीन' का ही जनसाधारण में प्रचलित विकृत रूप बताया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। सन् १५३२ ई० जब वह मुसलमान हो गया तभी उसका हिंदू नाम बदल कर 'सलाहुद्दीन' रखा गया था (सिकंदरी० पृ० १७५)। उससे पहले यदि उसको वैसा कोई खिताब मिला होता तो बाद में इस नामपरिवर्तन कोई आवश्यकता ही नहीं होती, एवं फारसी इतिहासकार भी उसी खिताब से उसका उल्लेख करते। परंतु प्रायः सभी फारसी इतिहासग्रंथों में उसका नाम 'सिलहदी' दिया है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में उसका उल्लेख 'सलाहुद्दीन' नाम से किया है। उसके भारतीव नाम का यही फारसी स्वरूप बाबर को बताया गया होगा।

परंतु डा० गौरीशंकर ओझा ने वीर० का अनुसरण कर उसका नाम 'सलहदी' लिखा है। नैणसी० में भी यह नाम इसी रूप में लिखा मिलता है। उसमें इसी नाम के पाँच विभिन्न व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है (२, पृ० २५१; २, पृ० १०,१३,१८,३५, ३६,३८२)। अतः तब यह नाम साधारणतया इसी रूप में प्रचलित रहा होगा ऐसा मानकर ही उक्त रूप को यहाँ स्वीकार किया गया है।

छंद की मात्राएँ पूरी करने के लिए ही उसके नाम के अंत में 'न' जोड़कर 'छिताई चरित' में उसका नाम 'सलहदीन' कर दिया गया जान पड़ता है।

६. प्रायः सभी फारसी इतिहास ग्रंथों में उसे पूरबिया लिखा है। 'मिरात - इ - सिकंदरी' की कई प्रतियों में अवश्य ही उसे तँवर लिखा है, परंतु उसके लीथो संस्करण एवं अन्य प्रतियों में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है (बेली० पृ० २७३; ए० रि०; मिरात०, पृ० १६१; सिकंदरी०, पृ० ११३)। यहाँ 'पूरबिया' से राजपूतों के किसी कुल या शाखा विशेष का निर्देश नहीं किया गया है। मुसलमान इतिहासकारों को इन राजपूत सेनानायकों में कोई विशेष दिलचस्पी तो थी नहीं कि उनके कुल आदि के बारे में पूरी पूरी जानकारी प्राप्त करते। सलहदी वस्तुतः पूर्वी प्रदेश का नहीं था तथापि मेदिनी राय के साथ होने के कारण उसके अन्य सैनिकों या सेनानायकों की ही तरह सलहदी को भी उन्होंने पूरबिया लिख दिया।

परंतु इसके विपरीत ख्यातों, वंशावलियों, आदि के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६), वीर० (२ पृ० ३६५; २, पृ० १५) और ओझा० (उदय० १, पृ० ३५६ – ७)

गाँव में हुआ था।[७] उसके रनिवास में अनेकों रानियाँ थी, जिनमें रानी दुर्गावती ही उसकी पटरानी थी। उसका पुत्र भूपत राय संभवतः सलहदी का ज्येष्ठ पुत्र था। अपने पिता के समान भूपत राय भी वीर योद्धा और राजपूतों का प्रमुख सेनानायक था। उसका विवाह मेवाड़ के राणा सांगा की पुत्री के साथ हुआ था।[८] सलहदी का भाई लखमण सिंह तथा सलहदी का छोटा पुत्र पूरणमल आदि भी आगे चल कर राजपूत सेना में सेनानायक बन गए।

मेदिनी राय के मालवा का वजीर बनने पर वहाँ के शासन में राजपूतों का प्रभाव और महत्त्व दिनोंदिन बढ़ने लगा। शाहजादे सिकंदर के दिल्ली चले जाने के बाद उसको दिया हुआ भेलसा का परगना दिसंबर, १५१३ ई० में सलहदी को जागीर में दे दिया गया, जो तदनंदर

आदि में उसे निश्चितरूपेण तँवर राजपूत लिखा है। यह तो सर्वमान्य है कि राणा सांगा का सलहदी के साथ कौटुंबिक संबंध था, अतः सलहदी किस कुल का था इसकी सही जानकारी मेवाड़ घराने के ख्यातकारों आदि को अवश्य ही रही होगी, एवं उनके आधार पर सलहदी को तँवर राजपूत मान लेना उचित ही जान पड़ता है। ईसा की १७वीं सदी के प्रारंभिक युगों में मेवाड़ में लिखे गए संस्कृत ग्रंथ 'अमर काव्य' में भी सलहदी को तँवर ही लिखा है।

कॅम्ब्रिज० (३, पृ० ३६८) में सलहदी को मेदिनी राय का भाई लिखा है। परंतु ऐसे अनुमान के लिए कोई भी आधार नहीं है।

'छिताई चरित' में उसे 'सलहदीन जांगलौ' लिखा है, किंतु उससे जांगल देश से उसका किसी प्रकार का संबंध होने का कोई भी अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए। स्पष्टतया सलहदी के उग्र और दुर्दम्य स्वभाव का ही यों वहाँ उल्लेख किया गया है।

७. बाबर अक्तूबर २, १५२८ ई० के दिन इस गाँव में गया था। आज इस नाम का कोई भी गाँव ग्वालियर के आसपास नहीं है। ल्युअर्ड के मत से संभवतः वर्तमान सालवाई अथवा सुखलारी गाँवों का जो ग्वालियर से क्रमशः २५ मील दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में हैं, तब यह नाम रहा होगा (बाबर०, २, पृ० ६१४, ८४६)। परंतु ये दोनों ही अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होते। बाबर यदि इतनी दूर गया होता तो वहाँ की इस दूरी का उल्लेख वह अपने आत्मचरित में अवश्य ही करता, एवं अनुमान यही होता है कि यह गाँव ग्वालियर से बहुत दूर नहीं रहा होगा (रा० रि०)। नामों में अधिक साम्य के साथ ही इस विचार से भी 'सोजना' गाँव अधिक संभव जान पड़ता है, जो ग्वालियर से कोई ७ मील पश्चिम में है।

८. सिकंदरी० (पृ० १७५) एवं तबकात० (३, पृ० ३६६ – ७) के अनुसार राणा सांगा की पुत्री का विवाह भूपतराय के साथ हुआ था। 'तारीख-इ-अल्फी' भी इसी कथन का समर्थन करती है (बेली०, पृ० ३६५ फु० नो०)। परंतु फरिश्ता० (पृ० २२१; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११२) के अनुसार सलहदी की पटरानी एवं भूपतराय की माँ रानी दुर्गावती ही राणा सांगा की पुत्री थी। उम्र के अनुमान से भी रानी दुर्गावती बहुत-कुछ राणा सांगा की समवयस्का ही रही होगी, एवं सुदूर दक्षिण में लिखे गए इस ग्रंथ का यह कथन कदापि प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं है।

लगातार १८ वर्ष तक उसी के अधिकार में रहा।[९] महमूद खिलजी का समर्थन पाकर मेदिनी राय और उसके साथी राजपूत सेनानायकों की शक्ति शीघ्र ही इतनी अधिक बढ़ गई कि कुछ ही समय में महमूद खिलजी भी उनके हाथ की कठपुतली हो गया। अब मेदिनीराय ने महमूद खिलजी की स्वीकृति प्राप्त कर मालवा के कई पुराने प्रभावशाली मुसलमान अमीरों को मरवा डाला जिससे मालवा के मुसलमान अमीरों, सेनानायकों और मौलवी - मुल्लाओं का असंतोष एवं विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया। पुनः इधर कुछ ही वर्षों में महमूद खिलजी स्वयं भी अपने राजपूत वजीर, सेनानायकों और अधिकारियों से अत्यधिक आंतकित होकर उनका पूर्ण विरोधी बन बैठा। तब तो उनसे अपना पीछा छुड़ाने के लिए महमूद ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किए और एक बार मेदिनी राय की हत्या का भी विफल प्रयास किया गया। अंत में विवश होकर अक्तूबर, १५१७ ई० के लगभग महमूद खिलजी स्वयं मांडू से भाग खड़ा हुआ और गुजरात के सुलतान मुजफ्फर शाह की सहायता प्राप्त करने के लिए दोहद जा पहुँचा।[१०]

नवंबर, १५१७ ई० में मुजफ़्फ़र शाह महमूद को साथ लेकर मालवा पर चढ़ाई की तैयारी करने लगा। इसकी सूचना मिलने पर मेदिनी राय ने मालवा की राजधानी मांडू की सुरक्षा का सुमुचित प्रबंध किया और वह स्वयं सलहदी को साथ लेकर राणा सांगा से आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पहुँचा। इधर जनवरी, १५१८ ई० के प्रारंभ में मुफ़्फ़र शाह ने मांडू को आ घेरा और फरवरी माह समाप्त होने से पहिले ही उसे जीतकर महमूद खिलजी को पुनः वहाँ की राजगद्दी पर बिठा दिया। मेदिनी राय और सलहदी के साथ जब राणा सांगा ससैन्य उज्जैन के पास तक जा पहुँचा तब वहाँ उन्हें मांडू के किले के यों जीते जाने का समाचार ज्ञात हुआ। तब राणासांगा भी मेदिनी राय को साथ लेकर वापस चित्तौड़ को लौट गया और गागरोन, चंदेरी, आदि का प्रदेश उसे जागीर में देकर राणा सांगा ने मेदिनी राय को अपना सरदार बनाया।[११] उधर मालवा राज्य में सर्वत्र फैली हुई अराजकता एवं अव्यवस्था से लाभ उठाकर सलहदी भी भेलसा की अपनी जागीर से लगा हुआ सारंगपुर से लेकर रायसेन तक का सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर वहाँ का स्वतंत्र शासक बन बैठा।[१२]

इस मांडू - विजय के बाद मुजफ़्फ़र शाह वापस गुजरात को लौट गया परंतु महमूद खिलजी की रक्षा एवं सहायता के लिए वह अपने सेनानायक आसफ़ ख़ाँ गुजराती

९. सिकंदरी०, पृ० १७१; तबकात०, ३ पृ० ५९६, ३५८।

१०. तबकात०, ३ पृ० ५८८-६०२, ३०१-२; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २५०-२६०, ८४; सिकंदरी०, पृ० ९८-९९।

११, मुजफ़्फ़र शाह की इस मांडूविजय का सविस्तर वर्णन समकालीन फारसी ग्रंथ 'तारीख - इ - मुजफ़्फ़र शाही' में मिलता है।
तबकात०, ३, पृ० ६०२-४, ३०४-५; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६०-२, ८४-६; सिकंदरी०, पृ० ९९-१०१, १०६; बाबर०, २, पृ० ५९३, ओझा०, उदय०, १, पृ० ३५८।

१२. तबकात०, ३, पृ० ६०८; ब्रिग्ज०, ४ पृ० २०२-३।

की अधीनता में अपनी सेना के कई हजार घुड़सवार पीछे छोड़ गया। अतः कुछ समय बाद महमूद खिलजी मालवा के अनेकानेक प्रदेशों पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने का आयोजन करने लगा। अक्तूबर, १५१६ ई० के लगभग उसने गागरोन के किले पर चढ़ाई की और उसे जा घेरा। तब राणा सांगा मेदिनी राय के सहायतार्थ गागरोन की ओर बढ़ा। महमूद और राणा सांगा के बीच भयंकर लड़ाई में महमूद की पूर्ण पराजय हुई तथा वह बुरी तरह घायल होकर कैद हो गया। राणा सांगा ने महमूद का ठीक तरह से इलाज करवाया और उसके पूर्ण स्वस्थ हो जाने पर कुछ मास तक और उसे अपने यहाँ कैद रखा। बाद में मालवा का आधा राज्य वापस देकर महमूद को ससंमान मांडू भेज दिया।[13]

इस पराजय और राज्यहानि के कारण महमूद खिलजी की सैनिक शक्ति, प्रताप और आय सभी बहुत अधिक घट गए जिससे सलहदी को अपनी शक्ति तथा राज्यविस्तार बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। अतः मालवा राज्य के अधीन अपने आसपास के परगनों में उसके उपद्रव बहुत बढ़ गए, अतः सलहदी का दमन करने के लिए अक्तूबर, १५२० के लगभग महमूद ससैन्य भेलसा की ओर बढ़ा और उसका सामना करने के लिए सलहदी भी सेना लेकर आगे आया। सारंगपुर के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। युद्ध में सलहदी ने महमूद को पूर्णतया पराजित किया और महमूद की बहुत-कुछ सेना भाग खड़ी हुई, तथापि महमूद अपने कुछ घुड़सवारों को साथ लिए तब भी पूरे साहस और दृढ़ता के साथ युद्ध क्षेत्र में ही डटा रहा। अतः जब सलहदी की सेना लूट-पाट में लग गई तब उसने पुनः उनपर आक्रमण कर कई राजपूत सेनानायकों को मार गिराया। तब तो राजपूत सेना भाग निकली और सलहदी को भी वहाँ से भागना पड़ा। सलहदी के कोई २४ हाथी महमूद के हाथ लगे। तदनंतर महमूद मांडू को वापस लौट गया। कुछ समय बाद सलहदी ने महमूद की सेवा में अपनी ओर से कर के रूप में कुछ द्रव्य तथा अनेकानेक वस्तुओं की भेंट भिजवाई और महमूद की आधीनता स्वीकार करते हुए पिछले अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना का संदेश भिजवाया। यों सलहदी ने महमूद के साथ पुनः मेल कर लिया।[14]

उधर ईडर के मामले को लेकर राणा सांगा और मुजफ्फ़र शाह में निरंतर कशमकश चल रही थी। उस समय मंदसौर और उसके आस-पास का प्रदेश राणा सांगा के अधिकार में था। अतः जनवरी, १५२१ ई० में मलिक अयाज के सेनापतित्व में एक बड़ी गुजराती सेना

१३. तबकात०, ३, पृ० ६०५–८, ३०७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६२–४, ८७–८; सिकंदरी० पृ० १०६–७।

१४. तबकात०, ३, पृ० ६०६।

फ़रिश्ता० के अनुसार इस समय महमूद खिलजी ने सारंगपुर पर भी अधिकार कर लिया था और तब उसे पुनः जीतने का सलहदी ने कोई प्रयत्न नहीं किया। कुछ समय बाद महमूद के साथ सलहदी का मेल हो जाने की बात भी फ़रिश्ता० में नहीं लिखी है। ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६४–५।

परंतु इस संबंध में तबकात० का कथन कहीं अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। यदि इस समय महमूद के साथ सलहदी का मेल न हो जाता तो एक वर्ष बाद मंदसौर के घेरे के समय वह महमूद के साथ कदापि नहीं जाता।

बाँसवाड़ा होता हुई मंदसौर पहुँची और वहाँ के किले को जा घेरा। राणा सांगा भी एक बड़ी सेना लेकर मंदसौर के पास नांदसा गाँव में आ ठहरा। मलिक अयाज की सहायता के लिए महमूद खिलजी मंदसौर आया और अपने साथ सलहदी को भी लेता आया। परंतु मंदसौर पहुँचने पर राणा सांगा की ओर से मेदिनी राय ने जाकर सलहदी को समझाया, तब सलहदी राणा सांगा से जा मिला, और राणा सांगा एवं मलिक अयाज के बीच सुलह कराने का प्रयत्न करने लगा, किंतु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। पास-पड़ौस के और भी राजा राणा सांगा से आ मिले थे। इस प्रकार दोनों ही ओर काफी सेनाएँ एकत्र हो गई थीं। किंतु मलिक अयाज और उसके अन्य साथी सेनानायकों में अनबन होने के कारण अन्ततः न तो कोई युद्ध ही हुआ और न मंदसौर का किला जीता जा सका। अंत में राणा सांगा के साथ संधि करके जब मलिक अयाज पीछे हट गया तब राणा सांगा, महमूद, सलहदी और अन्य सभी सरदार अपने-अपने स्थानों को वापस लौट गए।[१५]

इसके बाद अगले पाँच छह वर्षों में (१५२१-२६ ई०) सलहदी ने क्या किया इसका कोई विशेष विवरण ऐतिहासिक आधारग्रंथों में नहीं मिलता है। मुजफ्फर को गुजरात के मामलों से ही इतना अवकाश नहीं था कि वह मालवा की ओर ध्यान दे पाता। पुनः महमूद खिलजी की न तो शक्ति थी और न उसे साहस ही हुआ कि वह सलहदी से पुनः कोई छेड़छाड़ करता। इस प्रकार सलहदी को अपना आधिपत्य सुदृढ़ कर अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। भेलसा, रायसेन, और सारंगपुर का प्रदेश इस समय उसके आधिपत्य में था एवं अब मालवा के शक्तिशाली स्वाधीन शासकों में उसकी गणना होने लगी थी। उसकी सेना में तब कुल मिलाकर कोई ३०,००० घुड़सवार तो अवश्य ही थे। यों तो रायसेन ही सलहदी का मुख्य निवासस्थान था, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि वह यदा-कदा सारंगपुर में भी निवास करता था, जिससे मालवा राज्य से लगी हुई उसकी उस सीमा पर भी सुरक्षा का समुचित प्रबंध बना रहे।[१६]

१५. तबकात०, ३, पृ० ३१४-७। फ़रिश्ता० (पृ० २१०) भी तबकात० के कथन का समर्थन कर आगे यह भी लिखता है कि सलहदी ने राणा सांगा और मलिक अयाज में संधि कराने के लिए तब भरसक प्रयत्न किए परंतु वे सफल नहीं हुए। ब्रिग्ज़ ने सलहदी का कोई भी उल्लेख नहीं किया है (४, पृ० ९२-४)। परंतु सिकंदरी० के अनुसार सलहदी मलिक अयाज से भेंट करने को सीधा रायसेन से मंदसौर आया था (पृ० ११२-३)। ओझा०, उदय०, १, पृ० ३५६-७।

१६. बाबर ने उसे रायसेन, भेलसा और सारंगपुर का शासक लिखा है। बाबर०, २, पृ० ५६२, ५९८। 'छिताई चरित' के अनुसार भी इस समय सारंगपुर सलहदी के ही अधिकार में था। सिकंदरी० (पृ० ११३) के अनुसार १५२१ ई० में सलहदी रायसेन से आया था एवं आगे चलकर भी वह रायसेन का शासक कहलाया, जिससे यह स्पष्ट है कि रायसेन पर उसका अधिकार होने के समय से ही सलहदी ने उसे अपनी राजधानी बनाया। परंतु 'छिताई चरित' के उल्लेख से यह निश्चित जान पड़ता है कि वह सारंगपुर में भी यदाकदा निवास करता था।

उस समय भी जैन धर्मावलंबी मालवा प्रदेश के प्रायः सभी भागों में पाए जाते थे और प्रदेश की तत्कालीन राजनीति, शासन, व्यापार आदि के साथ उनका बहुत ही गहरा संबंध था। सलहदी के राज्याधिकारियों में भी कोई एक जैन धर्मावलंबी थे। जैन यति वाचनाचार्य जयवल्लभ का तब प्रदेश भर में सर्वत्र विशेष प्रभाव था, जिससे वे 'मालवी ऋषि' कहलाए। अपनी विद्वत्ता, साधना एवं तपस्वी जीवन के कारण वे जनसाधारण में ही नहीं पूजे जाते थे बल्कि सलहदी के राजदरबार में भी उनका बड़ा संमान था। अतः जब रूपाशाह नामक एक देवास - निवासी जैन - धर्मावलंबी राज्यधिकारी को राजकीय धन के गबन के अपराध में कैद में डाल दिया गया तब यति जयवल्लभ ने उसको बचाने के लिए विशेष प्रयत्न किए तथा स्वयं सलहदी को भी उन्होंने इस बारे में कहा। परंतु अंततः वे विफल ही रहे जिससे उनके हृदय को बड़ी चोट पहुँची और वे पूर्णतया विरक्त होकर सच्चे जैन संत बन गए। यह घटना बहुत करके सन् १५२५ ई० के लगभग ही घटी होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[१७]

भारतीय राजनीतिक मंच पर हुए अनेकानेक बड़े - बड़े उलटफेरों के कारण सन् १५२६ ई० भारतीय इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण एवं युगांतरकारी प्रमाणित हुआ। अप्रैल ६, १५२६ ई० को मुजफ्फरशाह का अहमदाबाद में देहांत हो गया और तब उसके दो लड़के सिकंदर और बालक नसीर (महमूद द्वितीय) क्रमशः गुजरात की गद्दी पर बैठे। परंतु जब मुजफ्फरशाह का वीर सुयोग्य द्वितीय पुत्र बहादुरशाह जो उस समय दिल्ली और पानीपत के आसपास था, अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर गुजरात के लौटा, तब वहाँ जुलाई ६, १५२६ ई० को सभी ने उसका स्वागत किया और वह गुजरात की राजगद्दी पर बैठा। इस प्रकार गुजरात के इतिहास में एक नए आक्रमणकारी अध्याय का प्रारंभ हुआ जिसकी प्रगति कुछ ही वर्षों में मालवा राज्य और सलहदी दोनों के ही लिए समान रूप से घातक हुई। उधर दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी के विरुद्ध निरंतर बढ़ रहे आंतरिक असंतोष और राणा सांगा जैसे शक्तिशाली स्वाधीन शासक के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर काबुल के मुगल शासक बाबर ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अप्रैल २०, १५२६ ई०[१८] को पानीपत के युद्ध

१७. 'जैन युग' वर्ष १ अंक ६ में प्रकाशित श्री अगरचन्द नाहटा के लेख 'मालवा के जैन इतिहास का एक आवरित पृष्ठ' में दिया गया पं० मतिसागर कृत 'मालवी ऋषि का सिम्झाय' का सारांश एवं लूकाशाह विषयक उद्धरण। तदनुसार देवास पर भी तब सलहदी का ही राज्य था, अतः बहुत करके उस समय देवास परगना सारंगपुर के अंतर्गत रहा होगा। अकबर के समय देवास परगना हंडिया सरकार के अंतर्गत था। आईन०, २, पृ० २१८।

१८. पानीपत के इस प्रथम युद्ध की तारीख अप्रैल २१, १५२६ ई० सर्वमान्य है, परंतु वह ठीक नहीं है। अपने आत्मचरित्र में बाबर ने इस युद्ध की तारीख शुक्रवार, रजब ८,६३२ ही दी है, जिसके अनुसार उक्त शुक्रवार को ईस्वी तारीख अप्रैल २०, १५२६, ही थी (बाबर०, २ पृ० ४७२)। तबकात० (२, पृ० २१ - २), बदौनी (१, पृ० २४२) में भी यही वार और हिजरी तारीख ही है।

मूल ग्रंथ में दिया गया यह वार और हिजरी तारीख लेडन और अर्स्किन कृत बाबर के आत्मचरित्र के अंग्रेजी अनुवाद में भूल से छूट गए जिससे उनका पूरा विचार

क्षेत्र में निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें इब्राहीम लोदी खेत रहा और बाबर की पूर्ण विजय हुई। बाबर अब दिल्ली की सल्तनत का शासक बनकर भारत में अपने इस नए राज्य का समुचित विस्तार करने तथा उसे स्थायी और शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

बाबर ने अब अनुभव किया कि उत्तरी भारत में उसका वास्तविक प्रतिद्वंद्वी राणा सांगा ही था। इधर राणा सांगा ने एक बहुत बड़ी सेना के साथ बयाना की ओर बढ़कर फरवरी, १५२७ ई० के प्रारंभ में वहाँ के किले पर पुनः अधिकार कर लिया। इस समय राणा सांगा की सेना में राजस्थान और मालवा के प्रायः सभी प्रमुख राजा तथा स्वाधीन हिंदू शासक संमिलित थे। सलहदी और उसका पुत्र भूपतराय भी क्रमशः ३०,००० एवं ६,००० घुड़सवारों के साथ राणा सांगा की सेना में उपस्थित थे।[१९] राणा सांगा की यह सारी हलचल जानकर बाबर भी उसका सामना करने के लिए ससैन्य आगरा से रवाना होकर फरवरी १७, १५२७ ई० को सीकरी के पास आ डटा। राणा सांगा अब उसी ओर बढ़ रहा था। इसके कुछ ही दिन बाद खानवा के पास बाबर की सेना के प्रमुख सेनानायक अब्दुल अजीज तथा उसकी सहायता के लिए बाद में भेजी गई अन्य मुगल सेना को भी राणा सांगा ने बुरी तरह पराजित किया। अपनी इन्हीं पराजयों आदि से बाबर इस समय बेचैन और निराश हो रहा था। तब फरवरी २५, १५२७ ई० को बाबर ने भविष्य में कभी मदिरा न पीने का व्रत लिया। बहुत करके इसी समय बाबर ने सलहदी के द्वारा राणा सांगा के साथ संधि करने की बातचीत चलाई होगी, परंतु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।[२०] बाबर की कठिनाइयाँ बढ़ती ही जा रही थीं एवं युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर वह मार्च १२, १५२७ ई० को सीकरी से दक्षिण-पश्चिम दिशा में खानवा की ओर बढ़ा। राणा सांगा की सेना भी बाबर का सामना करने को तत्पर हुई। अंत में शनिवार, मार्च १६, १५२७ ई० के दिन खानवा के युद्ध-

किए बिना ही उस अनुवादग्रंथ में इस युद्ध की तारीख अप्रैल २१, १५२६ ई० दे दी गई (किंग०, २, पृ० १८५), और तदनंतर उसीके आधार पर वही गलत तारीख सर्वमान्य हो गई है।

१९. सलहदी और भूपतराय के घुड़सवारों की यह संख्या बाबर ने अपने आत्मचरित्र में दी है। बाबर०, २, पृ० ५६२, ५७३।

ओझा० के अनुसार बाबर द्वारा दी गई विरोधी सेनानायकों के सवारों की ये संख्याएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। ओझा० उदय०, १, पृ० ३७४ – ५ फु० नो०।

२०. इस संधि चर्चा का कोई उल्लेख बाबर के आत्मचरित्र या अन्य किसी फारसी इतिहास-ग्रंथ में नहीं है। परंतु राजस्थान की ख्यातों, आदि में मिलने वाले उल्लेखों के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६) एवं वीर० (२, पृ० ३६५) में इसका उल्लेख किया गया है। रशब्रुक विलियम्स (पृ० १५५ – १५६) ने इसे सर्वथा अमान्य किया है। परंतु युद्ध के पूर्व की अपनी सेना की निराशा का जो वर्णन बाबर ने अपने आत्मचरित्र में किया है उसे देखते हुए यह संधिचर्चा किसी भी प्रकार अनहोनी बात नहीं जान पड़ती है। ओझा, उदय०, २ पृ० ३७० – ३७१ फु० नो०।

क्षेत्र में दोनों सेनाएँ भिड़ गईं और भयंकर युद्ध हुआ।[२१] युद्ध में राणा सांगा आहत हुआ फिर भी युद्ध चलता ही रहा। अंत में मुगल सेना ने राजपूत सेना को घेर लिया और तभी मुगल तोपों के गोलों की वर्षा होने लगी। राजपूतों की हार हुई और रही सही राजपूत सेना युद्धक्षेत्र से भाग खड़ी हुई।[२२] घायल राणा सांगा कुछ समय बाद ठीक हो गया, परंतु तदनंतर वह अधिक काल तक जीवित नहीं रहा। जनवरी ३०, १५२८ ई० को उसकी मृत्यु हो गई और तब उसका पुत्र रत्नसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

सलहदी और उसका पुत्र भूपतराय[२३] इस युद्ध से बच निकले और वे अपने बचे-खुचे सेनानायकों तथा सैनिकों के साथ वापस मालवा लौटकर खानवा के युद्ध में हुई अपनी क्षति को पूरा करने में लग गए। उधर कुछ ही महीनों बाद वर्षा ऋतु की समाप्ति पर बाबर ने मेदिनी राय पर चढ़ाई कर चंदेरी के किले को जा घेरा। राजपूत वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आए और अंत में जनवरी ३०, १५२८ ई० के दिन उस सुविख्यात दुर्ग पर बाबर ने अधिकार कर लिया। बाबर का इरादा था कि चंदेरीविजय के बाद वह सलहदी के विरुद्ध चढ़ाई कर उसके अधीनस्थ रायसेन, भेलसा, सारंगपुर, आदि परगनों और गढ़ों को जीत ले। परंतु उन्हीं

२१. बाबर के आत्म-चरित्र में खानवा के युद्ध की हिजरी तारीख शनिवार, जमादि-उल-आखिर १३, ९३३ हि० दी है। आधुनिक गणना के अनुसार जमादि-उल्-आख़िर १३ रविवार के दिन पड़ती है, अतः बाबर० (२, पृ० ५५८) में जो युद्ध की ईस्वी तारीख मार्च १७, १५२७ ई० दी है, वह ठीक नहीं है। हिजरी तारीखों की गणना में एकाध दिन का ऐसा भेद कोई अनहोनी बात नहीं है, एवं जहाँ वार भी दिया गया हो वहाँ वार के ही आधार पर उस घटना की ईसवी तारीख निश्चित करना अधिक ठीक होता है। पुनः बाबर० (२, पृ० ५६३) में उद्धृत शैख़ जैन के 'फ़तेहनामे' में तो युद्ध के दिन शनिवार होने का बहुत ही स्पष्ट उल्लेख है। अतः निश्चिततया युद्ध मार्च १६, १५२७ ई० को हुआ था।

२२. ख्यातों आदि के आधार पर टाड० (२, पृ० ३५६) एवं वीर० (२, पृ० ३६६ में लिखा मिलता है कि सलहदी तँवर, जो महाराणा की हरावल में था, राजपूतों को धोखा देकर ससैन्य बाबर से जा मिला। परंतु इसका उल्लेख किसी भी फ़ारसी इतिहासग्रंथ में नहीं है। बेवरिज (ए० रि०) एवं रशब्रुक विलियम्स (पृ० १५६) इसे सर्वथा अमान्य कर कपोल-कल्पित घोषित करते हैं। इस युद्ध के बाद बाबर ने सलहदी को कोई पुरस्कार नहीं दिया प्रत्युत वह स्वयं सलहदी के विरुद्ध चढ़ाई करना चाहता था (बाबर०, २, पृ० ५९८)। पुनः इस युद्ध के बाद भी सलहदी और राणा सांगा के उत्तराधिकारियों के संबंध बहुत ही घनिष्ट रहे जिससे भी यह स्पष्ट है कि सलहदी के बाबर से मिल जाने का यह प्रवाद सर्वथा अविश्वसनीय है। ओझा, उदय०, १, पृष्ठ ३७६ – ८ फुटनोट।

२३. खानवा के युद्ध में खेत रहनेवालों की जो सूची बाबर० (२, पृ० ५७३) में दी गई है उसमें सलहदी के पुत्र भूपतराय का भी नाम दिया है, परंतु यह कथन ठीक नहीं है। बाबर के आत्मचरित्र की कई प्रतियों में यह नाम नहीं है। किंग० (२, पृ० ३०६) में भी यह नाम भिन्न पाठांतर के रूप में दिया गया है।

दिनों बाबर को समाचार मिले थे कि अवध और पूरब के अफगानों ने विद्रोह कर मुगल सेना को लखनऊ से खदेड़ दिया एवं विवश होकर बाबर को सलहदी के विरुद्ध तब चढ़ाई करने का इरादा छोड़ देना पड़ा। फिर भी बाबर को सलहदी का ध्यान बराबर बना रहा और अक्तूबर, १५२८ ई० में जब वह ग्वालियर में था, तब पास में ही स्थित सलहदी के जन्मस्थान वाले गाँव में जाकर उसने वहाँ के नींबू तथा सदाफल के बागों को देखा था।[२४]

यों सलहदी पर बाबर के संभावित आक्रमण का खतरा टल गया। परंतु कुछ ही समय बाद मालवा में ही सुलतान महमूद खिलजी की अदूरदर्शिता से एक ऐसे दौर का प्रारंभ हुआ जो मालवा के लिए ही नहीं सलहदी के लिए भी सर्वथा घातक प्रमाणित हुआ। बहादुर शाह जब गुजरात की राजगद्दी पर बैठने को अहमदाबाद लौट रहा था तब उसका अनौरस भाई चाँद खाँ उसका साथ छोड़कर महमूद खिलजी की शरण में मांडू चला गया और वहीं से वह बहादुरशाह के स्थान पर स्वयं गुजरात का सुलतान बनने का प्रयत्न करने लगा। महमूद खिलजी भी उसका सहायक हुआ जिससे बहादुर शाह महमूद खिलजी से बहुत ही रुष्ट हो गया एवं उसको दंड देने के लिए उचित अवसर की बाट देखने लगा।[२५]

उधर खानवा के युद्ध में राजपूतों की हार से मेवाड़ का प्रताप बहुत ही कम हो गया था और उसके कुछ ही समय बाद राणा सांगा की मृत्यु हो जाने से भी उसको और धक्का लगा। पुनः राणा सांगा के उत्तराधिकारी राणा रत्नसिंह तथा उसके सौतेले भाई विक्रमादित्य में भी आपसी विरोध चल रहा था। राणा सांगा के हाथों हुई अपनी पराजय महमूद खिलजी को अब भी बहुत खटक रही थी एवं राणा रत्नसिंह की इन सारी कठिनाइयों से लाभ उठाकर मेवाड़ को नीचा दिखाने के लिए वह उत्सुक हो उठा। अतः यद्यपि इस समय ऐसे उत्तेजन के कारण-स्वरूप मेवाड़ की ओर से कोई कार्यवाही नहीं हुई थी महमूद ने (संभवतः १५३० ई० के प्रारंभिक महीनों में) अपने एक शाहजादे और सेनानायक शर्जा खाँ को मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। इस सेना ने वहाँ जाकर चित्तौड़ के आसपास के कई एक परगनों को लूटा। राणा रत्नसिंह को मालूम था कि आपसी अनबन के कारण उस समय महमूद को गुजरात की ओर से कोई सहायता नहीं मिलेगी एवं सन् १५३० ई० की वर्षा ऋतु के बाद उसने भी एक बड़ी सेना के साथ मालवा पर चढ़ाई की। शिपला और बलावत गाँवों को लूटता हुआ वह सारंगपुर की ओर बढ़ा एवं उसके पास ही संभल नामक गाँव तक जा पहुँचा। उधर महमूद खिलजी के दुर्भाग्यवश बहादुर शाह भी मालवा की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित डूंगरपुर-बाँसवाड़ा के बागड़ प्रदेश की ओर बढ़ा चला आ रहा। अतः महमूद बड़े ही असमंजस में पड़कर व्याकुल हो उठा। अंत में उसने सिकंदर खाँ के पोष्य पुत्र मुइन खाँ को सतवास से तथा सलहदी को अपने सहायतार्थ बुलवाया, एवं राणा रत्नसिंह का सामना करने के लिए वह स्वयं ससैन्य उज्जैन की ओर बढ़ा। जब मार्ग में ही ये दोनों सेनानायक महमूद की सेवा में जा पहुँचे तब महमूद ने इन दोनों की बड़ी ही आवभगत की। मुइन खाँ को उसने बड़ा खिताब दिया तथा सलहदी को कई और

२४. बाबर०, २, पृ० ५९७-८, ५९४, ६१४।

२५. सिकंदरी०, पृ० १५०; फरिश्ता०, ४, पृ० १०२, २६५; तबकात०, ३, पृ० ३३०, ६१०।

परगने देकर उसको भी हर तरह प्रसन्न करने का भरसक प्रयत्न किया। किंतु महमूद के इस सारे असाधारण स्वागत-सत्कार और इन अनपेक्षित कृपाओं से ये दोनों ही सेनानायक बहुत सशंकित हो उठे कि कहीं महमूद उनकी जान का गाहक तो नहीं है तथा वे दोनों ही महमूद का साथ छोड़ कर चल दिए। सलहदी ससैन्य राणा रत्नसिंह के साथ जा मिला। तब तक बहादुर शाह भी बांसवाड़ा तक आ पहुँचा था एवं सबका ही ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। महमूद उज्जैन से लौटकर मांडू चला गया। उधर राणा रत्नसिंह भी सलहदी के साथ मालवा के इलाके को लूटता हुआ बहादुर शाह से मिलने के लिए वागड़ की ओर चला।[२६]

जनवरी १६, १५३१ ई० को सिकंदर खाँ और सलहदी का पुत्र, भूपतराय, बहादुरशाह की सेवा में पहुँचे। अब बहादुर शाह ससैन्य मालवा की ओर बढ़ने लगा और कुछ दिनों बाद जब करजी की घाटी के पास पहुँचा तब राणा रत्नसिंह और सलहदी भी बहादुर शाह के पास आ गए। कुछ दिन वहाँ ठहरने के बाद रत्नसिंह तो चित्तौड़ को लौट गया, परंतु सलहदी ने बहादुर शाह की सेवा में रहना स्वीकार कर लिया एवं वह बहादुर शाह के साथ ही बना रहा। इन्हीं दिनों महमूद खिलजी ने बहादुर शाह को कहला भेजा था कि जल्दी ही वह स्वयं उसकी सेवा में उपस्थित होगा, परंतु कई सप्ताह बीतने पर भी जब महमूद खिलजी नहीं आया तब बहादुर शाह स्वयं ससैन्य देपालपुर, धार और नालछा होता हुआ मांडू जा पहुँचा तथा उसका घेरा डाल दिया। कोई सवा महीने तक यह घेरा चलता रहा और अंत में शाबान २६, ६३७ हि० (अप्रैल १७, १५३१ ई०) के दिन रात्रि के समय आक्रमण कर बहादुर शाह ने मांडू के किले पर अधिकार कर लिया। महमूद खिलजी सकुटुंब कैद कर लिया गया, एवं कुछ दिनों बाद उसे चांपानेर ले जाते हुए राह में दोहद के आसपास मार डाला गया। यों मालवा के खिलजी सुलतान वंश का अंत हो गया।[२७]

२६. सिकंदरी०, पृ० १६५; ब्रिग्ज०, ४, पृ० २६६; तबकात०, ३, पृ० ३४६–५०, ६१०–११।
ओझा० (उदय०, २, पृ० ३६० – १) के अनुसार शर्जा खाँ के प्रारंभिक आक्रमण से पहले ही सलहदी रत्नसिंह से जा मिला था, परंतु यह ठीक नहीं। कोई भी इतिहासकार इस कथन का समर्थन नहीं करता।

२७. सिकंदरी, पृ० १६५ - १६८; तबकात०, ३, पृष्ठ ६११ - ६१४, ३५०, ३५४; ब्रिग्ज०, ४, पृष्ठ २६७ - २६६, ११३ - ११५।

ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २४१, २५२, २६१, २६६) की पाद - टिप्पणियों में 'मुंतखब - उत - तवारीख' से दिए गए उल्लेख अलबदौनी कृत इसी नाम के सुप्रसिद्ध इतिहासग्रंथ के नहीं हैं। ब्रिग्ज द्वारा उद्धृत ग्रंथ 'अहसन - उत - तवारीख' के नाम से भी सुज्ञात है। उसका लेखक हसन बेग बिन मुहंमदी बेग खाकी शीराजी था। इस ग्रंथ की एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में भी प्राप्य है। इलियट० ६, पृष्ठ २०१ - ६; रियु०, ३, पृष्ठ ८८६ - ७।

इस समय की उपर्युक्त घटनावली प्रायः सभी फारसी आधारग्रंथों में एक सी ही दी हुई है, परंतु उनकी तिथि - तारीखों में अवश्य ही बहुत भिन्नता पाई जाती है। 'तारीख - इ - बहादुरशाही' का लेखक इस चढ़ाई के समय बहादुरशाह के साथ था,

अब मालवा सल्तनत के अधिकार के सारे ही प्रदेश पर बहादुर शाह का आधिपत्य हो गया। उसमें से बहुत सा भाग उसने विभिन्न अमीरों को बाँट दिया। सलहदी ने बहुत पहले ही बहादुर शाह की अधीनता स्वीकार कर ली थी एवं उज्जैन तथा सारंगपुर की सरकारें और रायसेन का किला उसे जागीर में दे दिए गए। आष्टा की सरकार और भेलसा की जागीरें भी उसीके अधिकार में बनी रहीं। वर्षाऋतु प्रारंभ होने पर जुलाई १५३१ ई० में सलहदी बहादुर शाह से विदा लेकर अपनी राजधानी रायसेन को लौट गया।[२८] सलहदी का पुत्र भूपतराय तब भी बहादुरशाह की सेवा में मांडू ही बना रहा।

वर्षाऋतु की समाप्ति के बाद भी जब सलहदी लौटकर बहादुर शाह की सेवा में उपस्थित नहीं हुआ तब बहादुरशाह ने नवंबर १५३१ ई० में अपने एक प्रमुख अमीर को[२९] सलहदी के पास भेजा कि वह सलहदी को अपने साथ लिवा लाए। परंतु तब भी सलहदी बहादुर शाह की सेवा में जाने से आनाकानी ही करता रहा। यों भी इधर यह जानकर कि सलहदी ने अनेकानेक मुसलमान औरतों को अपने रनिवास में रख रखा था, जिनमें से कई पहले मालवा के सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी के रनिवास में थीं, बहादुरशाह सलहदी से बहुत ही अप्रसन्न

एवं मुख्यतः 'तारीख - इ - बहादुरशाही' के आधार पर सिकंदरी में दिया गया विवरण तथा तारीखों को यहाँ स्वीकार किया गया है।

तबकात० (३, पृष्ठ ६१२, ३५३) के अनुसार शाबान ६, ६३७ हि० (मार्च २८, १५३१ ई०) के दिन मांडू पर बहादुर शाह का अधिकार हुआ था। ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६८, ११५) में भी मांडूविजय की यही तारीख शाबान ६ दी गई है। परंतु फरिश्ता० में मालवा के सुलतानों का विवरण देते हुए जहाँ शाबान ६ लिखी है (पृष्ठ २६६), वहाँ पूर्व में गुजरात के सुलतानों के विवरण में मांडूविजय की तारीख शाबान २६ दी गई है (पृष्ठ २१८)।

कैंब्रिज० (३, पृ० ३६६) के अनुसार मार्च १७, १५३१ ई० (रजब २८, ६३७ हि०) के दिन मांडू जीता गया था, परंतु किस आधार पर यह तारीख स्वीकार की गई इसका कोई पता नहीं लग पाया है।

महमूद की हत्या की तारीख के बारे में भी मतभेद है। सिकंदरी० (पृ० १६७ - ८) के अनुसार मुहर्रम ६३८ हि० (सितंबर १५३१ ई०) में महमूद मारा गया। परंतु तबकात० (३, पृ० ६१४) और ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६६) के अनुसार शाबान ३४ की रात (शनिवार, अप्रैल २, १५३१) को वह मारा गया था। ब्रिग्ज० (४, पृष्ठ २६८ – ६) में दिया गया हिजरी सन् ६३२ स्पष्टतया गलत है क्योंकि उसीमें पहले (४, पृष्ठ ११५) सही सन् ६३७ हिजरी दिया गया है।

२८. तबकात०, ३, पृ० ६१५; ब्रिग्ज०, ४, पृष्ठ ११५; सिकंदरी०, पृ० १६८, १७०।

२९. इस अमीर का नाम सिकंदरी० (पृष्ठ १७०) के अनुसार 'मलिक अमीन' अथवा 'अमीन नस' (बेली० पृ० ३५६), फरिश्ता० के अनुसार 'नसीर' (ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७) एवं तबकात० के अनुसार 'नसीर' (३, पृ० ३५६) अथवा 'अमीर नसीर' (३, पृ० ३५६ फु० नो०; ६१५) था। कैंब्रिज० (३, पृ० ३२७) में उसका नाम 'नससन खाँ' लिखा है।

हो गया था।[३०] परंतु अब उसे अपने दरबार में नहीं आते देखकर उसके प्रति बहादुरशाह का रोष और भी अधिक बढ़ गया। पुनः जब उक्त अमीर ने उसे यह भी लिख भेजा कि सलहदी भागकर राणा रतनसिंह के पास मेवाड़ जाने की भी सोच रहा है, तब तो बहादुर शाह और भी व्यग्र हो उठा। उसने मांडू की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की और वहाँ का शासनभार अपने वजीर इख्तियार खाँ को सौंपकर यह घोषित किया कि वह गुजरात को लौट जाएगा। अतः वह तदर्थ ससैन्य मांडू से चलकर दिसंबर १५, १५३१ ई० को नालछा पहुँचा।[३१]

परंतु भूपतराय को तब भी इस बात की पूरी आशंका थी कि बहादुरशाह उसके पिता सलहदी को यों आसानी से कदापि नहीं छोड़ेगा; पुनः बहादुरशाह से वह बहुत अधिक आतंकित भी था। अतः भूपतराय ने उज्जैन जाने के लिए बहादुर शाह की आज्ञा चाही जिसमें वहाँ ठहरे हुए अपने पिता सलहदी को उचित आश्वासन देकर वह उसे बहादुरशाह की सेवा में उपस्थित कर दे। बहादुर शाह ने स्वीकृति दे दी और भूपतराय उज्जैन को चल पड़ा। तब बहादुर शाह भी नालछा से चलकर दिसंबर २५, १५३१ ई० को धार पहुँचा। और उसी दिन शिकार के बहाने स्वयं उज्जैन की ओर देपालपुर तथा सादलपुर तक चला गया।[३२]

३०. ब्रिग्ज० (४, पृ० ११७) के अनुसार यह कारण तो एक बहाना मात्र था। वास्तविक बात यह थी कि सलहदी ने पिछले वर्षों में उज्जैन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और अब बहादुरशाह उज्जैन को सलहदी से छीनकर अपने अधिकार में करना चाहता था। परंतु फरिश्ता० (पृ० २१६) में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है। ब्रिग्ज का यह कथन ठीक नहीं क्योंकि सिकंदरी (पृ० १७०) के अनुसार उज्जैन का परगना बहादुरशाह ने स्वयं ही सलहदी को दिया था।

३१. सिकंदरी० पृ० १७० – १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५५ – ३५६; ब्रिग्ज० ४, पृ० ११६ – ११७।

बहादुरशाह के नालछा पहुँचने की कोई तारीख सिकंदरी० में नहीं दी है। तबकात० (३, पृ० ३५६) तथा फरिश्ता० (पृ० २१६) में इसकी तारीख जमादि - उल - अव्वल २५, ९३८ हि० (गुरुवार, जनवरी ४, १५३२ ई०) दी है, जो आगे का सारा विवरण देखते हुए कदापि ठीक नहीं जान पड़ती है। ब्रिग्ज का भी यही मत रहा होगा, एवं उसने इसे बदल कर जमादि - उल - अव्वल ५ कर दिया है (४, पृ० ११७)। सब बातों पर विचार करने के बाद ब्रिग्ज का वह संशोधन उचित एवं स्वीकार्य जान पड़ता है।

परंतु जमादि - उल - अव्वल ५, ९३८ हि० को शुक्रवार, दिसंबर १५, १५३१ ई० था, एवं वही तारीख दी जा रही है।

३२. सिकंदरी० पृ० १७०; तबकात०, ३, पृ० ३५६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७।

सिकंदरी० (पृ० १७०) में इस समय बहादुरशाह के धार पहुँचने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है और न तत्संबंधी कोई तारीख ही दी है। तबकात० (३, पृ० ३५६) तथा फरिश्ता० (पृ० २१६) के अनुसार जमादि - उल - अव्वल १५, ९३८ हि० (दिसंबर २५, १५३१ ई०) को बहादुरशाह धार पहुँचा था। परंतु ब्रिग्ज ने इस

यह सब देख सुनकर सलहदी को तो पूरा विश्वास हो गया कि बहादुरशाह अवश्य ही गुजरात को लौट रहा था, एवं ऐसे समय उसके दरबार में पहुँचकर उससे प्रचुर पुरस्कार पाने का उसे लालच हो आया। अतः भूपतराय को तो उसने उज्जैन में ही पीछे छोड़ा तथा उसको लिवा जाने को आए हुए अमीर को साथ लेकर सलहदी बड़ी तत्परता के साथ चल पड़ा और बहुत करके दिसंबर २६, १५३१ ई० को सादलपुर में वह बहादुर शाह की सेवा में उपस्थित हुआ। तब उक्त अमीर ने बहादुर शाह को बताया कि सलहदी पर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं किया जा सकता; बहुत सा द्रव्य, खंभात परगने की जागीर तथा सौ अरबी घोड़े पुरस्कार में दिए जाने का लालच देने पर ही वह दरबार में आया था; और इस बार वहाँ से लौटने के बाद फिर कभी वह पकड़ में नहीं आ सकेगा। दूसरे दिन लौटकर बहादुरशाह धार पहुँचा और वहाँ के किले में उसने अपना डेरा डाला। सलहदी भी साथ ही धार आया था एवं उसे भी धार के किले में ठहराया गया। इने-गिने पूरबिया साथी ही तब वहाँ उसके साथ थे अतः उचित अवसर देखकर दिसंबर २७, १५३१ ई० के दिन सलहदी और उसके दो साथियों को कैद कर लिया गया।[33]

सलहदी के यों कैद हो जाने पर उसके साथी सैनिक धार से भागकर भूपतराय से जा मिलने को उज्जैन की ओर चले। बहादुरशाह ने भी अब बड़ी ही तत्परता से कार्यवाही प्रारंभ की। उसी दिन संध्या होते-होते उसने इमाद-उल-मुल्क को भूपतराय के विरुद्ध भेजा और एक पहर रात बीतते-बीतते वह स्वयं भी ससैन्य उज्जैन की ओर चल पड़ा। सादलपुर होता हुआ वह दूसरे दिन उज्जैन पहुँचा, तब वहाँ इमाद-उल-मुल्क ने बहादुरशाह को सूचना दी कि इमाल-उल्-मुल्क के उज्जैन पहुँचने से पहले ही भूपतराय वहाँ से भागकर चित्तौड़ चला गया। तब बहादुरशाह ने उसी दिन वहाँ आष्टा का

तारीख को बदल कर जमादि-उल्-अव्वल १६ (दिसंबर २६, १५६१ ई०) कर दिया है, जो आगे की घटनाओं की तारीखों को देखते ठीक नहीं जान पड़ता।

सिकंदरी० में केवल देपालपुर का नाम है परंतु तबकात० एवं फरिश्ता० (पृ० २१६) में उसके साथ ही सादलपुर का भी उल्लेख है। सादलपुर एवं देपालपुर धार से क्रमशः १२ और २४ मील उत्तर पूर्व में हैं।

ब्रिग्ज० (४, पृ० ११७) में तो इनके स्थान पर भैंसरोड़ (मेवाड़) तथा शुजालपुर के नाम दिए हैं, जो बिलकुल गलत एवं अमान्य हैं।

३३. सिकंदरी०, पृ० १७० – २; तबकात० ३, पृ० ३५६ – ७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७–८। केवल सिकंदरी० ने ही सलहदी के कैद किए जाने की तारीख दी है।

बेली० (पृ० ३५७) में इसका कोई उल्लेख नहीं है कि सलहदी को कहाँ कैद किया गया था। प्रत्युत सिकंदरी० (पृ० १७१) में यह लिखा है कि सलहदी को नालछा के राजमहल में कैद किया गया था। परंतु सिकंदरी० का वह अनुवाद ठीक नहीं है। मिरात० (पृ० २५१) में किसी नगर विशेष का नाम नहीं देकर केवल 'उसी मुकाम' का ही उल्लेख है जो वहाँ के संदर्भ को देखते हुए 'धार' ही हो सकता है, 'नालछा' नहीं। तबकात० और ब्रिग्ज० के अनुसार उसे धार में ही कैद किया गया था।

परगना हबीब खाँ को वापस दे दिया और उज्जैन का परगना दरिया खाँ को जागीर में दिया। तदनंतर वहाँ से तेजी से आगे बढ़ता हुआ वह सारंगपुर पहुँचा और वहाँ कुछ दिन ठहरा। सारंगपुर का परगना मल्लू खाँ को दे दिया गया।[३४] सारंगपुर से चलकर बहादुर शाह ससैन्य भेलसा पहुँचा, तब वहाँ उसे ज्ञात हुआ कि मेवाड़ के राणा से सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए भूपतराय तो चित्तौड़ गया और उधर सलहदी का भाई लखण मसेन (लक्ष्मणसिंह) रायसेन के किले को भरसक सुसज्जित कर युद्ध के लिए तैयारियाँ कर रहा था। भेलसा में कुछ दिन ठहरकर बहादुरशाह ने वहाँ अपना पूर्ण आधिपत्य ही नहीं स्थापित किया, वरन् वहाँ के कई मंदिरों को भी नष्ट-भ्रष्ट किया। तदनंतर मंगलवार, जनवरी १६, १५३२ ई० को बहादुरशाह भी ससैन्य भेलसा से चल पड़ा और दूसरे दिन रायसेन के किले के निकट जा पहुँचा।[३५]

किले के सामने तब पड़ाव कर रही बहादुरशाह की सेना पर आक्रमण कर उसे मार भगाने को राजपूतों का एक दल किले से निकला और दोनों सेनाओं में गहरी झड़प हो गई, परंतु अंत में राजपूत विफल होकर किले को लौट गए। जनवरी १८, १५३२ ई० को बहादुर

३४. सिकंदरी०, पृ० १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५७ – ८; ब्रिग्ज, ४, पृ० ११८।

सिकंदरी० में 'हबीब खाँ' के स्थान पर 'हसन खां' दिया है, जो ठीक नहीं। मिरात० (पृ० २५१) में भी 'हबीब खाँ' ही लिखा है।

तबकात० (३, पृ० ३०१ – २) के अनुसार सन् १५१७ ई० में पूरवियों की शक्ति बढ़ने से पहले आष्टा परगना हबीब खाँ के ही अधिकार में था।

३५. सिकंदरी० पृ० १७१; तबकात०, ३, पृ० ३५८ – ९; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११८।

तबकात० (३, पृ० ३५९) के अनुसार बहादुरशाह ने इसी समय भेलसा में मसजिदें आदि बनवाईं और तदर्थ वह तीन दिनों तक वहाँ ठहरा रहा।

भेलसा से रवाना होने एवं रायसेन पहुँचने की तारीखें सिकंदरी० (पृ० १७१) में क्रमशः जमादि-उल्-आखिर १७ एवं १८, ९३८ हि० (जनवरी २६ एवं २७, १५३२ ई०) है। बहुत करके इसीको लेकर कैंब्रिज (३, पृ० ३२८) में बहादुरशाह के जनवरी २६, १५३२ ई० को रायसेन पहुँचने का लिखा है। परंतु जिस तत्परता एवं शीघ्रता के साथ बहादुरशाह धार से रवाना होकर उज्जैन होता हुआ यहाँ तक पहुँचा था, उसे देखते हुए भेलसा में उसके जनवरी २६, १५३२ ई० तक ठहरने की बात मानने योग्य नहीं जान पड़ती है।

तबकात० (पृ० ३५९) के अनुसार ये घटनाएँ क्रमशः जमादि-उल्-अव्वल ७ एवं बुधवार ८, ९३८ हि० को घटी थीं। फरिश्ता० (पृ० २२०) के अनुसार जमादि-उल्-अव्वल ८ को बहादुर शाह ने रायसेन में पड़ाव डाला (ब्रिग्ज ने यहाँ कोई तारीख नहीं दी)। स्पष्टतया इन दोनों ही ग्रंथों में महीना लिखते समय भूल हो गई है; 'जमादि-उल्-आखिर' होना चाहिए था। यह संशोधन कर देने पर तबकात० में दिया वार और तिथि ठीक तरह मिल जाते हैं एवं इस संशोधन के साथ तबकात० में दी गई तारीखें स्वीकार हो जाती हैं।

शाह ने रायसेन किले का घेरा डाला। अब उसपर तोपों की गोलाबारी होने लगी और यदाकदा सेना भी यत्रतत्र आक्रमण करने लगी।[३६]

बहादुरशाह की सेना के साथ कैदी सलहदी भी तब रायसेन तक पहुँच गया था। घेरे की व्यवस्था, बहादुर शाह की सैनिक शक्ति और बारंबार आक्रमणों से निरंतर हो रही किले की क्षति, आदि को देखकर रायसेन किले पर बहादुरशाह की जीत सलहदी को सुनिश्चित जान पड़ी। तब सर्वथा निराश होकर सलहदी मुसलमान बनने एवं रायसेन का किला बहादुरशाह के अधिकार में दे देने को तैयार हो गया। बहादुर शाह के स्वीकृति देने पर सलहदी ने विधिवत् इस्लाम धर्म स्वीकार किया[३७]; तब बहादुरशाह ने उसे कैद से मुक्त कर संमानित किया तथा उसका नाम बदलकर अब 'सलहउद्दीन' रख दिया गया। तदनंतर अल्पकालीन संधि की व्यवस्था कर सलहदी ने अपने भाई लखमणसेन से भेंट की और आत्मसमर्पण कर रायसेन का किला बहादुर शाह को सौंप देने का आग्रह किया, किंतु लखमणसेन इसके लिए तैयार नहीं हुआ। मेवाड़ के राणा की सेना लेकर भूपतराय के शीघ्र ही सहायतार्थ लौटने की आशा उसे तब भी लगी हुई थी एवं उसकी प्रतीक्षा में कुछ दिन और आत्मसमर्पण न करना ही उसे उचित लगा, तथा अंततः सलहदी भी इस बात से सहमत हो गया। परंतु तदर्थ आवश्यक अवकाश प्राप्त करने के लिए अगले दिन दोपहर तक किला सौंप देने का वादा कर लखमणसेन किले को वापस लौट गया। दूसरे दिन भी जब लखमण सेन ने आत्मसमर्पण नहीं किया तब अपने प्रति बहादुर शाह का विश्वास बनाए रखने के उद्देश्य से सलहदी ने किले के संमुख जाकर तदर्थ बहुत कुछ कहा सुना, परंतु उसका कोई भी परिणाम निकलने वाला था ही नहीं।

इसके कुछ ही दिन बाद पूरबिया राजपूत घुड़सवारों के एक दल के साथ बहादुरशाह के सैनिक दल की मुठभेड़ हो गई जिसमें अनेक घुड़सवार काम आए और यह समाचार भी फैल गया कि राजपूत घुड़सवारों के दल का सेनानायक सलहदी का छोटा पुत्र, भी उस युद्ध में मारा गया। यह समाचार सुनकर सलहदी को बहुत ही खेद हुआ और इसी कारण वह अचेत भी हो गया। बहादुर शाह यों भी पहले ही सलहदी पर बहुत ही कुपित था और अब तो उसके क्रोध की कोई सीमा ही नहीं रही। बहादुर शाह को अब विश्वास हो गया कि सलहदी उसको धोखा दे रहा है एवं सलहदी को पुनः कैद कर बुरहान-उल्-मुल्क को आदेश दिया कि उसे ले जाकर मांडू के किले में कैद रखे।[३८]

३६. सिकंदरी० पृ० १७१ – २; तबकात०, ३, पृ० ३५९ – ६०; ब्रिग्ज० ४, पृ० ११८-११९।

३७. कैंब्रिज० (३, पृ० ३२८) में लिखा है कि सलहदी ने धूर्ततापूर्वक मुसलमान बनने का छल कपट कर बहादुर शाह को संतुष्ट किया। परिस्थितियों से पूर्णतया विवश होकर तब अपने कुटुंबियों को बचाने तथा आगे भी अपना महत्व बनाए रखने के लिए ही सलहदी ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, यह तो स्पष्ट ही है। परंतु आधारग्रंथों से कहीं भी यह विश्वास नहीं हो पाता है कि सलहदी प्रारंभ से ही पुनः हिंदू बनने की सोच रहा था।

३८. सिकंदरी०, पृ० १७२-३, १७५; तबकात०, ३, पृ० ३६० – २; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११९ – २०।

मेवाड़ की सेना को साथ लेकर आ रहे भूपतराय की राह रोकने के लिए अब बहादुर शाह ने मुहम्मद खाँ और इमाद-उल्-मुल्क को ससैन्य उत्तर पश्चिम की ओर भेजा। बरसिया पहुँचने पर उन्हें पता लगा कि मेवाड़ का राणा विक्रमाजीत और भूपतराय एक बहुत बड़ी सेना लेकर बढ़े आ रहे हैं। सलहदी का पुत्र पूरणमल भी खेरोड़ से भागकर भूपतराय से जा मिला था। इस सबकी सूचना मिलने पर बहादुरशाह ने इख्तियार खाँ को रायसेन किले के घेरे का काम सौंपा और वह स्वयं बड़ी तेजी से दिन रात चलकर दूसरे ही दिन राणा के विरुद्ध भेजी गई अपनी सेना के साथ जा मिला। राणा को जब बहादुरशाह के आ पहुँचने का पता लगा तब उसका सामना करने का उसे साहस नहीं हुआ और भूपतराय के साथ वह भी ससैन्य चित्तौड़ को वापस लौट गया। बहादुरशाह ने कुछ दूर तक उसका पीछा भी किया परंतु बाद में लौटकर वह रायसेन चला आया।[३१]

सिकंदरी० के अनुसार लखमण सेन को बहादुरशाह के पड़ाव में ही बुलवा लिया गया था; परंतु तबकात० एवं ब्रिग्ज में लिखा है कि सलहदी को साथ लेकर बहादुरशाह स्वयं रायसेन के किले तक गया और वहाँ लखमणसेन को बुलवा लिया था, तब वहाँ सलहदी की उसके साथ बातचीत हो गई।

सिकंदरी० के अनुसार सलहदी के छोटे (ब्रिग्ज के अनुसार ज्येष्ठ) पुत्र के नेतृत्व में राजपूत घुड़सवारों के इस दल ने (रायसेन से ३२ मील उत्तर-पश्चिम में) बरसिया स्थित बहादुर शाह की सैनिक चौकी पर हमला किया था। किंतु तबकात० एवं ब्रिग्ज० के अनुसार भूपतराय को सैनिक सहायता के साथ शीघ्रातिशीघ्र रायसेन लाने के लिए ही इस दल को लखमणसेन ने रायसेन से भेजा था और जाते समय राह में बहादुरशाह की सेना के दल के साथ यह मुठभेड़ हो गई।

सिकंदरी० के अनुसार सलहदी का यह छोटा लड़का वस्तुतः बच निकला और वहाँ से ही वह सीधा मेवाड़ के राणा और भूपतराय के पास चला गया था। उसकी मृत्यु का मिथ्या समाचार उस समय फैल गया था। किंतु तबकात० और ब्रिग्ज० के अनुसार वह वस्तुतः युद्ध में काम आया एवं उसका सिर काटकर बहादुरशाह के पास भेजा गया था।

३१. सिकंदरी०, पृ० १७३-४; तबकात०, ३, पृ० ३६५-६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२०-१; ओझा०, उदय०, २, पृ० ३१४-५।

ब्रिग्ज० (४, पृ० ११८) के अनुसार बहादुरशाह ने इमाद-उल-मुल्क को भेलसा से ही भेज दिया था। खेरोड़ नामक यह स्थान कहाँ था इसका ठीक निर्णय नहीं किया जा सका। अन्यत्र यह नाम 'कहराड़', 'खिराड़' और 'केहरला' भी लिखा मिलता है। इस समय मेवाड़ का राणा विक्रमाजीत था जो सन् १५३१ ई० के पूर्वार्ध में ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठ चुका था। परंतु सिकंदरी० के लेखक को न तो इसकी स्पष्ट जानकारी थी और न राणा रत्नसिंह के साथ विक्रमाजीत के ठीक संबंध का ही उसे सही ज्ञान था, अतः इस प्रसंग में विक्रमाजीत और मेवाड़ के राणा विषयक सिकंदरी० (पृ० १७२-३) के उल्लेख बहुत ही भ्रांपूतियाँ हैं।

अब बहादुरशाह ने यथासंभव शीघ्र ही रायसेन के किले को अपने अधिकार में कर लेने का निश्चय कर लिया था, अतः वहाँ वापस लौटते ही रायसेन के किले के घेरे को वह पूरी तत्परता से चलाने लगा। उधर लखमणसेन आदि को मेवाड़ के राणा या भूपत राय से किसी प्रकार की सैनिक सहायता प्राप्त होने की अब कोई भी आशा नहीं रह गई थी। अतः पूर्णतया निराश और विवश होकर अप्रैल, १५३२ ई० के उत्तरार्द्ध में लखमण सेन ने बहादुर शाह से निवेदन कराया कि सलहदी को रायसेन बुलवा लिया जाए जिससे उसकी उपस्थिति में वह रायसेन का किला बहादुर शाह के अधिकार में कर सके। रायसेन के किले में तब सलहदी के रनिवास में कोई सात सौ से भी अधिक मुसलमान स्त्रियाँ रह रही थीं और बहादुरशाह को पूरी आशंका थी कि यदि अंत में युद्ध हुआ तो राजपूत जौहर कर उन सबको जीवित ही जला देंगे, अतएव उनकी जान बचाने के हेतु बहादुरशाह स्वयं उत्सुक था कि बिना युद्ध के ही रायसेन के किले पर उसका अधिकार हो जाए। उसने लखमण सेन की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उचित आदेश पाकर बुरहान-उल्-मुल्क भी शीघ्र ही उसे मांडू से वहाँ वापस ले आया। तब लखमण सेन स्वयं बहादुरशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और किले को खाली कर देने का वादा किया तथा उसे कार्यान्वित करने को वह वापस किले पर लौट गया। अब किले को खाली कर देने के आयोजन होने लगे। अंत में उसने सलहदी की पटरानी, दुर्गावती की ओर से बहादुरशाह से निवेदन कराया कि सलहदी को किले पर जाने की आज्ञा दी जाए जिससे वह अपनी रानियों, अपने रनिवास की सभी स्त्रियों तथा अपने परिवार के अन्य लोगों को साथ लेकर किले से उतार लाए। बहादुरशाह ने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली और मलिक शेर अली को सलहदी के साथ किले पर भेज दिया।[४०]

जब सलहदी किले में अपने महल में पहुँचा तब लखमण सेन आदि के पूछने पर उसने बताया कि रायसेन के किले तथा आसपास के प्रदेश के बदले में उसे बड़ोदा का नगर और उसके आसपास का परगना दिया जाएगा, एवं भविष्य में उसके और भी कृपान्वित होने की पूरी आशा है। इसपर लखमणसेन आदि के साथ ही उसकी पटरानी रानी दुर्गावती ने भी उसकी बहुत ही भर्त्सना की और अंत में रानी दुर्गावती ने कहा—"ओ सलहदी! तुम्हारे जीवन का अंतकाल निकट ही है। क्यों अब अपने गौरव और मान-मर्यादा को नष्ट करते हो? हमने तो यह निश्चय कर लिया है कि हम स्त्रियाँ जौहर कर चिता में जल जाएँगी और हमारे वीर पुरुष लड़ते हुए खेत रहेंगे। अगर तुम में कुछ भी लज्जा शेष है तो हमारा साथ दो।"

सिकंदरी०, तबकात० और फ़रिश्ता० (पृ० २२१) के अनुसार पूरणमल के साथ इस समय २,००० घुड़सवार थे, परंतु ब्रिग्ज० (४, पृ० १२१) में इनकी संख्या दस हजार लिखी है।

फ़रिश्ता० (पृ० २२०) के अनुसार राणा एवं भूपतराय की इस सेना की संख्या चालीस हजार थी परंतु ब्रिग्ज ने यह संख्या बिलकुल ही छोड़ दी है, और कहीं अन्यत्र भी इसका समर्थन नहीं मिलता।

विक्रमाजीत और भूपतराय का पीछा करते हुए इस समय बहादुरशाह के चित्तौड़ के पास पहुँच जाने की बात बहुत-कुछ अत्युक्तिपूर्ण ही प्रतीत होती है।

४०. सिकंदरी०, पृ० १७४; तबकात०, ३, पृ० ३६५–६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२१–२।

तब सलहदी का भी इरादा बदल गया और लखमण सेन आदि का साथ देते हुए वह युद्ध में मर-मिटने को वह उतारू हो गया। मलिक अली शेर ने सलहदी को समझाने का विफल प्रयत्न किया और तदनंतर वह वापस लौट गया।

रायसेन किले में जौहरचिता जल उठी, और तब दूसरी रानियों एवं अन्य सभी स्त्रियों के साथ रानी दुर्गावती तथा अपने दो बच्चों को लिए भूपतराय की पत्नी ने भी उसमें प्रवेश किया। अन्य राजपूतों की स्त्रियाँ भी उसी जौहरचिता में जल मरीं। सलहदी के रनिवास की सभी मुसलमान स्त्रियों को भी उस जौहर - चिता में जल मरने को बाध्य किया गया और उनमें एक ही किसी प्रकार बच निकली। तदनंतर सलहदी, लखमणसेन और उनके सभी साथी मरने को कृतनिश्चय बहादुर शाह की सेना पर टूट पड़े तथा वीरतापूर्वक लड़ते हुए सभी वहाँ खेत रहे। यों रमजान, ९३८ हि० के अंतिम दिन (सोमवार, मई ६, १५३२ ई०) रायसेन किले में यह जौहर हुआ और उसी दिन सलहदी भी लड़ता हुआ खेत रहा।[४१]

रायसेन के किले पर बहादुर शाह का अधिकार हो गया और तब उसने रायसेन का किला और भेलसा, चंदेरी आदि का सारा प्रदेश जो तब भी सलहदी के अधिकार में था, काल्पी के भूतपूर्व शासक सुलतान आलम लोदी को दे दिए। कुछ समय बाद भूपत राय पुनः बहादुर शाह की सेवा में पहुँच गया, परंतु पूरणमल तब भी चित्तौड़ में ही बना रहा। फरवरी १३, १५३७ ई० को दीव में बहादुर शाह की मृत्यु हुई और तब गुजरात के सुलतानों का मालवा पर कोई आधिपत्य नहीं रह गया। अतः तब मालवा का प्रमुख अधिकारी मल्लू खाँ कादिरशाह नाम से मालवा का सुलतान बन बैठा और भेलसा से लेकर नर्मदा नदी तक के सारे प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसे मालवा के ही पुराने अमीरों में बाँट दिया। तब भूपतराय और पूरणमल ने

४१. सिकंदरी० पृ० १७४ – ५; तबकात०, ३७ पृ० ३६६ – ७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२१, – २,।

इस समय लखमण सेन का साथ देने और अंतिम दिन सलहदी के साथ खेत रहने वालों में ताज खाँ भी था। सिकंदरी० में अवश्य ही उसका कोई उल्लेख नहीं है, परंतु तबकात० (३, पृ० ३६५) के अनुसार ताज खाँ का परिवार भी तब रायसेन के किले पर था। यह ताज खाँ कौन था, कैसे वह रायसेन पहुँचा, आदि के बारे में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। बेवरिज के मतानुसार मुसलमानी नाम होते हुए भी वह वस्तुतः हिंदू ही था (ए० रि०); परंतु यह उसका अनुमान ही जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ किसी आधार का उल्लेख नहीं है।

रायसेन किले के इस जौहर तथा सलहदी के अंतिम युद्ध का विवरण लिखने के बाद मिरात० (पृ० २५६) में लिखा है कि 'यह घटना रमजान, ९३८ हि० के अंत में हुई थी।' सिकंदरी० (पृ० १७५) में केवल रमजान महीने का उल्लेख है, उसकी कोई निश्चित तारीख का निर्देश नहीं किया गया है। बेली० (पृ० ३६५) में रमजान महीने की अंतिम तारीख का उल्लेख कर तदनुसार ईसवी तारीख मई १०, १५३८ ई० दी है जो ठीक नहीं है। तबकात० (३ पृ० ३६५) में कोई निश्चित तारीख न देकर यही लिखा है कि रमजान के लगभग लखमन सेन ने यह अंतिम समझौतावार्ता प्रारंभ की थी।

वापस लौटकर रायसेन किले और आसपास के प्रदेश पर पुनः अपना अधिकार कर लिया तथा उन्होंने कादिरशाह का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।[४२]

यों तत्कालीन मालवा के प्रमुख राजपूत राजा और अतीव अनुभवी वीर सेनानायक सलहदी का अंत हो गया, और उसके साथ ही मालवा में राजपूत राजाओं या जमींदारों के महत्त्व तथा शक्ति की भी इतिश्री हो गई, क्योंकि तब मालवा में मेदिनीराय या सलहदी जैसा प्रबल प्रभावपूर्ण तथा शक्तिशाली राजपूत सेनानायक अथवा शासक नहीं रह गया था। सन् १५१३ ई० से लेकर अगले १७ – १८ वर्षों में सलहदी ने पूर्वी मालवा में एक विस्तृत शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। सलहदी का राज्य एक समय तो चंदेरी से लेकर भेलसा और रायसेन परगने के दक्षिण तक एवं पश्चिम में आष्टा, सारंगपुर से लेकर उज्जैन से भी आगे तक फैला हुआ था। उस समय सलहदी अपनी मानमर्यादा तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से स्वयं को खानदेश के अर्द्धस्वतंत्र फारूकी सुलतानों से भी कहीं उच्च और महत्वपूर्ण मानता था।[४३] रायसेन का किला तब कोई एक युग से भी अधिक समय तक सलहदी की राजधानी रहा था एवं वहाँ के उसके महलों का वैभव देखकर बहादुर शाह के दरबार का मलिक अली शेर भी आश्चर्यचकित रह गया था।[४४]

सलहदी के ऐश्वर्यवैभव का वर्णन करते हुए 'मिरात - इ - सिकंदरी' का लेखक लिखता है – "ऐसा कहा जाता था कि उसके (सलहदी के) पास ऐसे - ऐसे बरतन - भांडे, वस्त्र, इत्र - फुलेल आदि अनेकानेक वस्तुएँ थीं कि वैसी उस समय के अन्य किसी सुलतान या राजा-महाराजा के पास कदाचित ही पाई जाती हों। उसके यहाँ नर्तिकाओं के चार अखाड़े थे और उनमें से प्रत्येक नर्तकी अपनी विशिष्ट कला में सर्वथा अद्वितीय थी। जब ये नर्तिकाएँ अपने नृत्य, आदि का प्रदर्शन करती थीं, तब उनमें से चालीस नर्तिकाएँ अपने हाथों में दीपक ले - लेकर खड़ी हो जाती थीं। इन चालीसो नर्तिकाओं में से प्रत्येक के साथ दो - दो सेविकाएँ वहाँ उपस्थित रहती थीं, जिनमें से एक तो पान की गिलौरियाँ लिए रहती थी और दूसरी के पास उन दीपकों में डालने के लिए सुगंधित तेल होता था। सेवा में तत्पर ये सभी स्त्रियाँ सुनहरी जरी के वस्त्र पहने सुवर्ण - आभूषणों और रत्नों से सुसज्जित बनीठनी होती थीं। सलहदी का यह सारा ऐश्वर्यविलास उस युग के बुद्धिमान पुरुषों के लिए तो मुहम्मद पैगंबर (उन्हें शांति प्राप्त हो) के इस कथन का कि 'यह दुनियाँ अविश्वासियों के लिए स्वर्ग है

४२. सिकंदरी०, पृ० १७६, २०१ – २, २१६; तबकात०, ३, पृ० ३६७, ६१७; ब्रिग्ज०, ४, पृ० १२२ – ३, २७० – १।

फरवरी, १५३३ ई० में चित्तौड़ पर प्रथम आक्रमण के समय तथा मई, १५३५ ई० में हुमायूँ के मांडू पर घेरा डालने के अवसर पर भी भूपतराय बहादुरशाह की सेवा में था, इसके उल्लेख आधारग्रंथों में मिलते हैं। सिकंदरी०, पृ० १७१, १९१; अकबर०, १, पृ० ३०५; अर्स्किन०, २, पृ० ५६।

४३. सिकंदरी०, पृ० १७०, १७१, १७६, २०२ – ३; तबकात०, ३, पृ० ३५८, ६०२, ६०८ ब्रिग्ज०, ४, पृ० २०२ – ३, २६६, ११७।

४४. तबकात०, ३, पृ० ६०८; ब्रिग्ज०, ४ पृ० २०२ – ३; सिकंदरी०, पृ० ११३, १७४।

परंतु सच्चे धर्मावलंबियों के वास्ते वस्तुतः कारागार है' प्रत्यक्ष प्रमाण ही था। यह कथन सलहदी पर पूर्णतया चरितार्थ होता था।"४५ सलहदी के रनिवास में अनेकों रानियाँ तथा कोई सात - आठ सौ उपपत्नियाँ, खवासिनें, आदि थीं। इनमें से कई सौ मुसलमान स्त्रियाँ भी थीं। अपने वैभव की ओर संकेत करते हुए सलहदी ने स्वयं मलिक अली शेर से कहा था कि प्रतिदिन उसके महल में कोई एक करोड़ पान तथा कई सेर कपूर खाया जाता था और और कई सौ नारियाँ प्रतिदिन नए वस्त्र पहनती थीं।४६

सलसदी के इस्लाम धर्म स्वीकार करने की घटना के बारे में 'मिरात - इ - सिकंदरी' में लिखा है, "विश्वसनीय व्यक्ति कहते हैं कि कैद किये जाने पर जब सलहदी को मुसलमान बनने के लिए कहा गया तब प्रारंभ में तो वह किसी भी प्रकार तयार नहीं हो रहा था, और आगे चलकर भी वह बड़ी कठिनाई के साथ ही उसके लिए राजी हुआ। तब उसका नाम 'सलाह-उद्दीन' रख दिया गया। उस समय साधुता और धार्मिकता में सर्वथा अद्वितीय मलिक बुरहान - उल् - मुल्क बुनयानी को आदेश दिया गया था कि वह सलहदी को धार्मिक उपदेश देकर इस्लाम के धर्मशास्त्र के तत्त्व हृदयंगम करा दे। कहा जाता है कि जब सलहदी ने प्रथम बार रमजान महीने में रोजे रखे थे तब उसे विशेष प्रसन्नता हुई थी और उसने स्वीकार किया था कि इस उपवास के बाद ही उसे जीवन में पहली बार भोजन और पानी अधिक सुस्वादु जान पड़े थे। सलहदी कहा करता था कि जब वह हिंदू ही था तब एक बार उसने किसी ब्राह्मण से पूछा था कि उसने जो अगणित पाप किए थे और उसके चरित्र में जो अनेकानेक त्रुटियाँ थीं उनके लिए क्या कभी उसे किसी प्रकार क्षमा प्राप्त हो सकेगी। ब्राह्मण ने स्पष्ट उत्तर दिया था कि उसके लिए कोई भी उपाय नहीं था। तदनंतर सलहदी ने वही प्रश्न मुसलमान मुल्ला से पूछा तब उसने उत्तर दिया था कि निकृष्टतम पापी के लिए भी क्षमाप्रदान की आशा की जा सकती है, परंतु इस प्रकार की मुक्ति के मार्ग का निर्देशन करते उसे भय मालूम होता था। अतः उसकी सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन देने पर उसी मुल्ला ने सलहदी को बताया था कि यदि कोई पापी पूर्ण पश्चात्ताप की सच्ची भावना के साथ इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले तो वह तब एक नवजात शिशु की ही तरह विशुद्ध और सर्वथा पापविहीन हो जाता है। सलहदी ने तब कहा कि उसी दिन से इस्लाम धर्म की ओर उसकी पूर्ण अभिरुचि हो गई थी।"४७

यह सब - कुछ होते हुए भी परिस्थितियों की विवशता से सर्वथा बाध्य होने पर अत्यधिक अनिच्छा के साथ ही सलहदी ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। अपने कुटुंबियों को मृत्युमुख से बचाने तथा स्वयं अपना और अपने घराने का भी भावी महत्त्व बनाए रखने के उद्देश्य से ही सलहदी ने विधर्मी बनने के गर्ह्यतम कलंक को भी अपनाया था। परंतु जब उसने देखा कि उसके कुटुंबी और उसकी अर्द्धांगिनी रानी दुर्गावती भी जौहर अथवा अंतिम

४५. सिकंदरी०, पृ० १७६।

४६. सिकंदरी०, पृ० १७४, १७०; तबकात०, ३, पृ० ३५५, ३६६; ब्रिग्ज०, ४, पृ० ११७, १२२।

४७. सिकंदरी०, पृ० १७५ – ६।

युद्ध द्वारा सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करने को ही अत्यधिक लालायित हो रहे थे, तब तो सलहदी का जीवन तथा भविष्य के प्रति रहासहा मोह भी सर्वथा नष्ट हो गया और उसने अनुभव किया कि वैसी स्थिति में जीवित रहना उसके लिए भी अतीव लज्जाजनक होगा। वह अनायास ही कह पड़ा—"अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ ही अगर हम लोग भी काम आ जाएँ तो कितने गौरव और प्रतिष्ठा की बात होगी।" और तब उस अंतिम युद्ध में मर मिटने की साध के साथ प्रचंड वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आकर सलहदी ने अपने जीवनकाल की उस लज्जाजनक निर्बलतापूर्ण घड़ी की स्मृति तक को अपने उत्तप्त रक्त से मिटा देने का भरसक प्रयत्न किया था। परंतु चरम आत्मत्याग और उत्कटतम प्रायश्चित्त से भी कभी कोई घटना अनहुई हो सकी है!

संकेत

अकबर० – अकबर नामा; बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद, भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

अर्स्किन० – हिस्ट्री आफ़ इंडिया : बाबर एंड हुमायूँ, विलियम अर्स्किन कृत; भाग १ – २।

आईन० – आईन - इ - अकबरी; ब्लाकमन और जेरेट कृत अंग्रेजी अनुवाद, दूसरा संस्करण, खंड १ – २; (बिब० इंडिका)।

ईलियट० – हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाइ हर ओन हिस्टेरियन्स, इलियट तथा डासन कृत; भाग १ – ८।

ए० रि० – एशियाटिक रिव्यू (अंग्रेजी मासिक) के नवंबर, १९१५ ई० के अंक में प्रकाशित एच० बेवरिज का 'सिलहदी एंड मिरात – इ – सिकंदरी' शीर्षक लेख।

ओझा० उदय० – उदयपुर राज्य का इतिहास, डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत; भाग १–२।

किंग० – मेमायर्स आफ़ जहीरुद्दीन बाबर; जान लेडन और विलियम आर्स्किन कृत अंग्रेजी अनुवाद का लूकस किंग द्वारा संपादित संस्करण; भाग १ – २ (आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस)।

कैंब्रिज० – कैंब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया; भाग १ – ६।

टाड० – एनल्ज एंड एंटीकिटीज़ आफ़ राजस्थान; जेम्स टाड कृत; आक्सफर्ड संस्करण, भाग १ – ३।

तबकात० – तबकात – इ – अकबरी ख्वाजा निजामुद्दीन कृत का अंग्रेजी अनुवाद, भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

नैणसी० – मुहणोत नैणसी की ख्यात; काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित; भाग १ – २।

फ़रिश्ता० – तारीख़ – इ – फ़रिश्ता अथवा गुलशन – इ – इब्राहिमी; फ़रिश्ता कृत; (लखनऊ संस्करण)।

बदौनी० – मुंतखब – उत – तवारीख; अलबदौनी कृत का अंग्रेजी अनुवाद; भाग १ – ३; (बिब० इंडिका)।

बाबर० – बाबरनामा; बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद; भाग १ – ३।

ब्रिग्ज० – हिस्ट्री आफ राइज आफ मुहमडन पावर इन इंडिया; फरिश्ता रचित फारसी ग्रंथ 'तारीख – इ – फरिश्ता' का अंग्रेजी अनुवाद, जान ब्रिग्ज कृत; भाग १ – ४।

बेली० – लोकल मुहमडन डिनेस्टीज, गुजरात; एडवर्ड क्लाइव बेली द्वारा अनुवादित एवं संपादित।

मिरात० – मिरात – इ – सिकंदरी, सिकंदर कृत (बंबई संस्करण)।

रशब्रुक विलियम्स० – एन एंपायर बिल्डर आफ सिक्स्टीन्थ सेंचुरी, रशब्रुक विलियम्स कृत।

रियु० – केटेलाग आफ दी पर्शियन मेनेस्क्रिप्ट्स् इन दी ब्रिटिश म्यूजियम, चार्ल्स रियु कृत; भाग १ – ३ एवं सप्लीमेंट।

वीर० – वीरविनोद, कविराज श्यामलदास कृत; भाग १ – २।

सिकंदरी० – मिरात – इ – सिकंदरी का अंग्रेजी अनुवाद, फज्लुल्ला लुत्फुल्ला फरीदी कृत।

*

हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना तथा अनुसंधान

गोपाल राय

•

हिंदी में आलोचना तथा अनुसंधान की धूम है और एतत्संबंधी जितनी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित होती हैं उतनी, कदाचित उपन्यासों को छोड़कर, अन्य किसी विषय की नहीं। अनुसंधानकार्य, इधर दस वर्षों में बड़ी तेजी से विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में आगे बढ़ा है, और अब अनुसंधित्सुओं की संख्या में इस प्रकार वृद्धि हो रही है, जिसे देख कर विद्वान् इस चिंता में पड़ गए हैं कि उनके लिए विषय और निरीक्षक कहाँ से लाए जाएँ।[1] यह हिंदी के लिए गौरव का विषय है कि शोधकर्ताओं की संख्या जितनी हिंदी में है उतनी अन्य किसी भी भारतीय भाषा में नहीं। पर इसके साथ-साथ एक चिंता और भी लगी हुई है। हिंदी में शोधकार्य की, इयत्तया चाहे जितनी वृद्धि हुई हो, ईदृक्तया वह संतोषजनक नहीं है। हिंदी के अनेक विद्वानों तथा हितचिंतकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ है, और इस संबंध में चिंता भी व्यक्त की जाने लगी है।

हिंदी अनुसंधान के स्तरसंबंधी ह्रास के कारणों पर विचार करना, आकर्षक होने पर भी, प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित नहीं है। किंतु यहाँ एक विषय पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदी में, जैसे अन्य बहुत से शब्दों की अर्थसीमाएँ स्पष्ट नहीं हैं, वैसे ही आलोचना और अनुसंधान का अंतर भी अस्पष्ट है। हिंदी के पी-एच० डी० अथवा डी० लिट्० के शोधप्रबंधों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनुसंधान के संबंध में हिंदी के शोधकर्ताओं की धारणा ठीक - ठीक निश्चित नहीं हो पाई है, अथवा वे अपने को अनुसंधान की सीमा में आबद्ध रखने का संयम नहीं दिखा पाते। शोधप्रबंधों में बहुत से विषयों का जो अनावश्यक परिचय और प्रत्येक आलोच्य ग्रंथ की कथा का विस्तृत वर्णन दिया रहता है, वह उपर्युक्त कथन का एक ज्वलंत प्रमाण है।

वस्तुतः आलोचना और अनुसंधान दोनों एक नहीं हैं, यद्यपि दोनों को अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। आलोचना का कार्य किसी कृति की सम्यक् व्याख्या करना तथा उसकी श्रेष्ठता अथवा हीनता के कारणों का तर्कपूर्ण विवेचन करना है। आलोचक का प्रमुख उद्देश्य किसी कृति की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करना है कि उसके सभी तत्व पाठक के समक्ष स्पष्ट रूप में सामने आ जाएँ, और पाठक उस व्याख्या के प्रकाश में, कृति पर अपना निर्णय देने में अवश्य समर्थ हो सके। तात्पर्य यह कि आलोचक की दृष्टि तत्वचिंतक की दृष्टि होती है। शोधकर्ता का मुख्य कार्य व्याख्या नहीं, तथ्यों का अनुसंधान है। साहित्य में अनुसंधान की प्रणाली विज्ञान के क्षेत्र से आई है। जैसे वैज्ञानिक पदार्थजगत् में व्याप्त

१. डा० नगेंद्र, हिंदी शोध की कुछ समस्याएँ, हिंदी अनुशीलन, (दिसंबर १९५८ ई०)।

अनेक तत्वों का संकलन तथा विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, उसी प्रकार साहित्यिक शोधकर्ता विषय से संबद्ध सामग्री का संकलन तथा विश्लेषण करके किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचता है। साहित्यिक अनुसंधान वैज्ञानिक अनुसंधान की तरह, अनिवार्यतः तथ्यपरक होता है। किंतु केवल तथ्यों का संकलन अनुसंधान नहीं कहला सकता। जब तक संकलित तथ्यों का विश्लेषण कर उनके आधार पर किसी निष्कर्ष की स्थापना नहीं होती, तब तक हम उसे अनुसंधान नहीं कह सकते। इसके लिए प्रामाणिक तथ्यों के साथ - साथ प्रबल तर्कप्रणाली की अपेक्षा होती है। इसीलिए शोधकर्ता को संकलित सामग्री की प्रमाणिकता का पूर्ण परिचय देते चलना नितांत आवश्यक है, क्योंकि अप्रामाणिक तथ्यों के आधार पर प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है। हिंदी के शोधग्रंथों में इस बात की बड़ी उपेक्षा की गई है, और यही उनके स्तर की निम्नता का प्रधान कारण है। तर्क की दुर्बलता भी हिंदी शोधग्रंथों में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती।

एक उदाहरण से आलोचना और अनुसंधान का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। यदि कोई 'पदमावत' की कथा के मार्मिक स्थलों की व्याख्या करके उसकी कथा की श्रेष्ठता सिद्ध करता है तो यह आलोचना है। किंतु, यदि वह 'पदमावत' की कथा के विभिन्न स्रोतों का अनुसंधान प्राचीन काव्य, इतिहास या लोकजीवन में करता है तो यह शोध है। आलोचना यदि तत्व-चिंतन है, तो अनुसंधान तत्वशोध। शोध अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इसके निष्कर्ष बाद में आलोचना के आधार बनते हैं। इसीलिए शोध - कार्य में ईमानदारी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यहाँ - वहाँ से कुछ नोच नाच कर ग्रंथ तैयार कर लेना अनुसंधान नहीं है। दुर्भाग्य से हिंदी में अधिकतर यही होता है। निराधार तर्क और विषय से सर्वथा असंबद्ध बातों का अनावश्यक वर्णन तो हिंदी के शोधग्रंथों की एक सामान्य विशेषता है।

प्रस्तुत निबंध में प्रेमाख्यानक - काव्य - संबंधी सभी प्रकार के आलोचनात्मक भाष्य तथा परिचयात्मक ग्रंथों का परिचय देने तथा मूल्यांकन करने का प्रयास है। आलोचना तथा अनुसंधान के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण ही इस निबंध में आलोच्य ग्रंथों के मूल्यांकन का मुख्य आधार है।

हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना और अनुसंधान के प्रथम प्रेरक पं० रामचंद्र शुक्ल हैं, यद्यपि उनके पूर्व इस साहित्य का परिचय देने का प्रयास एकाधिक इतिहासलेखकों द्वारा हो चुका था।

सबसे पहले फ्रेंच इतिहासकार गार्सां द तासी ने अपने ग्रंथ 'इस्त्वार द ल लितेरात्यूर ऐंनदुई ऐंदुस्तानी' में, जो हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास माना जाता है तथा जिसकी रचना ई० सन् १८३९-७१ में हुई थी,[२] मलिक मुहम्मद जायसी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया तथा विभिन्न संग्रहालयों में 'पदमावत' की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया।

२. 'इस ग्रंथ का पहला संस्करण दो भागों में १८३९ तथा १८४७ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा परिवर्धित संस्करण तीन भागों में १८७०-७१ में प्रकाशित हुआ था।'—धीरेंद्र वर्मा, प्रकाशकीय, 'हिंदुई साहित्य का इतिहास', अ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्र० हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३।

मौलिक रूप से हिंदी में लिखित हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' है जो सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ था किंतु इसमें प्रेमाख्यानक-काव्य-संबंधी कोई महत्वपूर्ण सूचना नहीं प्राप्त होती। केवल मलिक मुहम्मद जायसी का उपस्थिति-काल दिया हुआ है और वह भी अशुद्ध।[3] इसके पश्चात् अंग्रेजी में लिखित हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास सर जार्ज ग्रियर्सनकृत 'वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिंदुस्तान' १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ।[4] ग्रियर्सन ने इस ग्रंथ में जायसी का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसके जीवन तथा उसके प्रमुख काव्य 'पदमावत' का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया।[5]

सन् १६१३ ई० में मिश्रबंधुओं[6] ने चार भागों में अपना प्रसिद्ध इतिहासग्रंथ 'मिश्रबंधु विनोद' प्रकाशित कराया।[7] इस विशाल कवि-वृत्त-संग्रह में उन्होंने दामो, कुतुबन, उस्मान, शेख नबी, आदि प्रेमाख्यानक-रचयिताओं का उल्लेख करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी और नूर मुहम्मद का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया। सन् १६१३ ई० में बाबू जगन्मोहन वर्मा ने उसमान लिखित 'चित्रावली' प्रेमकाव्य का संपादन किया।[8] इस काव्य की भूमिका में उन्होंने इसके रचनाकाल, कथाप्रसंग आदि विभिन्न पहलुओं पर संक्षेप में, परिचयात्मक ढंग पर विचार किया।

स्पष्ट है कि तासी से लेकर बाबू जगन्मोहन वर्मा तक, हिंदी प्रेमाख्यानों के संबंध में जो भी लिखा गया, वह परिचयात्मक कोटि का है। उसे न तो अनुसंधान की संज्ञा दी जा सकती है, और न आलोचना की। हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना और अनुसंधान का सूत्रपात वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ही किया।

सन् १६२४ ई० में रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित 'जायसी ग्रंथावली' नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ की लगभग २१० पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में आचार्य शुक्ल ने 'पदमावत' के काव्यपक्ष के विभिन्न अंगों पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया। जहाँ तक अध्ययन की गहराई का प्रश्न है, यह भूमिका जायसी के अध्ययन में अभी तक अकेली है। इसके कुछ परिच्छेद, विशेषतः पदमावत की प्रेमपद्धति, वियोगपक्ष, संयोगशृंगार, प्रबंधकल्पना, संबंधनिर्वाह, कवि द्वारा वस्तुवर्णन, पात्र द्वारा भाव व्यंजना, अलंकार, स्वभाव-

३. शिवसिंह सरोज में जायसी का उपस्थितिकाल सं० १६८० वि० दिया हुआ है। पर जायसी की मृत्यु सन् १५४२-४३ ई० (सं० १५६६ वि०) में ही हो चुकी थी।

४. यह इतिहास सर्वप्रथम 'द जर्नल आव् द एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल', भाग १, १८८८ ई० के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। बाद में सोसाइटी ने इसे १८८६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

५. 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान', किशोरीलाल गुप्त द्वारा सटिप्पण अनुवाद; प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण १६५७।

६. गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र।

७. हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, खंडवा व प्रयाग।

८. नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

चित्रण, सूक्तियाँ, और जायसी की भाषा तो अतुलनीय हैं। इन प्रसंगों के संबंध में पिछले ३५ वर्षों में कदाचित् कोई नवीन बात नहीं कहीं गई है। यों हिंदी के आलोचकों ने वाक्यों का क्रम पलटकर, शब्दों के उलटफेर से अपनी उद्भावनाओं को नवीनता प्रदान करने का स्वांग अवश्य रचा है। उपर्युक्त विषयों पर जिस किसी आलोचकों ने भी लिखा है, उसने केवल पिष्टपेषण या अनावश्यक विस्तार ही किया है। मैं समझता हूँ, आचार्य शुक्ल ने इन विषयों पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह यदि अंतिम नहीं, तो आगे के आलोचकों के लिए कम से कम प्रांशुलब्ध अवश्य है।

इस भूमिका के शेष परिच्छेद, जैसे प्रेमगाथा की परंपरा, जायसी का जीवनवृत्त, ऐतिहासिक आधार, ईश्वरोन्मुख प्रेम, मत और सिद्धांत, जायसी का रहस्यवाद आदि पूर्ण नहीं कहे जा सकते और परवर्ती आलोचकों ने वस्तुतः इन्हीं क्षेत्रों में प्रवेश करने का साहस भी किया है। कारण, शुक्लजी के समय में जो सामग्री उपलब्ध थी, उसका उन्होंने सर्वोत्तम उपयोग किया। बाद में एतत् संबंधी नूतन सामग्री का पता चला है। अतः परवर्ती विद्वानों ने इन विषयों पर अधिक विस्तार से विचार किया है।

आचार्य शुक्ल ने डाक्टरेट की उपाधि के लिए यह भूमिका नहीं लिखी थी, इसे उन्होंने शोधग्रंथ भी नहीं कहा था, पर यह भूमिका निर्विवाद रूप में अद्यतन लिखित शोधग्रंथों की शिरमौर है। इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेद तो शोध के प्रतिमान माने जा सकते हैं। इतर परिच्छेदों में आलोचना का आदर्श रूप दृष्टिगोचर होता है। विषय - प्रतिपादन और शैली, दोनों दृष्टियों से यह ग्रंथ अनुसंधान तथा आलोचना साहित्य में श्रेण्य कृति के रूप में प्रतिष्ठित है।

सन् १९२५ ई० में बाबू सत्यजीवन वर्मा का लगभग ४० पृष्ठों का एक निबंध 'आख्यानक काव्य' शीर्षक से नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने उस समय के ज्ञात २० प्रेमकाव्यों और उनके रचयिताओं का उल्लेख करते हुए कुतुबन कृत मृगावती और मंझनकृत मधुमालती का परिचय प्रस्तुत किया। १९३० ई० में उन्होंने एक दूसरा निबंध 'कवि शेख निसार कृत मसनवी यूसुफ़ जुलेखा' लिखा जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ११ में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में शेख निसार और उनके काव्य 'यूसुफ जुलेखा' का बड़ा सुंदर परिचय प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों निबंधों में से किसी को भी शोध निबंध नहीं कहा जा सकता – दोनों परिचयात्मक हैं – पर पथिकृत प्रयास होने के कारण इन निबंधों का ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है।

सन् १९३० ई० में आचार्य चंद्रबली पांडेय ने सरस्वती, भाग ३१, अंक ७ में 'अखरावट का रचनाकाल' शीर्षक निबंध प्रकाशित कराया। इस निबंध में लेखक ने अंतःसाक्ष्य की सहायता से प्रबल तर्कों के आधार पर अखरावट के निर्माणकाल की खोज की है और उनका एतत्संबंधी निष्कर्ष, नवीन शोधों के प्रकाश में भी पूर्ववत् ताजा बना हुआ है। सन् १९३१ ई० में उनका एक दूसरा निबंध 'पदमावत की लिपि तथा रचनाकाल, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १२, में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में शोध की विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में दीख पड़ती हैं, क्योंकि लेखक ने इस समस्या को लेकर, उसकी गहराई में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। पदमावत की लिपि तथा रचनाकाल - संबंधी अपने निष्कर्ष को लेखक ने विविध तथ्यात्मक प्रमाणों तथा तर्कों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस निबंध में विषयांतर भी है –

जो शोध निबंध का एक अवगुण है – और लेखक के तर्कों में कहीं - कहीं औद्धत्य और आधार-हीनता भी दीख पड़ सकती है, साथ ही उसके निष्कर्ष हमें भ्रामक भी प्रतीत हो सकते हैं, पर इसमें कहीं भी गंभीरता का अभाव नहीं है।

सन् १९३३ ई० में उपर्युक्त लेखक ने 'जायसी का जीवन - वृत्त शीर्षक एक शोधनिबंध लिखा, जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ में, लगभग ३७ पृष्ठों में, प्रकाशित हुआ। इस निबंध में उन्होंने जायसी की जीवनी के विभिन्न पहलुओं पर अत्यंत पांडित्यपूर्ण ढंग से अनुसंधान किया। निष्कर्षों की प्रमाणिकता की दृष्टि से यह निबंध आज तक जायसी के जीवनवृत्त की जानकारी के लिए अद्वितीय बना हुआ है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के उपर्युक्त अंक में ही श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी का एक निबंध 'हिंदी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मुहम्मद जायसी' प्रकाशित हुआ। अनुसंधान की दृष्टि से नितांत महत्वहीन होने के कारण इस निबंध का विवेचन, प्रस्तुत प्रसंग में, अनपेक्षित है।

सन् १९३२ ई० में महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का एक निबंध 'पदमावत का सिंहल द्वीप' नागरीप्रचारिणी पत्रिका के १३ वें भाग में प्रकाशित हुआ। इस निबंध का आकार तो छोटा है, पर शोध - निबंध के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। लेखक ने, इस निबंध में, सिद्ध किया है कि 'पदमावत' का सिंहल द्वीप समुद्रस्थित लंका द्वीप न होकर चित्तौड़ से लगभग ४० मील पूर्व में स्थित सिंगोली नामक प्राचीन स्थान है।

सन् १९३८ ई० में डा० रामकुमार वर्मा ने अपना 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ में डा० वर्मा ने 'प्रेमकाव्य' शीर्षक के अंतर्गत सूफी कवियों का आलोचनात्मक परिचय, ३४ पृष्ठों में, प्रस्तुत किया। सूफी कवियों के संबंध में शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जो विवरण दिए थे, वे ही कुछ हेर - फेर के साथ प्रस्तुत ग्रंथ में भी आए हैं। इसके साथ - साथ डा० वर्मा ने २४ अन्य प्रेमकाव्यों का विवरण भी प्रस्तुत किया हैं— जिनमें सूफी और सूफीतर दोनों प्रकार के कवि हैं—जो आचार्य शुक्ल की पुस्तक में नहीं मिलता।। समासतः प्रस्तुत निबंध में उपर्युक्त ग्रंथ के उल्लेख का औचित्य अनुसंधान की नहीं, आलोचनात्मक परिचय की दृष्टि से है।

सन् १९४४ ई० में ए० जी० शिरेफ कृत पदमावत का अंग्रेजी अनुवाद रायल एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल से प्रकाशित हुआ।[१] इस ग्रंथ को हम आलोचना और अनुसंधान,

१. सन् १८९६ ई० में ग्रियर्सन ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी की सहायता से 'पदमावती,' का प्रकाशन आरंभ किया। इसकी भूमिका में डा० ग्रियर्सन ने जायसी के महत्व की तरफ पहली वार विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। १९११ ई० में 'पदमावती' के एक से लेकर पचीसवें खंड तक का पाठ, भाष्य तथा आलोचनात्मक टिप्पण प्रकाशित हुआ। किंतु इसी बीच पं० सुधाकर द्विवेदी का देहांत हो गया और 'पदमावत' के प्रकाशन का कार्य यहीं ठप हो गया।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुवाद को पूरा करने का विचार शिरेफ के मन में १९३८ में उठा और उन्होंने सर ग्रियर्सन की अनुमति लेकर १९४० ई० में इस कार्य को

दोनों में से कोई नहीं कह सकते। लेखक ने ग्रंथ की भूमिका में जायसी का संक्षिप्त परिचय दिया है, पर वह इतना सामान्य है, कि उसे हम शोध नहीं कह सकते। शिरेफ ने अपने अनुवाद में पदमावत के, ग्रियर्सन और रामचंद्र शुक्ल द्वारा स्वीकृत पाठों को अधिकतर अपना लिया है। कहीं-कहीं उन्होंने लाला भगवान 'दीन' द्वारा संपादित पदमावत पूर्वार्द्ध[१०], अठारहवीं शताब्दी में लिखित एक हस्तलिखित कैथी पोथी[११] तथा बाबू श्यामसुंदर दास और सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित संक्षिप्त पद्मावत[१२] का पाठ भी स्वीकार किया। पर संपादन शिरेफ महोदय का उद्देश्य न था, और न पाठनिर्णय की दृष्टि से हम प्रस्तुत ग्रंथ को अनुसंधान-ग्रंथ कह सकते हैं। यह केवल अनुवादग्रंथ है और शिरेफ ने बड़े परिश्रम से पदमावत का अनुवाद प्रस्तुत किया है। विशेष कर उसकी टिप्पणियाँ जायसी के अध्ययन के लिए अत्यंत ही उपयोगी हैं। कुल मिलाकर उपर्युक्त ग्रंथ जायसीसंबंधी अध्ययन तथा अनुसंधान के लिए एक उत्तम सहायक ग्रंथ है।

सन् १९४५ ई० में आचार्य चंद्रबली पांडेय का ग्रंथ 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' सरस्वती मंदिर, बनारस से प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के 'निवेदन' से पता चलता है कि इसकी रचना सन् १९३३-३४ ई० में ही लेखक के शोधप्रबंध की भूमिका के रूप में हुई थी, किंतु कुछ कारणों से यह शोधग्रंथ डाक्टरेट की डिग्री के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेद जैसे उद्भव, विकास, परिपाक, आस्था, साधन, और प्रभाव नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग १६ (१९३७ ई०), भाग १७ (१९३८ ई०) और भाग १८ (१९३९ ई०) में क्रमशः प्रकाशित हो चुके थे। इसी प्रकार इसका 'अध्ययन' शीर्षक परिच्छेद 'हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ था।

आलोच्य ग्रंथ को अनुसंधान कहने की अपेक्षा परिचयात्मक पुस्तक कहना अधिक उचित होगा, यद्यपि हिंदी में इस प्रकार की परिचयात्मक सामग्री को अनुसंधान के नाम पर खपा कर डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त कर लेना सामान्य बात हो गई है। स्वयं लेखक ने भी इसे 'अनुसंधानप्रबंध' के बदले उसकी भूमिका कह कर अपनी ईमानदारी का परिचय दिया है।[१३] लेखक ने स्वीकार किया है कि 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' की रचना 'परिशीलन' की ही दृष्टि से नहीं, 'परिचय' की दृष्टि से भी हुई है।[१४]

इसका यह अर्थ नहीं कि इस ग्रंथ में अनुसंधानात्मक तत्व नहीं हैं। परिचयात्मक ग्रंथ होते हुए भी, विद्वान् लेखक के मौलिक विचारों की झाँकी यत्र-तत्र देखने को मिलती है। उन्होंने अंग्रेजी की विभिन्न पुस्तकों के आधार पर केवल सूफी मत के इतिहास तथा विशेषताओं

पूरा कर लिया—(ये सूचनाएँ मैंने शिरेफ के 'पद्मावती' के अनुवाद की प्रस्तावना से प्राप्त की हैं।)

१०. हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, १९२५।

११. यह पोथी श्री शिरेफ को सर रिचार्ड बर्न से प्राप्त हुई थी।

१२. इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३६ ई०।

१३. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, द्वितीय संस्करण, निवेदन, पृ० २।

१४. वही, पृ० ४।

का परिचय ही नहीं दिया है, वरन् अपने स्वतंत्र मत का प्रतिपादन भी विभिन्न तथ्यों तथा प्रमाणों के आधार पर किया है।

सूफ़ीमत के उद्भव और विकास का जैसा विद्वत्तापूर्ण परिचय इस ग्रंथ में दिया गया है, वैसा परवर्ती उपाधिप्राप्त शोधग्रंथों में भी नहीं मिलता। इस ग्रंथ का महत्त्व इसलिए भी अधिक है, कि इस विषय की हिंदी में यह प्रथम पुस्तक है, और आज भी सूफ़ीमत को समझने में इस ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिलती है। इस ग्रंथ की एक त्रुटि यह मालूम पड़ती है कि इसमें सूफ़ीमत के इतिहासपक्ष का विवेचन जितने विस्तार के साथ किया गया है, उतने विस्तार के साथ उसके दार्शनिक पक्ष का नहीं। फिर भी, कुल मिलाकर, यह ग्रंथ सूफ़ी हिंदी साहित्य के अध्ययन में पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

इसी वर्ष श्री गोपालचंद्र सिंह ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक १-२ में 'मलिक मंझन और उसकी मधुमालत' शीर्षक एक निबंध प्रकाशित कराया, जिसमें उन्होंने 'मधुमालत' के रचनाकाल के संबंध में श्री जगन्मोहन वर्मा, श्री सत्यजीवन वर्मा, बाबू व्रजरत्न दास, आचार्य चंद्रबली पांडेय आदि के मतों का खंडन करते हुए 'मधुमालत' का रचनाकाल, रामपुर राज्य के राजकीय पुस्तकालय में संग्रहीत एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर, ६५२ हिजरी अथवा सन् १५४५ ई० प्रमाणित किया। इसके पूर्व मधुमालत का रचनाकाल पद्मावत के पूर्व माना जाता था। श्री सिंह ने, सबसे पहले, हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों को मधुमालत के रचनाकाल के संबंध में सही सूचना दी।

सन् १६४६ ई० में डा० लक्ष्मीधर का अनुसंधानग्रंथ 'पदुमावती, द लिंग्विस्टिक स्टडी आफ द सिक्सटींथ सेंचुरी हिंदी (अवधी)', लूजक एंड कंपनी, लंदन से प्रकाशित हुआ। लेखक ने इसी ग्रंथ पर सन् १६४० ई० में, लंदन विश्वविद्यालय से, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी।

प्रस्तुत ग्रंथ के भाग १ में लेखक ने २६ पृष्ठों में 'पदमावत' की भाषा का, व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया है। जायसी की भाषा के अन्य पक्षों तथा छंदयोजना पर लेखक ने विचार नहीं किया है, जो अपेक्षित था। प्रस्तुत प्रबंध का विषय, असंदिग्ध रूप से नितांत सीमित तो है ही, अध्ययन में भी मौलिकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। लेखक ने अंग्रेजी व्याकरण के ढाँचे को 'पदमावत' की पंक्तियों से उदाहृत भर करके संतोष कर लिया है।

दूसरे खंड में पदमावत के १०६ छंदों का पाठसंपादन किया गया है। ग्रियर्सन ने केवल आरंभ के २७४ छंदों का पाठ-संपादन किया था। प्रस्तुत ग्रंथ में ग्रियर्सन की ही दिशा में छंद संख्या २७४ के बाद के छंदों का (डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली की छंद संख्या २७५ से ३७३ तक के अंश का) पाठसंपादन किया गया है। लेखक ने इंडिया आफिस पुस्तकालय की पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह संपादनकार्य किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त का आक्षेप है कि, "इस संस्करण के संपादन के लिए संपादक ने इंडिया आफिस, लंदन के बाहर की ही नहीं, इंडिया आफिस, लंदन की भी कुल प्रतियों को देखने की आवश्यकता नहीं समझी।"[१५] जहाँ शीघ्रता से किसी प्रकार डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर

१५. डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ११८।

लेना ज्यादा महत्वपूर्ण हो, वहाँ इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी 'जायसीग्रंथावली' की भूमिका में इस संपादन की अन्य भूलें भी दिखाई है।[१६] संपादक ने संपादनविज्ञान के नियमों के अनुसार प्रतियों की प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा, और पाठांतरपरंपरा पर विचार नहीं किया है। उर्दू या हिंदी लिपियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उत्पन्न पाठविकृतियों पर की संभावनाओं पर भी लेखक ने प्रकाश नहीं डाला है। इस प्रकार पाठ-संपादन की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्व ऐतिहासिक ही है।

ग्रंथ के तृतीय खंड में लेखक द्वारा संपादित १०६ छंदों का अंग्रेजी में अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अनुवाद साधारणतः ठीक है पर श्री ए० जी० शिरेफ के अनुवाद की तुलना में इसका महत्त्व अत्यल्प है।

चौथे खंड में, १३२ पृष्ठों में, पदमावत के शब्दों की सूची लेखक ने दी है जो महत्वपूर्ण है। इस कार्य में लेखक ने पर्याप्त श्रम किया है, यह स्पष्ट है।

सन् १९५० ई० में हिंदी अनुशीलन, वर्ष ३, अंक २, में श्री ओमप्रकाश का एक निबंध 'सूफियों की अलंकारयोजना' प्रकाशित हुआ। यह निबंध छोटा होने पर भी गंभीर और अनुसंधानात्मक है।

सन् १९५१ ई० में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित सूफी काव्य संग्रह, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की चौरानवे पृष्ठों की भूमिका में चतुर्वेदी जी ने सूफीमत के स्वरूप तथा इतिहास, सूफी साहित्य, हिंदी की सूफी प्रेमगाथा, तथा हिंदी के फुटकल सूफी काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके साथ-साथ उन्होंने कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, मंझन, उसमान, जान कवि, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, शेख निसार, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, कवि नसीर आदि सूफी कवियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस संग्रह की भूमिका में बताया है कि इसकी भूमिका 'विद्यार्थियों के लाभ की दृष्टि से' दे दी गई है। एक ऐसी पुस्तक को जो 'विद्यार्थियों के लाभ' की दृष्टि से लिखी गई हो, कदाचित्, आलोचक शोध का नाम देना पसंद न करें, पर विचारपूर्वक देखा जाए तो, इस संग्रह में अनुसंधान के बहुत से गुण वर्तमान हैं। इससे पहले किसी भी हिंदी आलोचक ने समस्त सूफी काव्य पर एक साथ विचार नहीं किया था। जायसी के पूर्ववर्ती सूफी कवियों का परिचय तो इसके पूर्व के किसी ग्रंथ में मिलता ही नहीं। चतुर्वेदी जी ने पहले-पहल इस अभाव को पूरा किया।

इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व कई सूफी कवियों के संबंध में भ्रांत धारणाएँ भी फैली हुई थीं। यथा—मंझन जायसी के पूर्ववर्ती कवि माने जाते थे और चंदायन के रचनाकाल के संबंध में अधिकतर अनुमान ही लगाया जाता था, जो सत्य से बहुत दूर रहा करता था। चतुर्वेदी जी ने मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती कवि सिद्ध किया और चंदायन का रचनाकाल १३७० ई० के आस-पास बताया।[१७] समस्त सूफी कवियों की कविता का उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला यह एकमात्र संग्रहग्रंथ है।

१६. वही, पृ० ११७।

१७. चंदायन का रचनाकाल १३७९ ई० है।

इसी वर्ष डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली का प्रकाशन, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से हुआ। यद्यपि यह ग्रंथ डाक्टरेट की उपाधि के लिए, शोधग्रंथ के रूप में नहीं लिखा गया था, पर इसे अनुसंधानग्रंथ कहने में किसी प्रकार की झिचक नहीं होनी चाहिए। विदेशों में, और देश में भी इस प्रकार के कार्य पर विश्वविद्यालयों द्वारा, शोधकर्ताओं को डाक्टरेट की उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन के पूर्व डा० लक्ष्मीधर को पदमावत के संपादन पर, लंदन विश्वविद्यालय से, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी।

यह कहना विशेष आवश्यक नहीं कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली के पूर्व पदमावत के जो संस्करण उपलब्ध थे, वे नितांत असंतोषजनक तथा भ्रांतिपूर्ण पाठों से भरे हुए थे। डा० लक्ष्मीधर द्वारा संपादित 'पदुमावती' भी, जिस पर उन्हें लंदन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी, असंतोषजनक है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है, "न इसमें उन्होंने उर्दू या हिंदी लिपियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण ग्रंथ की पाठविकृति की संभावनाओं पर कोई विचार किया है, न प्रतियों की प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा और पाठांतरपरंपरा पर विचार किया है, और न जायसी की भाषा और छंदयोजना पर पाठनिर्धारण में यथेष्ट ध्यान दिया है।"[१८] जायसी ग्रंथावली के अन्य संस्करण भी, जिनकी संख्या लगभग १० है, वैज्ञानिक पाठनिर्धारण की दृष्टि से सदोष हैं। डा० गुप्त के संस्करण के पूर्व पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली ही हिंदी संसार में विशेषतः प्रचलित थी और पढ़नेपढ़ाने के काम में लाई जाती थी। पर उसका पाठ भी वैज्ञानिक ढंग से निर्णीत नहीं था। फलतः उसमें पाठसंबंधी अशुद्धियों की भरमार थी। डा० गुप्त ने अपने पाठनिर्णय में संपादनविज्ञान के नियमों का अनुसरण किया है और प्रतिलिपिपरंपरा, प्रक्षेपपरंपरा, पाठांतरपरंपरा आदि के आधार पर पदमावत का प्रामाणिक संस्करण संपादित किया है। इस ग्रंथ के द्वारा हिंदी साहित्य का एक चिंत्य अभाव दूर हो गया है, और जायसी पर अनुसंधान करनेवाले अनुसंधित्सुओं की एक बहुत बड़ी कठिनाई समाप्त हो गई है।

सन् १९५२ ई० में तीन उल्लेखनीय निबंध प्रकाशित हुए। हिंदी अनुशीलन, वर्ष १, अंक १-४ में श्री रामचंद्र तिवारी लिखित 'हिंदी प्रेमाख्यानों की परंपरा में एक नवीन प्रयोग' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इस निबंध में लेखक ने दुखहरनदास की पुहुपावती का परिचय देकर उसका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह एक उपयोगी परिचयात्मक निबंध है। इसी वर्ष 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ५७, अंक १ में श्री अख्तर हुसेन निजामी का 'प्रेमचिनगारी' शीर्षक निबंध तथा श्री चार्ल्स नेपियर का 'नई जायसी ग्रंथावली तथा पदमावत की लिपि और रचनाकाल' शीर्षक निबंध प्रकाशित हुआ। प्रथम निबंध परिचयात्मक है और दूसरे में लेखक ने प्रमाणित किया है कि पदमावत मूलतः फ़ारसी लिपि में लिखा गया था।

सन् १९५३ में डा० कमल कुलश्रेष्ठ का 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य', चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ पर लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय ने डाक्टर आफ फिलासफ़ी इन आर्ट्स की उपाधि प्रदान की। यह ग्रंथ विषयप्रवेश, सूफ़ी धर्म की

१८. डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११८।

उत्पत्ति और विकास, और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, फारसी मसनवी का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, भारतीय आख्यानकों का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव, कहानीकला, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, काव्यकला, प्रेमपंथ, अन्य उपदेश तथा उपसंहार—इन ग्यारह परिच्छेदों में विभक्त है।

डाक्टरेट की उपाधि के लिए प्रस्तुत किए गए शोधग्रंथों में, जिनकी लेखन - अवधि प्रायः दो - तीन वर्षों की होती है, आजकल जिस त्वरा से काम लिया जाता है, और इसके जो दुष्परिणाम होते हैं, यह ग्रंथ उसका सजीव उदाहरण है। इस पुस्तक में दोषों की मात्रा इतनी अधिक है कि उनको समुचित रूप में दिखाने के लिए एक स्वतंत्र निबंध की आवश्यकता होगी। समूचा ग्रंथ भ्रांत आधारों, दुर्बल तर्कों और अशुद्ध निष्कर्षों से पूर्ण है। गंभीर अध्ययन का अभाव पगपग पर दृष्टिगोचर होता है। किसी तरह पृष्ठ पूरा करने का प्रयास इतना स्पष्ट है कि लेखक पर दया आती है। विषयप्रवेश में सात पृष्ठ केवल ६३ प्रेमकाव्यों और उनके रचयिताओं के नाम लिखने में खपा डाले गए हैं। लगभग ३५ पृष्ठ सात - आठ प्रेमकाव्यों की कहानी में समाप्त हो गए हैं। काव्यकला परिच्छेद में तीन पृष्ठों में महाकाव्य के लक्षण दिये हुए हैं, जिन्हें एक पृष्ठ में समाप्त किया जा सकता था। दो पंक्तियों में समाप्त की जा सकनेवाली बात को सात पंक्तियों में लिखा गया है। और इस प्रकार के स्थलों से सारी पुस्तक भरी हुई है। लंबे - लंबे उद्धरणों से पृष्ठ पूरा करने का कौशल भी सर्वत्र वर्तमान है।

इस ग्रंथ का विषयप्रवेश ८७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, जो व्यर्थ ही इतना बढ़ा दिया गया है। इस परिच्छेद में १५०० से १७५० ई० तक के प्राप्त लगभग ६३ प्रेमाख्यानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए लेखक ने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए सूफी साहित्य के अध्ययनों का उल्लेख किया है। पर लेखक ने इस परिच्छेद में (अन्य परिच्छेद भी इसके अपवाद नहीं हैं) मात्र तथ्यसंग्रह किया है। संगृहीत तथ्यों को क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। विभिन्न खोजविवरणों तथा पुराने इतिहासग्रंथों से प्राप्त सामग्री को लेखक ने कूड़ाकरकट की भाँति जमा कर दिया है। परिणामतः पुनरुक्तिदोष का बाहुल्य है। सूफी और सूफीतर प्रेमकाव्यों का वर्गीकरण तक नहीं किया गया है। जिस कारण लेखक के कई निष्कर्ष सदोष हो गए हैं। विचित्रता यह है कि विषय प्रवेश में ६३ प्रेमाख्यानकों का परिचय देने पर भी लेखक ने केवल सात प्रेमकाव्यों के आधार पर, जिनमें दो हिंदुओं के लिखे हुए हैं और पाँच मुसलमानों के, अपना अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है। ग्रंथ ये हैं, पदमावत (जायसी), मधुमालती (मंझन), चित्रावली (उसमान), नलदमन (सूरदास लखनवी), पुहुपावती (दुखहरनदास), हंस जवाहिर (कासिमशाह दरियाबादी) और इंद्रावती (नूर मुहम्मद)। जिस महल की आधारशिला ही कमजोर हो, वह कितने दिन टिकेगा।

ग्रंथ के कुछ परिच्छेद नितांत साधारण हैं। 'सूफी धर्म की उत्पत्ति तथा विकास' में अंग्रेजी के एतत्संबंधी विभिन्न ग्रंथों से केवल सामग्री भर संकलित कर दी गई है। उसे क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल नहीं हो सका है। सूफीमत का स्वरूप इससे स्पष्ट नहीं ही होता। 'फारसी मसनवी का विकास और उसका हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव', 'कहानी कला', आदि परिच्छेद भी नितांत हल्के हैं।

इस ग्रंथ के कुछ निष्कर्षों पर भी विचार करना अपेक्षित हैं। सर्वप्रथम हम कुछ ग्रंथों के रचनाकाल को देखें। मृगावती के रचनाकाल के संबंध में डा० श्रेष्ठ लिखते हैं, "उसका रचनाकाल निश्चित रूप से ९०६ हिजरी अर्थात् १५०१ ई० था।" दूसरी जगह वह फिर लिखते हैं, "उन्होंने (कुतुबन ने) सन् ९०६ हिजरी (१५०५ ई०) में चंद्रनगर की राजकुँवर तथा कंचनपुर की राजकन्या मृगावती की प्रेम कहानी लिखी थी।" इन दोनों कथनों को पढ़कर पाठक इस भ्रम में पड़ सकता है कि ९०६ हिजरी (१५०१ ई०) में पड़ी थी अथवा १५०५ ई० में? पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों तिथियाँ अशुद्ध हैं। ९०६ हिजरी २६ जून १५०३ ई० को आरंभ होकर १४ जून १५०४ ई० को समाप्त हुई थी।[१९]

पदमावत की रचनातिथि के संबंध में लेखक का मत और भी हास्यास्पद है। वे लिखते हैं — "प्रस्तुत लेखक (पदमावत का रचनाकाल) १५२० ई० = ९२७ हि० को माननेवाले विद्वानों से मतैक्य रखते हुए एक और तर्क ९२७ हि० के पक्ष में रखता है। वह यह है कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना अंतिम ग्रंथ 'आखिरी कलाम' १५२९ ई० = ९३६ हिजरी में लिखा था, यह अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित और निर्विवाद है।...जब कि कवि का आखिरी कलाम अर्थात् कवि की अंतिम रचना ९३६ हि० की है तो पदमावती निश्चय रूप से उसके पूर्व की रचना होगी।" डा० श्रेष्ठ 'आखिरी कलाम' का अर्थ 'कवि की अंतिम रचना' करते हैं। पर यह अर्थ निराधार और भ्रमपूर्ण है। किसी भी लेखक को नामों का इतना अभाव नहीं होता कि वह अपनी किसी रचना का नाम 'अंतिम रचना' रखे, दूसरे भले ही कवि की अंतिम रचना को इसी नाम से पुकारने लगें। यदि जायसी ने ९३६ हिजरी के बाद कुछ न लिखने की कसम खा ली होती तो एक बात थी, पर जायसी के द्वारा ऐसी कसम खाने का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'आखिरी कलाम' को जायसी की अंतिम रचना मानने के पूर्व यह मान लेना होगा कि 'पदमावत' की रचना ९३६ हिजरी के पूर्व समाप्त हो गई थी, जो नितांत असंगत है।[२०] असल में डा० श्रेष्ठ को आखिरी कलाम का अर्थ करने में भ्रम हुआ है। जायसी की इस रचना में मरणोपरांत की दशा और कयामत के अंतिम न्याय आदि का वर्णन है। कयामत के अंत की बात को जायसी ने आखिरी कलाम कहा है, और यह ग्रंथ का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है। निष्कर्ष यह कि 'आखिरी कलाम' जायसी की अंतिम कृति नहीं। और जब आधार ही गलत है तो निष्कर्ष तो अशुद्ध होगा ही।

डा० श्रेष्ठ के कुछ अन्य 'मौलिक निष्कर्ष' निम्नलिखित हैं —

१ - 'इन चरित्रों में हमें किसी भी प्रतीक अथवा सांकेतिकता के दर्शन नहीं होते...दूत में कहीं पर भी वह गंभीरता नहीं मिलती जो उसे गुरु का प्रतीक बनवा दे।

२ - सामूहिक रूप से इन कहानियों में किसी सूफी प्रेम की व्यंजना नहीं है।

१९. कंपरेटिव टेबुल्स आफ मुहंमडन एंड क्रिश्चियन डेट्स (ले० सर बाल्सेले हेग)।

२०. इस संबंध में प्रस्तुत लेखक ने हिंदी अनुशीलन, वर्ष ११, अंक ३ में विस्तारपूर्वक विचार किया है।

३ - उसके (प्रेमाख्यानक काव्य के) कथानक या तो लोकप्रचलित हैं या काल्पनिक है।... फारसी से कोई कथा नहीं ली गई है।'

लेखक के उपर्युक्त सभी निष्कर्ष दोषपूर्ण हैं। सूफी प्रेमकाव्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करनेवाले हिंदी के सभी विद्वानों ने इन निष्कर्षों के विपरीत निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। डा० श्रेष्ठ के निष्कर्षों के दोषपूर्ण होने का कारण यह है कि एक तो उन्होंने केवल सात ग्रंथों के आधार पर अपना शोधग्रंथ प्रस्तुत किया है, दूसरे उन्होंने सूफी और सूफीतर प्रेमकाव्यों का वर्गीकरण करके उन पर अलग - अलग विचार नहीं किया है।

डा० श्रेष्ठ के तर्कों की दुर्बलता का एक नमूना हम पदमावत की रचना - तिथि पर विचार करते समय देख चुके हैं। एक और उदाहरण दर्शनीय है। उनका एक निष्कर्ष है कि सूफी कवि इस्लाम के प्रचारक हैं। पर इस कथन के समर्थन में उन्होंने सबल तर्क नहीं दिए हैं। अपनी इस दुर्बलता को वे स्वयं ही स्वीकार भी करते हैं – "प्रस्तुत लेखक इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करते हुए भी इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में असमर्थ है, और इस कारण इसे पूर्ण रूप से सही नहीं कह सकता।" वस्तुतः लेखक की यह स्वीकारोक्ति उसके समस्त ग्रंथ पर लागू होती है।

इस ग्रंथ का बहुत बड़ा दोष संश्लेषण का अभाव है। लेखक ने विभिन्न ग्रंथों से तथ्यों का संग्रह करके ही संतोष कर लिया है, उसे संश्लिष्ट रूप देने का प्रयास उसने नहीं किया है। उसके विचार अत्यंत अस्पष्ट और उलझे हुए हैं। किसी विषय पर वह अपना मत दृढ़तापूर्वक व्यक्त नहीं कर पाता। परिणामतः प्रेमकाव्य के किसी पक्ष का स्पष्ट विवेचन इस ग्रंथ में नहीं हो सका है।

भाषासंबंधी अशुद्धियाँ भी प्रस्तुत ग्रंथ में प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ती हैं, यों इन्हें बड़ी आसानी से प्रेस के मत्थे भी मढ़ा जा सकता है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं – पुराणों में भी कथाएँ **संग्रहीत** है।[२१] ...परंतु फारसी के कवियों ने अपनी कहानियों को **मुसलमान** नहीं बनाया हैं।[२२] ... **माँ श्राप** देती है।[२३] ... कथा के स्वाभाविकता एवं सजीवता[२४] ... **विरहनी** जहाँ तक देखती है।[२५] ... **यह अंतर्साक्ष्य से** प्रमाणित एवं निर्विवाद है।[२६] ... एक स्थान पर तो लेखक बड़ा हास्यास्पद वाक्य लिख गया है – "पुरुष (के नख - शिख) वर्णन में कुचों का वर्णन नहीं मिलता, मूछों का मिलता है।" [२७] मानो पुरुष के कुचों का वर्णन न करके लेखक ने कोई भारी चीज छोड़ दी हो।

२१. पृ० १९४।
२२. पृ० १८९।
२३. पृ० २१७।
२४. पृ० २९७।
२५. पृ० ३०४।
२६. पृ० ४२।
२७. पृ० ३४८।

सन् १६५५ ई० में प्रेमाख्यानक काव्यों के संबंध में हिंदी के तीन विद्वानों ने तीन शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किए। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित पदमावत का 'संजीवन भाष्य' साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ किसी विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रणीत नहीं हुआ था, पर हम इसे सच्चे और संपूर्ण अर्थ में अनुसंधान ग्रंथ कह सकते हैं। इस ग्रंथ में डा० अग्रवाल ने पदमावत के अर्थ का अनुसंधान किया है। इसके पूर्व पदमावत एक ऐसे गहन वन के समान था, जो अपने अगाध सौंदर्य के बावजूद इतना दुर्गम था कि उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसके सौंदर्य का अवलोकन करने का साहस कम ही लोगों को हो पाता था। डा० अग्रवाल ने प्रस्तुत भाष्य के द्वारा इस वन में प्रवेश करने के लिए मार्ग बना दिया है, और अब कोई भी व्यक्ति बड़ी आसानी से इसके सौंदर्य का रसास्वादन कर सकता है।

पदमावत हिंदी के कठिन काव्यों में से एक है, और इसी कारण इसके अर्थनिर्णय में अब तक अटकलबाजी से ही अधिक काम लिया जाता था। अर्थकर्ताओं ने, न समझने के कारण कितने ही कठिन शब्दों का रूपांतर तक कर डाला है। डा० अग्रवाल ने पदमावत में प्रयुक्त शब्दों के मूल तक पहुँचने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा फारसी साहित्य का अनुशीलन किया है, और वस्तुतः ऐसा किए बिना पदमावत का अर्थ करना संभव नहीं था। कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनका इतिहास देकर डा० अग्रवाल ने अपनी उल्लेखनीय बहुज्ञता का परिचय दिया है। अनेक अतर्कथाओं का यथा-अवसर उल्लेख करके उन्होंने पदमावत के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डा० अग्रवाल ने इस ग्रंथ में लगभग ५५ पृष्ठों की एक भूमिका भी लिखी है, जिसमें उन्होंने पदमावत के पाठ, रचनाकाल, अध्यात्मपक्ष आदि पर विचार किया है। यहाँ भी डा० अग्रवाल की मौलिकता तथा विद्वत्ता दीख पड़ती है। यद्यपि पदमावत के रचनाकाल के संबंध में डा० अग्रवाल के मत से मैं सहमत नहीं हूँ,[२८] पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विवेचन गंभीर और विद्वत्तापूर्ण है। पदमावत के अध्यात्मपक्ष का विवेचन लेखक ने स्वतंत्र निबंध के रूप में किया है, और एतत्संबंधी तथ्यों के उद्घाटन में अपनी विद्वत्ता तथा मौलिकता का परिचय दिया है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'संजीवन भाष्य' अपने ढंग का अकेला है और शोधग्रंथ के सभी गुण इसमें पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

इसी वर्ष हिंदी अनुसंधान - परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की ओर से डा० विमल कुमार जैन का शोधप्रबंध 'सूफी मत और हिंदी साहित्य' प्रकाशित हुआ। इस प्रबंध पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने लेखक को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी।

ग्रंथ की प्रस्तावना में डा० नगेंद्र ने लिखा है, "इस ग्रंथ में कदाचित् पहली बार सूफी सिद्धांतों का हिंदी माध्यम से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।" डा० नगेंद्र का यह

२८. द्रष्टव्य : प्रस्तु लेखक का निबंध 'जायसी से संबद्ध तिथियों का पुनः परीक्षण', हिंदी अनुशीलन, जुलाई – सितंबर १६५८ ई०।

कथन बहुत दूर तक ठीक है। इसके पूर्व आचार्य चंद्रबली पांडेय ने अपनी 'तसव्वुफ और सूफीमत' नामक पुस्तक में सूफीमत पर विचार किया था, किंतु उनका अध्ययन विशेषतः सूफीमत के विकास के इतिहास पर केंद्रित था। 'सूफी काव्य संग्रह' की भूमिका में परशुराम चतुर्वेदी ने सूफीमत के विभिन्न अंगों का अध्ययन प्रस्तुत किया, पर वह बहुत संक्षिप्त है। आलोच्य शोधकर्ता ने प्रथम बार सूफीमत के विकास तथा उसके सिद्धांतों का अध्ययन करने के साथ हिंदी के सूफी कवियों के दार्शनिक सिद्धांतों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया।

उक्त शोधप्रबंध में सूफीमत के आविर्भाव तथा विकास का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है, किंतु सूफी दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने में लेखक को सफलता नहीं मिली है। सूफीमत में ब्रह्म के स्वरूप तथा जीव जगत और ब्रह्म के पारस्परिक संबंध का विवेचन अस्पष्ट है। ग्रंथ के छठे अध्याय में भारतीय भक्तिमार्ग का विवेचन है। मैं समझता हूँ, इस ग्रंथ में इस अध्याय की कोई भी उपयोगिता नहीं है। अनावश्यक होने के साथ यह विवेचन नितांत हल्का तथा पिष्टपेषण मात्र है।

इस ग्रंथ का सर्वाधिक दुर्बल स्थल इसका सातवाँ परिच्छेद है, जिसमें हिंदी के सूफी कवियों तथा काव्यों का परिचय दिया गया है। शोधकार्य का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि जिस विषय पर शोधकार्य किया जा रहा है, उस विषय से संबद्ध उससे पूर्व की प्रकाशित समस्त रचनाओं का अध्ययन अनुसंधित्सु को करना चाहिए और उसके आधार पर सबल तर्कों के साथ कोई निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए। हिंदी के शोधग्रंथों में इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। किसी प्रसिद्ध आलोचक के निष्कर्षों को, चाहे दूसरों ने उसे गलत ही क्यों न सिद्ध कर दिया हो, बिना उसका नामोल्लेख किए, ज्यों का त्यों अपने शोधप्रबंध में संमिलित कर लेना हिंदी में संकोच की बात नहीं समझी जाती। उक्त शोधग्रंथ का सातवाँ अध्याय इस दोष से भरा हुआ है। इस अध्याय में 'चंदायन' का रचनाकाल १३१८ ई० दिया हुआ है; जो अशुद्ध तो है ही,[२९] आलोच्य शोधकर्त्ता ने इसके लिए कोई प्रमाण देने का भी कष्ट नहीं किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा के साक्ष्य पर लेखक मानता है कि "जायसी (१४९९ ई०) से पूर्व 'सपनावती' (स्वप्नावती) 'मुगधावति' (मुग्धावती), 'मिरगावति' (मृगावती), 'मधुमालति' (मधुमालती) और 'प्रेमावति' (प्रेमावती), प्रेमकाव्य लिखे जा चुके थे। इनमें से मृगावती और मधुमालती तो खंडित रूप में उपलब्ध हैं, परंतु शेष का पता नहीं।"[३०] अनुसंधानकर्ता को कदाचित यह मालूम नहीं कि इस विषय पर आचार्य शुक्ल और डा० वर्मा के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी विचार किया है और उन्होंने इस मान्यता के प्रति संदेह प्रकट किया है। अनुसंधानकर्त्ता को यदि इस मान्यता के संबंध में कोई संदेह नहीं, तो उसे इसके पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए था।

अनुसंधानकर्ता 'मधुमालती' को 'पदमावत' के पूर्व की रचना मानता है, पर वस्तुतः 'मधुमालती' 'पदमावत' के बाद की रचना है, और यह तथ्य बहुत पहले ही प्रकाश में आ

२९. द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेखक का निबंध 'सूफी काव्य की परंपरा और उसकी सामान्य विशेषताएँ, साहित्य, अप्रैल १९५८, पृष्ठ ५०।

३०. डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० २१३।

चुका था।[31] शेख नबी कृत 'ज्ञानदीप' और कासिमशाह कृत 'हंसजवाहर' की रचना-तिथियाँ भी अशुद्ध दी गई हैं। इन तिथियों के समर्थन में अनुसंधानकर्ता ने कोई प्रमाण भी नहीं दिया है।[32] कुतुबन के संबंध में अनुसंधानकर्त्ता ने लिखा है, "ये शेख बुरहान के शिष्य थे, अतः चिश्ती संप्रदाय से संबंध रखते थे। इनका काल सन् १४९३ ई० के लगभग माना जाता है क्योंकि ये जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह (शेरशाह के पिता) के आश्रित थे। इन्होंने 'मृगावती' नाम का एक प्रेमाख्यानक काव्य हिजरी ६०९ (सन १५०१ ई०) में अवधी में लिखा था।" पर वास्तविकता यह है कि कुतुबन न तो शेख बुरहान के शिष्य थे, न शेरशाह के पिता के आश्रित थे और न ९०९ हिजरी के समय सन् १५०१ ई० थी। शोधकर्त्ता ने शुक्ल जी के निष्कर्षों को, जो उसके शोधप्रबंध के प्रकाशित होने के पूर्व ही संशोध्य हो चुके थे, मात्र दो-एक शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रायः उन्हीं की शब्दावली में, बिना उनका उल्लेख किए, अपहृत कर लिया है। जायसी की जन्मतिथि तथा 'पदमावत' के रचनाकाल के संबंध में भी विवेकहीन नकल दीख पड़ती है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने ९०६ हिजरी को जायसी का जन्मकाल माना था, जिसे आलोच्य शोधकर्ता ने स्वीकार कर लिया है। आश्चर्य की बात यह है कि अनुसंधानकर्ता ने डा० श्रेष्ठ के तर्कों को बड़े विश्वास के साथ बिना उनका उल्लेख किए अपना बना लिया है।

आलोच्य शोधकर्ता नूर मुहम्मद के साथ ही प्रेमाख्यानक-काव्य-परंपरा की समाप्ति मानता है। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'सूफी काव्य संग्रह' में नूरमुहम्मद के बाद के कई कवियों–शेख निसार, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, और कवि नसीर का परिचय दिया है, तथा उनकी कविताओं को संग्रह में स्थान दिया है। किंतु आलोच्य शोधकर्ता ने इस सामग्री का उपयोग न करके, शुक्ल जी की १९२४ ई० की मान्यताओं को दुहरा भर दिया है।

अनुसंधानग्रंथों में येन केन प्रकारेण पृष्ठ भर डालने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है। शोधकर्ता बहुधा विभिन्न काव्यग्रंथों की कहानी गद्य में लिख डालता है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। आलोच्य शोधकर्ता ने भी इस प्रणाली का सहारा लिया है। 'हिंदी साहित्य में सूफी कवि और काव्य' परिच्छेद में मृगावती, पदमावत, चित्रावली, हंस-जवाहर, ज्ञानदीप, इंद्रावती, अनुराग बाँसुरी आदि की कथाएँ विस्तार से दी गई हैं। किंतु इससे ग्रंथ का कलेवर चाहे जितना बढ़ गया हो, हमारे ज्ञान में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती।

आलोच्य अनुसंधान ग्रंथ के दशम से लेकर सप्तदश अध्याय तक की सामग्री मौलिक तथा ज्ञानवर्धक है। इसके पूर्व हिंदी के सूफी कवियों के सृष्टि, जीव, प्रेम, विरह तथा आचार-संबंधी विचारों पर उन्हीं के ग्रंथों के आधार पर, किसी ने विचार नहीं किया था। हिंदी साहित्य पर सूफीमत के प्रभाव का विवेचन भी मौलिक ढंग से किया गया है।

३१. द्रष्टव्य : परशुराम चतुर्वेदी, सूफी काव्य संग्रह, प्रथम संस्करण, पृ० ११९ – १२०।
३२. इन ग्रंथों के प्रामाणिक रचनाकाल के लिए द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेख का निबंध 'सूफी काव्य की परंपरा और उसकी सामान्य विशेषताएँ', साहित्य, अप्रैल १९५८ ई०, पृ० ७३ तथा ७७।

इसी वर्ष के नवंबर मास में डा० हरिकांत श्रीवास्तव का शोधप्रबंध 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य', हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में लेखक ने हिंदू कवियों द्वारा लिखित प्रेमाख्यानों के विविध पक्षों पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व हिंदी साहित्य के इस अंग का, किसी विद्वान ने, गंभीर अध्ययन नहीं किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहासग्रंथों में इस धारा के कुछ कवियों का उल्लेखमात्र ही पाया जाता है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने मुसलमानों तथा हिंदुओं, दोनों के द्वारा लिखित प्रेमाख्यानों का एक साथ अध्ययन प्रस्तुत किया, पर इसी कारण उनके अधिकांश निष्कर्ष भ्रांत हो गए। वे दोनों में से किसी भी धारा का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत न कर सके। डा० हरिकांत श्रीवास्तव ने सूफ़ीतर प्रेमकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत करके हिंदी के एक उल्लेखनीय अभाव की पूर्ति की।

प्रस्तुत ग्रंथ में डा० श्रीवास्तव ने सूफीतर कवियों द्वारा लिखित प्रेमाख्यानकों का अध्ययन दो खंडों में प्रस्तुत किया है। प्रथम खंड में इस धारा की सामान्य प्रवृत्तियों का विवचन किया गया है, तथा दूसरे खंड में प्राप्य ग्रंथों का विशिष्ट अध्ययन है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ का स्तर पर्याप्त मात्रा में संतोषजनक है। विषय का विवेचन तो गंभीर है ही, लेखक ने विभिन्न स्थानों में बिखरे हुए हस्तलिखित ग्रंथों का उपयोग करके हिंदी साहित्य के अध्ययनकर्ताओं के लिए प्रचुरमात्रा में उपयोगी सामग्री उपलब्ध कर दी है। यह ग्रंथ उन दोषों से सर्वथा मुक्त है, जिन्हें हम डा० कमल कुलश्रेष्ठ के शोधग्रंथ में पाते हैं।

सन् १९५६ ई० में डा० सरला शुक्ल का शोधग्रंथ 'जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य', लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ पर लेखिका को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इस ग्रंथ में डा० शुक्ल ने जायसी के परवर्ती सूफी कवियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि इसमें लेखिका ने एक ऐसे क्षेत्र की विशेषताओं का उद्घाटन किया है, जो अपेक्षाकृत उपेक्षित था। इसके पूर्व हिंदी के विद्वान् जायसी के पदमावत पर ही अपनी लेखनी माँजकर संतोष कर लेते थे। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ 'सूफी काव्य संग्रह' में जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जायसी के परवर्ती कवियों का थोड़ा परिचय दिया है, पर वह इन कवियों के महत्व को देखते हुए अपर्याप्त है। सरला शुक्ल ने इन उपेक्षित कवियों और उनके काव्यों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत कर एक भारी अभाव की पूर्ति की है। इस अध्ययन का विशेष महत्व इसलिए भी है कि इन कवियों के अधिकांश ग्रंथ अमुद्रित रूप में ही, विभिन्न स्थानों में, प्राप्त होते हैं। इस विषय की अप्रकाशित और अमुद्रित प्रतियों को इकट्ठा कर डा० शुक्ल ने यह व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेखिका ने कुछ ऐसे सूफी कवियों द्वारा लिखित काव्यों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिनका उल्लेख परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफी काव्य संग्रह' में नहीं मिलता।

इस ग्रंथ में लेखिका ने 'सूफी मत का आविर्भाव और विकास, सूफी दर्शन, सूफी साधना, सूफी साहित्य, सूफी काव्य की पृष्ठभूमि, सूफियों की लोकदृष्टि, सूफियों की प्रबंध-कल्पना, प्रतीक योजना, रस, छंद, अलंकार, भाषा तथा शैली, सूफी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ, सूफियों की बहुज्ञता, सूफियों का स्फुट साहित्य तथा सूफी कवियों की देन, इन सामान्य विषयों पर विचार करने के साथ-साथ पदमावत के परवर्ती २९ प्रेमकाव्यों का

विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक कवि का अध्ययन—जीवन, ग्रंथरचनाकाल, कथा सारांश, कथासंगठन, प्रेमपद्धति, प्रेमतत्व, अन्य वर्णनप्रसंग, कवि की बहुज्ञता, विप्रलंभ श्रृंगार, संयोगवर्णन, भावव्यंजना, कुछ अन्य वर्णनप्रसंग आदि उपशीर्षकों में किया गया है।

इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेदों को छोड़कर शेष में इन कवियों के संबंध में पर्याप्त सामग्री का संकलन किया गया है। इसका सिद्धांतपक्ष निश्चित रूप से दुर्बल है। सूफीदर्शन के संबंध में लेखिका के विचार स्पष्ट नहीं हैं। पर हिंदी के सूफी कवियों के धार्मिक विचारों का विवेचन पर्याप्त व्यवस्थित और विशद है। सूफी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा सूफी कवियों की देन – ये दो परिच्छेद भी बहुत हल्के मालूम पड़ते हैं।

पर इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ में कुछ ऐसी अक्षम्य त्रुटियाँ हैं जो इसकी सारी सिद्धि पर पानी फेर देती हैं। प्रथमतः लेखिका ने इसमें दूसरे आलोचकों की न केवल पंक्तियों वरन् संदर्भों तक को खपा डालने का कौशल दिखाया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफी काव्य संग्रह की अनेक पंक्तियाँ और संदर्भ इस ग्रंथ में खपा डाले गए हैं। ख्वाजा अहमद के संबंध में परशुराम चतुर्वेदी ने सूफी काव्यसंग्रह के पृष्ठ १८५ के प्रथम संदर्भ में जो कुछ लिखा है, उसे लेखिका ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। केवल पंक्तियों का क्रम बदला हुआ है।

इस ग्रंथ के पृष्ठ ४, ५, ३४, ३५, ३७, तथा ५७, १३८, १३९, १४१ और सूफी काव्य संग्रह के पृष्ठ ५, २१, २३, ५७ तथा ६३१, ७२ का क्रमशः मिलान करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। इस तुलना से यह स्पष्ट हो जाएगा कि परशुराम चतुर्वेदी की कितनी पंक्तियाँ इस ग्रंथ में पचा डाली गई हैं। लेखिका ने इन प्रसंगों में चतुर्वेदी जी के नाम का उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझा। जान कवि के संबंध में लिखते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है, "स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने इसे (जान कवि को) फतहपुर (जयपुर) के नवाब अलफखाँ का उपनाम समझा था तथा उसे बादशाह शाहजहाँ का 'बहुत ही कृपापात्र संबंधी' भी बतलाया था। कुछ अन्य लोगों ने उसे उक्त बादशाह का साला होना तक मान लिया था। परंतु श्री अगरचंद नाहटा की खोजों द्वारा इधर पता चला है कि यह उपनाम उक्त बादशाह का न होकर वस्तुतः उसके पुत्र न्यामत खाँ का है।" किसी भी शोधकर्ता से हम यह आशा रखते हैं कि वह स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, 'कुछ अन्य लोगों' तथा अगरचंद नाहटा के लेखों का स्वयं अवलोकन करके अपना निर्णय प्रस्तुत करे, पर यह कष्ट उठाने के बदले लेखिका ने परशुराम चतुर्वेदी की पंक्तियों को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझा है। कहा जाता है कि ज्ञान के क्षेत्र में तिरछे मार्ग के लिए स्थान नहीं है। पर हिंदी में, शोधकार्य के क्षेत्र में तिरछे मार्ग का फायदा आजकल खूब ही उठाया जा रहा है, और डा० शुक्ल इसका अपवाद नहीं हैं।

इस विवेकहीन नकल का एक हास्यास्पद परिणाम कवि नसीर के 'प्रेमदर्पण' के रचनाकाल के प्रसंग में दिखाई पड़ता है। इस प्रसंग में डा० शुक्ल लिखती हैं, "अपनी रचना का निर्माणकाल बताते हुए वे कहते हैं कि मैंने हिजरी सन् १३०५ के जैकीद महीने की चौबीसवीं तारीख को इस प्रेमगाथा की समाप्ति की है। उस दिन संवद १९०४ के भादों महीने की कृष्ण द्वादशी थी तथा दिन शुक्रवार था जो मुसलमानों के अनुसार जुमा कहलाता है।" ये पंक्तियाँ सूफी काव्यसंग्रह के पृष्ठ १९७ पर, तनिक परिवर्तन के साथ, देखी जा सकती हैं। डा० सरला शुक्ल के ध्यान में यह बात नहीं आई कि १३०५ हिजरी १९ सितंबर १८८७ ई० को आरंभ

हुई थी, अतः उस समय किसी भी हालत में १६०४ वि० सं० नहीं पड़ सकता। वस्तुतः १३०५ के स्थान पर १३३५ होना चाहिए था। इसकी सफाई में सारा दोष प्रेस के मत्थे मढ़ दिया जा सकता है, किंतु दोनों ग्रंथों में, जो भिन्न-भिन्न मुद्रणालयों से प्रकाशित हुए हैं, एक ही भूल का होना संदेह उत्पन्न करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'सूफ़ी काव्य संग्रह' में प्रेस की भूल के कारण १३३५ हि० के स्थान पर १३०५ हिजरी छप गया, जिसे डा० सरला शुक्ल ने जिनका शोधप्रबंध सूफ़ी काव्य संग्रह के बाद प्रकाशित हुआ, बिना विचार किए ज्यों का त्यों उतार लिया। परिणामस्वरूप तिथिसंबंधी यह अक्षम्य दोष इस ग्रंथ में आ गया।

डा० सरला शुक्ल ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कुछ पंक्तियों को भी अपने ग्रंथ में खपा डालने में संकोच नहीं किया है। शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत के संबंध में शुक्ल जी का जो विचार है[33] उसे अत्यंत अल्प परिवर्तन के साथ बिना शुक्ल जी का उल्लेख किए ही, लेखिका ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है,[34] मानो वह अपनी मौलिक उद्भावना हो। पृ० २४० में भी सूफ़ी के विरहवर्णन के प्रसंग में शुक्ल जी की जायसी ग्रंथावली की भूमिका के पृ० ३८ की कुछ पंक्तियाँ ले ली गई हैं।

शोधग्रंथ में यदि कोई सामग्री कहीं से ली गई है, तो उसका निर्देश करना अनिवार्य होता है। डा० सरला शुक्ल ने इसमें भी मितव्ययिता से काम लिया है। उदाहरणार्थ पृ० ३७५ में, लेखिका ने जान कवि के ग्रंथों के संबंध में श्री अगरचंद नाहटा के लेखों से सामग्री ली है, पर उनका निर्देश नहीं किया। शोधकर्ता को अपने अनुसंधान के प्रकाशित या अप्रकाशित आधारग्रंथों का सविवरण उल्लेख अवश्य करना चाहिए। डा० शुक्ल ने दो-एक ग्रंथों को छोड़कर अन्य ग्रंथों के संबंध में ऐसी सूचना के प्रसंग में मौन धारण कर लिया।

इस शोधप्रबंध में तिथिसंबंधी अराजकता का तो इतना विकृत रूप प्रदर्शित किया गया है कि इसमें दी हुई अन्य सभी तिथियों पर से सामान्य रूप से हमारा विश्वास उठ जाता है। इस ग्रंथ में तीन प्रकार की तिथियाँ दी हुई हैं; १ – हिजरी, २ – विक्रम संवत और ३ – ईसवी सन्। पर अनेक स्थानों पर कहीं तो संख्या के पहले केवल सन् दिया हुआ मिलता है और कहीं केवल संख्या ही वर्तमान रहती है। पाठक उसे क्या समझे हिजरी, विक्रम संवत या ईसवी सन्? इस अराजकता के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं — "निसाती की मसनवी फूलबन (१६५५) फारसी किस्सा बिसातीन का अनुवाद है।"[35] "चंदायन के रचनाकाल का उल्लेख हि० सं० ७७२ फीरोज शाह तुगलक के शासनकाल सं० १४०८ – १४४५ ई० में श्री ब्रजरत्न दास ने माना है।"[36]

"फीरोजशाह तुगलक का शासनकाल ई० सन् १३५१-१३८८ अर्थात् वि० सं० १४०८-१४४५ था।"

३३. द्रष्टव्य : जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १४२।
३४. जायसी के परवर्ती सूफ़ी कवि और काव्य पृ० ७५।
३५. पृ० १३५।
३६. पृ० १३८, इस वाक्य की बनावट द्रष्टव्य है।

डा० शुक्ल की उपर्युक्त पंक्ति में संवत् के साथ ईसवी भी लिखी हुई है। इसका अर्थ पाठक क्या लगाएँ ?

डा० सरला शुक्ल एक स्थान पर लिखती हैं —

"डा० रामकुमार वर्मा ने दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी का राज्यकाल सं० १३५६-१३७३ ई० का समकालीन माना है।" यहाँ फिर संवत् के साथ ईसवी भी दी हुई है। उल्लेखनीय यह है कि डा० शुक्ल ने रामकुमार वर्मा के ग्रंथ को देखकर लिखने तथा पृष्ठ संख्या देने का कष्ट नहीं उठाया है। उन्होंने यह पंक्ति सीधे 'सूफी काव्य-संग्रह' से ले ली है और एतत्सबंधी पादटिप्पणी भी वहीं से उठाकर अपने ग्रंथ में रख ली है। अलाउद्दीन का शासनकाल भी उन्होंने गलत लिख दिया है। परशुराम चतुर्वेदी ने अलाउद्दीन का शासनकाल सं १३५३-१३७३ लिखा है, जिसे सरला शुक्ल ने सं० १३५६ – १३७३ ई० बना दिया है। वस्तुतः अलाउद्दीन का शासनकाल वि० सं० १३५३ – १३७३ (ई० सन् १२९६ – १३१६) है।

इस प्रकार की तिथिसंबंधी भ्रांतियों के सैकड़ों उदाहरण इस ग्रंथ से दिए जा सकते हैं। निबंध के अधिक विस्तृत होने का भय होते हुए भी मैं एक उदाहरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। पृष्ठ ४३१ पर लेखिका लिखती है, "मुहमदशाह का शासनकाल सन् १७७६ – १८०५ है।" फिर पृ० ४५३ पर वे पुनः कहती हैं,"मुहम्मदशाह का शासनकाल सं० १७७६ – १८०५ है।" सामान्य पाठक इनमें से किसे सत्य माने ? पृ० ४३१ पर डा० शुक्ल लिखती हैं; "कवि ग्रंथ (हंस जवाहिर) का रचनाकाल हि० सं० ११४९ या सन् १७९३ बताया गया है।" सन् १७९३ विक्रमी है या ईसवी, यह लेखिका ने नहीं बताया। जहाँ तक पाठकों की बात है, वे इसे ईसवी ही समझेंगे, क्योंकि सन् के साथ ईसवी का ही प्रयोग सामान्यतः देखा जाता है। पर ११४९ हिजरी १२ मई १७३६ ई० को आरंभ होकर १ मई १७३७ ई० को समाप्त हुई थी, जिस समय वि० सं० १७९३ ही पड़ सकता है, ईसवी सन् १७९३ नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ये दोनों भूलें प्रेस के कारण हैं। पर यह उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ लखनऊ विश्वविद्यालय का प्रकाशन है, और सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रंथमाला में प्रकाशित है। लखनऊ विश्वविद्यालय जैसी संस्था को, इस ग्रंथ को इन भूलों के साथ, कदापि प्रकाशित नहीं करना चाहिए था।

अब तिथिसंबंधी कुछ ऐसी भ्रांतियों का उल्लेख किया जाए जो प्रकृतितः गंभीर हैं। शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' नामक अपने ग्रंथ का रचनाकाल बताते हुए लिखा है —

एक हजार सन् रहे छबीसा। राज सुलही गनहु बरीसा॥
संवत् सोलह सै छिहरा[३७]। उक्ति करत कीन्ह अनुसरा॥

कवि ने ग्रंथ का रचनाकाल १०२६ हिजरी के साथ-साथ १६७६ वि० सं० भी बताया है। १०२६ हि० ९ जनवरी १६१७ ई० को आरंभ हुई थी, जिस समय १६७३ या १६७४ वि० सं०

३७. श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा संपादित 'ज्ञानदीप' में जो काशी नागरीप्रचारिणी सभा से छपकर प्रकाशित होनेवाला है, 'छिहंतरा' पाठ है।

(१६७४ वि० सं० की हो अधिक संभावना है) पड़ सकता है। पर डा० सरला शुक्ल लिखती हैं – "ग्रंथ का रचनाकाल हि० सन् १०२६ दिया हुआ है। अतः सन् १६१६ ग्रंथ का रचनाकाल निश्चित होता है।" पर यह तिथि नितांत अशुद्ध है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह भ्रांति भी नकलबाजी का ही दुष्परिणाम है। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में शेख नबी के संबंध में लिखा हैं, "ये जौनपुर जिले में... मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और सं० १६७६ में... वर्तमान थे।" डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने थोड़ी मौलिकता दिखाई और लिख डाला, "शेख नबी ने ज्ञानदीप और देवजानी की प्रेमकहानी लेकर यह काव्य सन् १६१९ ई० में लिखा।" डा० सरला शुक्ल ने भी इस परंपरा की रक्षा की। इन्होंने हिजरी सन् को ईसवी सन् से मिलाकर देख लेने का कष्ट नहीं उठाया। शेख नबी ने अपने ग्रंथ का जो रचनाकाल दिया है, उसमें या तो 'छबीसा' पाठ अशुद्ध है, अथवा 'छिहरा' या 'छिहंतरा', इसका संकेत डा० सरला शुक्ल को अवश्य करना चाहिए था।

नूर मुहम्मद के प्रेमकाव्य 'अनुराग बाँसुरी' के रचनाकाल के संबंध में तो लेखिका ने एक ऐसी बात कह डाली है, जो नितांत अविवेकपूर्ण है। वे पृष्ठ ४५३ पर लिखती हैं, 'इंद्रावती' में कवि ने शाहे वक्त की प्रशंसा करते समय "मुहम्मद शाह" (यहाँ उलटे अर्द्ध विरामों की क्या आवश्यकता है ?) की प्रशंसा की है। अनुराग बाँसुरी में शाहे वक्त की प्रशंसा नहीं है। बहुत संभव है कि दोनों ग्रंथों की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल में ही हुई हो, और कवि ने अनावश्यक समझ कर मुहम्मद शाह की प्रशंसा न की हो। मुहम्मद शाह का शासनकाल सं० १७७६ – १८०५ हैं। यह कथन नितांत दोषपूर्ण है। कवि ने अनुराग बाँसुरी का रचनाकाल ११७८ हिजरी स्वयं लिखा है, जिस समय १७६४ ई० सन् पड़ता है। (लेखिका ने पृ० ४५२ पर लिखा है, 'अनुराग बाँसुरी' का रचनाकाल कवि ने सन् ११७८ ई० संवत् १८२१ दिया है। इसे लेखिका की असावधानी मानी जाए अथवा प्रकाशक की, यह समझ में नहीं आता)। मुहम्मद शाह का शासनकाल १७४८ ई० में ही समाप्त हो गया था। अर्थात् 'अनुराग बाँसुरी' की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल की समाप्ति के सोलह वर्ष बाद हुई थी। फिर भी लेखिका कहती है, "बहुत संभव है कि दोनो ग्रंथों की रचना मुहम्मद शाह के शासनकाल में ही हुई हो।" किसी शोधप्रबंध में ऐसा आधारहीन भ्रांत निष्कर्ष ही चिंता का विषय है।

तथ्यसंबंधी भ्रांतियों का भी इस ग्रंथ में अभाव नहीं है। पृ० ३ पर डा० शुक्ल ने लिखा है, "अब्दुल फिदा के अनुसार सूफीमत की उत्पत्ति 'सूफ' शब्द से हुई है जिससे तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि कयामत के दिन से सूफी लोग सर्वप्रथम पंक्ति में होंगे।" इस वाक्य की बनावट तो अशुद्ध है ही, इसमें तथ्यसंबंधी चिंत्य भ्रांति भी है। 'सूफ' का अर्थ 'ऊन' होता है, 'पंक्ति' नहीं। वस्तुतः डा० शुक्ल को 'सूफ' के स्थान पर 'सफ' लिखना चाहिए था। यह दोष भी प्रेस के मत्थे मढ़ दिया जा सकता है, पर लेखिका किसी तरह इस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती।

जान कवि के ग्रंथों के संबंध में भी एक अक्षम्य भ्रांति इस ग्रंथ में दीख पड़ती है। पृ० ३७५ में डा० शुक्ल का कहना है, "जान कवि के लगभग ६० ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं जो इस समय हिंदुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) संग्रहालय में सुरक्षित है, जिनमें से २६ की गणना प्रेमाख्यानों के अंतर्गत हो सकती है।" पर श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं," "इनकी (जान कवि की) इधर ७० ऐसी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से २१ की गणना प्रेमाख्यानों के अंतर्गत की

जा सकती है। ये रचनाएँ इस समय उत्तर प्रदेश की 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के प्रयागवाले संग्रहालय में सुरक्षित हैं।"[३८] द्रष्टव्य यह है कि स्रोत के एक होते हुए भी दोनों विद्वानों के दिए हुए तथ्य भिन्न हैं। कौनसी बात ठीक मानें। विचार करने पर डा० सरला शुक्ल की बात ही गलत मालूम पड़ती हैं। क्योंकि इस मत का खंडन स्वयं उनकी यह पुस्तक ही, अन्यत्र कर देती है। पृ० १३६ पर वे लिखती हैं, "इसके बाद जान कवि ने अपनी सिद्ध लेखनी से २१ सूफी प्रेमाख्यानों की रचना की।" इस वाक्य से २६ प्रेमाख्यानों की बात गलत सिद्ध हो जाती है। पृ० ३७६ पर डा० सरला शुक्ल ने जान कवि रचित ग्रंथों की सूची दी है, जिनकी संख्या ६५ है। इससे जान कवि द्वारा ६० ग्रंथों के लिखे जाने की बात भी खंडित हो जाती है। इस प्रकार की भ्रांतियों के रहते हुए भी, लोगों को डाक्टरेट का प्रमाण पत्र क्यों दे दिया जाता है, यह तो भगवान जानें। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस स्वतोव्याघातयुक्त ग्रंथ से विद्यार्थियों के भी बहुत उपकार होने की आशा नहीं की जा सकती। पृ० ३३३ पर इस प्रकार की एक और भ्रांति के दर्शन होते हैं। डा० शुक्ल लिखती हैं, "जायसी ने 'पदमावत' के आरंभ में जिन प्रेमाख्यानों की सूची दी है उसमें 'मधुमालत' का उल्लेख मिलता है।" पर जायसी ने प्रेमकहानियों का उल्लेख 'राजा गढ़ छेका खंड' में किया है, जो पदमावत के आरंभ में न होकर ठीक बीचोबीच में है।

अंत में इस ग्रंथ की भाषा पर भी विहंगम दृष्टि डाल लेना कम अपेक्षित नहीं है। वाक्य की अशुद्ध बनावट के उदाहरण हमने पहले ही, अनायास देख लिए हैं। इस शोधप्रबंध में भाषासंबंधी अशुद्धियों का इतना प्राचुर्य है कि परीक्षार्थों के लिये प्रश्न चुनने वालों को अशुद्ध वाक्यों की खोज में कहीं अन्यत्र नहीं भटकना पड़ेगा। यदि इस ग्रंथ की भाषासंबंधी अशुद्धियों की सूची बनाई जाय, तो इसमें कई पृष्ठ लग जाएँगे।

वर्तनीसंबंधी असंख्य अशुद्धियाँ इस ग्रंथ में हैं। चंद्रबिंदु का प्रयोग लेखिका ने बहुत कम किया है। चंदबिंदु के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं — भांति (पृ० १५), हुमायूं (पृ० २५), पांति (पृ० ४५), भांति (पृ० ७२), फंसाने (२०३) मुंह (पृ० ३०३) जहां (३२६), नूरजहां (पृ० ५३६) आदि।

संस्कृत में यह नियम है कि कवर्ग के साथ 'ङ्', चवर्ग के साथ 'ञ्', टवर्ग के साथ 'ण्', तवर्ग के साथ 'न्', पवर्ग के साथ 'म्' और अंतस्थ के साथ 'अनुस्वार का संयोग होता है। हिंदी में अब केवल अनुस्वार से सभी काम चलाया जाने लगा है। पर डा० शुक्ल ने एक नई ही पद्धति का प्रयोग (शायद यह भी उनका अनुसंधान ही हो) कर डाला है। नमूने द्रष्टव्य हैं — दन्ड (पृ० २७), सामन्जस्य, अखन्ड (पृ० ३२); अवगुन्ठन (पृ० २४), कुन्डलिनी (पृ० १०४), कर्मकान्ड (पृ० ११७), घन्टे (पृ० ३५१), संम्वत (पृ० १३८) आदि। वर्त्तनीसंबंधी कुछ अन्य दोषों के उदाहरण निम्नांकित हैं:- दुरूहता (पृ० ११५), जाग्रति (पृ० १८), सृष्टा (पृ० ५६, ६३), संग्रहीत (पृ० ३०२), तैत्रीयोपनिषद, घरेंड संहिता (पृ० १०२), वैभिन्य, संपति (पृ० ३३३), ग्राहस्थ्य (पृ० १८१ पर दो जगह), लेखिनी (पृ० ३७२), छूरी (पृ० ४३४), प्रतिष्ठा (पृ० ४६४) इत्यादि।

३८. सूफी काव्य संग्रह, पृ० १३६।

लिंग - दोष से युक्त वाक्यों के उदाहरण निम्नलिखित हैं —

"जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाती है।" (पृ० १४), "इस संसार में बिना दान दिये किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं होती।" (पृ० ८८), "वह अंधे के भाँति चारों ओर भटकता फिरता है।" (पृ० ९१), "उसने रूपनगर की चित्रावली के वर्षगाँठ के उत्सव···में उससे भी चलने को कहा।" (पृ० ३५३)।

वाक्य - रचना - दोष के कारण अस्पष्ट वाक्यों की भरमार - सी इस ग्रंथ में दिखाई पड़ती है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं — "डा० मेकालिफ ने खुलासातुत्तवारीख के आधार पर इनकी मृत्यु ३१वीं रज्जब हिजरी १५६० ··· की हैं।" (पृ० ३०२) [मेकालिफ ने इनका मृत्युकाल निश्चित किया अथवा इनकी मृत्यु ही]।

"इसके अतिरिक्त 'अल्लानामा' नाम की एक अज्ञात कवि की रचना प्राप्त होती है।" (पृ० २१४), ['अल्लानामा नाम की' शब्दसमूह 'कवि की' के बाद होना चाहिए था, तब अर्थ स्पष्ट होता।]

ऊपर जो भाषा संबंधी अशुद्धियाँ दिखाई गई हैं, वे तथ्यतः नमूना ही हैं। इस प्रकार की अनेक अशुद्धियाँ इस ग्रंथ में यत्र - तत्र - अनेकत्र बिखरी हुई हैं। किसी शोधप्रबंध में इस प्रकार की भूलों का प्राप्त होना निश्चय ही दुःख का विषय है। केवल एक ही बात, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिंदी के शोधग्रंथों का स्तर कितना निम्न हो गया है।

इसी वर्ष श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा' नामक ग्रंथ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। स्वयं लेखक के विचार से 'प्रस्तुत निबंध भारतीय प्रेमाख्यानों के वैविध्य एवं विकास के विषय में सरसरी ढंग से किया गया अध्ययन' के बावजूद इसमें अनुसंधान के तत्व पुष्कल मात्रा में विद्यमान हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में विद्वान लेखक ने ,वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक, लौकिक, संस्कृत, बौद्ध, जैन तथा अपभ्रंश साहित्यों में प्राप्त होनेवाले प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त, भारत के विभिन्न प्रांतों में पाई जानेवाली प्रेमकथाओं के लिखित - अलिखित रूप का विवरण देते हुए हिंदी प्रेमगाथाओं से उनका संबंध दिखाया है। इस प्रकार हिंदी प्रेमाख्यानों के मूल स्रोत का अनुसंधान करने के प्रयास में लेखक ने समस्त संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्राचीन साहित्य को छान डाला है। विभिन्न भाषाओं तथा प्रांतों में लिखित - अलिखित रूप में प्राप्त होनेवाली प्रेम कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन करके लेखक ने उनका वर्गीकरण भी बड़े सुंदर ढंग से किया है इससे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है। हिंदी प्रेमाख्यानक साहित्य के अध्ययन में इस शोधपूर्ण ग्रंथ का महत्व अक्षुण्ण रहेगा।

सन् १९५६ ई० में ही विश्वभारती के विद्वान् प्राध्यापक श्री रामपूजन तिवारी ने सूफीमत और सिद्धांत के संबंध में 'सूफीमत – साधना और साहित्य' नामक पुस्तक लिखी, जो ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस में प्रकाशित हुई। यह ग्रंथ किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिए शोधप्रबंध के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया था, पर इससे- इसके महत्व में कोई कमी नहीं आती। यह सही अर्थ में उच्चकोटि का अनुसंधानग्रंथ है।

इस ग्रंथ का विषय नया नहीं है। इसके पूर्व एकाधिक पूर्वउल्लिखित अनुसंधानकर्ताओं ने इस विषय का विवेचन किया है। वस्तुतः सूफ़ी साहित्य पर अनुसंधान करनेवाले प्रत्येक शोधग्रंथ ने इस विषय को, किसी न किसी रूप में छुआ अवश्य है। पर तथ्य यह है कि यह सारा विवेचन अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा उलझा हुआ है। डा० विमलकुमार जैन ने अपने शोधग्रंथ 'सूफीमत और हिंदी साहित्य' में इस विषय पर थोड़े विस्तार के साथ विचार करने का प्रयास किया है, किंतु अंततः वह भी अपर्याप्त और अस्पष्ट रह गया है। निस्संदिग्ध रूप से हिंदी में पहली बार इस विषय का इतना सांगोपांग और गंभीर अध्ययन इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

प्रो० तिवारी ने १७ अध्यायों में सूफीमत के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया है। प्रथम आठ अध्यायों में सूफीमत का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, जिसमें इसकी पृष्ठभूमि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों, इस्लाम के विभिन्न संप्रदायों तथा प्रारंभिक काल के कुछ सूफी साधकों का परिचय दिया गया है। नवें से बारहवें अध्याय तक में सूफी सिद्धांतों का विवेचन तथा अन्य धर्मों और मतों से इसकी तुलना की गई है। शेष चार अध्यायों में भारतवर्ष में सूफी मत के प्रचार तथा सूफी साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रकार लगभग साढ़े पाँच सौ पृष्ठों में आलोच्य लेखक ने सूफीमत का गंभीर, स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ से हिंदी के एक जबरदस्त अभाव की पूर्ति हो गई है। इसके पूर्व सूफीमत को समझने के लिए, हिंदी के अनेक ग्रंथों के बावजूद, हमें अंग्रेजी ग्रंथों की सहायता लेनी पड़ती थी, पर इस ग्रंथ से अब यह कठिनाई दूर हो गई है। तिवारी जी ने अनेक प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर सूफीमत के उद्भव, विकास और स्वरूप का जो यह विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत उपयोगी तथा वैशिष्ट्यपूर्ण है।

इसी वर्ष इंद्रचंद नारंग लिखित 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' नामक पुस्तक हिंदी-भवन, जालंधर और इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। यह मात्र ५६ पृष्ठों की एक छोटी सी पुस्तक है, इसलिये हम इसे शोधग्रंथ तो नहीं कह सकते, पर विवेचन को गंभीरता और मौलिकता को ध्यान में रखते हुए, इसे शोधप्रबंध की संज्ञा बिना किसी हिचक के दी जा सकती है। शुक्ल जी ने अपनी 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में पदमावत के ऐतिहासिक आधार पर विचार किया था। नारंग जी ने, प्रस्तुत निबंध में शुक्लजी के मत से योग्यता पूर्वक पार्थक्य रखते हुए अपने मौलिक विचारों की गंभीरतापूर्वक पुष्टि की है। मैं समझता हूँ इस पक्ष पर इतनी गंभीरता और विशदता के साथ किसी अन्य लेखक ने अब तक विचार नहीं किया है।

सन् १९५७ ई० में भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ से डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ का शोध प्रबंध 'सूफी महाकवि जायसी' प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के 'परिचय' से ज्ञात होता है कि श्री जयदेव जी के प्रबंध 'जायसी, उसका काव्य और दर्शन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने १९४९ में उनको पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया। प्रस्तुत ग्रंथ थोड़े से परिवर्तन के साथ डाक्टरेट के लिए स्वीकृत प्रबंध ही है।[३९] प्रश्न यह है कि इस ग्रंथ की परीक्षा इसका रचनाकाल १९४९ ई० मानकर की जाए, अथवा १९५७ ई० मानकर। ई० सन् १९४९ और १९५७ के बीच सूफी साहित्य पर प्रचुर मात्रा में अनुसंधानकार्य हुआ है, अतः १९५७

३९. डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, सूफी महाकवि जायसी, परिचय।

के बाद किसी पुस्तक पर इन अनुसंधानों के प्रकाश में ही विचार किया जा सकता है, जब कि १९४१ ई० में लिखित पुस्तक के लिए यह आवश्यक नहीं। मैं समझता हूँ कि इस ग्रंथ की परीक्षा इसकी प्रकाशनतिथि को ही ध्यान में रखकर होनी चाहिए, क्योंकि, लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि, "व्यस्त और अव्यवस्थित जीवन, अन्य विषयों पर अनुशीलन की धुन, आदि अनेक कारणों से यह प्रबंध जैसा का तैसा पड़ा रहा और प्रकाश में न आ सका, यद्यपि जायसीविषयक नवीनतम विवेचनों के प्रकाश में इसमें आवश्यक परिमार्जन होता रहा।" अतः सन् १९४९ ई० को इस ग्रंथ का रचनाकाल मानकर इस पर विचार करने में कोई तुक नहीं।

आलोच्य ग्रंथ के ग्यारह अध्यायों में डा० जयदेव ने जायसी के काव्य की विभिन्न परिस्थितियों ,कवि के जीवनवृत्त, उसकी कृतियों, काव्यकला, साहित्यिक विधान, अनुभूतिपक्ष, और सूफीमत तथा जायसी के दर्शन पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। पर इस अध्ययन में ऐसी कोई भी बात नहीं दीख पड़ती, जिसके बल पर इस ग्रंथ को अनुसंधानग्रंथ कहा जाए। आलोच्य ग्रंथ में लेखक ने न तो किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है, और न उसे ज्ञात तथ्यों की मौलिक व्याख्या और उनके बीच नवीन संबंधस्थापन में ही सफलता मिल सकी है। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि प्रस्तुत ग्रंथ से जायसीविषयक हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं हुई। सारा ग्रंथ अनावश्यक विस्तार, उथले विचारों और दुर्बल तर्कों से भरा हुआ है। प्रथम अध्याय में लेखक ने, २९ पृष्ठों में जायसी की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। लेखक का यह विवेचन नितांत छिछला तथा पिष्टपेषण मात्र है। जायसी के साहित्य से इन परिस्थितियों का कोई संबंध नहीं दिखाया गया है।

मौलिकता का, जो शोधग्रंथ की अनिवार्य विशेषता है, इस ग्रंथ में सर्वथा अभाव है। पदमावत के काव्यपक्ष के विवेचन में प्रस्तुत लेखक ने शुक्लजी के कुछ निष्कर्षों को, कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ, दुहरा भर दिया है। कहीं-कहीं अपनी मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए शुक्लजी की मान्यताओं के विरोध में ऐसे तर्क प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें 'कठदलील' मात्र कहा जा सकता है। एक उदाहरण दर्शनीय है। शुक्लजी के मतानुसार "तोते के मुख से पहले ही पहल पदमावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्च्छित हो जाना और पूर्ण वियोगी बन जाना अस्वाभाविक सा लगता है।" डा० जयदेव इसका खंडन करते हुए कहते हैं, "हम इससे ज्यों के त्यों सहमत नहीं। रत्नसेन का यह प्रेम एक विशेष व्यक्ति की ओर है। जिस पदमावती के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर नागमती उस तोते को मरवा डालना चाहती है, सारे चित्तौड़ में जिसकी बात फैल जाती है, जिसके कुटुंब आदि के विषय में राजा शुक से सब कुछ पूछ चुका है, जिसके विषय में वह यह भी जानता है कि वह अविवाहिता है, 'जेहि सुनत' राजा का मन 'पतंगू' हो जाता है, उससे यदि राजा प्रेम करने लगा तो उसमें लोभ की क्या बात है। यह तो नितांत स्वाभाविक ही है। तुलसीदास जी ने जनकपुर की वाटिका में मर्यादापुरुषोत्तम राम को सीता के विषय में इस प्रकार की बातें करते हुए दिखलाया है – फिर कहाँ साधारण पुरुष और कहाँ मर्यादापुरुषोत्तम।"[४०]

४०. सूफी महाकवि जायसी, पृ० २४९–५०।

लेखक का यह वक्तव्य अनर्गल मालूम पड़ता है। इसमें कहीं भी तुक नहीं। प्रेम और पूर्वराग का अंतर शुक्लजी ने जायसी - ग्रंथावली की भूमिका में अच्छी तरह से समझा दिया है। मैं इस संबंध में अपनी तरफ़ से कुछ न कहकर उन्हीं के शब्दों को उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ। उन्होंने लिखा है, "पूर्वराग पूर्ण रति नहीं है, अतः उसमें केवल 'अभिलाष' स्वाभाविक जान पड़ता है, शरीर का सूखकर काँटा होना, मूर्च्छा, उन्माद आदि नहीं·····हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा – चाहे वह चिड़िया हो या आदमी – किसी पुरुष या स्त्री के रूप गुण, आदि को सुनकर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करने वाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं।······सुंदरी स्त्री कोई बहुमूल्य पत्थर नहीं कि अच्छा सुना और लेने के लिए दौड़ पड़े। इस प्रकार का दौड़ना रूपलोभ ही कहा जाएगा प्रेम नहीं।···बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता···आदि।"[४१] इस पर भी यदि कोई रत्नसेन के आरंभिक प्रेम को लौकिक दृष्टि से स्वाभाविक कहे तो यह उसका दुराग्रहमात्र है। डा० जयदेव ने गुणश्रवण से उद्भूत प्रेम की तुलना पुष्पवाटिका में सीता के प्रति राम के प्रेम से कर दी है, यह समझ में नहीं आता, इस तुलना की असंगति इतनी स्पष्ट है कि इसके संबंध में कुछ लिखना अनावश्यक होगा।

इस ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में जायसी का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है, किंतु लेखक न तो जायसी के जीवनवृत्त से संबद्ध किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन कर सका है, न उसके तर्क ही सुचिंतित हैं। जायसी की जन्म तथा मृत्युसंबंधी तिथियों के संबंध में आलोच्य शोधकर्ता ने शुक्लजी का अनुसरण किया है, पर इसकी पुष्टि में उसने कोई नवीन प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। कहीं कहीं अपने अनुमान को ही लेखक ने प्रमाण मान लिया है। इस अध्याय से जायसी के जीवनवृत्त से संबद्ध हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। यहाँ भी अनावश्यक विस्तार करके पुस्तक का कलेवर बढ़ाया गया है। 'आखिरी कलाम' का रचनाकाल ९३६ हिजरी पूर्वसिद्ध है। स्वयं लेखक ने ही उसका रचनाकाल लिख दिया है और किसी ने कभी इसमें संदेह नहीं किया। लेखक ने इस तिथि की प्रामाणिकता सिद्ध करने में व्यर्थ ही श्रम किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ का छठा अध्याय, जिसमें पदमावत की काव्यकला, अभिव्यक्ति, अलंकार, वर्णन, सूक्तियों तथा चरित्रचित्रण आदि का विवेचन है, शुक्लजी की जायसी ग्रंथावली का अनुकरण मात्र है। अनावश्यक विस्तार, पिष्टपेषण तथा छिछलेपन का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। 'चरित्र - चित्रण' शीर्षक उपशीर्षक में लेखक ने अपनी दयनीय विवेकशून्यता का परिचय इस प्रकार दिया है कि उसने रत्नसेन पदमावती आदि के साथ रसूल और खुदा को भी 'पदमावत' का पात्र मान लिया है। पात्र किसे कहते हैं, कम से कम इसका ज्ञान तो अनुसंधानकर्ता को होना ही चाहिए। इसी प्रकार चतुर्थ अध्याय में लेखक ने 'पदमावत' के उत्तरार्द्ध की कथा को 'एक सबल ऐतिहासिक घटना' माना है, पर इसके समर्थन में वह अपने कथन को ही प्रमाण मानता हुआ प्रतीत होता है। दूसरी तरफ़ श्री इंद्रचंद नारंग ने अपनी पुस्तक 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' में इस मत का सप्रमाण खंडन

४१. रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, पृ० ३० – ३२।

किया है। यहाँ भी लेखक ने 'पदमावत' की ऐतिहासिकता पर स्वतंत्र रूप से विचार करने का कष्ट न उठाकर, शुक्लजी के एतत्संबंधी मत को पुनरावृत्ति करके ही संतोष कर लिया है।

इस ग्रंथ के सभी निष्कर्ष, जिनके संबंध में मौलिकता का दावा किया गया है, भ्रामक और आधारहीन हैं। प्रेमकाव्य का अध्ययन करनेवाले प्रत्येक विद्यार्थी को यह भलीभाँति ज्ञात है कि मंझन जायसी के परवर्ती कवि हैं। पर १९५७ ई० में प्रकाशित इस शोधग्रंथ में लेखक मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती मानता है। इसी प्रकार यह एक सुज्ञात तथ्य है कि सूफी काव्यपरंपरा नूरमुहम्मद के बाद भी चलती रही, जिसके मुख्य कवि ख्वाजा अहमद, कवि नसीर आदि हैं। पर आलोच्य अनुसंधानकर्ता की धारणा है कि नूरमुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' के साथ ही इस परंपरा की परिसमाप्ति हो गई।[४२]। शोधकार्य की इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है ?

आलोच्य शोधकर्ता 'आखिरी कलाम' को जायसी की प्रथम रचना मानता है, पर इसके पक्ष में उसने जो प्रमाण दिए हैं, वे अत्यंत दुर्बल हैं। वस्तुतः यह मान्यता निराधार और भ्रामक है, तथा इसका खंडन लेखक की ही अन्य बातों से हो जाता है। शोधकर्ता जायसी का जन्मकाल ९०० हिजरी मानता है[४३] तथा उसके अनुसार 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी' का अर्थ है, 'मेरा जन्म नौ सौ सदी में हुआ और तीस वर्ष के पश्चात कविता करने लगा।'[४४] ऐसी अवस्था में, यदि 'आखिरी कलाम' जायसी की प्रथम रचना होती तो उसका रचनाकाल ९३० या ९३१ हिजरी होना चाहिए। पर 'आखिरीकलाम' का रचनाकाल ९३६ हिजरी निर्विवाद है।

लेखक के अनुसार 'अखरावट' जायसी की अंतिम रचना है। इस कथन के प्रमाण में भी जो तर्क दिए गए हैं, वे लचरमात्र हैं। इधर हाल में पटना कालेज के प्रो० सैयद हसन अस्करी को 'अखरावट' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है, जिससे उसका रचनाकाल ९११ हि० सिद्ध होता है। यह तिथि, अन्य कारणों से भी ठीक मालूम पड़ती है।[४५] वस्तुतः 'अखरावट' के ही जायसी के प्रथम ग्रंथ होने की अधिक संभावना है। 'आखिरी कलाम' तो उनका प्रथम ग्रंथ हो ही नहीं सकता।

इस ग्रंथ का केवल एक परिच्छेद – पदमावत के दार्शनिक पक्ष का विवेचन – विद्यार्थियों के कुछ लाभ का है। एम० ए० का छात्र इसे पढ़कर, जायसी के काव्य से कवि के दार्शनिक विचारों से संबद्ध उद्धरणों को खोजने के श्रम से बच सकता है। पर किसी भी दशा में इसे

४२. डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, सूफी महाकवि जायसी, पृ० ११५।

४३. यह मान्यता नितांत भ्रामक है। मैंने इसका खंडन हिंदी अनुशीलन, अंक ३ में प्रकाशित अपमें एक निबंध 'जायसी - संबंधी तिथियों का पुनःपरीक्षण' में किया है।

४४. सूफी महाकवि जायसी, पृ० ७८।

४५. द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेखक का निबंध 'जायसी से संबद्ध तिथियों का पुनःपरीक्षण, हिंदी अनुशीलन, वर्ष ११, अंक ३ (जुलाई – सितंबर – १९५८ ई०)।

शोधग्रंथ कहना तो उचित नहीं। उपर्युक्त मीमांसा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन से हिंदी आलोचना - साहित्य के विकास में लेशमात्र भी योग नहीं मिला है।

प्रस्तुत प्रबंध में प्रो० सैयद हसन अस्करी (इतिहासविभाग, पटना कालेज) के गत दशक में प्रकाशित हिंदी सूफी साहित्य संबंधी निबंधों का, जो अंग्रेजी में हैं, उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९५१ ई० में उनका 'ए फिफ्टीन सेंचुरी सत्तारी सूफ़ी सेंट आव नार्थ बिहार' शीर्षक निबंध 'द जर्नल आव बिहार रिसर्च सोसाइटी', भाग ३७, अंक १ - २ में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने बिहार के एक अज्ञातप्राय सूफी संत शेख काजिन का परिचय प्रस्तुत किया। मई १९५३ के करेंट स्टडीज (पटना कालेज), अंक १ में प्रकाशित अपने एक निबंध 'हजरत हिसामुद्दीन द फिफ्टीन सेंचुरी चिश्ती सूफी सेंट आफ मानिकपुर' में प्रो० अस्करी ने मानिकपुर के सूफी संत हजरत हिसामुद्दीन का सांगोपांग परिचय, प्रथम बार सूफी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी वर्ष, इसी पत्रिका के अंक २ में, प्रो० अस्करी ने 'कंट्रीब्यूशन आफ द सूफीज आफ द नार्थ टू हिंदी लिटरेचर' शीर्षक एक निबंध प्रकाशित कराया, जिसमें उन्होंने हसन असरफ जहाँगीर सिमानी, हसन सैयद हमीद राजेशाह, शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही, सैयद राजा, शेख दोस्त मुहम्मद आदि कुछ स्वल्प ज्ञात सूफी संतों की कविताओं के उद्धरण देकर हिंदी साहित्य को उनकी देन के महत्व का प्रतिपादन किया।

सन् १९५३ ई० में ही अस्करी ने एतत्संबंधी कदाचित् अपना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंध 'ए न्यूली डिस्कवर्ड वोल्यूम आफ अवधी वर्क्स इन्क्लूडिंग पदमावत एंड अखरावट आफ मलिक मुहम्मद जायसी' बिहार शोधपरिषद की पत्रिका (जे० बी० आर० एस०) के वर्ष ३९, अंक १ - २ (मार्च - जून) में प्रकाशित कराया। इस विद्वत्तापूर्ण शोधनिबंध में उन्होंने मनेर शरीफ के खानकाह पुस्तकालय में प्राप्त कुछ हस्तलिखित अवधी ग्रंथों, जिनमें जायसी का पदमावत और महरीनामा, बुरहान लिखित 'अरिल', बक्शन अथवा बक्श खाँ लिखित कुंडलिया, साधन लिखित एक शीर्षकरहित ग्रंथ और वियोगसागर नामक ग्रंथ है, का विवेचन किया है।

इस अनुसंधान से जायसी के संबंध में कुछ नए तथ्य प्रकाश में आए, यह निर्विवाद है। प्रो० अस्करी द्वारा प्राप्त 'अखरावट' की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में जुम्मा द जुल्काद ९११ हिजरी का उल्लेख है। लेखक ने यह प्रमाणित किया है कि अखरावट का रचनाकाल ९११ हिजरी है। इसके पूर्व 'अखरावट' के रचनाकाल के संबंध में हिंदी के विद्वान् अधिकतर अटकल का ही सहारा लेते थे, जिसमें 'मनमानेपन' और 'नई बात कहने' के लिए विशेष अवकाश रहता था। इस मनमानेपन का एक दृष्टांत डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ की पुस्तक में दिखाई पड़ता है। जिसका विवेचन हम कर चुके हैं – जिसमें 'अखरावट' जायसी की अंतिम रचना मानी गई है। प्रो० अस्करी ने, उचित ही, 'पदमावत' को जायसी की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ कृति माना है।[४९]

४९. जे० बी० आर० एस०, वर्ष ३९, अंक १ - २, पृ० १८।

जायसी के जन्मकाल तथा पदमावत के रचनाकाल के संबंध में भी प्रो० अस्करी ने अपनी नवीन मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल, डा० कमल कुलश्रेष्ठ और आचार्य चंद्रबली पांडेय के मतों का विद्वत्तापूर्ण खंडन करते हुए, प्रो० अस्करी ने यह प्रमाणित किया है कि जायसी का जन्म नवीं सदी हिजरी के ८वें दशक के प्रारंभ में हुआ था, तथा पदमावत की रचना उन्होंने ९४७ हिजरी में की थी।

उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों से जायसी के ग्रंथों के पाठनिर्धारण में भी अमूल्य सहायता मिलेगी, यह प्रो० अस्करी ने अपने निबंध में पूरी तरह से दिखा दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'पदमावत' और पदमावत की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति में अद्‌भुत साम्य दिखलाई पड़ता है। उससे जहाँ एक तरफ डा० गुप्त के संपादन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है वहाँ दूसरी तरफ, इस प्राचीन प्रति के प्रकाश में पदमावत के पाठ के पुनः परीक्षण की आवश्यकता भी महसूस की जाती है। 'अखरावट' और 'महरीनामा' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियाँ भी इन ग्रंथों के पाठनिर्धारण में अमूल्य सहायता प्रदान करेंगी, इसका सप्रमाण विवेचन प्रो० अस्करी ने किया है। अंत में, पर जो कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, प्रो० अस्करी ने जायसी के ग्रंथों में उल्लिखित सूफी संतों का तथा जायसी ने किस लिपि में अपने ग्रंथ रचे थे, इसका पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है।

सन् १९५५ ई० में, प्रो० अस्करी ने पटना कालेज की पत्रिका 'करेंट स्टडीज' में एक निबंध 'रेयर फ्रैग्मेंट्स आव चंदायन एंड मृगावती' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने मनेर शरीफ में सज्जादनशीन और उनके भाई मौलवी मुरादुल्ला के यहां से प्राप्त 'चंदायन' और 'मृगावती' के दुर्लभ अंशों का विवेचन किया। इस निबंध का महत्व इसलिए बहुत अधिक है कि इसके पूर्व हिंदी संसार इस तथ्य से तो परिचित था कि मुल्ला दाउद नामक किसी सूफी कवि ने चंदायन, चंदावत, चंदावन नामक ग्रंथ की रचना की थी, किंतु इस ग्रंथ का पता किसी को नहीं था। प्रो० अस्करी ने प्रथम बार इस निबंध में, चंदायन की कथा हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत की तथा इसके उद्धरण दिए। यद्यपि रोमन अक्षरों में और वह भी गलत ढंग से लिखने के कारण इन उद्धरणों को ठीक-ठीक पढ़ना कठिन है, फिर भी इसका महत्व कम नहीं है।

कुतुबन लिखित मृगावती की एक खंडित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा को १९०० ई० में प्राप्त हुई थी, जिससे कुछ अंश लेकर परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'सूफी काव्य संग्रह' में संकलित किया है, किंतु सुनने में आता है, वह प्रति अब लुप्त हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में प्रो० अस्करी द्वारा प्राप्त 'मृगावती' की प्रति का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

अपने निबंध के उपसंहार में, प्रो० अस्करी ने कुतुबन के आश्रयदाता के संबंध में अपने मौलिक तथा विश्वासोत्पादक विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल तथा परशुराम चतुर्वेदी के एतत्संबंधी अभिमतों का खंडन करते हुए यह प्रमाणित किया है कि कुतुबन का आश्रयदाता जौनपुर का अंतिम शारकी सुल्तान हुसेन शाह था, "जो एक शक्तिशाली शासक तथा रोमांटिक व्यक्तित्ववाला राजा था। वह एक कवि और संगीतज्ञ था तथा हिंदुओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय था।"[४७] प्रो० अस्करी का एतत्संबंधी अभिमत सर्वाधिक प्रामाणिक मालूम पड़ता है।

४७. करेंट स्टडीज (पटना कालेज), १९५५, पृ० ३३।

इसी वर्ष बिहार शोधपरिषद् की पत्रिका (जे० बी० आर० एस०, वर्ष ४१, अंक ४) में प्रो० अस्करी ने अपना एक दूसरा महत्वपूर्ण निबंध 'कुतुबंस मृगावत, ए यूनीक मेनस्क्रिप्ट इन परशियन स्क्रिप्ट' प्रकाशित कराया। इस निबंध के आरंभिक अंश में उन्होंने 'चंदायन' के रचनाकाल पर विचार किया – जिसे अपने पहले निबंध में उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से छोड़ दिया था – तथा रचना - काल - संबंधी पंक्तियाँ उद्धृत कीं। इसके पूर्व हिंदी संसार 'चंदायन' के रचनाकाल से अनभिज्ञ था। इस संबंध में अनेक भ्रांत धारणाएँ हिंदी साहित्य के इतिहासकारों में फैली हुई थीं।[४८] इस निबंध में प्रो० अस्करी ने स्पष्टतः प्रमाणित कर दिया है कि चंदायन का रचनाकाल ७८१ हि० अर्थात् १३७९ ई० है।

इस निबंध के दुर्लभ महत्व का एक दूसरा कारण भी है। इसमें लेखक ने दिल्ली के एक पुराने खानकाह में प्राप्त 'मृगावत' की एक हस्तलिखित प्रति का, जो उन्हें अपने मित्र श्री जेड० ए० देसाई से प्राप्त हुई थी, विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया है। यह प्रति, प्रो० अस्करी के अनुसार प्रारंभिक सोलहवीं शताब्दी की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व 'मृगावत' की पूर्ण प्रति कहीं भी उपलब्ध नहीं थी, और हिंदी के विद्वान् नागरीप्रचारिणी सभा की अधूरी प्रति के आधार पर ही अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते थे। 'मृगावत' की पूर्ण कथा तक लोगों को ज्ञात नहीं थी। प्रो० अस्करी को, प्रथम बार, मृगावत की पूर्ण कथा हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष रखने का श्रेय है।

सन् १९५६ ई० में प्रो० अस्करी ने पटना विश्वविद्यालय पत्रिका, वर्ष १० में एक निबंध 'द बिहार शरीफ मेनस्क्रिप्ट आफ पदमावत' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने मुख्यतः रामचंद्र शुक्ल, ग्रियर्सन, माताप्रसाद गुप्त आदि द्वारा संपादित 'पदमावत' के विभिन्न संस्करणों तथा मनेर शरीफ की हस्तलिखित प्रति से बिहार शरीफ से प्राप्त 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रति के पाठांतरों का सविस्तर विवेचन किया।

सन् १९५७ ई० में उपर्युक्त लेखक ने पटना विश्वविद्यालय की पत्रिका, वर्ष ११ में अपना एक दूसरा निबंध 'हजरत अब्दुल कुद्दूस गंगोही' प्रकाशित कराया। इस निबंध में उन्होंने १५वीं शताब्दी के एक महान् चिश्ती सूफी संत हजरत अब्दुल कुद्दूस और उनकी कृतियों का सविस्तर और प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूफी साहित्यसंबंधी शोध के क्षेत्र में प्रो० अस्करी का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके एक दशक में लिखे गए निबंधों से हिंदी शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ है और अनुसंधित्सुओं को नवप्रकाश मिला है।

सूफी साहित्यसंबंधी आलोचना और अनुसंधान पर सरसरी नजर डालने पर एक तथ्य जो सामने आता है, वह यह है कि पी - एच० डी० – डी० लिट्० आदि की डिग्री प्राप्त करने के लिए जो प्रबंध लिखे गए हैं, उनमें से अधिकांश का स्तर असंतोषजनक है।

४८. द्रष्टव्य : मेरा निबंध 'सूफी कवि तथा उनके काव्यनिर्माण संबंधी तिथियों का अध्ययन' साहित्य, वर्ष १०, अंक ३ (अक्टूबर १९५९ ई०)।

स्तरसंबंधी इस ह्रास का कारण डिग्री प्राप्त करने का लोभ तथा अनुसंधित्सुओं में अनुसंधान-संबंधी वास्तविक प्रेरणा का अभाव जान पड़ता है। दो या तीन वर्षों में शोधकर्ता किसी भी तरह अपना शोधग्रंथ पूरा कर लेना चाहता है, और इस प्रयास में वह इधर उधर की पुस्तकों से सामग्री संकलन करके अपने प्रबंध का कलेवर बढ़ाता रहता है। इन महाकाय प्रबंधों का अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो शोध का उद्देश्य नए तथ्यों का अनुसंधान अथवा पुराने तथ्यों की, नवीन संदर्भ में व्याख्या करना न रहकर केवल किसी प्रकार पृष्ठ पूरा करना रह गया हो। इन शोधप्रबंधों में ऐसी बातों की अधिकता रहती है, जिन्हें शोध नहीं कहा जा सकता। दो - तीन वर्षों में शोधकर्ता समूची संकलित सामग्री का परीक्षण भी नहीं कर पाता और वह समूची सामग्री को, जिनकी शोधप्रबंध में कतई आवश्यकता नहीं होती, अपने प्रबंध में किसी प्रकार ठूँस देता है। इससे ग्रंथ का आकार तो अवश्य बढ़ जाता है, पर शोधकर्ता साहित्य को कोई नई चीज नहीं दे पाता।

यह एक दुखद सत्य है कि हिंदी में अनुसंधान की वास्तविक प्रेरणा लेकर शोधकार्य में प्रवृत्त होनेवाले अनुसंधित्सुओं की संख्या कम है। अधिकतर शोधकर्ता ऐसे हैं जो किसी प्रकार डिग्री प्राप्त करके विश्वविद्यालयों में नौकरी पाना चाहते हैं। जहाँ शोध का उद्देश्य केवल नौकरी पाना हो, वहाँ उच्च कोटि का अनुसंधान कैसे संभव है? फिर भी यह देखकर संतोष होता है कि हिंदी जगत में अनुसंधान के प्रति उत्साह और प्रेरणा जग रही है, और उस दिन की झलक दिखाई दे रही है जब हिंदी में भी, पाश्चात्य भाषाओं के समान, उच्चकोटि का अनुसंधान संभव हो सकेगा।

प्रस्तुत निबंध में सूफी साहित्य के एक महत्वपूर्ण अभाव की तरफ सूफी साहित्य के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उचित होगा। अभी तक सूफी कवियों के अधिकांश ग्रंथ हस्तलिखित पोथियों के रूप में है, जो सामान्य पाठकों के लिए दुष्प्राप्य हैं। जायसी, मंझन उसमान, नूरमुहम्मद तथा कासिमशाह के काव्यों के अतिरिक्त कोई भी सूफी काव्य प्रकाशित नहीं है। इनमें भी नूरमुहम्मद, उसमान तथा कासिमशाह के प्रकाशित ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। समझ में नहीं आता कि इस आश्चर्यजनक उपेक्षा का कारण क्या है? यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि बिना इन ग्रंथों का प्रकाशन हुए, सूफी साहित्य का समुचित अध्ययन नहीं हो सकता। हिंदी साहित्य के विद्वानों का ध्यान इस तरफ जाना चाहिए। आज हम इस अवस्था में हैं कि सभी ज्ञात सूफी कवियों की रचनाओं का मुद्रण कर सकें। सुना है, डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० विश्वनाथ प्रसाद को 'चंदायन' की कोई पूर्ण हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, जिसका संपादन कर उपर्युक्त विद्वान् उसे आगरा विद्यापीठ से प्रकाशित करनेवाले हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रंथों का विशेषकर 'मृगावत' का भी प्रकाशन होना चाहिए। इधर हाल में श्री नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्य के वर्ष १०, अंक ३ (अक्टूबर १९५९) में सूफी कवि शेख किफायत की प्रेमकथा 'विद्याधर' (रचनाकाल ११३६ हिजरी) का मुद्रण कर इस दिशा में एक स्तुत्य पथनिर्देश किया है। हिंदी में शोध करनेवालों का ध्यान यदि इस ओर आकृष्ट किया जाए और किसी एक सूफी कवि के काव्य का संपादन तथा उसकी काव्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन पी - एच० डी० के लिए प्रबंध के विषयरूप में स्वीकृत किया जाए तो इस चिंतनीय अभाव की पूर्ति सरलता से हो सकती है।

सूफी साहित्यसंबंधी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण निबंध

पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद, लेखक श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, नागरीप्रचारिणी सभा, १९९० वि० (१९३३ ई०)।

जायसी और प्रेमतत्त्व, लेखक श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिंदुस्तानी, भाग ४, अंक ३ (जुलाई १९३४)।

पदमावत (पदुमावती), लेखक श्री रामकुमार वर्मा, संमेलन पत्रिका, पौष - माघ १९९४ वि० (ई० १९३७)।

मंझनकृत मधुमालती, लेखक श्रीयुत व्रजरत्नदास, हिंदुस्तानी, भाग ८, अंक २ (अप्रैल १९३८)।

मंझनकृत मधुमालती, लेखक चंद्रबली पांडेय, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष, ४३ सं० १९९५ वि० (१९३८ ई०)।

मलिक मुहम्मद जायसी जा जीवन चरित, लेखक श्री सैयद आले मुहम्मद केहर जायसी नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सं० १९९७ (१९४० ई०)।

*

संस्कृत में नायिकाभेद और रसिकजीवनम्*

करुणापति त्रिपाठी

[२]

अग्निपुराण, काव्यालंकार और शृंगारतिलक

अग्निपुराण और शृंगारतिलक – ये दो ग्रंथ ऐसे बताए जाते हैं जिनमें नए रूप से आलंबनविभाव के अंतर्गत नायक - नायिका - निरूपण किया गया है। वैसे श्रव्य काव्य के अंतर्गत रस की महत्ता को प्रारंभिक विस्तार देनेवाले आचार्य हैं 'रुद्रट'। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में श्रव्य काव्य का रसयोजना से समन्वित होना आवश्यक बताया है –

तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

[काव्यालंकार – १२।२]

इसके साथ - साथ शांतरस को नवम तथा स्नेह - स्थायिभाव 'प्रेय' रस को दशम रस कहा है। किंतु उन्होंने नायकनायिका की आलंबनात्मक प्रतिष्ठा का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। 'तत्र स्यान्नायकः ख्यातः' द्वारा नायकनायिका को 'शृंगार' का उन्होंने आधार माना है और नायक - नायिका - भेद का संक्षिप्त निरूपण किया है। नायिकादि को आलंवन मानकर स्पष्टरूप से उक्त प्रसंग का उल्लेख नहीं है।

अग्निपुराण के ३३९वें अध्याय में –

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः।।
रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते।
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादि भवस्तथा।।"

[अग्नि० ३३९।३५ - ३६]

– के द्वारा आलंबनविभाव के संदर्भ में नायकनायिका का उल्लेख किया है। और आगे चलकर–

"स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकः।
सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहुभेदतः।।"

[वही – ४१]

– के द्वारा स्वीया, परकीया तथा पुनर्भू या परकीया का नामोल्लेख मात्र हुआ है।

* इस निबंध का प्रथम भाग गतांक में प्रकाशित हो चुका है। – संपादक

परंतु उक्त विशेषता के रहने पर भी 'अग्निपुराण' की प्राचीनता विवादास्पद रहने से उसका महत्व कुछ कम हो जाता हैं। संक्षिप्त रूप में भारतीय विश्वकोशात्मक ग्रंथ अग्निपुराण का संकलन अनेक शतियों में संपन्न हुआ है। भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' या 'शृंगारप्रकाश' में उक्त पुराण की सिद्धांतच्छाया का, शृंगारमहत्ता में आभासमात्र, 'अग्निपुराण' की प्राचीनता को सिद्ध नहीं करता। अतः 'नायक - नायिका - भेद' की आलंबनसंबद्धता में उस पुराण की उद्भावना का मौलिकत्व निश्चयसोपान तक नहीं पहुँच पाता।[११] संभवतः उक्त अंश की रचना 'भोज' के बाद की मानी जाती है। 'पुनर्भू' नायिका (पुनर्विवाहिता) का स्रोत कामशास्त्रीय है।

'शृंगारतिलक' अवश्यमेव ऐसी स्थिति में है और उसका विवेचन इतना सुस्पष्ट है कि यदि 'रुद्रभट्ट' का समय ठीक - ठीक निर्धारित हो सके तो नायिकाभेद की परवर्ती शैली का प्रथम ग्रंथ उसे कहा जा सकता है। उसकी प्राचीनता - अर्वाचीनता के विषय में अंतःसाक्ष्य के आधार पर कुछ संकेत ऊपर किया गया है। एक प्रमाण अवश्य ऐसा है, जिसके कारण 'हेमचंद्र' के पूर्व 'शृंगारतिलक' के अस्तित्व को मानना आवश्यक होता है। हेमचंद्र ने 'शृंगारतिलक' के मंगलश्लोक को उद्धृत करके उसका खंडन किया है।[१२] अतः बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के पहले 'शृंगारतिलक' अवश्य निर्मित हो चुका था। फिर भी 'दशरूपक' के पूर्व 'शृंगारतिलक' की रचना हो चुकी थी – ऐसा मानने का कोई दृढ़ आधार नहीं दिखाई पड़ता। 'शृंगारतिलक' की रचना संभवतः 'अभिनवभारती - कार तथा ध्वन्यालोकलोचन - लेखक अभिनव गुप्त और 'दशरूपक - कार' धनंजय (जो दोनों ही प्रायः समकालीन थे) के पश्चाद्वर्ती काल की है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

'रुद्रट' का 'काव्यालंकार' और 'रुद्रभट्ट' का 'शृंगारतिलक' देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शृंगारतिलक' का समस्त वर्ण्य विषय वस्तुतः 'काव्यालंकार' के 'बारहवें अध्याय से पंद्रहवें अध्याय' तक के अंश का पुनराख्यान मात्र है। नवीनता उसमें कुछ भी नहीं है। श्रव्यकाव्य में 'रस' अनिवार्यतः आवश्यक है – सरसतापादन के लिए यह सिद्धांत 'रुद्रट' ने प्रवर्तित किया। वही बात 'रुद्रभट्ट' ने भी कही। इस दिशा में उनकी मान्यता नूतन नहीं है। क्योंकि उनका समय निश्चितरूपेण 'रुद्रट' से परवर्त्ती जान पड़ता है। 'शृंगार' का विस्तृत वर्णन, नायक - नायिका - भेद का विवरण तथा विस्तार भी उसी ग्रंथ की पद्धति पर है।

एक बात की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। श्रव्यकाव्य की रंगस्थली में नायक - नायिका की अवतारणा भी नाट्यशास्त्रवाली प्राचीन भूमिका में ही की गई है। 'रुद्रट' ने भी और

११. 'अग्निपुराण' के साहित्य - शास्त्रीय अंश पर एक स्वतंत्र ग्रंथ के प्रकाशन '**अग्नि-पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग**' – की सूचना मिली है, पर अभी ग्रंथ देखने का अवसर नहीं मिला है। —लेखक।

१२. 'रसादेः स्वशब्दोक्तिः' ... के संदर्भ में 'रसादि' 'स्वशब्दाभिधान' दोष के उदाहरण में 'शृंगारतिलक' का मंगलाचरण उद्धृत किया गया है।

'रुद्रभट्ट' ने भी शृंगार के प्रसंग में ही साक्षात्‌रूप से इनको अवतारित किया है। केवल इतना ही वहाँ कहा है कि शृंगार के दो भेद होते हैं, संयोग और विप्रलंभ, जहाँ प्रेमानुरक्त स्त्रीपुरुषों के प्रणयपूर्ण व्यापार का वर्णन होता है। यहाँ उत्तम गुणसंपन्न चार प्रकार के नायक प्रसिद्ध हैं। उनकी नायिकाएँ भी तीन प्रकार की हैं – आत्मीया, परकीया और सर्वांगना (या स्वकीया, परकीया और सामान्यवनिता)।[13]

जाने कैसे कुछ लोगों में यह भ्रम चल पड़ा है कि 'रुद्रभट्ट' ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने विभाव के निरूपणप्रसंग में, शृंगारावलंबन के संदर्भ में नायिकाभेद का निरूपण किया है।

इस प्रसंग में तथ्य तो यह है कि भरत ने नाट्यशास्त्र में विभावानुभावों का लक्षण नहीं बताया वरन् यह कहकर छोड़ दिया कि 'लोकस्वभावोपगतत्वाच्चैषां लक्षणं नोच्यते –' अर्थात् विभावानुभाव स्वतः लोकप्रसिद्ध हैं। लोक स्वभावोपगत होने से उनका लक्षण नहीं कहा जा रहा है। यद्यपि आचार्य ने – 'विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनयाः इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।' – इस विवेचन के द्वारा 'विभाव' की व्याख्या की है तथापि आलंबन विभाव और उसके विस्तार का साक्षात् उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

वही परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही। संभवतः 'भट्टनाक', 'अभिनवगुप्त' और 'धनंजय' ने प्रमेयप्रमाण के परिवेश में विशुद्ध साहित्यिक अभिनिवेश के साथ रसास्वादन की प्रक्रिया और उसके अंगोपांग का विवेचनविश्लेषण किया है।

जहाँ तक नायिकाभेद का प्रसंग है – यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'दशरूपक' का विषयनिरूपण अधिक महत्व रखता है। उनका समय अभिनवगुप्त के आसपास का होने से उनकी रचना प्राचीन भी कही जा सकती है और शास्त्रीयस्तर पर विवेचन होने से विवेकपुष्ट भी।

नायिकानिरूपण के क्रम में यद्यपि उन्होंने शृंगारालंबनांतर्गत नायिकाप्रपंच का विस्तारण नहीं किया है और नाट्यशास्त्र का पूर्वोक्त प्रसंगोद्धरण देकर लोकप्रसिद्ध होने से

१३. रुद्रट –
व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः।
शृङ्गारो, स द्वेधा संयोगो विप्रलम्भश्च।
... ... तत्र स्यान्नायकः ख्यातः। एवं स चतुर्धा ... ...।
... ... तस्य स्युर्नायिकास्त्वेमाः। ... ...

रुद्रभट्ट –
चेष्टा भवति पुंनार्यो रत्युत्थातिरक्तयोः। संयोगोविप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधो मतः।
... ...। स्त्रीणाभभीष्टस्त्विह नायकः स्यात्।
... ... इत्थमत्र चत्वारः। भेदाः क्रियायोच्यन्ते
स्वकीया च परकीया च सामान्यवनिता तथा।
कलाकलापकुशलास्त्रिसस्तस्येह नायिकाः।

विभावानुभाव का लक्षण और निरूपण भी नहीं किया है – तथापि रसनिष्पत्ति के संदर्भ में उन्होंने विभावतत्व की केंद्रात्मीय महत्ता का सबल शब्दों में प्रतिपादन किया है। यह भी कहा है कि नायकनायिकादि आलंबनत्वेन विभाव्यमान होते हैं। आलंबन विभाव का एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।[१४] उन्होंने श्रृंगारी आलंबन के अंतर्गत नायकनायिका का निरूपण जो नहीं किया है उसका कारण यह है कि 'दशरूपक' नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ है और नाट्यशास्त्रीय तत्वनिर्देश करते हुए आरंभ में 'वस्तु, नेता और रस' नाट्य के ये तीन तत्व माने गए हैं। उसी क्रम में नेता या पात्र के निरूपण के रूप में नायिकाभेद का वर्णन कर दिया गया है। अतः उसका पुनर्वचन अनावश्यक था। फिर भी वहाँ हमें नायकनायिका का वर्णन उसी पद्धति और सरणि से उपलब्ध होता है, जो आगे चलकर 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' आदि में अपनाई गई। इस क्रम में लक्षणलेखन और फिर उदाहरण के उद्धरण की परिपाटी चल पड़ी थी। उदाहरण भी अपने नहीं दूसरों के।

'दशरूपक' में उक्त पद्धति के साथ - साथ शास्त्रीय स्तर पर विषय के प्रौढ़ विश्लेषण का क्रम लक्षित होता है। गद्य - पद्य उभय रूपों के योग से यथासंभव संक्षेप में विषयप्रतिपादन उसी श्रृंखला की कड़ी है जिसमें 'वामन', 'आनंद' और आगे चलकर 'मंमट' आदि की कृतियाँ निर्मित हुई हैं। 'रुद्रट' की पद्धति 'भामह', 'दंडी' आदिवाली पद्धति है पर अधिक सुव्यवस्थित और सुविभाजित।

'रुद्रभट्ट' के 'श्रृंगारतिलक' में लक्षणलेखन की पद्धति तो श्लोक में ही लक्षणमात्र निर्देश वाली है – शास्त्रीय - चिंतन - शैली से विरहित है, पर उदाहरण उन्होंने अन्यत्र से लाकर उपस्थित किया है।

यह सब कहने का सारांश केवल इतना ही है कि 'रुद्रभट्ट' की अधिकांश प्रवृत्ति वही है जो आगे चलकर हिंदी के रीतियुगीन उक्त विषय की रचनाओं में पल्लवित, पुष्पित हुई।

'श्रृंगारतिलक' की रचना और 'नायिकानिरूपण' के जो उद्देश्य ग्रंथ में बताए गए हैं वे बहुत कुछ ग्रंथ की परवर्ती प्रवृत्ति से पोषित होने का आभास देते हैं। प्रथम परिच्छेद के अंत में उन्होंने लिखा है कि पूर्वोक्त संभोग श्रृंगार का तानाबाना फैलानेवाला कवि 'विदग्धगोष्ठी-वनिता – मनोज्ञ' होता है। तृतीय परिच्छेद के अंत में भी कहा है – 'कवि और कामिजन, व्युत्पत्ति के हेतु इस ग्रंथ का निषेवन करें।' और 'श्रृंगारतिलक' के बिना कहाँ काव्यकथा रहती

१४. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्। आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा। 'एवमयं' 'एवमियं' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादि र्वा स विभावः। यदुक्तम् – "विभाव इति विज्ञातार्थ इति' ताँश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषू-पादयिष्यामः। अमीषां (विभावानां) चानपेक्षितबाह्यसत्वानां शब्दोपधानादेवासादित-तद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरि-वर्त्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता।" दशरूपक, प्रकाश ४, श्लो० २।

है, कहाँ विदग्धता मिल सकती है, कहाँ रसागम की उपलब्धि हो पाती है और कहाँ गोष्ठी का मंडन हो सकता है।[१५]

इन सब बातों को पृष्ठभूमि में रखकर समन्वित रूप से देखने पर ऐसा भासित होता है कि 'रुद्रभट्ट' कवि अधिक थे, शास्त्रज्ञ मनीषी कम। उनकी दृष्टि भी कुछ कुछ उसी भाँति की थी जैसी कि 'विलास से आडंबरित रीतिकालीन हिंदी के शृंगारी कवियों की, लक्ष्य की दृष्टि से भी और ग्रंथ-रचना-पद्धति की दृष्टि से भी। यह मनोवृत्ति भी सूचित करती है कि संभवतः मे 'दशरूपक' की रचना के वाद वाले उस युग के आचार्य कवि हैं जब तदनुकूल मनोवृत्ति का अंकुरण होने लगा था।

ऊपर जो कुछ कवा गहा है उसका सारांश होगा –

१. रुद्रभट्ट का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो पाता। अंतःसाक्ष्य के आधार पर वे 'रुद्रट' और 'धनंजय' के पश्चाद्वर्ती जान पड़ते हैं। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'हेमचंद्र' की रचना – 'काव्यानुशासन' – के समय तक उनकी कृति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी।

२. श्रव्यकाव्य में रसस्थिति के सिद्धांत का स्पष्ट प्रवर्त्तन करनेवाले प्रथम आचार्य रुद्रट थे जिनका ग्रंथ और विषयनिरूपण उपलब्ध है। उन्होंने नायक-नायिका-भेद का भी निरूपण किया है। उक्त संदर्भ के विवेचन का शृंगारालंबन के अंतर्गत साक्षात् रूप से उल्लेख नहीं हुआ है, अपितु 'शृंगार रस के नायक-नायिका' कहकर उनके प्रकारों-भेदों का विवरण दिया गया है। नाट्यशास्त्र में यही पद्धति सामान्याभिनय के परिवेश में ग्रहीत हुई है और वही पद्धति 'रुद्रट' तथा 'रुद्रभट्ट' के समय तक चलती रही।

३. रुद्रभट्ट का 'शृंगारतिलक' भी इसी पूर्वोक्त सरणि का अनुगमन करता है। 'रुद्रट' का ही अनुकरण करते हुए उन्होंने काव्यालंकार के समान, शृंगार के आलंबन की संदर्भ-भूमिका विना प्रस्तुत किए शृंगाररस के नायकनायिका का निरूपण विस्तारपूर्वक और सोदाहरण उपस्थित किया है। विषय की दृष्टि से, 'रुद्रभट्ट' की यह पूरी रचना 'काव्यालंकार' के कतिपय अध्यायों का प्रायः केवल विस्तृत पुनःकथन है। विषय की दृष्टि से या उसकी क्रमयोजना की दृष्टि से भी इसमें कोई नवीनता या नवोद्भावना नहीं है। उदाहरणसंकलन अवश्य ही इसकी मुख्यता है।

१५. अनेन मार्गेण विशेषरम्यं सम्भोगशृंगारमिमं वितन्वन्।
भवेत्कविर्भावरसानुरक्तो विदग्धगोष्ठीवनिता-मनोज्ञः॥
शृंगारतिलक – १ अंतिम।

इति मया कथितेन पथामना रसविशेषमशेषमुपेयुषा।
ललितपादपदासदलङ्कृतिः कृतधियामिह वाग्वनितायते॥
शृङ्गारतिलको नाम ग्रंथोऽयं ग्रथितं मया।
व्युत्पत्तये निषेवन्तु कवयः कामिनश्च ये॥
कान्या काव्यकथा कीदृग्वैदग्धी को रसागमः।
किं गोष्ठीमण्डनं हन्त शृङ्गारतिलकं बिना॥ — वही ३।५४-५७।

४. 'दशरूपक' की विवेचनशैली और विषयविवेचना सुव्यवस्थित, प्रौढ़, प्रकृष्ट एवं पूर्णतः शास्त्रीय है। रसनिष्पत्ति का प्रसंग भी धनंजय के गहन पांडित्य का परिचय देता है। यद्यपि नायिकाभेद का प्रसंग नेता (पात्र) - निरूपण की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है तथापि यथास्थल आलंबनविभाव की संक्षिप्त पर गंभीर चर्चा महत्वपूर्ण है।

५. 'अग्निपुराण' का संबद्ध अंश इतना संक्षिप्त और सामान्य तथा उसका निर्माणसमय इतना संदिग्ध है कि उसे विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

६. निष्कर्ष यह कि नायिकाभेद की मूलसामग्री और आधारशिला भरत के नाट्यशास्त्र में है तथा उसे श्रव्यकाव्य में स्थान मिला 'रुद्रट' द्वारा। उसे प्रौढ़ता प्राप्त हुई 'धनंजय' के 'रूपक' - संबद्ध विवेचन से। भरत के ही समान 'रुद्रट' ने केवल लक्षण और परिचायक विवरण मात्र का अपनी सरस कारिकाओं के माध्यम से उल्लेख किया है। लक्षण देने के अनंतर इस प्रसंग में उदाहरण के उद्धरण की परिपाटी मिलती है 'शृंगार-तिलक'[१६] और 'दशरूपक' में।

भोज और नायिकाभेद

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह संस्कृत - साहित्य - शास्त्र में नायिकाभेद के निरूपण की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में दृश्यकाव्य से संबद्ध विषय का श्रव्यकाव्य की परिधि में प्रवेश होने के साथ साथ उदाहरणात्मक लक्ष्यपद्यों के उद्धरण की प्रथा भी चल पड़ी थी। भोजराज के 'सरस्वतीकंठाभरण'[१७] तथा 'शृंगारप्रकाश'[१८] – दोनों ग्रंथों में उक्त प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्टतः देखा जा सकता है।

१६. 'काव्यालंकार' की अपेक्षा 'शृंगारतिलक' में 'रक्ता' और 'विरक्ता' के वर्णन में अधिक उत्साह दिखाई देता है। अन्यथा वहाँ का निरूपण प्रौढ़ पांडित्य का प्रदर्शक नहीं है। 'दशरूपक' में मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा के अनेक भेद मिलते हैं। मुग्धा – वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतौवामा, मृदुकोपा। मध्या – उद्यत् यौवना, कामवती, मोहान्तसुरतक्षमा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा। प्रगल्भा – यौवनान्धा, स्मरोन्मत्ता, गाढ़यौवना, भावप्रगल्भा, रतप्रगल्भा आदि। साथ ही धीराधीरादि त्रिभेद भी प्रगल्भा में होते हैं। मध्या और प्रगल्भा — दोनों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा – ये दो प्रकार हो सकते हैं।

१७. 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' – दोनों ग्रंथों में भोज ने शृंगार रस को सर्वाधिक महत्ता देते हुए उसकी रसराजता को परंपरया सिद्ध कर दिया है। 'शृंगार' को ही भोज ने सर्व-रसाधार अथवा आदि रस माना है और उसे 'अभिमान' या 'अहंकार' स्वरूप कहा है। उसी के योग से काव्यगत सर्वकमनीयता का आविर्भाव होता है।

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥ (सरस्वती० ५।१)

संभवतः इसी मान्यता का प्रतिपादन करने के लिए 'शृंगारप्रकाश' से समान महान् ग्रंथ की रचना, भोजराज ने की। रस की निष्पत्तिपद्धति और रस - भाव - संबंध के विषय में भी उनकी नूतन दृष्टि है जो पूर्वाचार्यों से कुछ विचित्र है। इसका विस्तृत विवरण डा० राघवन् के 'भोज के शृंगारप्रकाश' नामक प्रबंध में पढ़ा जा सकता है।

१८. प्रकाशित रूप में संपूर्ण 'शृंगारप्रकाश' प्राप्त न होने के कारण तद्विषयक निर्दिष्ट सामग्री, यहाँ सधन्यवाद डा० राघवन् की रचना से संगृहीत है।

'भोज' के दोनों ग्रंथों में नायिकाभेद का विषय निरूपित है। 'सरस्वतीकंठाभरण' में कुछ संक्षेप से और 'शृंगारप्रकाश' में कुछ विस्तार से। 'सरस्वतीकंठाभरण' में नायिकाभेद का प्रसंग संक्षेप में पंचम परिच्छेद के रसनिरूपणात्मक कारिकाओं द्वारा वर्णित हुआ है। आगे चलकर १३७ कारिकाओं में रसविषयक मत निर्देश करने के अनंतर 'अथैषां लक्षणोदाहरणानि' (अब इनके लक्षण और उदाहरण दिए जायँगे) – द्वारा समस्त पंचम परिच्छेद में रससंबद्ध सामग्री का विस्तार किया गया है। वहीं यथाक्रम और यथास्थान नायिकाओं का भी अतिसंक्षिप्त लक्षण और उनके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

'सरस्वतीकंठाभरण' में भोज ने नायिका विभाजन, कुछ-कुछ भरत के समान, अनेक दृष्टियों से किया है। रस के संदर्भ में जिस भाँति 'अभिमान, अहंकार और शृंगार' का नाम भोज ने लिया है उसी प्रकार 'पुनर्भू' का भी उल्लेख किया। नायिका का यह भेद अंशतः 'कामसूत्र' एवं अन्य कामशास्त्रीय ग्रंथों का आधार लेकर चला है और अंशतः 'अग्निपुराण' का (यदि उक्त पुराण में संबद्ध अंश संकलित और निश्चित हो चुका रहा हो तो)। भोज ने अपने सरस्वती० में स्वीया, परकीया, सामान्या के अतिरिक्त 'पुनर्भू' की चर्चा भी की है। इस ग्रंथ का नायिकाभेद का संदर्भ निम्ननिर्दिष्ट ढंग से किया गया है। इस क्रम की विभाजनदृष्टि विभिन्न आधारों का उल्लेख करती चली है –

> गुणतो नायिकापि स्यादुत्तमामध्यमाधमा।
> मुग्धा मध्या प्रगल्भा च वयसा कौशलेन वा॥
> धीराधीरा च धैर्येण स्वान्यदीयापरिग्रहात्।
> ऊढानूढोपयमनात्क्रमाज्ज्येष्ठा कनीयसी॥
> मानर्द्धेरुद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा।
> सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तितः॥
> आजीवतस्तु गणिका रूपाजीवा विलासिनी।
> अवस्थातोऽपराश्चाष्टौ विज्ञेयाः खण्डितादयः॥

— सरस्वती० – ५।११० – ११३।

अर्थात् गुण की दृष्टि से नायिका तीन प्रकार की होती हैं – उत्तमा, मध्यमा और अधमा; वय और कौशल (प्रणयकेलि की कुशलता) की दृष्टि से उन्हें मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा कहा जाता है; धीरता, अधीरता के विचार से वे धीरा और अधीरा हैं, परिग्रह (पत्नीत्वेन परिग्रह) की दृष्टि से वे स्वीया और अन्यदीया (परकीया) होती हैं; विवाह होने न होने के कारण उन्हें ऊढ़ा और अनूढ़ा कहा जाता हैं; विवाहक्रमानुसार वे ज्येष्ठा वा कनिष्ठा होती हैं; 'मान' - संपत्ति के विचार से (मान' – ऋद्धि के अनुसार न कि धीरोद्धतादि नायकानुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में है।) उन्हें उद्धता, उदात्ता, शांता और ललिता का नाम मिलता है; वृत्ति के (शील के) अनुसार उन्हें सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी कहा जाता हैं; आजीविका की दृष्टि से उन्हें गणिका, रूपाजीवा और विलासिनी के रूप में विभाजित किया गया है और अवस्थिति (परिस्थिति) के अनुसार उनके खंडिता, कलहांतरिता आदि भेद होते हैं। इस विभाजनशृंखला की कड़ियों को जोड़ने पर ही नायिका - भेद का रूप समझा जा सकता है। पूर्वाचार्यों के 'नायिकाभेद' - निरूपण का आधार लेकर अथवा 'शृंगारप्रकाश' (?) के आधार पर सरस्वती० में इनके लक्षण बहुत छोटे छोटे पर स्पष्ट और अर्थगर्भित हैं, जैसे – सर्वगुणसंपद्योगादुत्तमा, पादोनगुणसंपद्योगान्मध्यमा, अर्धगुणसंपद्योगादधमा (सर्वगुणशालिनी -

उत्तमा, चतुर्थांश-न्यून गुणशालिनी मध्यमा, अर्धगुणशालिनी अधमा)। इसी प्रकार वयः-कौशलाभ्यामसंपूर्णा मुग्धा, वयसा परिपूर्णा मध्या, वयःकौशलाभ्यां संपूर्णा प्रगल्भा।

'शृंगारप्रकाश' का नायिका-भेद-निरूपण (डा० राघवन् के सूत्रानुसार) कुछ अधिक विस्तृत तथा व्यवस्थित है। इस ग्रंथ में अधमा तथा ज्येष्ठा – इन दो का अभाव है। 'स्वीया' और 'परकीया' के दस-दस उपभेद हैं – उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा, ऊढ़ा, अनूढ़ा, धीरा, अधीरा, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। भेदोपभेदों की परस्परयोजना द्वारा प्रत्येक के १४३-१४३ प्रकार होते हैं।

'नायिका' का तृतीय भेद 'पुनर्भू' है जिसके चार उपभेद बताए गए है — **अक्षता, क्षता, यातायाता और यायावरा।** सामान्या के पाँच उपभेद हैं – **ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा, स्वैरिणी** और **वेश्या।** वेश्या (साहित्य में मुख्यतः सामान्यरूप से प्रसिद्ध) के तीन अंतर्भेद हैं – गणिका, विलासिनी और रूपाजीवा। पुनर्भू और सामान्या के अन्य अंतर्भेद – जो उत्तमा आदि के योग से हो सकते थे – यहाँ निर्दिष्ट नहीं हैं वरन् अनुमानगम्य हैं। मान पर आधृत **मध्या - प्रगल्भा** के तृतीय भेद धीराधीरा को भोज ने किसी ग्रंथ में नहीं निर्दिष्ट किया। स्वामी की अधिक प्रियतरा को ज्येष्ठा न मानकर 'वात्स्यायन' और 'हेमचंद्र' आदि के समान पूर्व विवाहिता को उन्होंने **ज्येष्ठा** बताया है।

'पुनर्भू' और 'सामान्या' के अंतर्भेद-विभाजन में भोज ने कुछ नूतनता की उद्भावना की है – अतः संक्षेप में उसका परिचय दे देना अनुचित न होगा। 'पुनर्भू'-उपभेदों के प्रथम तीन नाम धर्मशास्त्र से प्राप्त हैं। **'अक्षता'** उस नायिका को कहते हैं जिसे विवाह से पूर्व ही पुरुष का प्रथम समागम प्राप्त हो चुका हो – जैसे (शांतनुपत्नी) सत्यवती। पुरुष-विवाहिता और पुरुषसंसर्गवती का पतिनाश होने पर पुनर्विवाहिता नायिका **क्षता** पुनर्भू होती है, जैसे मंदोदरी। **यातायाता** उसे कहते हैं जो परपुरुष द्वारा व्यभिचारित होकर परप्रेयसी रहे और बाद में पुनः पति के यहाँ आवे, जैसे बृहस्पतिपत्नी तारा, जो चंद्रमा द्वारा परिगृहीत होकर उनके यहाँ रही और चंद्रपुत्र बुध को जन्म देकर पुनः बृहस्पति के यहाँ आई तथा ग्रहण की गई। **यायावरा** अटनशीला नायिका को कहते हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के कारण पूर्व-पूर्व पतियों को छोड़-छोड़ नए पुरुषों से विवाह करती चलती है। इसके उदाहरणरूप में भोज ने **माधवी को रखा है।** पौराणिक आख्यान के अनुसार ययाति-पुत्री माधवी एक स्थान से दूसरे स्थान अटन करती रही, प्रत्येक स्थान पर उसने एक-एक पुरुष से चार बार विवाह किया और क्रमशः प्रत्येक से एक-एक संतान उत्पन्न किया। चार विवाहों के अनंतर विंध्याटवी में तपश्चरणार्थ वह चली गई। शापवरदान से यह सब हुआ। उसे यह भी बरदान था कि प्रत्येक संतानप्रसव के अनंतर उसे पुनःपुनः कुमारित्व लाभ होता रहेगा। यहाँ यह स्पष्ट है कि पुनर्भू नायिका और उसके अंतर्भेद साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में अग्निपुराण को छोड़कर नवीन है।[१९]

१९. 'वात्स्यायन' ने कामसूत्र में कहा है – विधवात्विन्द्रियदौर्बल्यादातुरा भोगिनं गुणसंपन्नं च या पुनर्विन्देत्सा पुनर्भूः। (काम० ४।२।३९) विधवा जब इन्द्रियदौर्बल्य के कारण आतुर होकर गुणसंपन्न भोगी पति का पुनः वरण करती है तब उसे 'पुनर्भू' कहते हैं।

समान्या के उपभेदों को देखने से पता चलता है कि साहित्यशास्त्र में 'सामान्या' पद का रूढ़ अभिधेयार्थ न लेकर भोज ने उसका साधारण यौगिकार्थमात्र लिया है। पाणिगृहीता भार्या स्वीया, परपुरुषगृहीता परकीया (पुनर्विवाहिता पुनर्भू भी) – इनका संबंध (तत्कालीन पदावली में इनपर विशेष अधिकार) व्यक्तिविशेष के साथ होता है। पर जिस नारीपर, शरीरतः अथवा विवाहतः, किसी एक नर का अधिकार नहीं है या किसी की भी पत्नी बनने की जिसमें अर्हता है (चाहे स्वयंवर आदि के कारण ही सही) उसे सामान्या कहा गया है। इस विधा के उदाहरण में द्रौपदी, सीता और इंदुमती आदि तक उदाहृत हैं। [सरस्वती० में सामान्या का लक्षण लिखते हुए उन्होंने कहा है – अनियतानेकोपभोग्या सामान्या]।

सामान्या के प्रथम दो भेदों ऊढ़ा और अनूढ़ा के रूप में क्रमशः द्रौपदी और सीता का उदाहरण दिया गया है। द्रौपदी **सामान्या ऊढ़ा** इसलिए हैं कि धर्मतः उनका विवाह पाँच पुरुषों के साथ विधिपूर्वक निष्पन्न हुआ था। (ऐसा लगता है कि यह उपभेद विशेष रूप से द्रौपदी के ही लिए बनाया गया।) विवाहपूर्व की सीता को **अनूढ़ा सामान्या** इसलिए कहा कि जनक-प्रतिज्ञा को पूर्ण करनेवाले किसी भी पुरुष के साथ सीता विवाह का अधिकार घोषित था। (यह उपभेद पणस्वयंवर में वरणीया नायिका के लिए किया गया था।) तीसरे उपभेद, स्वयंवरा सामान्या के रूप में रघुवंश की इंदुमती उदाहृत है। 'सीता' वाले द्वितीय भेद और इंदुमतीवाले तृतीय भेद में अंतर यह हैं कि प्रथम में, निर्धारित पण या शर्त पूरी करने के बाद, वीर्यशुल्क चुकाने के बाद ही वर को नायिकावरण का अधिकार होता था, और तृतीय भेद के उदाहरण में इंदुमती के रखने से लगता है कि विवाह की स्पृहा से जुटे हुए[२०] अनेक परिणयार्थियों में से अपने मनपसंद एक नायक को चुनने का अधिकार स्वयंवरा नायिका को होता था।

चतुर्थ और पंचम सामान्या भेदों में कोई वैशिष्ट्य नहीं हैं। सरस्वती० में कहा गया है-आत्मच्छन्दा स्वैरिणी। अपने मन के अनुसार कामाचरण करनेवाली को स्वैरिणी कहा है। (इसे कभी परकीया और कभी सामान्या के अंतर्भेदों में आचार्यों ने रखा है) पंचम भेद — वेश्या — मुख्यतः सामान्या का सर्वमहत्वपूर्ण तथा सबसे अधिक स्वीकृत रूप है। अतः उसके संबंध में कुछ अधिक न कहकर 'वेश्या' के अंतर्भेदों का थोड़ा परिचय दिया जा रहा है।

वेश्या के तीन अंतर्भेदों का नामोल्लेख ऊपर हो चुका है। चौंसठ कलाओं को जाननेवाली वेश्या को गणिका कहते हैं, कुट्टमित आदि हावभाव का प्रदर्शन करनेवाली को विलासिनी तथा रूपयौवनमात्रोपजीविनी को रूपाजीवा कहा है। 'अष्टावस्था' की नायिकाएँ (वासकसज्जा, खण्डिता) आदि के निरूपण में कोई नवीनता नहीं है।[२१]

२०. ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा – तीनों ही भेद, संभवतः स्वयंवर में वरणीय क्षत्रिय - कुमारियों से ही संबद्ध लगते है। प्रथम – द्वितीय में वीर्यशुल्क चुकाने पर, शर्त पूरा करने पर वर या वरपक्ष को विवाहाधिकार मिलता था और तृतीय भेद में अपनी पसंद के वर चुनने का (स्वयंवर के उत्सव में एकत्र राजन्यों में से) नायिका को अधिकार था।

२१. सरस्वती० में नायिका और नायक के रूपों - प्रतिरूपों के विभिन्नस्तरों का आकलन भी ग्रंथ की एक विशेषता है। नायक के स्तर है — नायक, प्रतिनायक, उपनायक और

परवर्ती अन्य ग्रंथकारों में 'मन्दारमरन्दचम्पू' - कार ने चता, अचता आदि का निरूपण करते हुए भोज का नामोल्लेख किया है पर यातायाता के उदाहरण में कुछ भ्रमवश उन्होंने द्रौपदी का नाम ले लिया है —

> अक्षता च क्षता यातायाता यायावरेत्यपि।
> पुनश्चतुर्विधा कथिताः पूर्वं भोजादिभिर्बुधैः।
> यातायाता तु युगपदूढानेकैस्तु भर्तृभिः।
> यथा पाण्डुसुतैरूढा द्रुपदस्य कुमारिका॥

हेमचंद्र (काव्यानुशासन) और नायिका-भेद

इसी युग के आसपास या इसके कुछ ही बाद **हेमचंद्र के काव्यानुशासन** का काल आता है। इस ग्रंथ में नायिकानिरूपण अधिक विस्तार नहीं पा सका है। परंतु अपनी ग्रंथ-सरणि के अनुसार इस संदर्भ में लक्षणों के साथ साथ संकलित लक्ष्यों का उदाहरण दिया गया है।

हेमचंद्र ने **मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा** के दो-दो भेद किए हैं, जिनका आधार है वय और कौशल — वयसा मुग्धा, कौशलेन मुग्धा, वयसा मध्या, कौशलेन मध्या और वयसा प्रगल्भा, कौशलेन प्रगल्भा। साथ ही मध्या, प्रगल्भा के धीरा-अधीरा आदि भेद भी। भरतादि के मतानुसार हेमचंद्र ने पूर्वविवाहिता को ज्येष्ठा और पश्चाद्विवाहिता को कनिष्ठा कहा है न कि परवर्ती आचार्यों के समान अधिक प्रेमभागिनी को ज्येष्ठा और न्यून प्रेमभागिनी को कनिष्ठा। इसी प्रकार 'दशरूपक' की आलोक टीका का अनुसरण करते हुए हेमचंद्र ने अष्टावस्था नायिकाओं में परकीया की केवल तीन विधाएँ मानी हैं – विरहोत्कंठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा। इसके अतिरिक्त इस संदर्भ में विशेष महत्व का और कुछ उल्लेख्य नहीं है।

वाग्भट (प्रथम और द्वितीय) के 'वाग्भटालंकार' और 'काव्यानुशासन' तथा 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि में भी नायिकानिरूपण है, पर विशिष्ट महत्व की कोई नूतनता या उद्भावना नहीं है। नायिकानिरूपण के प्रथमसोपान से संबद्ध विषय का प्रकरण दृश्य-श्रव्य काव्यों से संबद्ध होकर जो प्रचलित हुआ वही यद्यपि इन ग्रंथों में भी चलता रहा तथापि साक्षात्रीति से शृंगारालंबन के परिचयनरूप में नायक, नायिकाएँ उक्त ग्रंथों में निरूपित नहीं हुईं। हां, लक्षण के साथ लक्ष्योदाहरण भी परवर्ती कृतियों में दिए जाते रहे पर ग्रंथकारों के स्वरचित नहीं। 'वाग्भट' ने नायिका के चारभेद — अनूढ़ा (कन्यका), स्वकीया, परकीया और पराङ्गना (सामान्या) बताए हैं। 'जिन वर्धन' नामक टीकाकार ने 'परकीया' के तीन भेद बताए है – सधवा (जीवितभर्तृका) परकीया, विधवा परकीया और केनापि स्वीकृता विधवा (पुनर्भू) परकीया।

इसके पश्चात् नायिकाभेद के विकासक्रम में एक ओर तो 'शारदातनय' का 'भावप्रकाशन' और 'शिङ्गभूपाल' का 'रसार्णवसुधाकर' – दो नाट्यशास्त्रीय कृतियाँ आती हैं तथा

•

अनुनायक तथा नायिका के हैं — नायिका, प्रतिनायिका, अनुपनायिका और अनुनायिका। इसके अतिरिक्त नायिकाभास, नायकाभास और उभयाभास का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ कविराज) एवं 'रसमंजरी' (भानुदत्त) के नाम लिए जा सकते हैं।

भावप्रकाशन

भावप्रकाशन का नायिका-भेद, भरत, रुद्रभट्ट ('रुद्रट' नाम भी) धनंजय और भोज के वर्णित वस्तुओं का अनुसरण करता चलता है। 'भरत' के अनंतर 'शारदातनय' के ग्रंथ में संभवतः प्रथमवार देवशीला, दैत्यशीला, गंधर्वशीला, यक्षांगना, राक्षसशीलिनी, पिशाचशीला, नागशीला, मर्त्यशीला आदि नायिकाओं का उल्लेख हुआ है तथा उनके ग्रंथ का उद्धरण भी दिया है। भोज का अनुसरण करते हुए ग्रंथकार ने उदात्ता, उद्धता, शान्ता और ललिता नामक नायिका-चतुर्विध को मान्यता दी गई है, पर 'भोज' के समान 'मान-ऋद्धि' के आधार पर नहीं अपि तु 'धीरोदात्त' आदि प्रसिद्ध चतुर्विध नायकों से प्रतिसंबद्ध रूप में। चारों की प्रकृति, रूप, वेषभूषा, गुण और शील के भेदक गुणधर्मों का इस प्रसंग में परिचय दिया गया है। इसी प्रकार अभिनेयता और अभिनय की दृष्टि से वासकसज्जादि अष्टविध अवस्था-नायिकाओं के शील-गुण-आचार आदि का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। परकीया की, इनमें से तीन ही अवस्थाएँ, कुछ आचार्य मानते हैं, इसकी भी चर्चा उन्होंने की है (विप्रलब्धा, विरहोत्कंठिता और अभिसारिका)। भावप्रकाशन के अनुसार संख्या है [१३ (स्वीया) + २ (परकीया) + १ (सामान्या)] = १६×८ (वासकसज्जादि) × ३ (उत्तमादि) = ३८४। यह मत रुद्रट का बताया गया है। नाट्य-दृष्टि के उपभेद (उदात्ता, उद्धतादि) को इस प्रस्तार-गणना में ग्रहण नहीं किया गया है। भरत के अनुसार यौवन की चार अवस्थाओं का भी वर्णन हुआ है। नाट्यदृष्टि से, अभिनय – शिल्प के विचार से इन सब का विस्तृत विवेचन हुआ है। नवोद्भावना की दृष्टि विशेषता न होने पर भी नाट्य-शास्त्रीय दृष्टियों का पर्याप्त निरूपण और परिचायन किया गया है।

यह विचारणा की गई है — रसालंबन के प्रकरण में। शृंगाररस के आलंबन– संदर्भ में नायक – नायिका का भेद, शील, चेष्टा, आदि का निरूपण करते हुए इन सबकी चर्चा की गई है।

भावप्रकाशन में लक्षण और विस्तृत परिचय तो है — पर उदाहरण नहीं हैं।

रसार्णव सुधाकर

नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'रसार्णवसुधाकर' तथा सर्वसाहित्यशास्त्रीय कृतियों में 'साहित्य-दर्पण' ऐसे मुख्य ग्रंथ हैं जिनमें 'नायिकाभेद' के निरूपण की द्वितीयावस्था का सुस्पष्ट उन्मेष दिखाई देता है। इनमें अत्यंत स्पष्ट रीति से साक्षात् शृंगारालंबन के संदर्भ में सीधे-सीधे नायकनायिका के भेदविस्तार का निरूपण किया गया है। इन कृतियों के पूर्व, प्रायः सीधे-सीधे नायिकाओं का प्रपंच उपस्थित नहीं किया गया है। यद्यपि उन्हें आलंबन बताया गया है, तथापि प्रसंग की दृष्टि से उनका भेदनिरूपण या तो कथावस्तु के पात्र, नायकनायिका के परिपार्श्व में अथवा शृंगारी नायक, नायिका के रूप में किया गया है। इन दोनों कृतियों में (जिनके निर्माणकाल में कदाचित् बहुत अंतर नहीं है), आलंबन विभाव के प्रसंग में शृंगारा-लंबन का परिचय देते हुए इनका निरूपण प्रारंभ किया गया है। इस प्रसंग में 'रसार्णव-सुधाकर' में कहा गया है —

आधारविषयत्वाभ्यां नायको नायिकापि च।
आलम्बनं मतं तत्र नायको गुणवान् भवेद् ॥

अर्थात् अधारविषयता के कारण नायकनायिका रस के आलंबन होते हैं। नाटक में आलंबनभूत नायक गुणवान् होता है। उसके गुण होते हैं — महाभाग्य, औदार्य, दक्षता, उज्जवलता, धार्मिकता, कुलीनता, वाग्मिता, कृतज्ञता, नयज्ञत्व, शुचिता, मानशालिता, तेजस्विता, कलावत्ता और प्रजारंजकत्व। ये नायक के सामान्य गुण माने जाते हैं।

इन गुणों के लक्षण और उदाहरण देने के बाद सामान्य नायक के तीन भेद — उत्तम, मध्यम, अधम बताकर धीरोदात्तादि चतुर्विधि नायकभेदों का गुणविशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। और तब सर्वरस-साधारण नायकों का विनिगमनात्मक परिचय देते हुए शृंगारसापेक्ष त्रिविध नायकों का विभाजन, है — जिन्हें स्वीया, परकीया और सामान्या के अनुरक्तिपात्र होने के कारण — पति, उपपति और वैशिक के नाम से संस्तुत किया गया है। पति के चार भेद बताए गए हैं — अनुकूल, शठ, धृष्ट, दक्षिण। नायक की शठता, धृष्टता और दक्षिणता विवाहित सपत्नीजनों की दृष्टि से मानी जाती है। अनियतता के कारण उपपति की दक्षिणता अनुकूलता और धृष्टता को अनुचित बताकर उपपति के शठतामात्र का लक्षण-लक्ष्य उपस्थित किया गया है। तदनंतर 'वैशिक' नायक के गुण और उत्तममध्यमाधम - भेद के लक्षणमात्र लिखे गए हैं — उदाहरण नहीं। इस प्रकार का सुस्पष्ट विभाजन, जिसमें रससामान्यनायक और शृंगारनायक का परिचय पृथक् पृथक उल्लेखपूर्वक और सोदाहरण दिया गया हो — बहुत कम दिखाई देता है।

नायिकाभेद के प्रसंग में शृंगारसंबद्ध नायिकाओं का निरूपण हुआ है। इनके प्रसिद्ध तीन भेद स्वीय, परकीया और सामान्या का नाम लेते हुए स्वीया के तीन भेद — मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा – बताए गए हैं। मुग्धा के भेद हैं — वयोमुग्धा, नवकामा, रतौवामा, मृदुकोपा, सलज्जरतिशीला तथा क्रोध से अभाषमाणा रुदती — में छः भेद सोदाहरण उद्धृत किए गए हैं। मध्या के भेद हैं — समलज्जामदना, प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी और मोहांतिसुरतमा। मानवृत्ति के विचार से मध्या के धीरा, अधीरा, धीराधीरा – नामक त्रिभेद भी बताए गए हैं। प्रगल्भा के दो ही भेद कहे गए हैं – संपूर्णयौवनोन्मत्ता तथा प्ररूढ़मन्मथा। मानवृत्ति के अनुसार धीरादि तीन भेद भी इसके सूचित किए गए हैं। नायिका के सभी भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रायः मिलते हैं।

परकीया के दो भेदों में — कन्या (अनूढ़ा) और परोढ़ा[२२] का नाममात्र आता है। कन्या के विषय में कहा गया है कि नाटकादि में इनकी अवतारणा करनी चाहिए। पर परोढ़ा के लिए (कदाचित् सदाचारप्रेरित रसाभासता के विचार से) यह निर्देश किया है कि 'सप्तशती' (आर्या सप्तशती) आदि जैसे क्षुद्र प्रबंधों में ही उनको प्रस्तुत करना चाहिए (अर्थात् नाटकों में नहीं)। अनूढ़ा कन्या के परिचय में उसे प्रायः मुग्धा की विशेषताओं वाली बताया है।

सामान्या के भी दो भेद – रक्ता - विरक्ता बताते हुए कहा है कि 'रक्ता' नाटकादि में वर्ण्य होती है पर 'विरक्ता' का अवतरण प्रहसन आदि में ही करना चाहिए। इसी प्रसंग में

२२. परोढा तु परेणोढान्यसम्भोगलालसा।
लक्ष्या क्षुद्रप्रबंधे सा सप्तशत्यादिके बुधैः॥ १ । १०९

पूर्वाचार्यों का मत देते हुए यह भी कहा है कि गणिका तो गुणवान् नायक में भी नहीं अनुरक्त होती है। अतः अरक्ता के वर्णन में रसाभास लक्षित होने से नाटक में उसको वर्ण्य नहीं बनाना चाहिए। पर इस मत को शिंग भूपाल नहीं मानते। वे सामान्या को वर्ण्य ही मानते हैं। इसके पश्चात् इस ग्रंथ में प्रोषितपतिकादि आठ भेद सोदाहरण लिखे गए हैं। अंत में यह भी कहा गया है कि सभी नायिकाएँ उत्तमा-मध्यमा-नीचा होती हैं।

इस ग्रंथ के नायिकानिरूपण में सामान्यतः पूर्वसंग्रहात्मकता के रहने पर भी विवेचन में, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, अधिक चिंतनशीलता और प्रौढ़ता लक्षित होती है।

साहित्यदर्पण—यह कृति अपनी प्रौढ़चिंतना तथा सर्वांगीणता के कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में विशेष लोकप्रिय मानी जाती है। इसका नायिका-भेद-प्रकरण भी प्रौढ़तासंपन्न है। रसों में नायक-नायिका-भेद प्रस्तुत किया गया है। मुख्यभेद पूर्वप्रचलित मात्र है–पर उपभेदों में थोड़ी नवीनता है। **स्वीया** के त्रिविध-भेदों में निम्नलिखित रूप से विभाजन हुआ है—

मुग्धा – १-प्रथमावतीर्णयौवना, २-प्रथमावतीर्णमदनविकारा, ३-रतौवामा, ४-माने मृदु, तथा ५-समधिकलज्जावती। (नाम और गुण विशेष के हेर-फेर से पुरानी ही बातें नए नाम से कही गई हैं–यहाँ भी, आगे भी)।

मध्या – १-विचित्रसुरता, २-प्ररूढस्मरा ३-प्ररूढ़तारुण्या, ४-ईषत्प्रगल्भवचना तथा ५-मध्यमव्रीड़िता।

प्रगल्भा – १-स्मरान्धा, २-गाढ़तारुण्या, ३-समस्तरतकोविदा, ४-भावोन्नता, ५-स्वल्पव्रीड़ा, और ६-आक्रान्तनायका।

इनके साथसाथ मध्याप्रगल्भा के धीरादि तीन भेद दिए गए हैं। इन दोनों के ज्येष्ठा-कनिष्ठा–ये दो उपभेद भी स्वीकृत होते हैं। अतः मुख्यरूप से मध्या-प्रगल्भा के बारह और मुग्धा का एक भेद, स्वीया के कुल १३ मुख्य भेद हैं। कन्यका और परोढ़ा–दो भेद परकीया के तथा सामान्या का एक भेद–सब मिलाकर मुख्यतः १६ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। ये सभी अवस्थिति के अनुसार स्वाधीनभर्तृका आदि आठ-आठ प्रकार की और पुनः सभी उत्तमा-मध्यमा-अधमा-भेद से तीन (१६×८×३=३८४) प्रकार की शृंगारी नायिकाएँ होती हैं। यही संख्या नायिकाभेद को रुद्रट, शारदातनय और 'शिंगभूपाल' ने भी दी है। पर प्राचीनों के एक मत का उद्धरण देते हुए शिंगभूपाल ने कहा है कि परकीया के तीन ही भेद युक्तिसंगत होते हैं–१-विरहोत्कंठिता, २-अभिसारिका और ३-वासकसज्जा-

> व्यवस्थैव परस्त्री स्यात् प्रथमं विरहोन्मनाः।
> ततोऽभिसारिका भूत्वाभिसरन्ती व्रजेत्स्वयम्॥
> संकेताच्चपरिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेद् पुनः।
> पराधीन पतित्वेन नान्यावस्थात्र संगता॥ १।१६०

साहित्य-दर्पणकार ने भी ३।१२२ के पश्चात् किसी अन्य के मतरूप में परोढ़ा और कन्यका के संबंध में इस मत की चर्चा की है।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि इन दोनों रचनाओं में बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। जहाँ साहित्यदर्पण में कुछ प्रौढ़ता का आभास मिलता है वहाँ 'रसार्णव' में सर्व-रस-

सामान्य एवं शृंगाररस के आलंबनत्व का विभक्तीकृत एवं निर्धारणीकृत वर्णन हुआ है — जो कदाचित् इस दिशा में कुछ अधिक स्पष्टतापूर्ण निरूपण का संकेत करता है। इन दोनों ही ग्रंथों में लक्ष्य-लक्षण-समन्वित विषयनिरूपण की प्रौढ़ शैली अपनाई गई है। लक्ष्यरूप उदाहरण प्रायः पुरातन ग्रंथों से संकलित हैं। रसादिनिरूपण के प्रसंग में 'साहित्यदर्पण' की शैली 'रसार्णव' की अपेक्षा प्रौढ़तर है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के समान उदाहरण ग्रंथकारनिमित प्रायः नहीं हैं।[23]

इन दोनों कृतियों को नायिकाभेद के विकासक्रम की 'द्वितीयावस्था' का विकास इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि प्रथमावस्था की कृतियों में जहाँ नायकनायिकाओं का भेदविस्तारण करने के पूर्व स्पष्टतः उनमें शृंगारालंबनत्व की प्रतिष्ठा बिना किए ही निरूपण हुआ है-वहाँ इन कृतियों में उक्त पीठिका का सुस्पष्ट निर्देश किया गया है। अथ च, अब तक उदाहृत लक्ष्य संकलित हैं, आचार्य की काव्यालोचनदृष्टि में भावयित्री प्रतिभा के सूचक हैं, न कि ग्रंथकर्ता की कवयित्री-प्रतिभा के प्रदर्शक स्वनिर्मित।

रसमंजरी (भानुदत्त) में नायिकाभेद

इसके पश्चात् हमारे सामने महाकवि भानुदत्त मिश्र की **रसमंजरी** का नाम आता है। नामतः 'रसमंजरी' होते हुए भी ग्रंथ तत्वतः 'शृंगारमंजरी' है। आरंभ में कवि-आचार्य कहते हैं – 'तत्र रसेषु शृंगारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूपयते' — अर्थात् रसों में शृंगार सबसे उत्कृष्ट, सबसे अधिक अभ्यर्हित-संमानित है और उस प्रतिष्ठितपूजित शृंगाररस का आलंबनविभाव होने के कारण (नायक-नायिका-रूप आलंबन विभाव में नायिका के भी अभ्यर्हिततर होने के कारण) नायिका का निरूपण किया जा रहा है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि **'रसमंजरी'** के कर्ता ने 'रसतरंगिणी' नाम का रस-विषयक स्वतंत्र ग्रंथ अलग से लिखा है। 'रसमंजरी' वस्तुतः उसी का पूरक परिशिष्ट है। 'रसतरंगिणी' में रस का सांगोपांग[24] निरूपण शास्त्रीय पद्धति से गद्यात्मक भाषा में किया गया है — उदाहरण अवश्यमेव ललित काव्यरचना का प्रमाण देते हैं। 'रसमंजरी' में 'विषयसंकोच' के कारण शास्त्रीय विवेचन के लिए अवकाश की कमी होने पर भी थोड़ी बहुत जो शास्त्रीय चर्चा हुई है उसमें विषयनिरूपण की गहराई का आभास मिलता ही है। स्वनिर्मित लक्ष्यपद्यों के रम्य उदाहरण, साथ ही कृतिकार की मंजुल कविप्रतिभा का भी प्रमाण देते हैं। फिर भी इनके ग्रंथ में गद्यात्मक भाषा द्वारा संक्षिप्त, पर शास्त्रीय परिचय देते रहने से ग्रंथ की प्रौढ़ता बनी रहती है। नायिकाओं और उनके मान, चेष्टा तथा भेदोपभेदों के लक्षणों में भेदक गुणधर्मों की व्याख्याविवेचना करते रहने से ग्रंथकार की आलोचनात्मक प्रवृत्ति का आभास

२३. अभिसारिका के प्रसंग में अभिसारयित्री और अभिसरणकर्त्री — दोनों का उल्लेख है। **'प्रवास'** के संदर्भ में भी **भावी, भवन** और **भूत** – तीनों का निर्देश किया गया है।

२४. भानुमिश्र ने 'रसपारिजात' नामक एक और ग्रंथ (मोतीलाल-बनारसीदास, लाहौर — १९३७) लिखा है जिसमें 'दुर्दिनाभिसारिका' का नवीन उपभेद भी मिलता है। इसके अतिरिक्त 'पद्मिनी' आदि रमणी के चार प्रसिद्ध कामशास्त्रीय भेदों का भी निर्देश किया गया है।

आद्यंत मिलता है। पूर्वाचार्यों द्वारा अविवेचित नवीन संदर्भों के निरूपण में आचार्य की नव प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है।

भानुदत्त की **'रसमंजरी'** नायिका-भेद के साहित्य में एक नवीन प्रवृत्तिवाले नवयुग का प्रवर्त्तन करती है। इनके पूर्व की रचनाओं में (अंशतः 'श्रृंगारतिलक' को छोड़कर) नायक-नायिका-निरूपण पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की प्रथा नहीं थी। इनका निरूपण या तो नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में यथास्थान आता रहा या रसनिरूपण के प्रसंग में। श्रृंगार और श्रृंगारालंबन की ओर आसक्तिविशेष का आभास, उनके विस्तार और प्रामुख्य में अवश्य लक्षित है। परंतु नायिका-भेद को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की परंपरा सर्वप्रथम (उपलब्ध सामग्री के आधार-पर) भानुदत्त ने ही चलाई — ऐसा कहना अनुचित न होगा। यद्यपि अंगरूप में उक्त विषय-निरूपण की श्रृंखला आगे भी चलती रही तथापि अंगी-ग्रंथ के रूप में नायिका-भेद का प्रवर्त्तन 'रसमंजरी' से ही माना जा सकता है।

आगे चलकर संस्कृत में भी और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में ऐसे ग्रंथों के निर्माण की धारा वह निकली जिनमें नायिका-भेद के विवेचन का ही प्रामुख्य रहा। उस युग की विलासमयी प्रवृत्ति के अनुकूल वर्गविशेष की वासना के तर्पण का साधन बनकर रीतियुग में इस साहित्य की पीनता अभूतपूर्व रूप में बढ़ गई। वर्गविशेष की वासनात्मक अभिरुचि, वैलासिक पलायनवाद, साहित्यिक कामुकता एवं ऐश्वर्यसंपन्नों की मदवुभुक्षा के परिपोषण में इस प्रवाह ने कितना योग दिया — उसे कहना यहाँ अनावश्यक है। इतना ही यहाँ कहना है कि उक्त नई परंपरा के मुख्य प्रवर्तक आचार्य भानुदत्त कहे जा सकते हैं।

'रसमंजरी' के अनुसार नायिका के मुख्य भेद पूर्वोक्त ही हैं – स्वीया, परकीया, सामान्या। केवल स्वामी (पति) में अनुरक्ता **स्वीया** है जिसके मुग्धा आदि तीन प्रसिद्ध उपभेद हैं। **मुग्धा** में भेदक और परिचायक वैशिष्ट्य है 'अंकुरितयौवनत्व'। इस प्रसंग में चार नाम मिलते हैं – १ - **अज्ञातयौवना** २ - **ज्ञातयौवना** ३ - नवोढ़ा और ४ - विश्रब्ध नवोढ़ा। यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि अंतिम दो भेद अज्ञात यौवनामुग्धा के हैं, ज्ञातयौवना मुग्धा के हैं या स्वतंत्र है अथवा प्रथम दोनों के ही उपभेद हैं। कुछ टीकाकार उन्हें ज्ञातयौवना के उपभेद मानते हैं पर अधिकांश विद्वानों ने उन्हें स्वतंत्र ही माना है। उदाहरणों को देखने से चारों का पार्थक्य लक्षित होता है। क्यों कि पूर्वोक्त चारों प्रकारों के अलगअलग नाम लेकर चार उदाहरण दिए गए हैं। पर नायिकाभेद की प्रस्तारगणना के अनुसार मुग्धा को एक ही प्रकार का माना गया है – यह आगे दिखाया जायगा। २ – मध्या को समानलज्जामदना कहा है और उसका एक नूतन नामकरण भी किया है — अविविश्रब्ध नवोढ़ा। ३ - प्रगल्भा का लक्षण है – पतिमात्रविषयकेलिकलाकलापकोविदा। चेष्टानुसार इसके दो रूप होते हैं — अ - रतिप्रीतिमती और आ - आनंदसंमोहिता। प्रस्तारगणना में इनका भी आकलन नहीं किया गया है।

मध्या और प्रगल्भा के, धीरा, अधीरा और धीराधीरा नामक उपभेदों के कारण छः प्रकार हैं और पुनः ज्येष्ठा, कनिष्ठा रूप में छहों के दो दो उपभेद से मध्या और प्रगल्भा के कुल बारह तथा मुग्धा का केवल एक भेद — इस प्रकार स्वीया के १३ भेद पूर्वाचार्यों के समान माना है। साहित्यदर्पण में भी ये ही १३ भेद स्वीया के स्वीकृत हैं। ख - परकीया के दो भेद - अ - परोढ़ा और आ - कन्यका – भानुदत्त ने भी पूर्वाचार्यों के समान माने हैं। परंतु इनके उपभेद (प्रस्तारगुणन में जिनकी गणना नहीं होती) छः किए हैं जो ग्रंथकार की नई उद्भावना

मानी जा सकती हैं – १ - गुप्ता [सुरतगोपना — क - वृत्तसुरतगोपना, ख - वर्तिष्यमाण-सुरतगोपना और ग - वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना,] २ – विदग्धा [अ - वाग्विदग्धा और आ - क्रियाविदग्धा], ३ - लक्षिता, ४ - कुलटा, ५ - अनुशयाना [क - वर्तमानस्थानविघटनात् अनुशयाना, ख - भाविस्थानाभावशङ्कया अनुशयाना तथा ग - स्वानधिष्ठित-संकेतस्थल के प्रति भर्ता के गमनानुमान से अनुशयाना] और ६ - मुदिता । परकीया के इन स्वरूपों की कल्पना कदाचित् अंशतः आभिजात्यवर्गीय कामशास्त्रीय विलासिता के कारण, अंशतः तांत्रिक मकारोपासना के फल से और सर्वतोधिक गीतगोविंद आदि में दृश्यमान कृष्णोपासना की परकीयारति के प्रभाव से साहित्यिकों में भी प्रचलित होने लगी थी । अन्य आचार्यों ने भी प्रस्तुत संदर्भ से संभवतः इनका उल्लेख किया था । [२५] इसी कारण **'रसमंजरीकार'** ने कहा है कि गुप्ता-विदग्धा आदि नायिकाओं का परकीया में ही अंतर्भाव समझना चाहिए –

गुप्ता-विदग्धा-लक्षिता-कुलटा-ऽनुशयाना-मुदिताप्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः ।

रीतिकालीन हिंदी के नायिकाभेद-विस्तार में भानुदत्त के इस निरूपण ने अत्यधिक महत्त्व पाया । उच्चवर्गीय वैलासिक रुचि और सामाजिक मनोरंजन में, कामपूर्ण लुकाछिपी की केलिक्रीड़ा में परकीयाप्रेम, संभवतः रईसी, अमीरी तथा मर्दानगी और रसिकता का मानदंड-सा बन गया था । फलतः उक्त भावना का साहित्य में अनुगुंजन-प्रतिध्वनन स्वाभाविक ही था । [२६]

रसमंजरी में सामान्या को पूर्ववत् एक ही प्रकार का माना है । सब मिलाकर नायिका के मुख्य भेद सोलह (१६) हुए । इन्हें अर्थात् नायिका मात्र को पुनः १ - अन्यसंभोगदुखिता २ - वक्रोक्तिगर्विता [क. प्रेमगर्विता और ख - सौंदर्यगर्विता] तथा ३ - मानवती [क. लघुमानवती ख. मध्यमानवती और ग - गुरुमानवती] – तीन प्रभेद बताए हैं (भेदसंख्या की गणना में जिन्हें संगृहीत नहीं किया गया है) । इस प्रकार नायिकासामान्य के १६ भेद (१३ स्वीया + २ परकीया + १ सामान्या) होते हैं । अवस्थाभेद के अनुसार इन सोलहों में प्रत्येक के प्रोषितभर्तृका-खंडिता आदि आठ भेद होने से संख्या १२८ पहुँचजाती है और फिर 'उत्तमा-मध्यमा-अधमा – भेदों के कारण इनकी ३८४ संख्या होती है । यही संख्या सामान्यरूप में भानुमिश्र को ग्राह्य है । दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या–विभेदों के कारण ११५२ तक पहुँचने वाली भेदसंख्या को जातिभेदाश्रित होने से रसमंजरीकार ने अस्वीकृत कर दिया है ।

परंतु प्रसिद्ध आठ भेदों के अतिरिक्त 'प्रवस्यत्पतिका' नामक नायिका का नवम भेद भी होना चाहिए – इस बात को आलोचनात्मक ढंग से आचार्य ने उपस्थित किया है । अर्थात् एक नवम भेद की भी उन्होंने, संभवतः नवीन उद्भावना की है – जो आगे चलकर हिंदी में स्वीकृत ही नहीं हुआ वरन् भविष्यत्प्रवास के साथ साथ वर्तमान - प्रवास - मूलक भेद का भी उद्भावक हुआ । संस्कृत के परवर्ती ग्रंथों में तथा हिंदी के भी एतद्विषयक ग्रंथों में प्रवास के

२५. अन्य आचार्यों के ग्रंथ में उपलब्ध इन भेदों की चर्चा यथास्थान की गई है ।
२६. भक्तिरस और गौड़ीय आचार्यों का प्रभाव कहाँ था – इसकी संक्षिप्त चर्चा अन्यत्र इसी लेख में की गई है ।

आधार को लेकर भवत्प्रवास (वर्तमान प्रवास) तथा भविष्यत्-प्रवास को लेकर अवस्था-नायिकाओं के दस भेद मिलते हैं।

सारांश यह कि अपने परवर्ती संस्कृत और हिंदी के प्रस्तुत साहित्य को प्रभावित करने के कारण 'रसमंजरी' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

गौड़ीय (वैष्णव) भक्ति की परंपरा में नायिकाभेद

कृष्णभक्ति – संप्रदाय के और मुख्यतः गौड़ीय मत के कवियों और आचार्यों ने नायिका-भेद-संबंधी निरूपण में कुछ भिन्न-मार्ग का अनुसरण किया है। कृष्ण और कृष्ण के प्रति रति, प्रेम, अनुरक्ति, मधुररति अथवा भक्ति के प्रसंग में इस विषय का विवेचन किया गया है। कृष्ण को उत्कृष्टतम, एकमात्र नायक मानकर तत्संपृक्त नायिका के भेदोपभेदों का निरूपण हुआ है। उक्त संप्रदाय में एतद्विषयक सर्वप्रमुख (संस्कृत में रचित) ग्रंथ का स्थान 'उज्जवलनीलमणि' को दिया जा सकता है। इसके लेखक हैं 'रूपगोस्वामी'। इस कृति को गौड़ीय भक्तिसंप्रदाय की सर्वोत्कृष्ट रचना माना जाता है। आलंबन के विषय में इस ग्रंथ का आरंभ में ही मत है –

'अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।'

(सर्वरसराज मधुर रस में कृष्ण तथा उनकी वल्लभाएँ सदा आलंबन रहती हैं।) इस मत के अनुसार 'धीरोदात्त' आदि नायक के चार भेद होते हैं। उन चतुर्भेदों के दो प्रभेद होते हैं -- पति और उपपति २७।

२७. इस प्रवाह का प्रस्तुत अंश विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यहाँ बताया गया है जो कन्या का पाणिग्राहक है, धार्मिक विधि के अनुसार कन्या का परिणेता है, वह 'पति' है, जैसे रुक्मिणी के कृष्ण, सीता के राम आदि [टीकाकार जीव गोस्वामी ने कहा है – पतिः पुरवनितानाम्, द्वितीयो (उपपतिः) व्रजवनितानाम्।] उपपति के लिए कहा है –

रागेणोल्लङ्घयन्धर्मं परकीयाबलार्थिना। तदीयप्रेमवसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः।

अर्थात् परकीया अबला की कामना वाले राग, मधुररति के कारण धर्म का उल्लंघन करते हुए और परनारी-संबंधी प्रेम के वासस्थान, लीलावेशधारी, रस मूर्ति कृष्ण ही, मधुराख्य भक्तिरस में उपपति होते हैं।

उपर्युक्त पद्य का यह सांप्रदायिक अर्थ है। सामान्यतः यथार्थ होगा – परकीया नायिका की कामनावाले, रति के कारण धर्म का तिरस्कर्ता तथा परकीया नायिका-संबंधी प्रेम का वासस्थान - स्वरूप जो नायक है, वही 'उपपति' या परकीयनायक कहा जाता है।

आगे चलकर कहा गया है – "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" – जिसकी संप्रदायगत व्याख्या होती है – इस क्षेत्र में, औपपत्यविषयक प्रेमा - प्रसंग में ही, 'शृंगार' का अर्थात् परांगनारूप व्रजबालाओं के साथ रसमूर्ति लीलारत्नाकर के मधुर शृंगार का, उज्वलाख्य रस का परम उत्कर्ष प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् कृष्ण और व्रजरमणियों के जार - संबद्ध प्रणय की क्रीडा में (परकीयाजुष्ट शृंगारकेलि में ही) उज्ज्वलशृंगार उत्कृष्टतम भूमिका में पहुँचता है। क्योंकि परकीया - रति बहुवारित रहती है उसमें कामुकताभिव्यक्ति प्रच्छन्न रहती है, नायक - नायिका के लिए संगम परस्पर दुर्लभ रहता

इसके अनंतर नायक के भेदोपभेदों का निरूपण कर चुकने के पश्चात नायिकाओं का प्रसंग आता है। मधुररस में केवल कृष्णवल्लभाएँ नायिकाएँ होती हैं। **उनके** यहाँ केवल **दो ही प्रभेद माने** गए हैं – **स्वकीया, परकीया**। स्वकीया की सखियाँ, दासियाँ **स्वकीया** के अंतर्गत **हैं; परकीया** की **परकीया** के अंतर्भूत है। गोकुलकन्यकाओं में जो बालाएँ पतिभाव से कृष्ण में अनुरक्त देखी जाती हैं उनको भी **स्वीया** ही समझना चाहिए। क्योंकि कृष्ण में पतिभाव से निष्ठा होने के कारण उन्हें '**स्वीया**' मानना असमीचीन नहीं है।

परकीया के दो उपभेद हैं, **कन्या, परोढ़ा**। इसके पश्चात जो विवेचन है वह प्रायः विशुद्ध सांप्रदायिक है। इन नायिकाओं के तीन उपभेद **साधनपरा, देवी** (देवियाँ) तथा **नित्यप्रिया**। साधनपरा के दो भेद हैं **यौथिकी** और **अयौथिकी**। पूर्वजन्म में रामसौंदर्य से मोहित भक्त मुनियों ने भगवान् को प्रियतम के रूप में पाने की सामूहिक कामना की थी, वे ही स्त्रीत्व प्राप्त कर गोकुल में उत्पन्न हुईं। एकशः तद्रागसक्त होकर साधन करनेवाले भी समय-समय पर व्रज में नारी के रूप में जन्म लेते रहे। अतः गोपियाँ **साधनपरा** हैं। जो देवांगनाएँ कृष्ण प्रेम से व्रज में अवतरित हुई वे देवियाँ हैं। राधा, चंद्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, धनिष्ठा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, पालिका आदि अंगना-यूथों की यूथाधिप हैं और ऐसे सैकड़ों रमणीयूथ हैं जिनमें आनंदकंद की सभी **नित्यप्रियाएँ** हैं।

गौड़ीय-भक्ति-परंपरा की निष्ठा-आस्था और अनुश्रुति के अनुसार इनके भेदोपभेदों का विस्तृत परिचय देने के अनंतर बताया है कि वृंदावनेश्वरी की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं – सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमश्रेष्ठ सखी। इन सबका वहाँ बड़ा विस्तार है। पर उस संप्रदाय-कल्पित अनावश्यक विस्तार में न जाकर यहाँ इतना कहा जा सकता है कि 'उज्ज्वलनीलमणि' का नायिकाभेद कृष्ण-भक्ति-संप्रदाय के आस्थामूलक मत के अनुसार निरूपित किया गया है, जिसमें पौराणिक और सांप्रदायिक आग्रहों का विशेष आदर है। नायिकाओं के अस्तित्व या कल्पना की भूमि जीवन और समाज न होकर संप्रदाय-साहित्य

है। अतः परकीयारति में रस का परम उत्कर्ष लक्षित होता है। पर वैष्णव भक्तों की परंपरा के अंतर्गत ही यह व्याख्या चलती रही। उसके अतिरिक्त सामान्य व्यवहार में मध्ययुगीन वैलासिक वासना ने उक्त अर्थ की सगुण-भक्तिपरक आध्यात्मिकता की पूर्ण उपेक्षा करते हुए उक्त भावना को लौकिक शृंगार के पक्ष में सर्वतोभावेन ग्रहण कर लिया। रूप गोस्वामी ने तो स्पष्ट कहा था –

> 'लघुत्वं त्वत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्रकृतनायके।
> न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥'

अर्थात् उपपतिनिष्ठ रति और शृंगार को व्यावहारिक मर्यादा के कारण जो अपकृष्ट माना गया है वह सामान्य लौकिक शृंगारी नायक के संदर्भ में ही। किंतु रसमूर्ति कृष्ण के संदर्भ में वह लघुतासूचक नहीं है। क्योंकि उनका (कृष्ण का) तो अवतार ही हुआ है मधुररस का, उज्वल शृंगार का आस्वादन करने-कराने के लिए। पर व्यवहार में यह भाव मधुर-संपृक्त न रहकर शृंगार सामान्य के लिए है।

का वर्णन है। नायकनायिकाओं का अस्तित्व भौतिक जगत् का न होकर संप्रदायानुमोदित आध्यात्मिक जगत् का है।

इसी कारण नायिकाभेद की परंपरा त्यागकर इस शाखा के आचार्यों ने सामान्या का अस्तित्व ही नहीं माना है। भक्तिरस के परिवेश में मधुरा प्रीति या प्रेमारति की स्थायिभाव के रूप में प्रतिष्ठा आवश्यक है। अनन्य, गाढ़ प्रेम के रहने पर, सर्वरूप से, पतिरूप से, प्रियतम रूप से भगवान् की मधुरोपासना में **स्वीया** भाव या **परकीया** भाव संभव है। जब मधुरालंबन एक ही है, रसानंदमूर्ति केवल व्रजनंदन एक एवं त्रिकाल के नायक हैं, तदरिक्त नायक की कल्पित संभावना का भी अवकाश नहीं, तब सामान्याभाव की सत्ता ही कैसी!! लीलाविग्रह आनंदकंद व्रजचंद के अतिरिक्त नायक ही कहाँ!! यहाँ तो 'सैरंध्री' तक **परकीया** है।

फलतः यहाँ नायिका के दो भेद ही हैं, **स्वकीया** और **परकीया**। 'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रगल्भा' – इन्हें यद्यपि बहुतों ने **स्वकीया** के ही उपभेद माने हैं पर मधुरोपासक रसाचार्यों ने इनको **परकीया** के भी उपभेद कहा है। मुग्धा के अंतर्भेद हैं – 'नववया', 'नवकामा' 'रतौवामा', 'सखीवशा', 'सव्रीड़रतप्रयत्ना', 'रोषकृतबाष्पमौना' और 'माने विमुखी'। मध्या के अंतर्भेद हैं – 'समानलज्जामदना', 'प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी', 'किञ्चित्प्रगल्भवचना', 'मोहान्तसुरतक्षमा', 'माने कोमला' और 'माने कर्कशा' (इनके अतिरिक्त धीरा, अधीरा, धीराधीरा भी)। प्रगल्भा के अंतर्भेद हैं – 'पूर्णतारुण्या', 'मदांधा', 'उरुरतोत्सुका', 'भूरिभावोद्गमाभिज्ञा', 'रसाक्रांतवल्लभा', 'अतिप्रौढ़वचना', 'अतिप्रौढ़चेष्टा' 'माने अत्यंतकर्कशा' (मानवृत्ति के अनुसार धीरा, अधीरा, धीराधीरा भी)।

इस परंपरा में सर्वतोधिक रसोत्कर्ष होता है **मध्या** नायिका में। इसका कारण यह है कि मध्या में मुग्धा की मोहक मुग्धाकारिता और प्रौढ़ा की मादक प्रगल्भता – दोनों भावों का योग स्पष्टतः लक्षित होता है। मौग्ध्य – प्रागल्भ्य की संधिस्थली मध्यावस्था सर्वमनोरम और पूर्णतः रसमय है।[२८]

ऊढ़ा और अनूढ़ा में **कन्या** अनूढ़ा है। कन्या का एक ही उपभेद है – मुग्धा, पर स्वोढ़ा या परोढ़ा के उपर्युक्त मुग्धादि तीनों भेद होते हैं।[२९]

इन सबको लक्ष्य - लक्षण - विशिष्ट विस्तृत निरूपण करने के अनंतर अभिसारिकादि[३०] आठ अवस्था-नायिकाओं का विवरण दिया गया है। इन्हें भी दो वर्गों में बाटा गया है –

२८. सर्व एव रसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते। यदस्यां वर्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युतिः॥

२९. नायिका सामान्य के १५ भेद होते हैं — १. कन्या मुग्धा, २. स्वीयामुग्धा ३. स्वीया धीर मध्या, ४. स्वीया अधीर मध्या, ५. स्वीया धीराधीरमध्या, ६. स्वीया धीरप्रगल्भा ७. स्वीया अधीरप्रगल्भा, ८. स्वीया धीराधीरा प्रगल्भा द्वितीय से लेकर ८ तक के सात उपभेद परकीया के भी होते हैं। इस प्रकार कुल १५ भेद हुए। अष्टावस्थाओं से गुणित ये प्रभेद १२० हो जाते हैं। प्रत्येक के — उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा – ये तीन भेद होने के कारण इनकी संख्या ३६० पहुँच जाती है।

३०. इन्होंने भी अभिसारिका के दो रूप — अभिसरणकर्त्री और अभिसारयित्री – माने हैं।

हृष्टा और खिन्ना। 'स्वाधीनपतिका,' 'वासकसज्जा' तथा 'अभिसारिका' – ये तीनों नायिकाएँ हृष्टा होती हैं, अतः 'मंडिता' (सज्जिता-शृंगारिता) भी; शेष पाँच खिन्ना होती हैं, अतः मंडनवर्जिता रहती हैं। व्रजसुंदर आनंदभूर्ति के प्रति प्रेमा भक्ति या मधुर रति की गाढ़ता के तारतम्यानुसार नायिकाएँ उत्तवा, मध्यमा और कनिष्ठा होती हैं। गौड संप्रदाय की रसपद्धति के अनुकूल यूथेश्वरी, दूती, (स्वयंदूती, आप्तदूती) सखीदूती, सखी, सखीविशेष, हरिवल्लभा आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है।

संक्षेप में एतत्-संप्रदायगत नायिकाभेद की विशेषताएँ निम्न-निर्दिष्ट हैं —

१. कृष्ण और उनकी बल्लभाओं का आलंबत्व। रसमूर्ति कृष्ण की गौड़ संप्रदायानुगत आध्यात्मिक नायकता। नायक का एकत्व और नायिकाओं की असंख्यता। असंख्य होकर भी एकोन्मुख ईर्ष्याविहीन सर्वभावेन गाढ़तम मधुर रति। पति-उपपति - भाव।

२. उपपति - आलंबनात्मक परकीयारति की मधुरशृंगार में परमोत्कर्षता तथा भगद्विषयक औपपत्य प्रीति की महनीय गौरवशालिता।

३. सामान्या का अनंगीकार तथा 'परकीया' में भी मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेद का स्वीकरण।

४. मध्या में रस की सर्वोत्कृष्टता तथा कृष्ण के प्रति मधुर प्रीति के तारतम्यानुसार उत्तमादिभेद।

५. नायिका आदि के संदर्भ में पौराणिक तथा गौड़सांप्रदायिक, गाथाओं, अनुश्रुतियों और मान्यताओं के अनुसार भेदों का आकलन।

इस संप्रदाय का दूसरा मुख्य ग्रंथ है कवि कर्णपूर गोस्वामी का 'अलंकार - कौस्तुभ' (वीरेन्द्र, रीसर्च सोसायटी–राजशाही, बंगाल), जो अलंकारशास्त्र का अच्छा संग्रह-ग्रंथ कहा जा सकता है। इन्होंने 'रति' के संदर्भ में बताया है कि रति, प्रीति, मैत्री आदि सब उसीके रूप हैं, पर नरनारी के युगल-व्यवहार को ही रति का नाम मिलता है (संप्रयोगविषया)। असंप्रयोग-विषया रति को ही प्रीति कहा जाता है। इसी प्रकार मैत्री, सौहार्द, देवरति आदि का पृथक्-पृथक् परिचय देते हुए 'रस' का सुंदर निरूपण किया गया है। शृंगार का निरूपण करते हुए इन्होंने भी रूपगोस्वामी का अनुसरण किया है। सामान्या को नहीं माना है, स्वीया-परकीया दोनों के मुग्धादि त्रिभेद अंगीकृत है। स्वोढ़ा-परोढ़ा के भेदों को लेकर तथा 'वासकसज्जादि' अवस्थानायिका के आठ भेदों से गुणित होकर इनकी संख्या १०२ हो गई है। अनूढ़ा (कन्या) परकीया के चार उपभेद इन्होंने बताए हैं – ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अत्यंतमृद्वी, मध्यमृद्वी। प्रकृति के अनुसार अत्युत्तमा, उत्तमा और मध्यमा — नायिका के तीन भेद होते हैं। साधना-उपासनानुसार भी नायिका के तीन भेद हैं, सिद्धा, सुसिद्धा और नित्यसिद्धा। कुल मिलाकर इनकी संख्या (१३×२×८=२०८+४=२१२×३=६३६×३)=१९०८ होती है।

सारांश यह कि यहाँ 'सिद्धा' आदि नवीन त्रिभेदों का निर्देश किया गया है और उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा – इन तीनों में अंतिम को हटा कर प्रथम स्थान में 'अत्युत्तमा' को स्थापित कर दिया गया है।

मंदारमरंदचंपू[३०] — कृष्ण कवि के प्रस्तुत ग्रंथ में विशेष महत्व की बातें कम ही हैं। मुग्धादि त्रिभेदों को वे **स्वीया** के ही मानते हैं। 'मुग्धा' के दो भेद हैं – **ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना**। कृष्णकवि ने इनके पुनः दो भेद – शुद्ध नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा माने हैं। 'मध्या' और 'प्रौढ़ा' में कोई नवीन विशेषता नहीं हैं, केवल **ज्येष्ठा** और **कनिष्ठा** - भेद से इनके उपभेद किए गए हैं।

एक बात विशेषरूप से उल्लेख्य है। कृष्णकवि के मत से **सामान्या** और **परकीया** – ये दोनों केवल प्रौढ़ा ही होती है – **मुग्धा** और **मध्या** नहीं (सामान्या परकीये द्वे प्रौढे इत्येव संमते, पृ० ८० – काव्या०)। दूसरी बात उन्होंने यह बताई है कि मुग्धा के अतिरिक्त अन्य नायिकाओं के ही वासकसज्जादि आठ भेद होते हैं। यह ग्रंथकार का अपना मत है। पर उन्होंने यह भी कहा है कि किसी - किसी के अनुसार **मुग्धा** के भी उक्त आठ भेद होते हैं। तीसरी बात है – उन्होंने **'दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्या'** - ये भी नायिकाओं के त्रिभेद बताए हैं जो भरत तथा अन्य कुछ ही आचार्यों के ग्रंथों में निर्दिष्ट हैं। भोज के अनुसार इन्होंने भी 'उद्धता', 'उदात्ता', 'ललिता' और 'शांता' – भेदों की चर्चा की है। 'भोज' का नामोल्लेख करते हुए (कथिता पूर्वैर्भोजादिभिर्बुधैः) 'क्षता, अक्षता, यातायाता और यायावरा' का भी इन्होंने उल्लेख सोदाहरण किया है। पर कदाचित् कुछ भ्रमवश **यातायाता** उस नायिका को माना है जो एक साथ ही अनेक व्यक्तियों द्वारा विवाहित हो, जैसे – द्रौपदी (परंतु 'भोज' ने वृहस्पतिपत्नी 'तारा' को 'यातायाता' कहा है)। (पूर्व पृष्ठों में देखिए)। इसके अतिरिक्त कामशास्त्रीय 'पद्मिनी' आदि चार भेदों का भी निरूपण हुआ है। वैद्यक के अनुसार प्रकृति को ध्यान में रखकर 'कफिनी, वातला और पित्तला' नामक तीन भेद भी किए गए हैं। अभिसारिका के प्रसंग में 'दिवाभिसारिका, श्यामा (निशा)-भिसारिका' दो भेद हैं और द्वितीय के पुनः प्रसिद्ध (शुक्ला - कृष्णा) दो उपभेद हैं। 'सरस्वती-कंठाभरण' के समान नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका और अनुनायिका – इनका भी निरूपण हुआ है।

इस ग्रंथ में, जैसा कि नाम से पता चलता है, गद्य - पद्य दोनों का उपयोग हुआ है। पर इस प्रकरण में पद्य ही पद्य है और वे भी प्रायः अनुष्टुप् छंद के ही। पहले भेदोपभेद के रूप में समस्त नायिकाओं के नाम दिए गए हैं और बाद में संक्षिप्त लक्षण तथा संक्षिप्त ही उदाहरण। लक्ष्य भी यद्यपि कविनिर्मित ही हैं तथापि लक्षणों की केवल संगति दिखाने के लिए बनाए गए हैं न कि शृंगारी अनुरंजकता, विलासपूर्ण काव्यानुरंजन अथवा काव्य-प्रतिभा दिखाने के लिए (जैसा कि रीतिकालीन कवियों में दीखता है)।

नाटकलक्षणरत्नकोश

इस ग्रंथ का नायिकानिरूपण परंपरागत सरणि से कुछ भिन्न लगता है।[३१] सागरनंदी ने अन्य आचार्यों की भाँति नायिका - परिचय का आरंभ **'स्वीया', 'परकीया'** और **'सामान्या'** से न करके 'खंडिता, विप्रलब्धा' आदि अष्ट अवस्था भेदों से किया है तथा

३०. काव्यमाला (सिरीज ५२)।

३१. नाटकलक्षणरत्नकोश –

'अभिसारिका' के प्रसंग में 'कुलजा और वेश्या, (क्रमशः स्वीया और सामान्या) का निर्देश किया है। 'परकीया' की चर्चा ही नहीं की गई है। इसका कारण संभवतः 'नाट्यसूत्र' के प्रसंग-विशेषों का प्रभाव है। भरत ने कहा है[32] 'स्त्रियों की नानासत्वसमुद्भवा प्रकृति विविध प्रकार की होती है, बाह्या, आभ्यंतरा और बाह्याभ्यंतरा। 'आभ्यंतरा' कुलीना है, 'बाह्या' वेश्या है तथा 'बाह्याभ्यंतरा' कृतशौचा नारी को कहते हैं। प्रथम दो भेदों का तो व्याख्यात्मक विवरण दिया गया है पर अंतिम भेद का कदाचित् नाट्य में अनुपयोगी होने से विस्तृत विवरण छोड़ दिया गया है। अतः उसका आशय स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी प्रकार अष्टावस्था नायिका के प्रसंग में अभिसरण की चर्चा करते हुए वेश्या, कुलजा और प्रेष्या के उल्लेख है। कहीं भी भरत ने 'परकीया' का नाम नहीं लिया। 'सागरनंदी' के समय में प्रेष्या शब्द दूतीवाचक ही था। अतः वहाँ भी मुख्य दो ही भेद रह जाते हैं। यह भी हो सकता है कि 'नाटकलक्षणरत्नकोश' जिस परंपरा का ग्रंथ रहा हो उसमें या ग्रंथकार के समाज में परकीया का स्थान लोकसंमत न रहा हो।

आगे चलकर ग्रंथकार ने भरतानुसारी अभिसरणपद्धति बताने के बाद अभिसरणानुकूल नौ स्थितियों - समयों का वर्णन करते हुए कुलजा के लिए केवल गोधूलि या संध्या की प्रदोषवेला को कुछ आचार्यों के अनुसार सर्वोपयुक्त कहा है। यद्यपि अन्य रसिकों के मत से काम-शर-पीड़िता के लिए किसी समयविशेष का निर्देश करना कठिन बताया गया है।

इन आठों के अतिरिक्त 'सभ्या' नाम की नायिका का नवम भेद भी उन्होंने बताया है। वह अपने पतिगृह में सतत भीता बनी रहती है, उसे शारीरिक सुख के अवसर कभी-कभी मिल तो अवश्य जाते हैं परंतु उसकी भावनाएँ मन के भीतर ही घुट-घुटकर रह जाती हैं। (इस भेद को तत्वतः स्वीया का ही एक उपभेद कहा जा सकता है)। मान की चर्चा करते हुए इसी प्रकरण में पहले उन्होंने मुग्ध, मनाङ्मुग्ध, समृद्ध और अतिसमृद्ध का उल्लेख किया है न कि लघु, मध्य और गुरु मानों का। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रंथ में कोई विशेषता नहीं है।

शृंगारमंजरी

संस्कृत नायिका-भेद की अंतिम अवस्था के प्रमुख ग्रंथों में परवर्ती शृंखला की कुछ दृष्टियों से महत्वपूर्ण कृति है 'संत अकबर शाह' उर्फ 'बड़े साहेब' की रचना 'शृंगारमंजरी'। यह ग्रंथ कुछ समय पूर्व (सन् १६५१ ई० में) हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित किया गया है और इसका संपादन किया है डा० राघवन् ने। इसके पहले प्रस्तुत ग्रंथ अप्रकाशित ही रहा। एक फुट चौड़ी और सवा फुट लंबी विशाल कृति के इस संस्करण के संपादन में संपादक ने अथक परिश्रम के साथ ११६ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है तथा उपलब्ध पांडुलिपियों के आधार पर इसका संपादन किया है।

कुतुबशाही के अंतिम सुलतान अबुल हसन के राजगुरु संत शाह राजू के पुत्र संत अकबर शाह ने, जो संमान के कारण 'बड़े साहेब' कहे जाते थे - इस ग्रंथ की रचना आंध्र (तेलगू) भाषा में की थी। (उनका पूरा नाम था - हजरत सय्यद अकबर शाह हुसैनी)। उसी 'शृंगारमंजरी' को संस्कृतच्छाया में विद्वानों ने अनूदित किया।

३२. नाट्यशास्त्र - काशी संस्करण।

इस ग्रंथ के आरंभ में इस नूतन ग्रंथ की रचना का प्रयोजन विस्तार के साथ बताते हुए लिखा है - "रसञ्जरी - आमोद - परिमल - शृङ्गारतिलक - रसिकप्रिया - रसार्णव - प्रतापरुद्रीय-सुन्दरशृङ्गार - नरसकाव्य - दशरूपक - विलासरत्नाकर - काव्यपरीक्षा - काव्यप्रकाशप्रमुख-ग्रन्थान् विचार्य प्राचीनेषु यानि लक्षणानि युक्तियुक्तानि तानि संगृह्य, अन्यानि परित्यज्य प्राचीनोदाहरणानुसारेण नायिकाभेदान् कल्पयित्वा, येषामुदाहरणानि न सन्ति तेषामुदाहरणानि विरचय्य येषां नामानि न संति तेषां नामानि स्थापयित्वा ··· ··· प्राचीनलक्षणेषु यान्युपयुक्ता-न्युदाहरणानि तानि तत्तन्नायिकास्थलेषु लिखित्वा चर्चाग्रंथो गद्यरूपो लक्षणग्रंथः फक्किकारूप उदाहरणग्रंथः पद्यरूपः लक्षणोदाहरणे नाकिकाभेदाः शृङ्गार ··· ··· नवरसेषु शृङ्गारस्य प्राधान्याद शृङ्गाररसालम्बनविभावा नायिकानायकाः, शृङ्गारसानुकूलाः, सात्विकभावाः, पूर्वोक्तग्रन्थवर्णित-यामिन्यादिजातयः जातिसंकरो जातिभेदाश्चैवं सरसाशेष - विशेषा निरूप्यन्ते।"

[शृंगारमंजरी, पृ० २, हैदराबाद - पुरातत्वविभाग]

इस उपक्रमप्रस्तावना से ही प्रस्तुत ग्रंथ की विशेशताओं का पूर्ण संकेत प्राप्त हो जाता है। १ - इसके लेखक ने संबद्ध विषयवाले अनेक ग्रंथों का आलोडन किया था। २ - प्राचीन ग्रथों के लक्षणों और उदाहरणों का विश्लेषणात्मक परीक्षण - संशोधन भी किया गया। ३ - नवीन लक्षण, नवीनलक्ष्य, विषय के नूतन भेदोपभेद और उनका नवीन नामकरण किया गया, पर तभी जब विवेचना द्वारा उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। ४ - विषय के महत्वा-नुसार प्रसंग का संक्षेपण या विस्तारण भी किया गया। ५ - नवरसों में शृंगार की प्रधानता होने के कारण उसके नायिका-नायक का, उसके अनुकूल सात्विक भावों का **तथा पद्मिनी, चित्रिणी-शंखिनी-हस्तिनी**, आदि जाति की स्त्रियों का निरूपण किया गया है।[33] ६ - एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिन प्रमुख ग्रंथों का नामोल्लेख किया गया है — उनमें दो ग्रंथ हिंदी के भी हैं — १ - केशवदास की '**रसिकप्रिया**' और २ - सुंदरदास का 'सुंदरशृंगार''।

प्रस्तुत ग्रंथ मुख्य विषयका अत्यंत विस्तार के साथ विषय-विवेचन करता है। पर इसका मुख्य आधार 'भानुदत्त' की रसमंजरी और उसकी दो अप्रकाशित टीकाएँ — 'आमोद' और 'परिमल' हैं। इनमें से मुख्यतः सहारा लिया गया है 'आमोद' का। अधिकांश स्थलों में पूर्वपक्ष की उपस्थापना 'के रूप में 'रसमंजरी' के मतानुसारी लक्षण को उपस्थित किया गया है और और उसकी 'अव्याप्ति-अतिव्याप्ति' आदि का विचार करते हुए उत्तरपक्ष के रूप में 'आमोद' का सिद्धांतमत देते हुए आदर के साथ कहा गया है — "आमोदकारास्तु··· ।" बहुधा 'आमोद' का ही पक्ष ग्रंथकार द्वारा भी समर्थित है। पर कभीकभी उसका भी प्रत्याख्यान करते हुए 'शृंगार-मंजरी-कार' ने अपना स्वतंत्र मत उपस्थित किया है।

३३. इदानीं वात्स्यायनमतानुसारेण गुणैर्हस्तिन्यादिनायिकाभेदा भद्रादिनायकभेदाश्च निरूप्यन्ते। हस्तिनी-चित्रिणी-शङ्खिनी-पद्मिनीगुणेभ्यो भद्रदत्त-कुचमार-पाञ्चाल-गुणानामभिन्नत्वात् प्रत्येकमेषामुदाहरणानि (न) लिखामः। हस्तिन्यादिनायिकासु परस्परगुणसाङ्कर्येण जातिसङ्कराः स्त्रियो जायन्ते। [शृंगारमंजरी – पृ० ५४]

इस व्याख्यात्मक समालोचन और मीमांसन की सरणि, विषयों के लक्षणख्यान में भी दिखाई देती है, विषयविभाजन या भेदोपभेद-कथन में भी और कभी-कभी लक्ष्य के उदाहरण में भी।

प्रस्तुत ग्रंथ में नायिकाभेद के संदर्भ में, भेदोपभेदों के प्रसंग में कुछ नवीन उपभेद प्रस्तुत किए गए हैं जो बहुधा रीतियुगीन वासनात्मक विलासिता के सूचक हैं। पर एक बात इस ग्रंथ के विषय में महत्व की है। ग्रंथ यद्यपि उस युग में निर्मित हुआ जब कि मुगलबादशाहों की वैलासिक अभिरुचि के प्रखर प्रवाह में, भारत का संपन्न अभिजात वर्ग निमग्न होता जा रहा था तथापि प्रस्तुत ग्रंथ के विषयनिरूपण में शास्त्रीय गांभीर्य का स्वर पर्याप्त रूप में आदि से अंत तक मुखरित है। यह अवश्य है कि नायिकाओं के भेदोपभेदों की कल्पना और लक्ष्यों के उदाहरणों में कामज कुतूहल के नूपुरगुंजन की स्वरझंकृति भी सुनाई पड़ती है।

नायिकाभेद

ग्रंथकार ने **मुग्धा** के दो भेदों में – **अज्ञातयौवना** और **ज्ञातयौवना** — द्वितीय के ही दो उपभेद — **नवोढ़ा** और **विश्रब्धनवोढ़ा** – माने हैं। अतिविश्रब्ध-नवोढ़ा-रूप मध्या के भेद का सयुक्तिक खंडन किया है पर मध्या के दो अन्य भेद – **प्रच्छन्नमध्या** और **प्रकाशमध्या** माने हैं जो सर्वथा नवीन लगते हैं। **प्रगल्भा** के उपभेद हैं – रतिप्रीतिमती, रत्यानन्दपरवशा।

'धीराधीरादि' भेद के विषय में कोप को आधार मानकर 'रसमंजरी' - कार ने 'परकीया' और 'सामान्या के भी वे भेद माने हैं – जिसका समर्थन **शृंगारमंजरी** में भी किया गया है। यह अवश्य है कि परकीया के भेदविशेष (**उद्बोधिता** – जिसकी चर्चा आगे की जायगी) में ही इन उपभेदों को संभव माना है।

ग्रंथकार के अनुसार परकीया के दो भेद हैं – **अन्या** और **परोढ़ा**। और परोढ़ा के दो उपभेद होते हैं, **उद्बुद्धा** (स्वयं अनुरागिणी) और **उद्बोधिता** (नायक-प्रेरित–अनुरागवती)। **उद्बोधिता** के तीन अंतर्भेद हैं – धीरा, अधीरा और धीराधीरा। **उद्बुद्धा** के भी तीन भेद हैं– गुप्ता, निपुणा और लक्षिता। (यहाँ यह स्मरणीय है कि भानुदत्त के समान परकीया के छः भेद न मान कर इन्होंने तीन ही माने हैं। 'गुप्ता' के अवांतरभेद तीन हैं – १ - वृत्तसुरतगोपना, २ - वर्तिष्यमाणसुरतगोपना और ३ - वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना। **निपुणा** भी तीन प्रकार की होती हैं – १ - वाङ्निपुणा, २ - क्रियानिपुणा और ३ - पतिवंचनानिपुणा (प्रथम दो भेद तो पूर्वप्रसिद्ध 'वाग्विदग्धा' और 'क्रियाविदग्धा' के स्थानापन्न हैं – पर तृतीय नवीन है और कदाचित् तत्कालीन मुसलमानी और राजपूती दरबारों में व्याप्त अनाचारवृत्ति का सूचक है)। **लक्षिता** के भी दो भेद हैं – १ - **प्रच्छन्नलक्षिता** और २ - **प्रकाशलक्षिता**।

परकीया के जिन अन्य तीन भेदों का मुख्यरूप में ऊपर नाम नहीं लिया है वे **प्रकाशलक्षिता** के अवांतरभेद हैं। **प्रकाशलक्षिता** चार प्रकार की हैं – १ - कुलटा, २ - मुदिता ३ - अनुशयाना और ४ - साहसिका। **अनुशयाना** के पुनः तीन प्रकार हैं – १ - विघटित-संकेता, २ - अप्राप्तभाविसंकेता और ३ - शंकितसंकेतजारगमना। यहाँ बताया गया है कि 'रसमंजरी' - कारने यद्यपि अनुशयाना के तीन ही भेदों की कल्पना की है तथापि 'आमोद-कार' के कल्पनानुसार उसके अनेक भेद हो सकते हैं। **साहसिका** सर्वथा नवीन उपभेद है और तद्युगीन मनोवृत्ति का कदाचित् सूचक भी। इसका लक्षण है — साहसकृतजार-संभोगा साहसिका।

सामान्या के पाँच नूतन उपभेदों की इस ग्रंथ में उद्भावना की गई है – १ - स्वतंत्रा, २ - जनन्यधीना, ३ - नियमिता (नियमेन स्थापिता), ४ - क्लृप्तानुरागा और ५ - कल्पिता-

नुरागा। 'नियमिता' से तात्पर्य है, बिना विवाह के ही धननिमित्त जिसका एक ही पुरुष के साथ नियत संबंध स्थापित रहे। 'वल्लृप्तानुरागा' उसे कहते हैं जो धनार्थ बहुभुक्ता होने पर भी एक पुरुष में अनुरागवती होती हैं। 'कल्पितानुरागा' उसे माना है – जो धन के लिए अनुराग का केवल अभिनय करती है। सामान्या के ये भेद कदाचित तत्कालीन गणिका की विभिन्न विधाओं का परिचय देते हैं जो तत्कालीन समाज में दिखाई देती थीं।

'अन्यसंयोगदुःखिता' और 'मानवती' का 'खंडिता' के संदर्भ में निरूपण हुआ है तथा 'वक्रोतिगर्विता' को अवस्था - नायिका - भेदों में आठ प्रकारों के अतिरिक्त नवम भेद माना है।

अतः 'स्वाधीनपतिका' आदि के आठ भेद न होकर नौ भेद हैं। इनमें प्रत्येक के कौन-कौन से स्वीयादि भेद होते हैं – इन सबका विस्तार के साथ विवेचन और लक्षण - लक्ष्य - युक्त निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए 'स्वाधीनपतिका' के भेदों को देखा जा सकता है। इसके आठ प्रकार हैं – स्वीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या, दूतीवंचिका तथा भावि-शंकिता। 'वासवसज्जा' के अंतर्गत 'अवसितप्रवासपतिका' का नाम है – न कि प्रोषितपतिका के अंतर्गत। इसी प्रकार 'विरहोत्कंठिता' के भी दो उपभेद हैं– 'कार्यविलंबितसुरता' और 'अनुत्पन्न-संभोगा'। द्वितीय के चार प्रभेद – 'दर्शनानुतापिता, श्रवणानुतापिता, चित्रानुतापिता और स्वप्नानुतापिता' हैं। विप्रलब्धा भी दो प्रकार की होती हैं – 'नायकवंचिता, सखीवंचिता'। 'खंडिता' भी छः प्रकार की मानी गई है, 'धीरा, अधीरा, धीराधीरा, मानवती, अन्यसंभोग-दुःखिता और ईर्ष्यागर्विता'। इनके भेदोपदों का बहुत विस्तार किया गया है जो कदाचित् अन्यत्र नहीं मिलता। इसी प्रकार 'कलहांतारिता' भी 'ईर्ष्याकलह' और 'प्रणयकलह' के आधार पर दो प्रकार की मानी गई हैं। 'वक्रोक्तिगर्विता' के भी 'प्रेम, सौंदर्य, सौभाग्य, नैपुण्य' के अनुसार चार मुख्य भेद हैं। अवांतरभेदों में स्मित, यौवन, सौकुमार्य, विलास आदि को लेकर भी लक्षण - लक्ष्य प्रस्तुत किए गए हैं। प्रोषितपतिका के पूर्वप्रसिद्ध तीन भेदों - 'प्रोषितपतिका, प्रवसत्पतिका, प्रवस्यत्पतिका' के अतिरिक्त 'सख्यनुतापिता' नामक एक चतुर्थ भेद की भी परिकल्पना की गई है।

'अभिसारिका' के संदर्भ में 'रसमंजरी' के मत से स्वयं अभिसरण करनेवाली 'अभि-सारिका' और प्रिय का अभिसारण करानेवाली 'वासकसज्जिका' है। इस ग्रंथ के अनुसार प्रिय के यहाँ अभिसरण करनेवाली ही आभिसारिका है। परकीया अभिसारिका के उपभेद हैं - 'ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका, दिवाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और कामाभिसारिका'। एक और भी विधा है – 'प्रेमवाक्याभिसारिका।

उत्तमा, मध्यमा और अधमा – इन तीन त्रिभेदों को भी इन्होंने स्वीकार किया है। अंत में 'शृंगारमंजरी' के लेखक ने अत्यंत संक्षेप से अंगना के कामशास्त्रीय, चतुर्भेदों, पद्मिनी आदि का, भी निरूपण किया है।

इस ग्रंथ की विशेषता है लक्षणों का विवेचनात्मक निरूपण तथा अनेक नवीन भेदोपभेदों की उद्भावना। अनूदित होने के कारण या दूसरे ही वजह से जो भी हो, इस ग्रंथ की संस्कृत भाषा में प्रवाहमयी प्रौढ़ता का अभाव - सा है।[३४]

३४. 'शृंगार - मंजरी' के विषय में बताया गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का मूल रूप 'आंध्रभाषा (तेलगू) में विरचित हुआ था —

शृंगारामृतलहरी, रसरत्नहार, रसचंद्रिका

संस्कृत के नायिका - भेद - विषयक साहित्य की चर्चा करते हुए अंत में उपर्युक्त तीन ग्रंथों के प्रस्तुत प्रसंग का संक्षिप्त परिचय अनावश्यक न होगा ।

'शृंगारामृतलहरी' (सामराजकृत)[३५] में संक्षेप से शृंगारालंबन नायक का निरूपण करने के अनंतर आलंबनभूत नायिका का विस्तृत और शास्त्रीय निरूपण किया गया है। 'शृंगारमंजरी' के समान लक्षण और विवेचन गद्य में हैं – प्रौढ़शास्त्रीय गद्य में। इन्होंने मुग्धा को स्वीयामात्र का प्रभेद माना है, मध्या और प्रगल्भा को परकीया और सामान्या के भी। 'मुग्धा' या 'नवोढ़ा' के दो भेद – अज्ञाताज्ञातयौवना हैं। 'विश्रब्धनवोढ़ा' – किसी के मत से मध्या ही है और किसी के मत से 'मुग्धा'। 'मध्या' को 'उद्यतयौवना' भी कहते हैं। 'प्रगल्भा' में कोई नवीनता नहीं है। धीरा आदि को 'परकीया' का भेद इन्होंने नहीं माना है। ज्येष्ठा - कनिष्ठा के विषय में शास्त्रार्थ करते हुए उसे 'मुग्धा' का भी भेद और पतिप्रेमाश्रित ही स्वीकार किया है न कि विवाहक्रम से। परकीया के 'गुप्ता' आदि षट्भेद स्वीकृत हैं। (गुप्ता - २, वृत्तसुरतगोपना, वर्त्तिष्यमाणसुरतगोपना। विदग्धा - २ - वाग्, क्रिया। अनुशयाना – ३, वर्तमानस्थानविघटना, भाविस्थान०, स्वानाधिष्ठितस्थानस्य भर्तुरनधिष्ठानेन।) इन्होंने 'सामान्या' में सच्चे अनुराग का हो सकना भी माना है, पर 'परकीया' में 'मान' की सत्ता

तेनान्ध्राभाषायां रचितः शृङ्गारमञ्जरीग्रन्थः।
स्वयमकबरेण भूभृन्मुकुटमणिरञ्जिताङ्घ्रिकमलः ॥
(शृंगार० पृ० २, श्लो० १५)।

उपक्रमणिका में उपर्युक्त पद्य है, जिसका अर्थ होता है कि स्वयं 'अकबर साहि' ने ग्रंथ की रचना की थी। कुछ पंक्तियों के बाद जो अंश है – बडे साहेबाकबरशाहः शृङ्गारमञ्जरीग्रन्थराजं रुचिरं विरचयति। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि दूसरे से यह संस्कृत रूपांतरण कराया गया है।

डा० भगीरथ मिश्र ने अपने ग्रंथ 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' के नवीन संस्करण में 'शृंगारमंजरी' के हिंदीरूप को 'आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी' लिखित माना है। परंतु उसी ग्रंथ में आगे चलकर अपने कथन की व्याख्या करते हुए डाक्टर साहब स्वयं कहते हैं – "इनके लिए (बड़े साहिब अकबरसाहि के लिए) चिंतामणि ने मूल तेलुगू के संस्कृत अनुवाद शृंगारमंजरी का व्रजभाषा रूपांतर किया था, वही प्रस्तुत 'शृंगारमंजरी' है।" (पृ० ७५) हिंदी 'शृंगारमंजरी' का संपादन किया है डा० भगीरथ मिश्र ने और प्रकाशक है 'लखनऊ विश्वविद्यालय।

कहने का सारांश यह कि मूल ग्रंथ तेलुगू में है जिसका अनुवाद 'बड़े साहेब' ने संस्कृत में किया या कराया और उसका हिंदी रूपांतर किया 'आचार्य चिंतामणि' ने। यह कृति ग्रंथकार की मौलिक रचना नहीं वरन् अनूदित कृति है। साथ ही इसके विषयनिरूपण में जो शास्त्रीय विश्लेषण और विस्तृत विवेचना दिखाई देती है – वह सब प्रायः संस्कृत - संस्करण में ही वर्तमान है।

३५. काव्यमाला – चतुर्दश गुच्छक।

को स्वीकार नहीं किया है। 'आगमिष्यत्पतिका' को 'वासकसज्जा' का एक प्रकार कहा है। 'अवसितप्रवासपतिका' या 'आगतपतिका' को भी उसीका एक विभेद माना है। 'अभिसारिका' में अभिसरण और अभिसारण दोनों का रूप स्वीकृत हैं तथा 'प्रवत्स्यत्पतिका' को 'प्रोषितपतिका' के ही अंतर्गत रखा गया है।

रसरत्नहार[36] — (शिवराम त्रिपाठी) ग्रंथकार ने 'नक्षत्रमाला' (काव्यमाला पंचम गुच्छक) में इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की है पर 'रसरत्नहार' में विस्तृत निरूपण किया है। साथ ही 'रसमंजरी' में कहे गए 'नायिका' के लक्षणों की आलोचना - प्रत्यालोचना भी की है। 'धीरा' आदि के विषय में कहा है कि पूर्वाचार्यों के अनुसार 'स्वीया' के ही वे उपभेद है पर परवर्त्तियों के मत से 'परकीया' के भी। टीका में दो विशेष भेदों का – १ - गुरुजनभीता और २ - भुजंगभीता[37] – भी उल्लेख है। इनमें प्रथम का वही स्वरूप लगता है जिसे 'नाटक-लक्षणरत्नकोश' में **सभ्या** कहा गया है। 'रत्नहार' की प्रथम नायिका उदाहरण से परकीया जान पड़ती है (या पितृगृह की परवशा स्वीया भी), और द्वितीया स्पष्ट ही परकीया है।

रसचंद्रिका – 'अलंकार - कौस्तुभ' नामक अलंकारग्रंथ के निर्माता विश्वेश्वर पंडित का यह ग्रंथ अपनी विवेचन - शैली के लिए प्रसिद्ध है। अपने पूर्वोक्त ग्रंथ और उसकी व्याख्या में ग्रंथकार ने नव्यन्याय की प्रौढ़ और वैदुष्यपूर्ण शैली का आश्रय लेकर बड़े मार्मिक ढंग से पद - पदार्थ का विवेचन किया है। इस कृति में भी प्रौढ़शैली का आश्रय लिया है। नायिका - भेद - निरूपण में शैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ की विवेचन - पद्धति का विशेष महत्व है।

रीतिकालीन प्रवृत्ति के अनुसार आचार्य के रस-विषयक ग्रंथ का आरंभ होता है नायक-नायिका-भेद' के निरूपण से। उसमें महत्व नायिका का मानकर वहीं से विवेचन प्रारंभ हुआ है। त्रिविध नायिकाओं में इन्होंने भी **मुग्धा** के दो भेद 'अज्ञातयौवना' और 'ज्ञातयौवना' (और इसके भी दो भेद, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा - फलतः मुग्धा के तीन भेद) माने हैं। मध्या और **प्रगल्भा** के 'धीराधीरादि' भेद यथापूर्व इन्होंने भी ग्रहण करते हुए कहा है कि प्राचीन मत से ये भेद **स्वीया** के ही होते हैं पर नव्यों ने **परकीया** के भी 'धीरा आदि' भेद माने हैं। 'ज्येष्ठात्व-कनिष्ठात्व' का आधार स्नेह ही है न कि विवाहक्रम।

परकीया के विभाजन में दो भेद (अनूढ़ा और परोढ़ा) न करके गुप्ता, विदग्धा आदि षड्भेदों के अतिरिक्त **कन्या** (अनूढ़ा) का सप्तम भेद स्वीकार किया है। इनके उपभेद भी पूर्व प्रचलित ही हैं। **सामान्या** का कोई अवांतर-भेद नहीं है। इन सब को पुनः 'अन्यसंभोग-दुःखिता', 'मानवती' और 'वक्रोक्तिगर्विता' के रूप में तीन-तीन प्रकार का माना है। मान - 'प्रणय' और 'ईर्ष्या' (तथा लघु-मध्य-गुरु) और प्रत्यक्ष, स्वप्नायित, भोगांकदर्शन, गोत्रस्खलन और श्रवण के आधार पर भी उदाहृत हैं। भेदों की प्रस्तार-गणना में १३ स्वीया, २ परकीया, १ सामान्या, कुल १६ भेद हैं। आठ अवस्थाभेद और उत्तमा आदि तीन भेदों के गुणन से (१६ × ८ × ३) = ३८४ इनके कुल रूप होते हैं। 'दिव्या, अदिव्या' आदि भेदों का इन्होंने ग्रहण नहीं किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि **कन्या** को पहले **परकीया** के उपभेदों में

३६. काव्यमाला – षष्ठगुच्छक पृ० १२७।
३७. पृ० १२७।

रखा। तदनुसार यह भेद असती का एक रूप है (उदाहरणानुसार)। यह नायिका, विवाह के अनंतर अपने कन्याकालीन 'जार' के प्रति अपनी प्रणय-भावना का वर्तन बनाए रखती है। ३८

इनकी रचना में मुख्यतः 'साहित्य-दर्पण' से और कहीं-कहीं 'भरत' से और कदाचित् 'रसमंजरी' से भी सामग्री ली गई है एवं 'पूर्वाचार्य' के उल्लेख द्वारा भी मत उद्धृत हैं। खंडन-मंडन भी संक्षेप में ही है। पर पद-पदार्थ के विवेचन की पद्धति निःसंदेह अत्यंत प्रौढ़ एवं शास्त्रार्थवाली है। उदाहरण, इन्होंने अधिकांश दूसरों का दिया है – पर बहुधा अपने लक्ष्य भी उद्धृत किए हैं।

कहने का सारांश यह कि शृंगार-प्रधान युग में भी 'रसचन्द्रिका' का विषय-निरूपण शास्त्रीय प्रौढ़ता से आद्यन्त समन्वित है।

कुछ अन्य ग्रंथ

सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्धरपद्धति, पद्यरचना — 'सदुक्तिकर्णामृत' ३९ में क्रमबद्ध निरूपण न होने पर भी ये नाम (शृंगारप्रवाहवीचिप्रकरण में) आए हैं — "मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, नवपरिणीता, विश्रब्धनवोढा (गर्भवती), सत्यवती (कुलजा) स्वैरिणी या असती या कुलटा (उपभेद – 'गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता') वेश्या, खंडिता, अन्य - संभोग - चिन्ह - दुःखिता, विरहिणी, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, मानिवी (उपभेद - उदात्त-मानिनी, अनुरक्तमानिनी) प्रवसद्भर्तृका, प्रोषितभर्तृका प्रोषितसंभेदा (जो वस्तुतः अवसित-प्रवासपतिका या आगतपतिका ही है) तथा अभिसारिका (तिमिरा - ज्योत्सना - दुर्दिना)।" इन नामों के साथसाथ उदाहरण दिए हैं – लक्षण और निरूपण नहीं है। 'वेश्या' नाम और उदाहरण के अनंतर "दक्षिणात्यस्त्री, पाश्चात्यस्त्री, उदीच्या – प्राच्या तथा 'ग्राम्या' के नाम और उदाहरण भी दिए गए हैं। 'ग्राम्या' में ग्राम्यत्व का दोष नहीं दिखाया गया है वरन् ग्रामवधू के भोले और सहज सौन्दर्य की रम्यता का वर्णन हुआ है –

न तथा नागरस्त्रीणां विलासा रमयन्ति नः।
यथा स्वभावमुग्धानि वृत्तानि ग्राम्ययोषिताम्॥

(सदु० कर्णा० पृ० १४८)

'शार्ङ्धरपद्धति'४० नामक संग्रह में देव, अप्सरा आदि जातियों के नाम पर भरत के निरूपण का आश्रय लेते हुए अनेक अंगनाओं का उल्लेख मिलता है। देवस्त्री, अप्सरा, यक्षांगना और राक्षसी आदि को कुछ विशेष महत्व मिला जान पड़ता है। महत्ता की कोई अन्य विशेषता इस ग्रंथ में नहीं है।

३८. कन्यका यथा – आरोपिता शिलायामश्मेव त्वं स्थिरेण मन्त्रेण।
मग्नापि परिणयापदि जारमुखं वीक्ष्य हसितैव॥
रसचंद्रिका - चौखंभा संस्कृत सिरीज - पृ० १२ – (१९८२ -)

३९. पंजाब ओरियंटल सिरीज।

४०. बांबे गवर्नमेंट सिरीज।

आंकोलकर लक्ष्मण भट्ट (समय अज्ञातप्राय) की "पद्यरचना" (सुभाषित ग्रंथ, प्रकाशित – काव्यमाला — ८९) उसी पद्धति पर है जिसमें 'सदुक्तिकर्णामृत' संकलित है। इसके 'चतुर्थ श्रृंगार-व्यापार' में रमणी की 'वयःसंधि', तारुण्य और अवयवों' का वर्णन है; 'पंचम-व्यापार' में 'विरहिणी' का। सप्तम-अष्टम व्यापारों में नायिकाओं के नाम आदि और उदाहरण हैं—'कुलांगना, प्रोष्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, उत्कंठिता। 'अथाङ्गनावान्तरभेदाः' कहकर 'नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, असती (विदग्धा, गुप्ता, लक्षिता), वेश्या, कुलटा प्रेम-गर्विता, सौन्दर्यगर्विता, खंडिता, कलहान्तरिता' आदि के उदाहरण दिए गए हैं। कोई और नवीनता नहीं है। उसयुग की प्रवृत्तिमात्र का संकेत मिलता है जब लक्षण इतने परिचित थे कि उनके बिना लिखे भी काम चल जाता था।

रसिकजीवनम्

संस्कृत में विरचित प्रस्तुत ग्रंथ कवि रामामंद (त्रिपाठी रामानंद शर्मा) का है। ये कवि रामानंद काशी के सरयूपारीण ब्राह्मण थे और इनकी रचनाएँ अनेक विषयों पर मिलती है।[४१] परिचेय ग्रंथ पूर्णतः रीतिकालीन प्रवृत्ति और मनोवृत्ति की श्रृंखला का ही अंश है।

संस्कृत साहित्य के नायिकाभेद - संबंधी शास्त्रीय विवेचना की जो रूपरेखा उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में ही नहीं (तेलुगु में भी और) संस्कृत के आचार्यों में भी उस युग तक श्रृंगारी मनोभावना का प्रवाह प्रौढ़ हो चला था। श्रृंगारी रचनाओं की सर्जना और स्वीय लक्ष्य - श्लोकों द्वारा नारी - संपृक्त कामभाव तथा अंग - प्रत्यंग के वासनामय सौंदर्यांकन को लेकर मधुर रचनाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में होने लगा था। वैलासिक मनोरंजन के संतर्पणार्थ वासनात्मक काव्य का निर्माण उन्हें अधिक प्रिय था। यद्यपि 'रसमंजरी', 'श्रृंगारमंजरी' के समान ग्रंथों में शास्त्रीय स्तर पर विषय का निरूपण और विश्लेषण किया जा रहा था तथापि नायिका का कामज सौंदर्य और उसकी उद्दीपकता में मन रम - रम जाता था। 'रसतरंगिणी' लिखकर भी नायिकाभेद के दो ग्रंथों का भानुदत्त द्वारा निर्माण, इसी भावना का परिचायक है।

प्रस्तुत परिचेय ग्रंथ – 'रसिकजीवनम्' — रीतियुगीन मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचय देता है। तत्कालीन आचार्य - कवियों की भाँति ग्रंथकार का आग्रह शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लक्ष्य - काव्य द्वारा नायिका के श्रृंगारी रूपों का अंकन करने में अधिक प्रयत्नशील है।

ग्रंथपरिचय

'रसिकजीवन' सात तरंगों की एक लघुकाय कृति है। इसकी योजना चलती है 'श्रृंगाररस' के निरूपण की आशा लेकर, परंतु इस रचना को मुख्यतः नायिकाभेद का ही ग्रंथ कह सकते हैं। प्रथम तरंग ११४ श्लोकों का है जिसमें विस्तारपूर्वक नायिकानिरूपण है। द्वितीय तरंग के १६ श्लोकों में नायकनिरूपण है। तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ तरंगों में

४१. ग्रंथकार, निबंध - लेखक के पूर्वपुरुष थे। इनके विषय में विशेष विवरण के लिए देखिए – आल इंडिया ओरियंटल कान्फ्रेंस (१९४३ - ४४) के विवरण में 'हिंदी सेक्शन' में एतद्विषयक मेरा लेख। इनका समय था 'शाहजहाँ' के शासन के अंतिम वर्षों और औरंगजेब के शासन के प्रारंभिक वर्षों में।

वियोगशृंगार - संबद्ध, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और विप्रलंभ का वर्णन (क्रमशः २३, ६, ५, ५ श्लोकों में) मिलता है और अंतिम तरंग में वामलोचनाओं के यौवनकालीन सत्वजात अलंकारों का विवेचन किया गया है।

ग्रंथ पद्यात्मक है। लक्षण बहुधा नहीं दिए गए हैं और जहाँ - तहाँ मुख्य भेदों में परिभाषात्मक लक्षण हैं, वे भी परिचायक मात्र हैं। न तो वे शास्त्रीय प्रौढ़तासंपन्न हैं और न सूक्ष्म विश्लेषण करनेवाले। उदाहरण के लिए 'मुग्धा' का परिचय देखिए —

स्वस्वामिपरिचर्या च शीलसंरक्षणं तथा।
आर्जवं च क्षमा चेति स्वीयायाः कथिताः गुणाः।

अर्थात् **स्वीया** के गुण हैं – स्वपतिसेवा, शीलसंरक्षण, ऋजुता और क्षमा। इसी प्रकार परकीया के प्रसंग में इतना ही कहा है – 'परप्रियकृतस्नेहा'। इसी ढंग से कहीं कुछ विस्तृत, कहीं कुछ संक्षिप्त लक्षण या भेदक गुणों का जो वर्णन है – वह भी मुख्य भेदों में। अंतर्भेदों में केवल उदाहरण हैं।

पर उदाहरण, रीतियुगीन अनेक हिंदी कवियों के समान अत्यंत मनोहर और सरस हैं। इनमें कृतिकार की सहजकाव्य प्रतिभा और काव्य - रचना की धाराप्रवाहिक शक्ति के साथ साथ भावपक्ष और कलापक्ष – दोनों की रमणीयता और प्रौढ़ता लक्षित होती है। परिचय के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। ग्रंथ का मंगलाचरण अर्धनारीश्वर शंकर की वंदना से होता है –

गङ्गाम्भोविन्दुरिङ्गत्पटुतरलहरीलास्यलीलाभिरिन्दोः
संदोहैश्चन्द्रिकाणां किमसि सपुलकं सान्द्रमुद्दीपितस्य।
कान्तायाः कान्तकण्ठस्थलवहलभुजाश्लेषमुग्धा विलासाः
कल्याणं वर्द्धयन्तां प्रियसुखवसतेरर्द्धनारीश्वरस्य॥[४२]

अपनी इस रचना को ग्रंथकार ने साहित्यार्णव - मंथन से संभूत अमृतकुंभ कहा है जिसे पीनेवाले देवतुल्य विद्वानों के निमित्त इसे प्रस्तुत किया गया है –

साहित्यार्णवमन्थनेन हि मया स्वीये प्रबंधे शुभे
कुम्भे किन्तु नवे समुद्धृतमहो प्रज्ञावतां प्रीतये।
दृप्यद्दानवदुर्ज्जनैरसुलभं भो निर्ज्जराः सज्जना
रामानन्दकवेस्तदेतदनिशं काव्यामृतं पीयताम्॥

इसी रूपक को और आगे बढ़ाते हुए कवि ने कहा है –

विवेकविकलास्त इह दुर्बलाः प्रायशो
मदीयरचनारसार्णवमहो तरीतुं पुनः।

४२. गंगाजल बूँदनते ढुरकति लहररासि नाचन की लीला करि खूब ही बढ़ायो है।
चंद्र की चाँदनी के सँदोहनितें बाढ़ पाई अतिशय पुलक उद्दीपित होइ आयो है॥
मेलि गलबाँही प्यारे प्यारी आलिंगन करि सुंदर विलास औ हुलास सरसायो है।
बढ़ावै कल्याण सुखवासी महादेव सदा जाको अर्धनारीश्वर रूपनूप दरसायो है॥
(नारायणपति त्रिपाठी - कृत ग्रंथ के हिंदी पद्यानुवाद से)

भवन्ति यदि सज्जानाः कतिपये मनोरञ्जना-
स्तदेतदवगाहितुं रसिकजीवनं ते क्षमाः ॥

[होत विवेक न वेकल वे खल केवल दुर्बल ही रहि जाते।
थाह न लाइ सकैं कविता रससिंधु कहाँ उन पारहिं पाते ॥
जे मनरंजन है कछु सज्जन वे इह मज्जन में सुख पाते।
है रससिंधु अगाध महा रसिकौं हित - जीवन याहि बताते ॥ —वहीं से]

नीचे उद्धृत **मुग्धा** के उदाहरण में काव्य का पदलालित्य और सहज प्रवाह देखा जा सकता है –

लज्जोल्लासितनेत्रवल्लिविलसत्भ्रूवल्लरीपल्लव –
श्रीसन्दोहसमुद्भवत्सुखसुधाकल्लोलकल्लोलिनी।
मध्यस्निग्धमुरःस्थलाऽद्भुतरुचिव्याकृष्टचित्ता भृशं
धूलीकेलिविनोदमग्नहृदया मुग्धावधूः क्रीडति।

लाज - भरे चखवल्लरि पै विलसै भ्रुकुटीबर बंक सुहावनि।
सोइ मनो अति सुंदर पल्लव चित्र सुधा सुखधार नहावनि ॥
मध्य उरोज मनोहर चित्र रुची हठि चित्त समेटि लुहावनि।
धूलि विनोद ते केलि करैं वह मुग्ध वधू अतिहि मनभावनि ॥ [वहीं से]

सामान्य धीरा तथा मध्या धीरा के उदाहरणों को क्रमशः देखिए –

पर्यङ्के पदपङ्कजं विदधतः स्मेरं वचो जल्पतः
किञ्चित्कोपलसत्कटाक्षविशिखव्यापारमानन्वती !
अन्तःप्रेमरसप्रवाहविगलत्प्रेमाश्रुभिर्दुर्दिनम्
रामानन्द-वितन्वती प्रियतमा धीराप्यधीरायते ॥

कालिन्दीमञ्जुकुञ्जोदरमधि भवतः क्रीडतः क्वापि कार्म
हेमन्तेऽपीदमर्कद्युतिभिरिव यदुत्कीर्णमाविर्बभूव।
दूरादुत्सारयन्तं मधुमथन तवासन्ननद्यम्बुशीताः
स्वेदाम्भःपूरमेते ह्युपवनकुसुमामोदधीराः समीराः ॥

[पँलगा पर पाद सरोज धरै हँसि कै मृदु बात सुनावत ही।
करि कोप तनेन कटाच्छ सरै पिय पै अति तीच्छन चलावत ही ॥
रसपूरित प्रेमप्रवाह हिये निज नेहनि आँसु बहावत ही।
आनँद देति अधीर तिया पतिकौ सोइ धीर कहावत ही ॥

जमुना - तट कुंजन में नँदनंदन आप भलेहि बिहार करौ।
यह पूस के मासनि नेठ समान पसेव सुखाइ कै दूर करौ ॥
लखि लेहु लला जमुना जल सीतल मंदहि मंद लगाव करौ।
इन कुंजन के मधुबागन में अति धीर समीरन को पकरौ ॥ वहीं से]

इन लक्ष्य - कविताओं में शब्द - योजना और पद - लालित्य के साथ परंपरागत भावों की अत्यंत रमणीय अभिव्यंजना हुई है। साथ ही इनमें प्रसाद गुण भी वर्त्तमान है। शब्दों का संयोजन इस ढंग से किया गया है कि भावों की मधुरिमा झट झलक जाती है। पाठक

अभिव्यक्ति की गहराई में डूबकर रसास्वादन करने लगता है। मुग्धा कलहांतरिका भाव-चित्र देखिए –

मञ्जुकदम्बसुगन्धे मिलदलिपुञ्जे समीरणे वहति।
हर हर मुग्धपुरन्ध्री पतिमनुनेतुं न लज्जया व्रजति॥

मादक और रत्युद्दीपक समय है। कदंब का मंजुल सुगंध, मधुपों की भीर, मादक समीरण – सब नायिका के हृदय में मिलन की आकुलता भर रहे हैं। पर मुग्धा, अपनी ही लाज में ऐसी बँध-सी गई है कि प्रीतम को मनाने जा नहीं पा रही है। मध्या वासकसज्जा का दूसरा चित्र लीजिए –

फुल्लत्कह्लारहारं कलयति भवनद्वारमालोकयन्ती
भूपाभिभूषयन्ती निजतनुलतिकामुल्लसन्ती लतेव।
इत्येवं वासरस्य प्रभवति सुमुखी वासके संविधातुं
सामग्रीमात्मशिल्पप्रणयनकलनैः क्रीडतीवाङ्गनाऽसौ॥

[विकसित पंकजहार बनावति ताकति भवन दुआरी।
पुष्पित बल्लरि सम तनु साजति पहिरि विभूसन सारी॥
अपने हिय की हुलस दिखावति दिन तें करति तयारी।
वासक हेतु मोद मन करती खेल रचति जनु प्यारी॥   वहीं से]

इसी प्रकार सामान्या वासकसज्जा की कामसज्जा का वर्णन है –

काञ्चीकङ्कणकुण्डलक्वणमिलत्केयूरकोलाहल –
क्रीडत्पादयुगाम्बुजार्पणरणत्कारोल्लसद्भूषणा।
चञ्चत्काञ्चनसूत्रचित्रवसनोत्कीर्णद्युतिद्योतित –
ध्वान्ता कान्तनिकेतनं निविशते कस्यापि वाराङ्गना॥

[कर्धनि कंगन रुन्भुन कुंडल अंगद सुंदर अतिहि बजाती।
मंजुल अंबुज-पादनि भन्भन बोलत पाजिब मधुर सुहाती॥
भासत कंचन तारनि चित्रित अंबर घोतित भलक दिखाती।
कामिनी यामिनि चाँदनि समता धारति पीतम भवन समाती॥   वहीं से]

नायिका के 'विहृत' नामक सात्विक अलंकार की एक मूर्ति देखिए –

कन्दर्पोल्लासलीलाविलसितबहलामोदसम्पाद्विचित्रा
तिर्यक्संभाव्यनेत्राम्बुजमतिललितं वाचमाचम्य भर्तुः।
ह्रीगर्भा स्वावस्थामवनतवदनछद्मना व्याजयन्त्या –
स्तन्व्यास्तत्रात्र चित्रं 'विहृत'मपहरन्त्यरं कस्य पुंसः॥

[रति नाह हुलास विलास बढ़ाय सुपास विकास विचित्र बनाती।
तिरछै करि नैन-सरोज तिया, पिय-बात-सुधा सुनि कै हरखाती॥
धरि लाज-दसा अपनो मुखपद्म भुकावन-छद्म कला प्रगटाती।
नहिं कौन के चित्त हरै रमनी 'विहृतै' दिखरावती जो मदमाती॥   वहीं से]

संपूर्ण ग्रंथ में इसी प्रकार की सरस, सहज और सरल कविता के लक्ष्यों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे ग्रंथकार की सर्वतोमुखीन काव्यप्रतिभा का सुस्पष्ट परिचय मिल जाता है। इस ग्रंथ के निर्माता में काव्यनिर्माण की उत्कृष्ट प्रतिभा, कल्पना और भावुकता

थी। साथ ही पांडित्य और शब्दों पर असाधारण अधिकार भी था। ऐसा लगता है कि भावोन्मेष होते ही अनुकूल शब्द स्वयमेव दौड़ते हुए कवि के सामने आ खड़े होते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ का नायिकाभेद

जैसा कि कहा जा चुका है, 'रसिकजीवन' का नायिकाभेद किसी नवीनता का उद्भावक नहीं है। न तो इस ग्रंथ के विषय - विमर्शन में शास्त्रीय पांडित्य की प्रौढ़ता लक्षित होती है न शास्त्रार्थी मनोवृत्ति का पता चलता है और न नवीन उद्भावना के उदाहरण मिलते हैं। ऐसा लगता है कि कवि अपनी ललित - रचनाओं के केवल प्रदर्शनार्थ इस ग्रंथ - निर्माण में प्रवृत्त हुआ। इसी कारण अधिक मान्य तथा प्रायः सर्वस्वीकृत भेदों को ही उसने लिया है। विवादवाले प्रभेदों के चक्कर में वह नहीं पड़ा है।

साधारण नायिका के तीन **मुग्धादि** भेद कवि ने माने हैं। **'मुग्धा'** के दो भेद (अज्ञातयौवना, ज्ञात०) हैं। ज्ञातयौवना के पुनः दो उपभेद **नवोढ़ा** और **विश्रब्धनवोढ़ा**। द्वितीय भेद को **मुग्धा** और **मध्या** दोनों का माना है। **प्रगल्भा** के दो भेद हैं – 'केलिनिपुणा' और 'आनंदसंमोहिता'। इन दोनों के धीराधीरादि भेद पूर्वाचार्यवत् ही हैं। **नायक** के प्रणयाधान की दृष्टि से न कि परिणय - क्रम से **मध्या** और **प्रगल्भा** भेदों के पुनः दो उपभेद 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' यहाँ भी स्वीकृत हैं। **परकीया** के भी प्रचलित दो भेद **कन्यका** और **परोढ़ा** हैं। परकीया के प्रसंग में कहा गया है कि इस नायिका के 'गुप्ता, विदग्धा, असती, लक्षिता, कुलटा आदि (गुप्ता - विदग्धा - त्वसती - लक्षिता - कुलटामुखाः) भेद होते हैं। वृत्तवर्तिष्यमाणादि भेद से 'गुप्ता' के तीन प्रकार तथा 'विदग्धा' के दो प्रभेद स्वीकृत हैं। **सामान्या** का कोई उपभेद नहीं है।

इनका निरूपण करने के पश्चात् सभी नायिकाओं के प्रसिद्ध त्रिभेद [१ – 'अन्यसंभोग दुःखिता,' २ – 'वक्रोक्तिगर्विता' (जिसमें 'सौंदर्यगर्विता' तथा 'प्रेमगर्विता') और 'मानवती'] का लक्ष्यप्रमुख निरूपण हुआ है। इस निरूपण के अनन्तर अष्टावस्था नायिकाओं का क्रमशः (मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या के क्रम से) प्रत्येक का लक्ष्य और कहीं - कहीं लक्षण - लक्ष्य निरूपित हैं। यहाँ इनके नाम इस क्रम से हैं – प्रोषितभर्तृका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्का, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका और अभिसारिका। 'सामान्याभिसारिका' का उदाहरण दे चुकने पर 'कृष्णाभि०' और 'शुक्लाभिसारिका' के उदाहरण भी मिलते हैं। इन सबके अंत में बिना पूर्वगणना के 'प्रोष्यत्पतिका' का लक्षण तथा पाँचों प्रभेदों के उदाहरण देकर ग्रंथ का प्रथम तरंग समाप्त होता है।

कृतिकार ने सभी तरंगों के अंत में इस प्रकार अपना परिचय दिया है –

'इति श्रीमत्सरयूपारीपण्डितधुरीणमहाकुलीनश्रीमत्त्रिपाठिमधुकरतनूजन्म - सकलविद्यचमत्कारपारङ्गम – श्रीरामानन्दशर्मविनिर्म्मिते साहित्यसागर सुधा - निधानकलशे रसिकजीवने (नायिकानिरूपणं नाम प्रथमः) तरङ्गः।'

कहने का सारांश यह कि विक्रम की अट्ठारहवीं शती के मध्य का विरचित यह ग्रंथ भी उसी प्रवृति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें ऐसे अनेकानेक ग्रंथ हिंदी के रीतियुग में मिलते हैं। हाँ, इस ग्रंथ में 'परकीया' या तद्भेद 'गुप्ता' आदि के लक्ष्यलक्षण में कवि की मनोवृत्ति रमती नहीं दिखाई देती है, यद्यपि 'मुग्धा' आदि स्वीया-भेदों का अंकन बड़े प्रेम के साथ किया गया है।

आशा है, संस्कृत नायिकाभेद की यह संक्षिप्त रूप रेखा हिंदी के रीतिकालीन संबद्ध-साहित्य के अनुशीलन में दीपक का काम कर सकेगी।

*

तुलसी के दार्शनिक विचार

पुरुषोत्तमदास अग्रवाल

•

दर्शन का प्रारंभ कब और किन परिस्थितियों में हुआ, यह तो अभी संदिग्ध है, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सृष्टि के आरंभ में जब मानव की ज्ञानेंद्रियाँ अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति को लेकर मचल पड़ी होंगी, तभी उसने अनुमान का आधार लिया होगा और यही अनुमान आगे चलकर तर्क से गठबंधन करता चिंतन की परिधि में जा पहुँचा होगा। दर्शन का मूल भी यही चिंतन है। अतः स्पष्ट है कि चिंतन की जो धारा आध्यात्मिक धरातल पर पहले पहल पहुँची, वह अवश्य ही युगों की मौखिक एवं अव्यवस्थित विचारों का प्रतिफल रही होगी। तत्पश्चात् ही उसकी परंपरा ने इस वैज्ञानिकता को जन्म दिया होगा, जिसके आधार पर आज यह संपूर्ण साहित्य दृष्टिगत हो रहा है।

वस्तुतः विचारमार्ग का अवलंबन ग्रहण करने से इस भारतीय धर्म और दर्शन की तीन प्रमुख अविच्छिन्न धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। इसमें प्रथम तो वह युग रहा है, जब तर्कप्रवृत्ति अपनी शैशवावस्था में रही। इस युग में वैदिक ऋषियों के चिंतन की नैसर्गिक धारा स्वभावतः ही प्रस्फुटित हो गई। उनके मन में प्राकृतिक प्रतीकों के प्रति एक जिज्ञासा थी, और उस जिज्ञासा में भयमिश्रित एक सरल विस्मय का भाव, जिसमें वह श्रद्धा से संचालित होता रहा। आदि मानव ने इन प्रकृति - चिह्नों के तेज को देखकर इन सबके **संचालनकर्ता एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की**, इसके आगे वे बढ़ न सके क्योंकि उनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रधानता अधिक रही। अतः इस युग को दर्शन का अतार्किक युग कहा जा सकता है।

दर्शन का द्वितीय उत्थान वेदों की प्रतिक्रिया का फल है। इस युग में वेदों के विरुद्ध विप्लव करनेवाले बौद्ध चार्वाक्—जैनों का उदय हुआ। इनकी मूल धारणा प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना था। अतः वैदिक युग में जिस अदृश्य शक्ति की स्थापना की गई थी, उसका खंडन प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से अपने आप हो जाता है। ये भूत और भविष्य को न मानकर वर्तमान को ही सब कुछ समझते थे। इनकी दृष्टि से आत्मा और शरीर में कोई भी अंतर नहीं था। बौद्धों का यह दल कर्मफल को स्वीकार करता हुआ भी बुद्ध के अष्टांग धर्मपथ का अनुसरण ही मुख्य मानता रहा है। इनके चार विभाग दिखाई पड़ते हैं –

१ – मध्यम दर्शन ने तीन सिद्धांत 'सर्वम् शून्यम् शून्यम्', 'सर्वम् क्षणिकम् क्षणिकम्' और 'सर्वम् दुःखम् दुःखम्' माना है तथा **शून्य में मिल जाने को ही इन लोगों ने निर्वाण** कहा है।

२ – योगाचार में **भावजगत** के साक्षात्कार के साथ साथ **योगसाधना** का भी विधान होता है।

३ – सौत्रांतिक दर्शन शाक्तों से प्रभावित है। बौद्धों की वज्रयान शाखा का तंत्र-मार्ग इसी दर्शन को मानता है। इसके अनुसार **भावजगत और बाह्य जगत दोनों की ही सत्य सत्ता है** अर्थात् बुद्धिस्थित रूप और दृश्य पदार्थ दोनों ही सत्य हैं।

४ – वैभाषिक या सर्वास्तिवाद जड़वादी संप्रदाय है। इसमें चार्वाक के जड़वाद का ग्रहण उन्नत बौद्धिक रूप में किया गया है।

इस उपर्युक्त संप्रदाय में धर्म के सर्वशून्यत्व ने आगे चलकर तांत्रिकों और कापालिकों के कारण व्यभिचार का व्यावहारिक रूप धारण किया। झूठ, हिंसा, वासना आदि का प्राबल्य हो गया। सुरा और सुंदरी का जो सहज सुख है, उसीको इन लोगों ने मोक्ष का द्वार समझा। अतः इस धर्म का चिंतनपक्ष हीनयान और व्यावहारिक पक्ष महायान शाखा में चला गया। महायान ही आगे चलकर मंत्रयान बना, जिसमें वाममार्ग की स्थापना हुई। इस मंत्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ अतः इसका नाम बदलकर वज्रयान रख दिया गया, जिसमें मंत्र और हठयोग को भी जोड़ दिया गया। फलतः सदाचार से यह बहुत नीचे गिर गया। आगे चलकर इसी महायान का व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञानकांड से जुड़ा परंतु मूल और भैरवीचक्र - शक्ति, तंत्र - मंत्र और स्त्रीसंसर्ग आवश्यक माने जाने के कारण इस 'वज्रयान' धर्म का अधःपतन हुआ और दार्शनिकों का एक दूसरा दल बौद्ध धर्म के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और शंकर आदि आचार्यों ने दिग्विजय ने उनके अस्तित्व तक में संशय उत्पन्न कर दिया। इसके पश्चात् तो संपूर्ण साहित्य ही इन वज्रवादी दार्शनिकों से प्रभावित होता रहा।

दर्शन में तर्क युग की इस प्रवृत्ति के द्वितीय उत्थान में दुर्ज्ञेयत्व की प्रतिष्ठा की गई। निर्गुण का प्रतिपादन करते हुए अंतरात्मा, परमात्मा, जीवजगत् और ब्रह्म का संबंध तथा माया और तज्जन्य बातों का विवेचन हुआ। ज्ञानकांड की स्थापना जीवन का चरम लक्ष्य बना, उपनिषद् और मीमांसाग्रंथ इस दर्शन के आधार हुए। इस प्रणाली की चरम अभिव्यक्ति ब्रह्मसूत्र में मिलती है। श्री शंकराचार्य ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता (प्रस्थानत्रयी) का भाष्य करके अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया, जिसमें जगत को मिथ्या - माया कहा गया है। इसमें बौद्धों के शून्यत्व और क्षणिकत्व का प्रभाव मानते हुए, लोगों ने शंकर पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। और जो सत्य प्रतीत होता है, वह भ्रम, अज्ञान या माया है। ज्ञान से ही इस भ्रम का नाश होता है और जगत का बोध हो जाता है। इसके अनुसार 'जानना' ही पाना है अतः यह ज्ञानमार्ग भी अधूरा ही है। संक्षेप में इस युग में दर्शन तर्क से युक्त उत्साह और आत्मविश्वास से ही प्रवहमान हो रहा था।

तीसरे उत्थान की अध्यात्मचर्चा में तर्क और कल्पना के स्थान पर अनुभव की ठोस गंभीरता दिखाई पड़ती है। परंतु फिर इन अनुभवसिद्ध बातों को लोगों ने तर्क द्वारा प्रमाणित करना चाहा और फलस्वरूप इस प्रयत्न में भी अति तर्क - वितर्क और वितंडवाद की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी। पर हृदय की प्रधानता के कारण भक्तिभावना का प्राबल्य हो चला और इस भक्ति में दीनता, आश्रय और अनुग्रह आदि भावों का उद्भव हुआ। अतः अद्वैतवाद के प्रतिकूल द्वैतवाद और सगुणोपासना को प्रश्रय मिला। यह मत अद्वैत के अभेदतत्व से भिन्न है, क्योंकि साधना के लिए द्वैतभाव का होना आवश्यक हो गया। बिना जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता के 'सेवक - सेव्य' भाव का आधार ही नहीं खड़ा हो पा रहा था। अतः जीव और ब्रह्म में द्वैतभाव का होना आवश्यक हो गया था। इस मत के प्रतिपादन के लिये रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य, विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य ने दार्शनिक ढंग से अद्वैत का विरोध करके द्वैत का समर्थन किया। सगुण की स्थापना की गई, पर ब्रह्म की

व्याख्या अज, अगुण, अचिंत्य, अविनाशी होने से उसके इंद्रियातीत हो जाने की संभावना हो गई। अतः इन आचार्यों ने 'अवतारवाद की कल्पना की। रामचरित मानस में तुलसीदास ने ज्ञान, भक्ति, निर्गुण - सगुण, जीव - ब्रह्म में अभेद स्थापित करने के उपरांत पुनः भेद बतलाते हुए भक्ति को ज्ञान से, सगुण को निर्गुण से और ब्रह्म को जीव से श्रेष्ठ माना है। तुलसी के विचारों के आधार पर दर्शन के किसी एक क्षेत्र में उनका वर्गीकरण विद्वानों के लिए एक विवाद का विषय रहा है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत - वादों के अंतर्गत ही उनको अधिकांश विद्वानों ने माना हैं। अपना कोई मत स्थिर करने के पूर्व इन वादों के मूल रूप की चर्चा तथा उन आधारों को प्रस्तुत करना उचित होगा, जिनके आधार से तुलसी के विचार स्थिर हो सकते हैं।

सामान्यतः तुलसी के दर्शन पर विचार करते हुए उन्हें अद्वैतवादी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी ठहराने का प्रयत्न किया जाता है। अद्वैतवाद के मूल सिद्धांतों में ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं। जीव और ब्रह्म एक ही है, परंतु माया के कारण वे भिन्न दिखाई पड़ते हैं। जगत की सत्ता नहीं है, पर वह सत्य - सा प्रतीत होता है और इसका कारण माया - जन्य - अज्ञान है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत और रविकर में नीर का भ्रम होता है, उसी प्रकार जगत के विषय में भी हमारा भ्रम बना रहता है। इसीको 'विवर्तवाद' कहते हैं। वस्तुतः इस भ्रम का नाश ज्ञान के द्वारा होता है पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म ही है और यह जगत, जो हमें सत्य सा प्रतीत होता है, उसकी केवल मानसिक सत्ता ही कही जा सकती है। जब ज्ञान के द्वारा हमें इसका बोध हो जाता है, तो 'जगत का बोध' हो जाता है। तथा जगत के व्यावहारिक रूप माया के नष्ट होने पर हम ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का यही ऐक्य 'मोक्ष' कहा जाता है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है और ज्ञान से ही 'सारूप्य' की प्राप्ति होती है। ब्रह्म एक है, निर्गुण है, अजन्मा है। अतः ब्रह्म जन्म नहीं लेता। जो अंश जन्म ग्रहण करता है, वह अशुद्ध ब्रह्म है, मायोपहित है। शुद्धावस्था में वह निर्विकल्प, निर्विकार और चेतनसत्ता है। बाह्य जगत उससे भिन्न न होकर उसीकी प्रतीति हैं। यह जगत उसी ब्रह्मसत्ता में अध्यस्त है। यह नामरूप है और नामरूप मन की वृत्तियाँ हैं। इसके हट जाने से कुछ नहीं रह जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि 'जगत प्रतीति है, मिथ्या है, अभ्यास का विवर्त है'। जीव और ब्रह्म का भेद भी उपाधिकृत है जब उपाधि का लय हो जाता है तो जीव भी ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जगत मन की स्फुरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब देखना यह है कि तुलसी में इन बातों का कहाँ तक समर्थन मिलता है? ग्रंथ के उपक्रम में तुलसी ने कहा है –

> यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलम् ब्रह्मादिदेवासुरा।
> यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः॥

इन पंक्तियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अखिल विश्व माया के वश में है जिसकी सत्ता से (अर्थात् जिस ब्रह्म की माया की सत्ता है) सभी उसी प्रकार सत्य प्रतीत होता है, जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान होना, यही विवर्तवाद है। सत्य प्रतीत होना व्यावहारिक सत्ता है। अतः ये पंक्तियाँ निस्संदेह अद्वैतवाद की कही जाएँगी। फिर उपक्रमादि षट्लिंगों द्वारा भी किसी ग्रंथ के सिद्धांत का निर्णय किया जा सकता है। कहा है कि –

उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ति च लिंग तात्पर्यनिर्णये ॥

आरंभ को उपक्रम, समाप्ति को उपसंहार, आवृत्ति को अभ्यास, प्रकारांतर से प्राप्त न होनेवाले को अपूर्वता, साधन द्वारा सिद्ध होने को फल, प्रशंसा को अर्थवाद और अनुकूल युक्ति को उपपत्ति कहते हैं।

उपसंहार में तुलसी ने **'दारुन अविद्या पंचजनित विकार'** का वर्णन किया है। अभ्यास में अपने मत की पुष्टि में बार - बार एक ही बात का भिन्न - भिन्न उक्तियों द्वारा दुहराने का प्रयत्न है।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि **भुजंग बिनु रजु** पहिचानें।
जेहि जाने जग **जाय हेराई**। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥
जासु सत्यता ते जड़ माया। भास **सत्य इव** मोह निकाया॥

रजत - सीप महँ भास जिमि, जथा **भानुकर बारि**।
जदपि **मृषा तिहुँ काल** सोइ, **भ्रम न सकइ** कोउ टारि॥

इसमें भी जगत उसी प्रकार मिथ्या है, जैसे रस्सी में सर्प। जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर 'जेहि जाने' जगत हेरा जाता है। अर्थात् जगत का बोध हो जाता है। उसीके कारण जड़ माया भी सत्य ही प्रतीत होती है, परंतु इस भ्रम को कोई हटा नहीं पाता है। विनयपत्रिका में भी इसी सिद्धांत का समर्थन मिलता है –

१ – मैं तोहिं अब जान्यों, संसार!
देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये विचार।
२ – जग नभ बाटिका रही है फलि फूली रे,
धुँएँ के से धौरहर देखि तूँ न भूलि रे।
३ – देखिय, सुनिय, गुनिय मन माहीं, **मोह भूलि** परमारथ नाहीं।
४ – सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु, अस्वि प्रपंच जिय जोय।।
५ – कहि न जाय मृग बारि सत्य, भ्रम तें दुख होय विशेषे।
६ – शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिन लिखा चितेरे।
७ – सोवत सपनेहूँ सहे, संसृति सताप रे।
बूड़ो मृगबारि खायो, जेवरी को साँप रे।।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से जगत के मिथ्यात्व पर प्रकाश पड़ता है। इस जगत का बोध ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। स्वप्न की भाँति माया से जागने पर जगत के सत्य का ज्ञान हो जाता है, अतः स्पष्ट है कि तुलसी ने अद्वैतवाद की पंक्तियों को लिखकर अपने मत का स्पष्टीकरण किया है।

अपूर्वता में बतलाया गया है कि संसार मोहों का मूल है और उसकी परमार्थसत्ता नहीं है 'मोह मूल परमारथ नाहीं' से यही तात्पर्य है। मानस में माया की व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि 'जेहि जाने जग जाय हेराई' और यहीं इसका फल है। 'हेराई' का तात्पर्य है — प्राप्त वस्तु का वियोग हो जाना। ज्ञान हो जाने से यह दुखमय मायाजन्य जगत जो हमें पहले

प्राप्त था, अब हेरा जाता है और पुनः जीव मुक्त होकर सांसारिक बंधनों से परे हो जाता है। अर्थवाद में माया के लिए प्रशंसायुक्त वाक्यों का प्रयोग किया गया है, यथा –

हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाय बिहगेस।

और अंत में अनुकूल उक्तियों द्वारा अद्वैत का समर्थन किया गया है जैसे –

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होय।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय॥

अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभेद होता है। भेद माया के कारण ही प्रतीत होता है। जीव इसी माया के वश में है। 'जीव चराचर बस करि राखे' तथा उस माया-परिवार ने जीव को चारों ओर से घेर रखा है। इसीसे वह भ्रम में पड़ा हुआ पापत्रय का अनुभव करता है। इसका ज्ञान हो जाने पर जीव भी ब्रह्म हो जाता है और यह ज्ञान ब्रह्म-कृपा से ही संभव है। 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुमहि तुमहि होइ जाई'। यहाँ पर 'जानत तुमहिं तुमहिं होई जाई' – द्वारा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' की बात कहते हुए जीव और ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन किया गया है। वस्तुतः इन दोनों में वही एकता है जो जल और उसकी लहरों में है। तुलसी ने कहा है कि 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा, वारि बीचि इव गावहि वेदा' यहाँ व्यवहारावस्था में जीव-ब्रह्म में भेद तो है, परंतु परमार्थावस्था में दोनों एक ही हैं। वस्तुतः जीव अभिमानी होता है तथा माया के वश में है। परंतु ब्रह्म एक रस और अपने में पूर्ण है –

ज्ञान अखंड एक लीलाधर, मायावस्य जीव सचराचर।
जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
मायावस्य जीव अभिमानी, ईसवस्य माया गुणखानी।
परवश जीव स्ववश भगवंता, जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा-भेद जद्यपि कृत माया, बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

यह भेद उसी प्रकार असत्य है जैसे चक्कर लगाते हुए बालकों को घरों के घूमने का असत्य भान होता है। बात यह है कि हम देह-इंद्रियों के अभिमान से कर्मों का आरोप आत्मा में कर देते हैं, इसीसे भ्रम में पड़ जाते हैं। इस भ्रम के नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। अद्वैतवादी भक्ति के दो भेद मानते है – १ – भेदभक्ति – इसमें साधक ब्रह्म में लीन न होकर तत्सान्निध्य से मोक्ष-सुख का अनुभव करता है; दशरथ ने इसी भक्ति की साधना की थी। एक स्थान पर तुलसी ने कहा है 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ, प्रथमहि भेद भगति कर लयऊ'। २ – अभेद भक्ति – इसमें साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है –

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भई जहँ नहिं फिरे।

ब्रह्म में लीन होना केवल अद्वैतवाद ही मानता है अतः तुलसी अद्वैतवादी हुए। इनके अनुसार माया के कारण ही द्वैत है। यही अभेद नहीं होने देती परंतु स्वयं यह माया एक नर्तकी है तथा प्रभुप्रेरित होने के कारण इसकी अपनी कोई निजी शक्ति नहीं 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके'। माया की कठिनाइयों को पार कर ही 'कैवल्य परम पद' को जीव प्राप्त करता है। सारांश तुलसी की माया तर्कदृष्टि से अनिर्वचनीय है, श्रुतिप्रमाण से मिथ्या है लेकिन लौकिक दृष्टि से सत्य है, अतः उसे न तो सत् कहेंगे और न असत्। यह माया सदसदविलक्षण, अनिर्वचनीय भावरूप है।

अभी तक जो कुछ कहा गया उससे तुलसीदास की अद्वैतवादी विचारधाराओं का आभास मिलता है परंतु इतने से ही उनके मत का स्थिरीकरण नहीं हो सकता, जब तक कि विशिष्टाद्वैत पर भी विचार न कर लिया जाय। मानस में ऐसी बहुत सी पंक्तियाँ आती हैं जिनको देखते किसी एक ही वाद के अंतर्गत उनको रखना बड़ा ही कठिन हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी पर अपना निर्णय देते हुए कहा है कि "परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतवाद तुलसीदास को मान्य है परंतु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।" डा० ग्रियर्सन ने भी इनको विशिष्टाद्वैतवादी मानते हुए कहा है कि उनका झुकाव अद्वैत की ओर अधिक है। रामकुमार वर्मा के अनुसार "तुलसीदास अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि तुलसी में दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय है। अद्वैत के विषय में ऊपर कहा जा चुका है, अब विशिष्टाद्वैत के विषय में विचार करें। अद्वैत की चर्चा करते हुए उपक्रम, उपसंहारादि जिन षटलिंगों की चर्चा की गई है, उन्हीं के आधार पर विशिष्टाद्वैत की उक्तियों को ढूँढ़ने का यहाँ प्रयास है।

उपक्रम से ग्रंथ के आरंभ का अर्थ लगाते हैं। महाकाव्यों के लक्षण में संस्कृत ग्रंथकारों ने बताया है कि इसका आरंभ नमस्कार, आशीर्वचन अथवा वस्तुनिर्देश से होना चाहिए क्योंकि ग्रंथ का वही प्रतिपाद्य विषय होता है जिसके आधार पर ही उसका विकास और उपसंहार किया जाता है। रामचरितमानस के प्रत्येक कांड के आरंभ में ब्रह्म के सगुण रूप की प्रार्थना की गई है तथा कहीं कहीं तो स्पष्ट रूप से भक्ति का वरदान माँगा गया है, जैसे—

> यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
> वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

यहाँ पर राम को 'हरि' शब्द से संबोधित किया गया हैं तथा भवसागर को पार करने के लिये उनके चरण कमल को ही एकमात्र साधन बताते हुए भक्ति का प्रतिपादन किया गया है इसी प्रकार अन्य कांडों में भी—

१ – सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ **भक्तिप्रदौ** तौ हि नः।
२ – वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूणामणिम्।
३ – **भक्तिं प्रयच्छ** रघुपुंगव निर्भरां मे

इन मंगलचरणों द्वारा सगुणावतारी राम की वंदना की गई है। यह वंदना भक्ति के अनुकूल ही है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उपसंहार से ग्रंथ की समाप्ति के वर्णन का अर्थ लगाया जाता हैं। इस अंश में ग्रंथकार जो कुछ कहता है, ग्रंथ का वही मूल होता है। रामचरितमानस में चार वक्ता और चार श्रोता कहे गए हैं। इन वक्ताओं का मूल उद्देश्य 'रामविषयक' संशय को दूर करना था। यद्यपि अपने विषयप्रतिपादन का इनका मार्ग भिन्न रहा, परंतु सभी ने अंत में भक्ति को ही सर्वमान्य ठहराया है। काकभुशुंडि और गरुड़ के प्रसंग की समाप्ति पर—

> वारि मथै घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
> बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अमेल॥

कहहुँ नाथ हरि चरित अनूपा, व्यास समास स्वमति अनुरूपा।
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी, राम भजिय सब काम बिसारी।
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा, बंध्या सुत बरु काहुहिं मारा।
यथा मोच्छ सुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

कहा गया है। उमा और महेश्वर - संवाद की समाप्ति पर जब शिव ने कहा कि मैंने 'कलिमल समनि' और 'मनोमलहरनी' राम की कथा सप्त सोपानों वाली कही है और तुमको उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिए। उमा ने भी अंत ने उसका यही उत्तर दिया है कि –

उपजी रामभगति दृढ़, बीत्यो सकल कलेस।

इस प्रकार यहाँ पर भी भक्ति का ही प्रतिपादन है। तीसरे उपसंहार में भी यही बात है तथा अंतिम में तुलसी ने तो स्पष्ट रूप से कह दिया है कि –

पुण्यं पापहरं सदासिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदम्।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

उपर्युक्त उपसंहार और उपक्रम, इन दोनों साधनों से यह सिद्ध है कि तुलसी भक्ति को मानते थे और भक्ति का मार्ग विशिष्टाद्वैत का होता है। अब तीसरे साधन – अभ्यास के आधार पर विचार करना चाहिए। प्रायः ग्रंथकार अपने अभिमत को ग्रंथ के बीचबीच में बार बार कहता हुआ चलता है ताकि उसका सिद्धांत उससे दूर न जा पड़े। विचारों की यही पुनरावृत्ति अभ्यास के अंतर्गत आती है और इसीसे उसके सिद्धांतों का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण होता है। तुलसीदास ने अभ्यासक्रम के अंतर्गत इसे तीन रूपों में प्रस्तुत किया है – १ - अपनी प्रार्थनाओंद्वारा, २ – अन्य पात्रों तथा देवताओं की प्रार्थना द्वारा और ३ – भक्तिप्रसंगों के विवेचन द्वारा।

तुलसी ने जहाँ कहीं भी अनेक देवताओं की स्तुति की है, उन सबके अंत में वरदानरूप में 'राम-चरण-रति' ही माँगी है। वे भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और कुछ चाहते ही नहीं। अर्थ, धर्म, काम इत्यादि उनके लिये सब व्यर्थ है। वे कहते हैं –

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहहुँ निरबान।
जनम - जनम रति रामपद, यह बरदानु न आन॥

माँगत तुलसिदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे।

विनयपत्रिका में भी बहुत से देवताओं की तुलसी ने स्तुति की है परंतु उन सबको राम - भक्ति - प्राप्ति का एक साधन ही माना है क्योंकि उनकी दृष्टि सर्वदा रामचरण में ही है। प्रार्थना के किसी अंश को, और कहीं से भी लेकर देखा जाय तो रामभक्ति के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा दीख नहीं पड़ती। मानस के मंगलाचरण में संतों की वंदना करते हुए उन्होंने कहा कि 'बाल - बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरण-रति देहु', इसी प्रकार भगवान् भास्कर, शंकर, भवानी, गंगा आदि सभी देवताओं की स्तुति में यही अभिलाषा प्रगट की गई है। तुलसी के राम परब्रह्म हैं इसीसे स्वयं आप तो भक्त के रूप में आए ही, मानस के अन्य पात्रों का चित्रण भी भक्त के रूप में ही किया गया है। स्वायंभुव मनु, अहिल्या, जनक,

अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, नारद, सुग्रीव, विभीषण, ब्रह्मा, इंद्र, शंकर, वेद, सनकादि, बशिष्ठ, कागभुशुंडि आदि सभी प्रसंगों में एक ही भावना दिखाई पड़ती है कि 'जनम - जनम प्रभु पद कमल, कबहुँ घटे जनि नेह।'

भक्ति का यह रूप इन्हीं प्रसंगों में समाप्त नहीं हो जाता अपितु दूसरे साधनों द्वारा भी भक्ति की दृढ़ता स्थापित की गई है। श्री राम के द्वारा वाल्मीकि से अपना निवासस्थान पूछने पर मुनिवर कहते हैं कि जिनके हृदय में तुमसे सहज स्नेह है, जो किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं करते, उन्हीं के मन में तुम सर्वदा बसते हो। अरण्यकांड में लक्ष्मण के प्रश्न करने पर राम नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति मनसा - वाचा - कर्मणा मेरी निष्काम भक्ति करता है, मैं उसी के हृदय में विश्राम करता हूँ। यही बात उन्होंने कई प्रसंगों में जैसे नारद से संतों का लक्षण वर्णन करते हुए, अयोध्या के पौरजनों से वार्ता करते हुए, कागभुशुंडि प्रसंग में और भगवद्वाक्य के रूप में कही है। उत्तरकांड का प्रसंग तो पूर्णतः तुलसी की भक्तिभावना को ही पुष्ट करता है। वाटिका में राम का उपदेश तुलसी की इसी प्रेरक शक्ति का फल है। यहाँ तक कि तुलसी के निम्न और राक्षस पात्र भी भक्ति की ही चर्चा करते हैं, जैसे मंदोदरी ने रावण से कहा कि –

नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होहि अहिवात।

तिर्यक् योनि में उत्पन्न उनके पक्षी पात्रों की भी यही कामना है कि 'तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीतारवन।' इससे सिद्ध होता है कि तुलसीदास का जीवन ही भक्तिमय था क्योंकि, जब तक किसी कवि का जीवन किसी विशेष भावना से आप्लावित नहीं होता, वह अपने काम्य और जीवन के साधारण से साधारण प्रसंगों में इस प्रकार अभ्यासक्रम द्वारा एक ही बात की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अतः निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी का झुकाव विशिष्टाद्वैत की ओर अधिक था।

ग्रंथ में किसी प्रकार की विलक्षणता का होना भी तात्पर्यनिर्णय का एक साधन माना जाता है। मानस में नाम के प्रभाव को निर्गुण ब्रह्म तथा राम से भी बढ़कर माना गया है जैसे-

ब्रह्म राम ते नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जियजानि॥

फल का संबंध किसी रचना के उद्देश्य होता है। यही ग्रंथकार का प्रतिपाद्य विषय कहा जाता है। ऊपर की पंक्तियों में उपसंहार में वक्ताओं और श्रोताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य भक्ति ही है और भक्ति का मार्ग अद्वैत का नहीं होता। गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ के पाठ करने के फल पर भी प्रकाश डाला है –

१ – जे एहि कथहि सनेह समेता, कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।
होइहहिं राम चरन अनुरागी, कलिमल रहित सुमंगल भागी॥

२ – मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे हरि कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास॥

जो व्यक्ति स्नेहपूर्वक इस कथा का श्रवण करेगा, उसे राम - चरण में रति उत्पन्न होगी, मायाजनित सभी विकार नष्ट हो जाएँगे और मुनियों के लिए भी दुर्लभ भक्ति का परमपद प्राप्त हो जायगा।

अपने विषय को पुष्ट करने के लिए केवल उसका स्वरूपबोध करा देना अथवा उक्तियों द्वारा फलसिद्धि का वर्णन कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता अपितु उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उन प्रशंसात्मक अथवा निंदात्मक वाक्यों का प्रयोग भी हो जिससे विषय के फल और स्वरूप का बोध और अधिक स्पष्टतया हो सके। ऐसे वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। तुलसी ने भक्ति और ज्ञान, इन दोनों के प्रसंग में वर्णन करते हुए भक्ति को सर्वसाध्य और सुलभ माना है तथा इसकी तुलना में ज्ञानमार्ग को कठिन और दुरूह कहा है। वह कृपाण की धार के समान है जिसमें सर्वदा भय बना ही रहता है। वेदस्तुति के प्रसंग पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया है –

'जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी,
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'

कागभुशुंडि ने इसी प्रसंग में गरुड़ से कहा है कि जो व्यक्ति रामचंद्र के भजन के बिना ही 'निर्वाण' पद को चाहता है वह साक्षात् पुच्छ और विषाणहीन पशु ही है। क्योंकि बिना भक्ति का आधार ग्रहण किए साधना में जीवन नहीं आ पाता, फिर ज्ञान का मार्ग (श्रमसाध्य) होने के नाते माया की पकड़ में जल्दी आ जाता है परंतु भक्ति का मार्ग स्त्रीप्रधान होने से उस पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी बात को पुनः तुलसी ने ज्ञानदीपक और भक्त चिंतामणि, प्रौढ़तनय और बालतनय आदि रूपकों द्वारा सिद्ध करते हुए अंत में यही कहा कि जप, तप, नियम, योग, श्रुतिपाठ, तीर्थ, मज्जन, आगम-निगम आदि धार्मिक कृत्यों के करने और ग्रंथों के अनुशीलन का एकमात्र फल यही है कि 'तव पदपंकज प्रीति निरंतर'।

कभी कभी प्रतिपाद्य विषय को उक्तियों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा भी की जाती है उसमें भिन्न भिन्न रूपों से एक ही बात का समर्थन करते हैं। मानस में राम के द्वारा भक्ति की पुष्टि इसीलिए कराई गई है। राम ने कहा है कि भक्ति से रहित होने के कारण ज्ञान भी हमको प्रिय नहीं। उत्तरकांड में केवल ज्ञान के हेतु ही भक्ति को छोड़कर श्रम करनेवाला व्यक्ति उसी प्रकार का मूर्ख है जैसे अपने घर में स्थित कामधेनु की अवज्ञा कर दूध के लिए आकवृक्षों को खोजते रहना।

अभी तक जो कुछ कहा गया है उसके द्वारा मैंने मानस में पाई जानेवाली उन उक्तियों का वर्णन किया जिनसे तुलसी की विचारधाराओं का कुछ आभास मिल जाता है। इन्हीं उक्तियों द्वारा विरोधी पक्ष वालों ने अपने-अपने मत का समर्थन करने का अथक प्रयास किया और निष्कर्ष रूप में किसी ने तुलसी को अद्वैतवादी और किसी ने विशिष्टाद्वैतवादी माना है। विशिष्टाद्वैतवादी मानने वालों ने निम्नलिखित तर्कों द्वारा अद्वैतवाद का खंडन किया है, उसका संक्षेप में दिग्दर्शन समीचीन होगा।

अद्वैतवाद में त्रयात्मक सत्ता का वर्णन अवश्य किया जाता है। परंतु श्री रामपदार्थ जी ने 'कल्याण' में प्रकाशित एक लेख द्वारा बताया है कि यदि गोस्वामी जी को यह सिद्धांत अभिमत होता तो कहीं न कहीं वे इस सत्तात्रयात्मक सिद्धांत को भी स्पष्ट करते। परंतु इन सिद्धांतों को उलटे भ्रमात्मक कहते हुए आपने उन्हें छोड़ने को कहा है। यथा –

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरइ तीनि भ्रम, सो आपनु पहिचानै॥

श्री राजपति दीक्षित 'तुलसीदास और उनका युग' में विशिष्टाद्वैत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि अद्वैतवाद में संसार को असत्य मानते हैं, तुलसी ने अपने ग्रंथ में इस प्रकार की जो भी बातें कहीं हैं, उनका उद्देश्य केवल इस जगत से विरक्ति उत्पन्न करना ही था क्योंकि जगत तो सत्य है, पर आसक्ति के कारण जीव उसकी नश्वरता को शाश्वतता मान लेता है और यहीं भ्रम है। मूलतः जगत तो ब्रह्म का अंश है। तुलसी तो केवल इस जगत की नश्वरता ही दिखलाना चाहते थे, परंतु उसकी सत्यता के प्रति उनके मन में कोई अविश्वास नहीं है —

१ – जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव, होत कहहु केहि लेखे।

२ – झूठो हैं, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गवाँर है।

इन पंक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जगत को झूठा मानने वाले लोग गँवार है। यहीं एक शंका यह हो सकती है कि यदि जगत मिथ्या है, तो तुलसी क्यों इसे 'सियाराममय' मानकर प्रणाम करते। वस्तुतः तुलसी का ब्रह्म अंतर्यामी हैं, फिर इसमें उनकी भक्ति का व्यावहारिक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। विचार करने से ज्ञात होता है कि शंकर का सारा कार्य अज्ञान के आवरण या विशेष शक्ति द्वारा कराया गया है। परंतु तुलसी यह काम माया के द्वारा, जो राम की शक्ति है, कराते हैं। उनकी दृष्टि से सैकड़ों घटों में पूरित आकाश और महाकाश को हम अलग अलग नहीं मान सकते हैं। दूसरे अद्वैतवादी कहते हैं कि माया अपने बल से ब्रह्म को अधिष्ठान बनाकर संपूर्ण जगत की सृष्टि करती है और मायोपहित अशुद्ध ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है, परंतु तुलसी की दृष्टि से माया का अपना बल कुछ भी नहीं है। वह ब्रह्म के अधीन हैं, माया के दो भेद करते हुए उन्होंने कहा है –

१ – एक रचइ गुन गन बस जाके, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।
सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया, रचइ जासु अनुशासन पाया।

२ – सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।

३ – जीव चराचर वश करि राखे, सो माया प्रभु से भय भाखे॥

अर्थात् यह माया परवश माया है और इसकी कोई अपनी शक्ति नहीं है।

पुनः अद्वैतसिद्धांत के अनुसार यदि निर्विशेष चिन्मय, ब्रह्म मानते तो वैसी दशा में 'चिदानंद मय देह तुम्हारी' कदापि न लिखते। अतः ऐसे पदों का, जिनसे अद्वैत का समर्थन होता है, अर्थ विशिष्टाद्वैत के अनुसार लगाया जायगा।

इन लोगों ने बताया है कि निर्विशेष शुद्ध कारण ब्रह्म अवतार नहीं लेता और यही ईश्वर है परंतु तुलसी इसके विपरीत हैं। तुलसी ने कहा है कि –

'अविगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा' अर्थात् भगवान् माया से परे है। पुनः –

शुद्ध सच्चिदानंदमय कंद, भानुकुल केतु।
चरित करत ना अनुसरत संसृति सागर सेतु।

शिव के द्वारा मोहरहित ब्रह्म की चर्चा करते हुए अद्वैत का विरोध भी प्रस्तुत किया गया है –

१ – निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी,
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्राणी।
२ – निज अज्ञान राम पर धरहीं।

तथा तुलसी ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा है कि जिन लोगों ने अवतार लेने वाले ब्रह्म को मायोपहित, कार्य और अशुद्ध ब्रह्म माना है, वे 'कुतरक की रचना' और 'दारुण असंभावना' की बातें करते हैं क्योंकि सैद्धांतिक रूप से अद्वैतवाद चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, परंतु इसे भावनात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं कह सकते हैं। इसमें बौद्धिक विलास की संतुष्टि तो अवश्य है, पर मन की तुष्टि नहीं हो पाती। इसीसे तुलसीदास जो इस मत को नहीं मानते।

विचार करने से ज्ञात होता है कि तुलसीदास मुक्तिमार्ग के किसी भी साधन का विरोध नहीं करते। हाँ, इतना अवश्य है कि रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की अवस्था में भी द्वैत को स्वीकार करते हुए ब्रह्म के 'सीताराम' रूप में निमग्न रहना चाहते हैं, उनके अनुसार सायुज्य से सालोक्य और सारूप्य अधिक आनंददायकी है। क्योंकि यह सायुज्य मुक्ति तो भक्त के लिए 'अनइच्छत आवइ बरियाई'। इनकी भक्ति 'श्रुति संमत' और 'बिरति-बिवेक'-युक्त है। इन्होंने ज्ञान को भक्ति का साधन माना है पर अद्वैत सिद्धांत में भक्ति को ही ज्ञान का साधन माना गया है। अतः इन विवादों को हटाने के लिए ही तुलसी ने इन दोनों का समन्वय कर दिया और ज्ञान तथा भक्ति दोनों की आवश्यकता बताते हुए भी भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। तुलसी ने शंकर की भाँति जो 'सुक्ति में रजत' आदि का वर्णन किया है, उसका उद्देश्य संसार को मिथ्या दिखलाकर जीव में 'बिरति - बिवेक' उत्पन्न करना है। ज्ञान से विरति प्रादुर्भूत होती है तथा जीव के द्वैतभाव के नाश होने पर ही भक्ति का उदय होता है। यही समन्वय की भावना तुलसी की बड़ी देन है। मंगलाचरण के जिस पद में उन्होंने रज्जु में सर्प के भ्रम की बात कही है उसका भी पर्यवसान भगवान के चरण - पंकज की भक्ति में ही किया गया है। बहुत से अन्य स्थलों भी पर जहाँ हमें अद्वैत-वाद होने का भ्रम होने लगता है, उसके पूर्वापर प्रसंगों पर ध्यान देने से यह विचार निर्मूल सिद्ध हो जाता है। बात यह है कि ज्ञान के द्वारा जब संसार की वास्तविकता का पता चलता है, तभी निर्गुण के सगुण रूप राम में वैधी भक्ति उत्पन्न हो जाती है। यहीं पर दोनों धाराओं का समन्वय हो जाता है। साधन - पद्धति में तुलसी सेवक - सेव्य - भाव को ही मानकर चलते है। यह भक्ति सत्संग से और सत्संग हरिकृपा से ही मिल सकता है। अतः यह 'अनुग्रह' का मार्ग हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि 'तुलसी - मत' में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का निर्गुण रूप, जीव और ब्रह्म का अभेद, जगत का मिथ्यात्व प्रतिपादित होता है, परंतु भक्ति के व्यावहारिक दृष्टिकोण से ब्रह्म का सगुण - निर्गुण रूप, माया के द्विविध भेद, भक्ति की श्रेष्ठता, शास्त्रानुसार कथित नवधा भक्ति, स्मृतिमतानुसार देवोपासना तथा योग, ज्ञान - भक्ति के अविरोध की स्वीकृति है। ये तत्वतः शांकर पद्धति को अपनाकर भी रामानुज का अंचल दृढ़ता से पकड़े रहते हैं। अतः तुलसीदास सिद्धांततः

अद्वैतवाद की ओर झुके हैं, परंतु व्यावहारिक रूप से वे भक्त ही हैं। तार्किक या बौद्धिक रूप से अद्वैतवाद श्रेष्ठ अवश्य है, परंतु यह अव्यावहारिक ही रह जाता है। व्यवहार केवल सिद्धांत पर चलता भी नहीं है इसीसे तुलसी ने उसका परिमार्जन किया और ज्ञान को भक्ति के साथ लेकर उन्होंने निर्गुण - सगुण जीव - माया - ब्रह्म का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उससे यह प्रकट हो जाता है कि तुलसी के सैद्धांतिक पक्ष का मूल अद्वैतवाद है, परंतु व्यावहारिक पक्ष में वे निस्संदेह विशिष्टाद्वैतवादी हैं। तथा उनका यह विरोधी वर्णन केवल समन्वय की दृष्टि से है।

*

वाकाटकवंश

देवसहाय त्रिवेद

वाकाटकों का इतिहास नूतन है। इस वंश का नाम भी आधुनिक इतिहासकारों को अज्ञात था। जेम्स प्रिंसेप ने शाके १७८२ में प्रथम ताम्रपत्र (सिवनी, मध्यप्रदेश) प्रकाशित किया। जेम्स फेथफुल फ्लीट ने इसे उत्तर भारत का वंश समझा क्योंकि इसकी लिपि गुप्तकालीन अभिलेखों से मिलती - जुलती है। वाकाटकों का नाम भी कहीं, पुराणों में या प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता।

शाके १८३६ में विंसेंट आर्थर स्मिथ ने इस वंश का सविस्तर वर्णन[1] प्राप्त स्रोतों के आधार पर किया। इसके ठीक ६ वर्ष बाद ही पांडीचेरी के जान डुब्रिल ने 'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' में इनका विशद् वर्णन किया। काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया' में इसे स्थान दिया। इस वंश का इतिहास अनेक शोधपत्रों में बिखरा है जिन्हें एकत्र करने का यहाँ प्रयास[2] किया गया है।

पुराणों में[3] विंध्यशक्ति तथा उसके पुत्र प्रवीर का नाम मिलता है। भाऊदाजी ने (शाके १७८४) पुराणों के इस विंध्यशक्ति को अजंता गुफा का विंध्यशक्ति बताया। पुराणों में विंध्यशक्ति तथा प्रवीर को वाकाटक नहीं किंतु विंध्यक या कैलकिल कहा गया है। विष्णु पुराण में कैलकिलों को यवन कहा गया है किंतु अजंता अभिलेख विंध्यशक्ति को स्पष्टतः ब्राह्मण बतलाता है। शाके १८५७ में विंध्यशक्ति के ताम्र - अभिलेख से सभी शंकाएँ शांत हो गईं। इस वंश के सरकारी लेखों में विंध्यशक्ति को वंश का संस्थापक नहीं बताया गया है इसका श्रेय प्रवरसेन प्रथम को है क्योंकि विंध्यशक्ति केवल महाराज था न कि प्रवरसेन प्रथम के समान सम्राट्। प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किए और स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित किया अतः वह स्वभावतः वाकाटक साम्राज्य का संस्थापक माना जाने लगा।

विदर्भ या बरार वाकाटकों का देश है। वाकाटक पहले आंध्र राजाओं के सामंत थे। आंध्रों के अधःपतन - काल में वे अपनी शक्ति संचय करने लगे और पुनः स्वतंत्र हो गए। हमें अभी तक इस वंश के ११ राजाओं का पता चला है। इन ११ राजाओं ने कुल ३०० वर्ष (कलि संवत् २६७३ से कलि संवत् २९७३ तक) राज्य किया। इनका मध्यमान प्रतिराज्य ३० वर्ष है।

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१४ पृ० ३१७ - ३८, विंसेंट आर्थर स्मिथ का निबंध।
२. गोविंद पाई का जीनिओलाजी एंड क्रानोलाजी आफ दी वाकाटक, जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग १४ पृ० १ - २६ तथा पृ० १६५ - २०४।
३. पार्जिटर का कलिवंश पृ० ४८ टिप्पणी ८२।

जायसवाल[४] के विचार में वाकाटक पहले बुंदेलखंड में रहते थे और वहीं पर शासन करते थे। उनका मूल निवास वाकाट में था जो ओरछा के बगाट नामक स्थान के नाम में अब भी सुरक्षित है। महाराष्ट्र में ग्राम के नाम पर उपाधि चलती है यथा वाकाट का निवासी वाकाटकर बड़ेगाँव का निवासी बड़ेगाँवकर इत्यादि।

बुंदेलखंड में ही गंजनचना अभिलेख है तथा पन्ना के पास किलकिल नदी है। किलकिल नदी के वासी होने के कारण ये कैलकिल कहलाते थे। यह किलकिल पुराणों के कैलकिल वंश से मिलता सा है। सत्यतः गंजनचना अभिलेख उस प्रदेश से मिला है जहाँ वाकाटक पृथ्वीसेन का सामंत व्याघ्रदेव राज्य करता था। वाकाटक कहाँ से कब विदर्भ देश में गए इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं।

इस वंश के निम्न अभिलेख उपलब्ध हैं—

१. विंध्यशक्ति वाकाटक का वसीम (जिला अकोला) अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग २६, पृ० १३७।
२. प्रवरसेन द्वितीय का चंमक और दुदिया अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग ३, पृ० २५८ संख्या ५५ और ५६।
३. प्रवरसेन २ का सिवनी अभिलेख, कारपस इंस्क्रिप्शनं इंडिकेरम् भाग ३, पृ० २४३।
४. पृथ्वीसेन २ का बालाघाट अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग ९, पृ० २६७।
५. प्रवरसेन २ का तिरोदी (जिला बालाघाट) अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका भाग २२-१६७
६. प्रवरसेन २ का पट्टन (जिला बेतूल) अभिलेख, ए० ई० २३ - ८१।
७. प्रवरसेन २ का इंदौर अभिलेख ए० इ० २४ – ५२।
८. प्रवरसेन २ का कोथुरक दानपत्राभिलेख ए० इ० २६ – १५५।
९. प्रवरसेन २ का वाडगाँव (जिला चांदा) अभिलेख, ए० इ० २७ – ७४।
१०. प्रभावती गुप्ता का रीढपुर अभिलेख ए० इ० ९ – २६८।
११. प्रभावती गुप्ता का पूना अभिलेख ए० इ० १५ – ३९।
१२. प्रभावती गुप्ता का रामगिरि अभिलेख ए० इ० ४ – १९३।
१३. पृथ्वीसेन २ का द्रुग जिले से प्राप्त वाकाटकों का अपूर्ण अभिलेख, ए० इ० २२ – २०७।
१४. प्रवरसेन २ के अपूर्ण अभिलेख ए० इ० २४ – २६०।
१५. देवसेन का वत्सगुल्म अभिलेख ए० इ० ९ – १९।

१. विंध्यशक्ति

विंध्यशक्ति इस वंश का संस्थापक[५] है। इस वंश के अंतिम राजा हरिषेण के मंत्री वाराहदेव के अजंता अभिलेख (जो गुम्फ १६ में है) में विंध्यशक्ति का नाम मिलता है। इस

४. जर्नल बिहार उड़िसा रिसर्च सोसायटी, १९३३ पृ० ६७, काशीप्रसाद जायसवाल का अभिलेख।
५. उद्दीर्णलोकत्रय दोषवह्निनिर्व्वायनो प्रणम्य पूर्वां प्रवक्ष्ये क्षितिपानुपूर्वीम्। महाविमर्देष्व-भिवृद्धशक्तिः क्रुद्धस्सुरैरप्यनिवार्यवीर्यः रणदानशक्तिः द्विजप्रकाशो भुवि विंध्यशक्तिः। पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभावः स्वबाहुवीर्याजित सर्वलोकः बभूव वाकाटकवंशकेतुः।

इस वाकाटकवंश का ध्वज विष्णु के समान प्रसिद्ध था। विंध्यशक्ति ने अनेक युद्धों के बाद अपने भुजबल से राज्य स्थापित किया। इसका पिता सर्वसेन धर्ममहाराज था। इसके पितामह प्रवरसेन की माता हारीतगोत्र की थी। कहा जाता है कि इस प्रवरसेन ने भी चार अश्वमेध किये। बाद के प्रवरसेन को चार अश्वमेधकर्ता बताया गया है। वत्स गुल्म इसकी राजधानी थी। इसके बसीम अभिलेख की तिथि हैं – **सावच्छरं ३७ हेमन्त पक्खं पढमं दिवस ४।**

२. प्रवरसेन प्रथम

इस वंश के राजा प्रवरसेन प्रथम को ही इस वंश का आदि संस्थापक मानते हैं। इसने चार अश्वमेध तथा अनेक यज्ञ किये। इनका गोत्र है विष्णुवृद्ध (भारद्वाजों की एक शाखा) है। इसे सम्राट कहा गया है। यथा – **अग्निष्टोमाप्तोर्यामोक्थ्य षोडन्यतिरात्र वाजपेय बृहस्पति सवसाध्यस्कचतुरश्वमेधयाजिनो विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट वाकाटकानां महाराज श्रीप्रवरसेनस्य।** इन यज्ञों को (अग्निष्टोम, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पति) को केवल ब्राह्मण ही कह सकते हैं।

३. गौतमीपुत्र

प्रवरसेन प्रथम का पुत्र[६] गौतमीपुत्र ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। इसकी माता का नाम गौतमी था। किंतु इसने उत्तरापथ के भारशिव क्षत्रियवंश के राजा भवनाग की कन्या का पाणिग्रहण किया। स्यात इसी कारण वह गद्दी पर न बैठ सका। तुलना करें – **प्रवरसेनस्य सूनोरत्यन्त स्वामिमहाभैरव भक्तस्य अंसभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित राजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्यामलजल मूर्धाभिषिक्तानां भारशिवानां महाराज श्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य।**

४. रुद्रसेन प्रथम

रुद्रसेन गौतमीपुत्र का लड़का था। इसका एक अभिलेख नागपुर के पास देवटेक के भान शैव मंदिर से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख में मंदिर को '**रुद्रसेनस्य धर्मस्थानम्**' कहा गया है। यह समुद्रगुप्त का समकालिक है। प्रयाग प्रशस्ति का यह रुद्रदेव है। समुद्रगुप्त[७] ने कलिसंवत् २७७९ से कलिसंवत् २८३० तक ५१ वर्ष राज्य किया।

५. पृथ्वीसेन प्रथम

यह रुद्रसेन प्रथम का पुत्र था। इसका कोई अभिलेख अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। गंजनचना अभिलेख (एपिग्राफिया इंडिका १७ – १८) इसीके काल का बताया जाता है। व्याघ्रदेव अपने को वाकाटकराज पृथ्वीसेन का चरणसेवक बतलाता है। इस लेख में पुण्य के लिए मंदिर निर्माण का उल्लेख है। इसने कुंतल देश जीता। तुलना करें – **अत्यन्त माहे-**

६. त्रिवेद का वाकाटकवंश, रामदहिन अभिनंदनग्रंथ, पाटलिपुत्र, १९५४ पृ० १३४ – १३६।
७. वाकाटकानां महाराज श्री पृथिवीसेन पादामयथ्यातो व्याघ्रदेवो मातापित्रोः पुण्यार्थे कृतमिति। ए० इं० १७ – १२।
८. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीविद्या, बंबई, भाग १३ पृ० ९३ देखे।

स्वस्य सत्यार्जव कारुण्य शौर्यविक्रमनयविनय माहात्म्यधिसत्वगतभक्तिकधर्मविजयित्व मनोनैर्मित्यादिगुणैः समुदितस्य वर्षशत मभिवर्द्धमानकोषदण्ड साधन सन्तान पुत्रपौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्वाकाटकानां महाराज श्री पृथ्वीसेनस्य ।

६. रुद्रसेन द्वितीय

यह पृथ्वीसेन प्रथम का पुत्र था। इसने चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता का पाणिपीडन किया। प्रभावती गुप्ता की माता कुबेरनागा नागवंश की थी। यह गुप्त - वाकाटक विवाह वस्तुतः राजनीति की एक अद्भुत चोट थी। वाकाटक महाराज अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण उत्तरापथ विजेता के शत्रु - मित्र दोनों ही सरलता से हो सकते थे। इस वैवाहिक संबंध से उत्तरापथ में गुप्तों का और दक्षिणापथ में वाकाटकों को सफल साम्राज्य स्थापित करने में खूब सहायता मिली।

रुद्रसेन २ का कोई अभिलेख अभी तक नहीं मिला है। किंतु प्रभावती गुप्ता का रामटेक के पास नंदिवर्द्धन से प्राप्त ताम्रपत्र मिलता है। संभवतः अपने पति रुद्रसेन १ का स्वर्गवास होने पर प्रभावती गुप्ता अपने पुत्रों की अभिभाविका थी। इसी रूप में इसके दानपत्र मिलते हैं। पूना के अभिलेख में इसे रुद्रसेन की प्रधान महिषी और युवराज दिवाकरसेन की माता कहा गया है।

तुलना करें – **महाराज श्री चंद्रगुप्तः ...... पृथिव्यामप्रतिरथः सवराजोच्छेत्ता चतुरुदधि सलिलास्वादितयशानेकगोहिरण्यकोटीसहस्त्रप्रदः परमभागवती महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रां नागकुल संभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्तवाकाटकानां महाराजश्री रुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेनस्य जननी श्री प्रभावती गुप्ता ...** । इसकी मुद्रा पर पाठ है —

वाकाटक ललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रियः।
जनन्या युवराजस्य शासनं रिपुशासनम् ॥

पूना अभिलेख रुद्रसेन द्वितीय के १३वें वर्ष का है।

७. प्रवरसेन द्वितीय

रुद्रसेन द्वितीय के दो पुत्र थे—दिवाकरसेन तथा दामोदरसेन। युवराज दिवाकरसेन संभवतः गद्दी पर न बैठ सका और रुद्रसेन की मृत्यु के पहले ही चल बसा। दामोदरसेन बालपन में ही राजसिंहासन पर बैठा और उसने चिरकाल तक राज्य किया क्योंकि इसका अंतिम दानपत्र ६७ वें वर्ष में प्रकाशित किया गया मिलता है। इसका सर्वप्रथम दानपत्र द्वितीय वर्ष में नंदिवर्द्धन (जिला वरदा) से प्राप्त है। राज्य के आदिकाल के अधिकांश दानपत्र नंदिवर्द्धन से और शेष प्रवरपुर या विभिन्न स्कंधावारों से प्रकाशित है। अतः हम कह सकते हैं कि रुद्रसेन २ और प्रवरसेन २ की भी राजधानी नंदिवर्द्धन ही थी जो संभवतः कालांतर में प्रवरपुर चली गई और जिसे प्रवरसेन द्वितीय ने अपने नाम पर बसाया। नंदिवर्द्धन आज भी इसी नाम से ख्यात है। प्रवरपुर कहाँ है पता नहीं। दामोदरसेन ही प्रवरसेन द्वितीय के नाम से ख्यात है।

इसका तिरोदी (जिला बालाघाट) अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। इसकी भाषा संस्कृत और लिपि पुस्करस्यादि (बाक्स - हेडेड) हैं। इसमें तिथि है – संवत्सर २३ माघ बहुलपक्ष द्वादशी। वाकाटक वंश के सभी पूर्ण अभिलेखों के समान इसका आरंभ भी द्रिष्टम (= दृष्टम्) से होता है। इस अभिलेख का उद्देश्य है वरुणार्य त्रिवेद को कोशांवर खंडग्राम का दान। इसकी मुद्रा का पाठ है –

वाकाटक ललामस्य क्रमप्राप्त नृपश्रियम्।
राज्ञः प्रवरसेनस्य शासनं रिपुशासनम्॥

प्रवरसेन २ के चार ताम्रपत्र बरधा नदी के तट पर वेलोरा ग्राम से मिले। भाषा संस्कृत और लिपि पुष्करस्यादि हैं। ये दोनों अभिलेख पीटे हुए हैं। प्रथम अभिलेख नंदिवर्द्धन से प्रकाशित हुआ। इसमें असिभुक्ति के महललाट ग्राम दान का उल्लेख है। सूर्यस्वामी इसका आदाता है। यह अतिथि है। द्वितीय अभिलेख में दो ग्रामों के दान का उल्लेख है। इसका भी आदाता सूर्यस्वामी है। इसकी तिथि है संवत्सर ११ कार्तिक शुक्लपक्ष त्रयोदशी। सेनापति चित्रवर्मा ने इसे लिखा। संभवतः आदाता ब्राह्मण ने प्रार्थना की कि मुझे सभी दानों का एकत्र दानपत्र मिले। इसी कारण ये पीटे गये हैं और उन पर दुहरा कर लिखा गया।

प्रवरसेन द्वितीय का इंदौर अभिलेख संस्कृतभाषा और दक्षिण लिपि में है। इसकी तिथि है – संवत्सर त्रयोविंश (२३) वैशाख बहुल पञ्चमी। कोट्टदेव राजुक इसका लेख है और ग्रामदान उद्देश्य है।

वाडगाँव अभिलेख में प्रवरसेन द्वितीय ने द्विवेद रुद्रार्य को ४०० निवर्तन भूमि दान की। यह दान पत्र हिरण्या नदी (हिरण्यबाहुः शोणभद्र) के स्कंधावार से प्रकाशित हुआ। इसकी तिथि हैं – संवत्सर २५ ज्येष्ठशुक्ल १०। सेनापति वप्पदेव इसका दूतक और मारदास उत्कीर्णक हैं। रुद्रार्य द्विवेद को विपुववाचनक कहा गया है अतः यह दानपत्र विपुव या संपात महासंक्रांति के अवसर पर दिया गया। मीराशी के मत में हिरण्या नदी बरधा की शाखा नदी पराई है।

पट्टन अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। इसकी तिथि है संवत्सर २७ कार्तिक कृष्ण ७। महापुरुष विष्णु के उपलक्ष्य में सत्र के लिए इसमें दान का उल्लेख है। सेनापति कात्यायन का कालिदास इसका लेखक है। यह कालिदास गुप्तकाल का महाकवि है जिसका जन्म मिथिला में हुआ और जिसने काव्यत्रयी – मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश की रचना की। यह कालिदास[1] कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त का सभासद् था।

प्रवरसेन का कोबुरक दानपत्राभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। यह वरधा जिला से मिला। इसका उद्देश्य है प्रवरसेन द्वारा सुप्रतिष्ठित अग्रहार कोबुरक ग्राम का दान। इसमें वंश का आरंभ देवगुप्त चंद्रगुप्त दितीय से होता है। इसमें आदाता को गणयाजी कहा गया है। स्यात् यह अग्रहार प्रवरसेन द्वितीय ने अपनी माता प्रभावती गुप्ता की मृत्यु के अवसर पर एकादशाह के मृतकश्राद्ध के पुरोहित गणयाजी को दिया।

१. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्या, बंबई, भाग १६ खंड २, पृ० ९५ देखें।

सेतुबंध प्राकृत महाकाव्य इसी वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय की रचना है। कालिदास का 'कौन्तलेश्वरदौत्यं' काव्य प्रसिद्ध है। यह कौन्तलेश्वर वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय ही है।

प्रवरसेन द्वितीय की माता प्रभावती गुप्ता अत्यंत चतुर महिला थी। अपने पुत्र के अभिभावकत्व - काल में नहीं किंतु अपने पति रुद्रसेन द्वितीय तथा अपने पुत्र प्रवरसेन २ के राज्यकाल में भी (प्रवरसेन २ के १९वें वर्ष में) इसने दान दिया जिसके ताम्रपत्र मिलते हैं। ईसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वतंत्र थी किंतु इसका अर्थ यह है कि स्त्रियों को सर्वदा दान करने की सुविधा थी। किंतु अपने दानपत्रों में वह अपने मातृवंश का पूर्ण परिचय देती है न कि श्वसुरवंश का।

८. नरेंद्रसेन

यह प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र था। इसका कोई दानपत्र नहीं मिला है किंतु अजंता के गुम्फ १५ - १६ में इसका उल्लेख हैं। इसने कुन्तल राजकुमारी अज्झितमहारिका का पाणिपीडन किया। कदंबराज प्रवरसेन प्रथम के समय से ही वाकाटकों के सामंत थे। इसका राज्य कोसल, मेकल, मालव पर था। तुलना करें – **कोसलमेकलमालवाधिपतेः नरेन्द्रसेनस्य कुन्तलाधिपति सुतायां महादेव्यामज्झितभट्टारिकायाम्।**

९. पृथ्वीसेन द्वितीय

यह अज्झितभट्टारिका - नरेन्द्रसेन का पुत्र है। बालाघाट अभिलेख इसी का है। अज्झितभट्टारिका कदंबवंश की थी। दुग अभिलेख भी इसी का है। यह अभिलेख आजकल नागपुर संग्रहालय में है। यह अभिलेख अपूर्ण और केवल पाँच पंक्तियों का है। यह अभिलेख पद्मपुर के पास से मिला। वाकाटकों की राजधानी नंदिवर्द्धन, प्रवरपुर और पद्मपुर हुई। महाकवि भवभूति का जन्म इसी पद्मपुर (विदर्भ) में हुआ। यह पद्मपुर आगरा जिला में आमगाँव के पास है।

१०. देवसेन

यह नरेंद्रसेन का छोटा भाई था। इसका एक दानपत्र वत्सगुल्म (वसीम) वरार से प्राप्त है। इस वंश के प्रथम और अंतिम राजा के दानपत्र एक ही स्थान में है। देवसेन का प्रधानमंत्री हस्तिभोज[१०] ब्राह्मण था जिसके पुत्र वराहदेव ने अजंता के गुम्फ १६ – १७ का निर्माण करवाया।

११. हरिषेण

देवसेन का पुत्र यह हरिषेण वाकाटक वंश का अंतिम राजा है। इसका पता हमें केवल अजंता के गुंफ १६ – १७ से लगता है। इसे कुंतल, अवंती, कलिंग, कोसल, त्रिकूट (कोंकण), लाट, और आंध्र का अधिपति कहा गया। इनमें कुछ तो पहले से ही वाकाटक राज्य में थे। आंध्र और कोशल बाद में मिला लिए गए। यदि इस परिगणन को सत्य माना जाय तो हरिषेण का राज्य पश्चिम और पूर्व समुद्र कि मध्य समस्त भूमि पर था।

१०. न्यू इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग २ पृ० ११७।

आंध्रदेश में वेंगी के विष्णुकुंडियों का राज्य था। ये विष्णुकुंडी ब्राह्मण थे। ये ब्राह्मणों के सामंत थे। वाकाटकों की एक,कन्या विष्णुकुंडवंश के चतुर्थराजा माधववर्मा द्वितीय को दी गई थी। यह कन्या संभवतः आंध्र - कलिंगाधिपति हरिषेण की दुहिता थी। इससे दक्षिण भारत में विष्णु कुंडियों का प्रभुत्व बहुत व्याप्त हो गया। स्यात् हरिषेण अपुत्र था। इसका नप्ता, माधववर्मा का पुत्र, विक्रमेंद्रवर्मा, अपने को विष्णुकुंड और वाकाटकवंश की संतान बतलाता है। इसके मंत्री वराहदेव ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहार[११] बनवाया। इससे सिद्ध है कि प्राचीनकाल में राजा कितने उदार होते थे। हरिषेण के समय वाकाटक राज्य शिखर पर था।

प्राप्त ताम्रपत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि वाकाटकों का राज्य सुदूर दक्षिण को छोड़कर सारे दक्षिण भारत व अधिकांश उत्तरापथ याने पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तट तक विस्तीर्ण था।

इस वंश के राजाओं में अनुलोम विवाह प्रचलित था तथा सिंहासनाधीश ब्राह्मण भी अपने को शर्मा के बदले वर्मा कहने लगे थे। क्या विहार - बंगाल के सेनवंशी राजा इसी वाकाटकवंश के थे? इन वाकाटकों का गोत्र विष्णुवृद्ध था।

वाकाटकों के बाद इस प्रदेश में विष्णुकुंडी कलचूरी चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों का राज्य हुआ जहाँ कालांतर में देवगिरि के यादवों ने अधिकार जमाया।

वाकाटकों की चार राजधानियाँ थी — वत्सगुल्म, नंदिवर्द्धन, प्रवरपुर और पद्मपुर।

वाकाटक राजवंश

राजनाम	राजवर्ष	कलि संवत्	खीष्टपूर्व
१. विंध्यशक्ति	४०	२६७३ - २७१३	४३६ से ३८६
२. प्रवरसेन - १	४२	२७१३ - १७५५	३८६ - ३४४
३. रुद्रसेन-१- रुद्रदेव	३६	२७५५ - २७६१	३४४ - ३०८
४. पृथ्वीसेन - १	२५	२७६१ - २८१६	३०८ - २८३
५. रुद्रसेन - २	१७	२८१६ - २८३३	२८३ - २६६
६. प्रवरसेन - २	३७	२८३३ - २६३०	२६६ - १६६
७. नरेंद्रसेन	६	२६३० - २६३६	१६६ - १६०
८. पृथ्वीसेन - २	७	२६३६ - २६४६	१६० - १५३
६. देवसेन	८	२६४६ - २६५४	१५३ - १४५
१०. हरिषेण	१६	२६५४ - २६७३	१४५ - १२६

११. हैदराबाद आर्कियोलाजिकल सीरीज संख्या १४।

मुख्य तिथियाँ

कलिसंवत्	खीष्टपूर्व	
२७९१	३१०	समुद्रगुप्त ने रुद्रदेव को पराजित किया।
२८१७	२८४	रुद्रसेन - २ ने चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता का पाणिपीडन किया।
२८५५	२४७	प्रभावती गुप्ता का निधन।
२८५५	२४६	प्रवरसेना - २ ने प्रवरपुर बसाया।
२९११	१९०	कालिदास प्रवरसेन के दरबार में पहुँचे।
२९२१	१८०	प्रवरसेन - २ ने सेतुबंध महाकाव्य की रचना की।
२९३६	१६५	पद्मपुर राजधानी बनी।

*

इस संबंध में समालोचनाओं का उत्तर सहर्ष लिया जायगा। —लेखक

ब्रजभाषा के कुछ पंजाबी कवि

जयभगवान गोयल

•

गत २० - २५ वर्षों में हिंदी - अनुसंधान - क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई है । परंतु यह कार्य मुख्यतः हिंदी प्रदेश तक ही सीमित रहा है। हिंदी के समीपवर्ती क्षेत्रों में भी मध्ययुग में ब्रजभाषा का यथेष्ट प्रचार रहा है। वस्तुतः हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद एक दिन में प्राप्त नहीं हो गया, इसके लिए भूमिका बहुत दिनों से तयार हो रही थी। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि १६वीं से १९वीं शताब्दी तक भारत के पूर्वी, उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों में हिंदी - ब्रजभाषा का बहुत प्रचार था। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय ब्रजभाषा अपने स्वर्णकाल में राष्ट्रभाषा के समान आदृत होती रही है। एक ओर ठेठ बंगाल में ब्रजभाषा के अनुकरण पर कविताएँ लिखी जाने लगी थीं. जिसे अब भी 'ब्रजबुली' काव्य परंपरा का नाम दिया जाता है। दूसरी ओर गुजरात के 'नरसिंह मेहता' आदि कवियों पर भी ब्रज की वैष्णव कविता का प्रभाव लक्षित होता है। इधर महाराष्ट्र के 'ज्ञानदेव' तथा नामदेव आदि संत कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही अपनी काव्य रचना की। सुदूर आसाम में भी ब्रजभाषा के ग्रंथ मिले हैं। ब्रज तथा गुजरात प्रदेश की इन हिंदी रचनाओं का तो अध्ययन किया गया है, किंतु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि ब्रजभाषा का प्रभाव पंजाब के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में रहा है। यहाँ तक कि १७ - १९वीं शती में पंजाब के अधिकतर कवियों ने ब्रजभाषा में ही कविता की, जो बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की रचना है। जान पड़ता है कि उस समय भारत के इस भाग में ब्रजभाषा जनता को प्रिय रही हो यही कारण है कि इस समय की धार्मिक भावनाओं को लेकर चलनेवाली कविता जो कथा कहने के लिए लिखी गई थी वह भी ब्रजभाषा में ही हुई है। इन कवियों में से यदि कुछ को सूर तथा तुलसी के समकक्ष रखें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। किंतु यह दुर्भाग्य का विषय है कि इन कवियों के नाम से भी हिंदी जगत परिचित नहीं। इसका मुख्य कारण तो यह है कि इन कवियों की भाषा यद्यपि ब्रज है तथापि इन्होंने गुरुमुखी लिपि का प्रयोग किया है। हिंदी अनुसंधान का कार्य अधिकतर हिंदी प्रदेश के निवासियों द्वारा ही हुआ है जो गुरुमुखी लिपि से अनभिज्ञ थे। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल उर्दू लिपि में लिखे जायसी के काव्य को तो प्रकाश में ला पाए पर पंजाब के किसी कवि पर उनका ध्यान नहीं गया। इन कवियों से अपरिचित रहने का दूसरा कारण यह भी है कि पंजाब में उर्दू-फारसी का प्रभुत्व रहा है और लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि पंजाब में हिंदी की, विशेषकर ब्रज की, कविता ही नहीं हुई. इसलिए विद्वानों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

इस लेख के द्वारा मेरा उद्देश्य हिंदी के कुछ ऐसे कवियों का परिचय प्रस्तुत करना है, जिन्होंने ब्रजभाषा में उत्कृष्ट कोटि की काव्यरचना की है, यद्यपि उनकी लिपि गुरुमुखी थी। श्री गुरु गोविंदसिंह एक ऐसे ही कवि थे, और उनके आश्रय में ऐसे और ५२ कवि थे। कोई

उनकी संख्या ७२ तक बताता है। किंतु मुसलमानों के आक्रमणों तथा अत्याचारों के कारण एवं इन ग्रंथों की सुरक्षा एवं खोज का उचित प्रबंध न होने के कारण, इनमें से बहुत कम के ही जीवन तथा साहित्य का पता चला है।

जिस समय इन कवियों ने काव्यरचना की, उस समय हिंदी में रीति तथा शृंगारिक रचनाओं की प्रधानता थी, इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस युग को 'रीतिकाल' का नाम दिया। अब कुछ विद्वान इसे 'शृंगार काल' का नाम भी देने लगे हैं। किंतु मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि इस समय के पंजाब के हिंदी कवियों की रचनाओं की खोज की जाए और उनका सुचारु रूप से अध्ययन किया जाए – तो इन विद्वानों को अपनी धारणाएँ बदल देनी पड़ेंगी। पंजाब में जिस समय गुरु गोविंद सिंह सिखों के धार्मिक गुरु थे, उस समय तथा उनके बाद भी, उनकी प्रेरणाओं से जो साहित्य लिखा गया, जो परिमाण में भी बहुत अधिक है, उसमें न तो शृंगारिक भावना है, न रीतिपरंपरा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। शृंगार का वर्णन यदि कहीं हुआ भी है तो बहुत ही मर्यादित रूप में। राधा कृष्ण की भक्ति के बहाने विलास क्रीड़ाओं के वर्णन उनके साहित्य में नाम मात्र को भी नहीं मिलेंगे। उसमें एक ओर वीररस का सर्वांगीण सुंदर चित्रण हुआ है, दूसरी ओर अध्यात्म का, जिसमें सिखों के धार्मिक आदर्शों एवं मान्यताओं की प्रधानता है। उसमें दर्शन, भक्ति, योग का सुंदर समन्वय हुआ है, और भक्ति के साथ विरति का भी संयोग दिखाई पड़ता है। इधर टीकम सिंह तोमर ने अपने हिंदी वीरकाव्य में इस युग के सैकड़ों वीरकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। शृंगारकाल नाम सिद्ध करने के लिए 'कवि पद्माकर' जैसे कवियों को भी शृंगारी कवि के नाम से दूषित करने की भी चेष्टा की गई है, यद्यपि वह भक्त कवि थे। वे भक्ति में सूर, तुलसी, कबीर से किसी भाँति कम नहीं थे, यह इन पक्तियों के लेखक ने अन्यत्र सिद्ध किया है।[1] इस प्रकार इन सब बातों को ध्यान में रखकर इस युग के हिंदी साहित्य का पुनः मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। इसके लिए पंजाब के हिंदी कवियों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस लेख में इस साहित्यिक समस्या की ओर संकेत भर किया गया है, मुख्य उद्देश्य तो कुछ कवियों का परिचय देना भर है।

सेनापति

भक्त संतोषसिंह द्वारा रचित गुरु-सूरज-प्रताप ग्रंथ से पता चलता है कि सेनापति गुरू गोविंद सिंह के दरबारी कवियों में से थे। आपने स्वयं भी एक स्थान पर लिखा है —

गुरु गोविंद की सभा महि लेखक परम सुजान,
चाणाकै भाषा करीं कवि सेनापति नाम।

भाई वीरसिंह का कथन है कि सेनापत इनकी उपाधि थी, किंतु यह ठीक नहीं जान पड़ता। इनका, गुरु शोभा ग्रंथ' उपलब्ध है जो गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित भी हो चुका है। एक

१. सरस्वती संवाद – कवि पद्माकर।

नायक भाषा ग्रंथ भी कहा जाता है जो प्राप्त नहीं हुआ। इनके जीवन के संबंध में विशेष पता नहीं लगता। 'गुरु शोभा ग्रंथ' से इतना भर पता चलता है कि आप गुरू साहब पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले तथा मर्यादा खालसा के आदर्शों के पूर्ण प्रेमी थे। इनमें परमार्थिक लगन भी दिखाई पड़ती है। गुरु शोभा ग्रंथ में गुरु गोबिंदसिंह का कुछ जीवन चरित वर्णित है, जिसमें मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। इसके अतिरिक्त इन कविताओं में, 'खालसा सजने का हाल', खाला के गुण और केरा, कृपाण आदि रहित मर्यादा का वर्णन है। गुरु गोबिंद सिंह के युद्धों के वर्णन में वीर रस का संचार अच्छा हुआ है। कहीं कहीं भूषण का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कवित्त, दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय पउडी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। हिंदी के प्रसिद्ध सेनापति से यह भिन्न है। कुछ नमूने देखिए –

सवैया

काहूँ के मात पिता सुत हैं अर
काहूँ के भ्रात महा बलकारी।
काहूँ के मीत सखा हितु, साजन,
काहूँ के ग्रेह बिराजत नारी।
काहूँ के पास महानिधि राजत,
आपस मों कर हैं हित भारी।
होहु दिआल दया करके प्रभु,
गोविंद जी मुहि टेक तुहारी॥

(गुरु गोविंद - अवतार रूप)

दोहा

निरंकार आकार कर मनसा मनि बीचार।
मुकत करन संसार को प्रगट भये करतार।
करन करावन हार प्रभ समरथ सिंघ गोविंद।
कलाधार परगट भये चहुँ दिश भये अनंद॥

(अजीत सिंह का युद्ध)

ता दिन गढ्यो रणखंभ सिंघ रणजीत धरत पड
धरत लरज, उठी धूर, भान छिप गये आप घर।
पवन मंद दुरि रहि रैन भई दिवस छुपानो,
लरजै सकल अकाश तोप छुटी परमानो।
बज्यौ निशान तिहुँ लोक मैं सुन देवतन मन यों भरो,
चढि चढि विंवान देखन चले, सशंकर समेत नहीं को रह्यो॥

हीर कवि

हीर गुरु गोविंद सिंह के वीर रस के श्रेष्ठ कवियों में से एक थे। इनके जीवन के संबंध में अधिक ज्ञात नहीं। इनकी रचनाओं से इतना पता चलता है कि वह गुरु गोविंदसिंह जी

के चरणों में काफी समय रहे। उनके बहुत से युद्धों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था, और उनका वर्णन अत्यंत ओजपूर्ण भाषा में किया है। यह भी अनुमान किया जाता है कि खालसा सजने के पश्चात् भी आप आनंदपुर में उपस्थित थे। वीररस की इनकी रचनाओं को भूषण के समकक्ष रखा जा सकता है। यह स्वयं भी वीर स्वभाव के व्यक्ति थे और युद्धों में गुरू जी के साथ रहा करते थे। संभव है वह सिख रहे हों और आनंदपुर के अंतिम युद्धों का वर्णन भी किया हो पर वह उपलब्ध नहीं होते। इनका कोई ग्रंथ अभी नहीं मिला, कुछ छंद मिले हैं, जिनका शीर्षक है 'अंतक समर वीर के कवित्त।'

गुरु आश्रय में आने की एक विचित्र कथा इनके संबंध में प्रचलित है। वह इस प्रकार है—गुरू जी का दरबार लगा हुआ था। सब कवि अपनी वीर रस की कविताएँ सुना रहे थे, तभी हीर कवि भी आ उपस्थित हुआ। उसे ज्ञात था कि गुरू जी वीर रस की कविता से बहुत प्रसन्न होते हैं, इसलिए आते ही वह हाथों, भुजाओं, एवं नेत्रों से इस प्रकार का अभिनय करने लगा, जैसे किसी शत्रु से लड़ रहा हो और उसे पराजित करने का प्रयत्न कर रहा हो। सारी सभा हँस पड़ी तब गुरू जी ने कवि से पूछा कि कवीश्वर जी क्या कर रहे हो? हीर कवि ने गुरू जी को संबोधित करके सुंदर छंद सुनाए।

कवि की इन चमत्कारपूर्ण उक्तियों को सुनकर गुरू जी बहुत प्रसन्न हुए तथा दान - संमान देकर अपने आश्रय में रख लिया। उदाहरण—

(नगारों की चोट)

कल नहिं परत बिकल देस बंगस को,
पलक न लागै पल रूम साम सामनी।
गोलकंड कपंति नगारन की धुनि सुनि,
बीजापुर बंदर बसत बन जामनी।
आसमान दहल, दहल गिरयो लंक हीर,
दरी मैं दबत फिरैं दसन जिऊँ दामनी।
तेरे डर गोविन्द ग्रिगिंद गुरू अरिनि की
टोला टोल जाइ सो खटोला भाग भामिनी।

(सेना प्रस्थानसमय)

भभरयो भभीषन भवन तजि भटकत,
ठहे पैर लंक की निशानन के बाजे ते।
पापर से फूटत धराधर सू चूर होत,
सिंधु अकुलात राजराजन के गाज ते।
बरनत 'हीर' गुरु गोबिंद तिहारे त्रास,
दबत फिरति अरि कंदरान भाजे ते।
चूर होत कमठ, दरारे दाघ अरकत,
फटे फन सहस प्रबल दल साजे ते॥

(हाथियों की मार)

फोरत पहारन चुवत मद धारन जे,
गठन उदारन लखे ते बड़ी गत के[3] ।
धूरि भरे धूसरे धरनि धसकति पग,
कज्जल से काटे वे दतारे महा गाति के ।
गाजे रन साजे, गज ऐसे पीलवान बने,
बरनत हीर महावीर रतिपत के,
महा अंग भाटे ते विदारे श्री गुबिंद सिंघ
डोलन डरारे हठे हिंदवान पति के ॥
तों सौ बैर बाँध वैरी धीर न धरति कहूँ,
धौंसा की धुंकार धराधर धसकत हैं ।
दल के चलत, महि हालत, हलत कोल.
कूरम कहल्ल, फनी फन न सकत हैं ।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरू गोविंद जी,
तेरे भय भीर भारी भूप ससकत्त हैं ।
होत भूमचाल दिगपाल पाइमाल होति,
हलके हरल्ल हाथी माथे भतकत्त हैं ।
महाबाहु वीर गुरु गोविंद ! तिहारे रोस,
वैरिनि की वधु बन बन बिलखानी हैं ।
करो न गवन भूल भवन को भीतर ते,
चठती पहार निराधार अकुलानी हैं ।
सुंदर सरोज मुखी दुखी भई भुख्ख प्यास,
पतिनि सों खीझैं कहैं मोतन मैं पानी हैं ।
चंद सी चकोर जानैं, बिंब से सुश्रा के मानैं,
कोकल सी काक नाग मोरन की मानी हैं ।

हंसराम

हंसराम का गुरु गोबिंद सिंह के दरबारी कवियों में प्रमुख स्थान था। यद्यपि इनके जन्म स्थान तथा तिथि का ठीक पता नहीं, तथापि इनके ग्रंथ 'भरण करण' से ज्ञात होता है कि आप सं० १७५२ में विद्यमान थे। वह छंद इस प्रकार है –

संवत सत्रा सो वरस बावन बीतन हार,
माघ बदी तिथि दूज को ता दिन मंगलवार ।
हंसराम ता दिन करयो करन मरन आरंभ,
टका करे बख्शीश तब मोको साठ हजार ।

३. शरीर के ।

तां को आयस पायकै करण प्रश्न मैं कीन,
भाषा अरथ विचित्र कर सुनै सुकवि परवीन।

गुरू गोविंद सिंह सुकवियों को आश्रय देकर किस प्रकार प्रोत्साहित करते थे, यह इस बात से विदित है कि उन्होंने हंसराम को प्रति दिन के दान - संमान के अतिरिक्त साठ हजार टके भेंट किए थे। यह हंसराम के एक अन्य छंद से भी स्पष्ट है –

प्रिथम क्रिपा करि राख कर गुरु गोविंद उदार,
टका करे बषशीश तव मोकों साठ हजार।

गुरु जी की आज्ञा से उन्होंने महाभारत के एक भाग 'करण मरण' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया, जिसकी हस्तलिखित प्रति पटियाला पुस्तकालय में प्राप्त है। इस ग्रंथ के आरंभ में संवत, गुरु प्रशंसा, आनंदपुर साहब की प्रशंसा, भवन प्रशंसा, गुरु जी की आशीश तथा उनकी साहबी के अनंतकाल तक रहने की शुभकामना[४] आदि के पश्चात वास्तविक विषय का वर्णन है। इस ग्रंथ में गुरु गोविंदसिंह की विद्वत्ता, वीरता, दानशीलता, उदारता, सेना, दरबार का जमाव, युद्धों में विजय आदि का वर्णन भी है। वीर रस का बहुत सुंदर परिपाक हुआ है। सेना की चढ़ाई आदि के वर्णन में भूषण का प्रभाव लक्षित होता है। गुरू जी वीर होने के साथ ही धार्मिक गुरु थे, और शांति तथा मुक्ति के दाता थे, इसीलिए हंसराम ने उन्हें अवतार शिरोमणि और 'मुक्तिदाता' माना है।

वीर रसोपयुक्त रोला, छप्पय तथा कवित्त छंदों का प्रयोग बहुतया किया गया है। अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग ने भाषा के ओजगुण को बढ़ाने में योग दिया है। कुछ उदाहरण देखिए –

(मुक्तिदाता)

अवध अनाए कहाँ, तिलक बनाए कहाँ,
द्वारका छपाए कहाँ, कहाँ तन ताईयति है।
कोविद कहाए कहाँ, वेनी के मुँडाए कहाँ,
काशी के बसाए कहाँ, लाहा लखीयत है।
मोहन मनाए कहाँ, भूपति रिझाए कहाँ,
कहाँ 'हंसराम' जो धरा में धाईयत है।
चार हूँ बरन ताँके हरन कलेश गुर,
गोविंद के चरन मुकति पाईयत है।

(दरबार शोभा)

जिनको प्रताप परि पूरन पुहमि परि,
सोऊ तेरे चरन को करत बखान है।

४.-जौ लौं ध्रुव धरनि तरुन तेज राजै जग,
तौ लौं गोबिंद सिंघ तेरे शीश साहबी।

जिनै चाह चक्कवै चकित होत हंसराम,
तेऊ तेरे चाहिबे को धारत धियान हैं।
जिनकै विजय पारावार पार देखीयति,
प्रबल प्रचंड सुने जाहर जहान हैं,
जिनके न दरबार पायति महीनिक लै,
तेऊ तेरे दरबार देखे दरबान हैं।

मंगल

गुरु गोविंद सिंह के दरबारी कवियों में मंगल का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इसे गुरूजी ने स्वयं बुलाया था और महाभारत के एक भाग शल्य पर्व का अनुवाद करने को कहा था जिसे इन्होंने 'सलय परब' नाम से 'ब्रजभाषा' में किया। इस ग्रंथ की रचना सं० १७५३ में हुई जो इस पद से स्पष्ट है –

गुरू गोविंद मन हरष है मंगल लियो बुलाइ।
सलय-परब आग्या करीं, लीजै तुरत बनाइ।
संवत सत्रह सौ वरस, त्रेपन बीतन हार।
माधव रितु थितु त्रोदसी, ता दिन मंगलवार॥

गुरू जी ने हंसराम का साठ हजार टके प्रदान किए थे। जान पड़ता है, इसे भी गुरू जी ने बहुत अधिक धन प्रदान किया था, तभी इन्होंने 'अरब खरब' देने का उल्लेख किया है।

अरब खरब बहु दरब दे, करि कबिजन को काज,
जौ लौ धरन अकाश, गिरि चंद सूर सुर इंद,
तौ लौ चिर जीवै जगत, साहिब गुर गोविंद।

'सरल प्रश्न' पटियाला पुस्तकालय में उपलब्ध है। भाषा ब्रज है, परंतु लिपि 'गुरुमुखी'। इस ग्रंथ में भी अपने आश्रयदाता गुरु गोविंद सिंह के पराक्रम, दानशीलता, वीरता, उदारता, अवतारिता तथा आनंदपुर आदि के वर्णन के साथ महाभारत की कथा का वर्णन विविध छंदों में हुआ है। वीररसपूर्ण स्थलों पर कवित्त, छप्पय आदि का ही प्रयोग हुआ है। मंगल ब्रज के अतिरिक्त पंजाबी, पहाड़ी भाषा में भी कविता किया करता था। कुछ उदाहरण –

(दान वर्णन)

जाचे ध्रू पायो है अमर पद सुर लोक,
नाभा जू के जाचे, दीउ देहुरा फिराई जी।
विपदा मैं लंका दीनी जाचे ते विभीषन को,
मंगल सुकवि जाचैं मंगल सुनाई जी।
द्रोपदी नगन होत जाच्यो सभा माहि ठाढ़े,
अंबर लै अंबर महि पै रहे छाई जी।
असौ दान दैवो कौन, कोउ सति गुरू बिना,
और कउ न जाचीए बिना गोबिंद राई जी।

तां को आयस पायकै करण प्रश्न में कीन,
भाषा अरथ विचित्र कर सुने सुकवि परवीन।

गुरू गोविंद सिंह सुकवियों को आश्रय देकर किस प्रकार प्रोत्साहित करते थे, यह इस बात से विदित है कि उन्होंने हंसराम को प्रति दिन के दान - संमान के अतिरिक्त साठ हजार टके भेंट किए थे। यह हंसराम के एक अन्य छंद से भी स्पष्ट है –

प्रिथम क्रिपा करि राख कर गुरु गोविंद उदार,
टका करे बषशीश तब मोको साठ हजार।

गुरु जी की आज्ञा से उन्होंने महाभारत के एक भाग 'करण मरण' का व्रजभाषा में अनुवाद किया, जिसकी हस्तलिखित प्रति पटियाला पुस्तकालय में प्राप्त है। इस ग्रंथ के आरंभ में संवत, गुरु प्रशंसा, आनंदपुर साहब की प्रशंसा, भवन प्रशंसा, गुरु जी की आशीश तथा उनकी साहबी के अनंतकाल तक रहने की शुभकामना[४] आदि के पश्चात् वास्तविक विषय का वर्णन है। इस ग्रंथ में गुरु गोविंदसिंह की विद्वत्ता, वीरता, दानशीलता, उदारता, सेना, दरबार का जमाव, युद्धों में विजय आदि का वर्णन भी है। वीर रस का बहुत सुंदर परिपाक हुआ है। सेना की चढ़ाई आदि के वर्णन में भूषण का प्रभाव लक्षित होता है। गुरू जी वीर होने के साथ ही धार्मिक गुरु थे, और शांति तथा मुक्ति के दाता थे, इसीलिए हंसराम ने उन्हें अवतार शिरोमणि और 'मुक्तिदाता' माना है।

वीर रसोपयुक्त रोला, छप्पय तथा कवित्त छंदों का प्रयोग बहुतया किया गया है। अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग ने भाषा के ओजगुण को बढ़ाने में योग दिया है। कुछ उदाहरण देखिए –

(मुक्तिदाता)

अवध अनाए कहाँ, तिलक बनाए कहाँ,
द्वारका छपाए कहाँ, कहाँ तन ताईयति है।
कोविद कहाए कहाँ, वेनी के मुँडाए कहाँ,
काशी के वसाए कहाँ, लाहा लखीयत है।
मोहन मनाए कहाँ, भूपति रिझाए कहाँ,
कहाँ 'हंसराम' जो धरा में धाईयत है।
चार हूँ बरन ताँके हरन कलेश गुर,
गोविंद के चरन मुकति पाईयत है।

(दरबार शोभा)

जिनको प्रताप परि पूरन पुहमि परि,
सोऊ तेरे चरन को करत वखान है।

४.-जौ लौं ध्रुव धरनि तरुन तेज राजै जग,
तौ लौं गोविंद सिंघ तेरे शीश साहबी।

जिनै चाह चक्कवै चकित होत हंसराम,
तेऊ तेरे चाहिबे को धारत धियान हैं।
जिनकै विजय पारावार पार देखीयति,
प्रबल प्रचंड सुने जाहर जहान हैं,
जिनके न दरबार पायति महीनिक लै,
तेऊ तेरे दरबार देखे दरबान हैं।

मंगल

गुरु गोविंद सिंह के दरबारी कवियों में मंगल का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इसे गुरूजी ने स्वयं बुलाया था और महाभारत के एक भाग शल्य पर्व का अनुवाद करने को कहा था जिसे इन्होंने 'सलय परब' नाम से 'ब्रजभाषा' में किया। इस ग्रंथ की रचना सं० १७५३ में हुई जो इस पद से स्पष्ट है –

गुरू गोविंद मन हरष है मंगल लियो बुलाइ।
सलय-परभ आग्या करीं, लीजै तुरत बनाइ।
संवत सत्रह सौ बरस, त्रेपन बीतन हार।
माधव रितु थितु त्रौदसी, ता दिन मंगलवार॥

गुरू जी ने हंसराम का साठ हजार टके प्रदान किए थे। जान पड़ता है, इसे भी गुरू जी ने बहुत अधिक धन प्रदान किया था, तभी इन्होंने 'अरब खरब' देने का उल्लेख किया है।

अरब खरब बहु दरब दे, करि कबिजन को काज,
जौ लौ धरन अकास, गिरि चंद सूर सुर इंद,
तौ लौ चिर जीवै जगत, साहिब गुर गोविंद।

'सरल प्रश्न' पटियाला पुस्तकालय में उपलब्ध है। भाषा ब्रज है, परंतु लिपि 'गुरुमुखी'। इस ग्रंथ में भी अपने आश्रयदाता गुरु गोविंद सिंह के पराक्रम, दानशीलता, वीरता, उदारता, अवतारिता तथा आनंदपुर आदि के वर्णन के साथ महाभारत की कथा का वर्णन विविध छंदों में हुआ है। वीररसपूर्ण स्थलों पर कवित्त, छप्पय आदि का ही प्रयोग हुआ है। मंगल ब्रज के अतिरिक्त पंजाबी, पहाड़ी भाषा में भी कविता किया करता था। कुछ उदाहरण –

(दान वर्णन)

जाचे ध्रू पायो है अमर पद सुर लोक,
नाभा जू के जाचे, दीउ देहुरा फिराई जी।
विपदा मैं लंका दीनी जाचे ते बिभीषन को,
मंगल सुकवि जाचैं मंगल सुनाई जी।
द्रोपदी नगन होत जाच्यो सभा माहि ठाढ़े,
अंबर लै अंबर महि पै रहे छाई जी।
ऐसौ दान दैबो कौन, कोउ सति गुरू बिना,
और कउ न जाचीए बिना गोविंद राई जी।

आनंदपुर महिमा

पूरन पुरष अवतार आन लीन आप,
जाके दरबार म० (?) चितवै सा पाईए।
घटि घटि बासी अविनासी नाम जाको जग,
करता करनहार सोई दिखराईए।
नैमो गुरुनंद जगवंद तेरा त्याग पूरे,
मंगल सुकवि कहि मंगल सुधाईए।
आनंद को दाता गुर साहिब गोबिंद राई,
चाहै जै आनंद तै आनंदपुर आईए॥

अमृतराई

अमृतराइ लाहौर का रहनेवाला पंजाबी था। इसके पिता का नाम छैलराइ था। लाहौर से इन्हें इतना लगाव था कि किसी भी मूल्य पर इसे छोड़कर जाने को तैयार नहीं थे, इनकी यह पंक्ति 'पाइए करोर तउ न जाइए लाहौर तें' अभी भी प्रसिद्ध है। पूर्ण छंद इस प्रकार है –

बाढ़त पुरान कहूँ नाचत निरतकारी, गावत हैं गीत कहूँ मीठी धुनि मोर ते।
कौतक कहानी केल जहाँ जहाँ हासी खेल, साधन सों मेल, डर है न ठग चोर ते।
लौने लौने रूप सभ भूप भेष देखीयत, अमृत सहज सुख साँझ और भोर ते।
रति पति भोग तहाँ रोग ना वियोग भोग, पाइए करोर तौ न जाइए लाहौर ते।

परंतु गुरू गोबिंद सिंह जी की प्रशंसा सुनकर इनके मन में भी इनके दर्शनों की अभिलाषा उत्पन्न हुई और वह आनंदपुर आए। वहाँ गुरू जी के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि वहीं रहकर उनकी प्रशंसा में काव्य रचना करने लगे। गुरू दरबार में इन्हें अच्छा संमान प्राप्त हुआ। और गुरु जी की आज्ञा से इन्होंने महाभारत के सभापर्व का व्रजभाषा में अनुवाद किया। इस ग्रंथ की लिपि गुरुमुखी ही है। भाई संतोष सिंह ने सूरज प्रकाश में करण पर्व की रचना का उल्लेख किया है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो करणपर्व का अनुवाद हंसराम द्वारा हो गया था, दूसरे स्वयं इनके ग्रंथों से एवं 'गुरू विलास' से भी यही सिद्ध होता है कि इन्होंने सभापर्व का 'सभा परब' नाम से अनुवाद किया, यथा –

सभा परब तातें बनवायो, सवण लोग कविता मन भायो,
साठ सहस्र रुपया दीना, सिरोपाउ पशमंबर भीना।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस कवि को भी गुरु जी ने बहुत दान दिया था। 'गुरु विलास' से यह भी पता चलता है कि इन्होंने इस ग्रंथ से पूर्व नवरसों पर एक चमत्कारी ग्रंथ की रचना भी की थी, जो अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'चित्र विलास' नाम का एक और ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में लाहौर, इरावती (रावी) आदि की प्रशंसा में भी छंद लिखे हैं। इन्होंने गुरू जी की दानशीलता, उदारता, यश, पराक्रम आदि के साथ आनंदपुर का भी सुंदर वर्णन किया है। कवित्त, छप्पय, सवैया आदि का ही अधिक प्रयोग किया है –

(एरावती नदी का वर्णन)

गंगा जू के संग की तरंगनी तरंग अंग,
करे पाप भंग वामें नैक जू अनाइए।
मच्छ कच्छ ततकाल भौरन में भ्रमें व्याल,
मंगल कराल होत कहाँ लौं सुनाइए।
तीर तरु ललित बलित बेलि फूल फल,
चक्रवाक सारस मराल मन भाइए।
पापी जात तर अरु तुरत ही जात तर,
ऐसी ऐरावती लोक लोकन में गाइए।

(गुरू जी के अनेक गुणों का वर्णन जिसमें उन्हें नवरसों की साकार मूर्ति दिखाया गया है।)

प्रिया प्रेम से शिंगारी, हास्य सों विनोद भारो,
दीनन पै करुणा अनुसारी सुख दीनो है।
कीनो अरि रुंड मुंड रुद्र रस मरयो झुंड,
फौजन सुवारन में वीर रस कीनो है।
डंक सुन लंक भयभीत, शत्रु वाम निंदा,
विक्रम प्रवल अद्भुत रोस लीनो है।
ब्रह्म ग्यान सम रस अत्रित विराजै सदा,
श्री गुरु गोविंद राइ नवो रस भीनो है।

सैणा

सैणा गुरू गोविंदसिंह के दरबार का लिखारी था। इससे एक बार कुछ अपराध हो गया। वह क्षमा माँगने के स्थान पर दरबार से भाग गया। वह अक्षर बहुत सुंदर लिखा करता था, इसलिए गुरू जी उससे बहुत प्रसन्न रहते थे। उसके चले जाने पर गुरू जी उसे कई बार याद किया करते थे। सैणा कविता भी अच्छी कर लेता था। कुछ दिन घर रहकर उसने कुछ छंद गुरू जी को लिख कर भेजे, जिन्हें पढ़कर गुरू जी ने उसे क्षमा कर दिया और फिर उसे लिखने के कार्य पर लगा दिया। एक नमूना यह है -

दोहा

जब के प्रभु ते बीछुरे, कीयो क्रिषि को ठाट।
विषमन संगति हम करी भए जाट के जाट॥

चौपाई

अब का मुख प्रभु (कउ दिखराऊँ,
सिमर नाम नित आनंद पाऊँ।
गुरू गति अगम जाए नहिं जाई,
नारदादि की मति भरमाई।

चंदन

चंदन जाति का ब्राह्मण था। गुरू गोबिंदसिंह जी की उदारता, वीरता, दानशीलता, तथा विद्वत्ता एवं गुणग्राहकता की प्रशंसा सुनकर वह भी उनके दरबार में आश्रय पाने की इच्छा से आनंदपुर आया और गुरू जी से प्रार्थना की कि यदि मेरे एक सवैये का अर्थ आपके दरबार का कोई कवि बतावे तब वह उसकी योग्यता को माने, और यदि उस सवैये से स्वयं कवि की योग्यता का कुछ परिचय मिल जाए तो उसे भी आश्रय देने की कृपा की जाए। वह सवैया इस प्रकार है –

नव सात तिये, नव सात किये,
नव साति पिये, नव सात पियाए।
नव सात रचे, नव सात बदे –
नव सात पिया पहि दायक पाए।
जोत कला नवसातन की –
नव सातन को मुख अंचर छाए।
मानहु मेघ के मंडल में –
कवि चंदन चंद कलेवर छाए।।

इस सवैये को सुनकर गुरू जी मुस्कराए और कहने लगे कि इस प्रकार के सवैयों का अर्थ तो हमारे दरबार के कवि कर देते हैं। इस पर उन्होंने अपने कवि धन्नासिंह को बुलाया और सवैये का अर्थ करने को कहा। उसने तुरंत इसका अर्थ कर दिया। यह देखकर चंदन बड़ा चकित हुआ और लज्जित भी। फिर भी गुरू जी ने उसे अपने दरबार में रख लिया। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला।

धन्नासिंघ

धन्नासिंघ गुरू गोविंदसिंघ जी के दरबारी सेवकों में था। कभी कभी कविता भी कर लिया करता था। परंतु उसका कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। चंदन कवि का मान, जिसे अपनी कविता का बड़ा अभिमान था, इसीके द्वारा भंग हुआ था। चंदन के कहने पर उसने यह चमत्कारपूर्ण छंद उसे सुनाया, जिसका वह अर्थ नहीं कर पाया था —

मीन मरे जल के परसे,
कबहूँ न मरे पर पावक पाए।
हाथी मरे मद के परसे
कबहूँ न, मरे तन ताप के आए।
तीय मरे पिय के परसे
कबहूँ न, मरे परदेस सिधाए।
गूढ़ मैं बात कही दिजराज
विचार सके न, बिना चित लाए॥
कउल मरे रवि के परसे
कबहूँ न, मरे ससि की छबि पाए।

मित्र मरे मित के मिलवे
कबहूँ न, मरे जब दूर सिधाए।
सिंघ मरे जब मांस मिले
कबहूँ न, मरे जब हाथ न आए।
गूढ़ में बात कही दिजराज
बिचार सके न बिना चितलाए॥

'सुंदर'

इस कवि का नाम भी गुरु गोविंदसिंह के दरबारी कवियों में आया है। मिश्र बंधुओं तथा आचार्य शुक्ल ने जिस सुंदर कवि का उल्लेख किया है, उससे यह सुंदर भिन्न है। इसके नाम के कुछ छंद मिलते हैं जिनमें गुरु जी के प्रताप, यश, दानशीलता, उदारता, पराक्रम एवं गुणग्राहकता आदि का वर्णन है। दो छंद नीचे दिए जाते हैं।

कवित्त

साधन को सिद्ध शरणागत, समर सिंधु,
सुधाधर 'सुंदर' सरस पद पायो है।
कुल को कलस, कवि कामना को काम तरु
कोप कीए काल, कवीयन गुन गायो है।
देवन में, दानव में, मानव, मुनिनि हूँ में,
जाको जस जाहर जहान चलि आयो है।
तेग साचो, देग साचो, सूरमा शरण साचो,
साचो पातिसाहु गुरू गोविंद कहायो है।

(२)

बेदन मँहि शाम सुनो, सिंधु मिरजादा मेरु
मंडल मही में, गुरिआई गुन गाए हो।
शरम के सागर, सपूतन के सिर मौर,
सुंदर सुधासर से 'सुन्दर' गनाए हो।
रचन में दान वानि बानी हरिचंद की सी,
बिदत बिनय वड़े वंस चलि आए हो।
तेज को तरनि तरवार को परसराम,
गुरन मँहि ऐसे गुरू गोविंद कहाए हो॥

'शारदा'

भाई वीरसिंह ने लिखा है कि इस नाम के दो कवियों का पता चला है, पर इनमें गुरु जी के दरबार में भी कोई था यह अभी तक सिद्ध नहीं हो सका। भाई संतोषसिंह के गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ में दो छंद 'शारदा कहित' से आए हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'शारदा' का अर्थ सरस्वती है, इसलिए सरस्वती को संबोधित करके स्वयं संतोषसिंह द्वारा ही

यह लिखे गए जान पड़ते हैं। किन्तु हम इससे सहमत नहीं हैं, निश्चय है इस नाम का कोई कवि गुरू दरबार के कवियों में रहा है। इन छंदों में इन्होंने गुरू जी के गुणों की ही प्रशंसा की है। छंद –

दिश दिश देश देश ऐश दिगपाल केते,
आज करे काल केते गुनहू गहति हैं।
प्रबल प्रतापी पातशाह साचे सुनी अति,
तेरे सिर भार भू को शारदा कहित हैं।
ओजन के सूर महा मोजन सों घेर मार,
और न विचार कीजै, दारिद दहति हैं।
हर माँगे वर देति, माँग गुरू गोबिंद को,
करतार माँगे करतार दे रहत है।।

(२)

(गुरू जी की छड़ी की कृष्ण की वंशी से समता)

कुंज कुंज गलिनि बजाई बन बाँशरी सी,
उनहों के संग सोई शारदा कहति हैं।
जमना के तट वंसी बट के निकट सोई,
तट सतुद्रव[५] आन साहिबी कुरत है।
देखो भूप भूपनि के भूप के भगत लोगों,
भाग या छरी के मो सों कहिवे बात है।
कान्ह कै औतार यो तौ मुक्खही रहत लागी,
कोबिद है औतर्यो तो हाथ ही रहत है।

टहिकण

टहिकण कवि जलालपुर के रहने वाला था। इसके पिता का नाम रंगीलदास था तथा वह जाति के चोपड़ा क्षत्री थे। काफी समय तक वह सिपाही रहे और साथ ही काव्य रचना भी करते रहे। उसके बाद वह गुरू गोबिंद सिंह जी के दरबार में आ गए और उनके आश्रय में रहकर काव्य रचना करने लगे। वह संस्कृत के भी ज्ञाता थे। यह सब स्वयं उनके एक छंद से ज्ञात होता है, छंद इस प्रकार है।

टहिकण कवि जलालपुर बासी,
छत्रि धरम 'नंदलाल' उपासी।
पिता रंगीलदास जिह नामा,
ग्यात चोपरा कुल अभिरामा।
समैं पाई करि गयो सिपाई,
है क्रित भाषा करी तहाँ ही।

५. सतलुज

प्रथम सहसक्रित सुति सुनि लीनी-
ता पाछे भाषा बर कीनी।

(अश्वमेध – अध्याय ७३)

इसी छंद से यह भी स्पष्ट है कि इन्होंने अश्वमेध भाषा ग्रंथ की रचना की। जिसका रचनाकाल कवि ने अषाढ़ वदी त्रयोदशी दिन बुधवार संवत् १७२६ दिया है। यह ग्रंथ महाभारत के 'अश्वमेध पर्व' का भाषानुवाद ही है।[१]

संवत सर दस सपत शत, अधिक वरष षट बीस।
थित त्रयोदशी अषाढि बदि बुधि बासुर शुभदीस।

बरने कथा सुधा रस सानी
कहौं जथामत उकत कहानी
प्रथमैं सुरभाषा सुनि लीनी
दोहा सरस चउपई कीनी।
कहूँ कवित सोरठा की गति
टहकन बरनन कीओ अलप मति ।।

यह ग्रंथ अधिकतर दोहा चौपाई में ही लिखा गया है, कहीं कहीं सोरठा कवित्त आदि का प्रयोग भी किया है।

सुदामा

गुरू गोबिंदसिंह जी के दरबार में सुदामा नाम का एक ब्राह्मण कवि था। वह बुंदेलखंड का रहने वाला और अत्यंत निर्धन था। गुरू जी की दानशीलता एवं गुणग्राहकता को सुनकर वह आनंदपुर आया और गुरू जी को कृष्ण का अवतार कहते हुए तथा अपनी द्वापर की मित्रता की दुहाई देते हुए आश्रय देने की प्रार्थना की – वह छंद नीचे दिया जाता है। इसे सुनकर गुरू जी प्रसन्न हो गए तथा अपने आश्रित कवियों में इसे भी रख लिया।

(कवित्त)

एक संग पढे अवंतंका संदीपन के,
सोई सुध आई तो बुलाई बूझी बामाँ मैं।
पुंगीफल होत तो असीस देतो नाथ जी को,
तंदुल ले, दीजै, कंध लीजै फटै जामा मैं।
दीन दुआर सुनि कै दयाल दरबार मिले,
एतो कुछ दीनो पाइ अगनत सामाँ मैं।
प्रीति करि जाने गुरु गोविंद कै मानै,
तातें वहै तूँ गोविंद वहै बाभन सुदामा मैं ।।

१. अश्वमेध भाषा ग्रंथ गुरु रामदास पुस्तकालय अमृतसर में उपलब्ध है ॥ १ ॥

कुवरेश

कुवरेश गुरू गोविंदसिंह का दरबारी कवि था। भाई वीरसिंह ने इसे हिंदी का प्रसिद्ध कवि केशवदास ही बताया है। उनका कथन है कि औरंगजेब ने जब केशव को बलपूर्वक मुसलमान बनाना चाहा तो वह भागकर गुरू जी के पास आ गया और वहीं रहकर काव्य-रचना करने लगा। किंतु उनकी यह धारणा ठीक नहीं क्योंकि केशव तथा गुरू गोविंदसिंह के जीवन की तिथियाँ मेल नहीं खातीं। भाई संतोष सिंह ने भी इन्हें केशव ही माना है। परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर भारत की संतपरंपरा' में केशव के पुत्र कुँवर का उल्लेख किया है, जो गुरू जी को उनके पुत्र के जन्म पर बधाई देने के लिए आया था और वहीं रहकर काव्य रचना करने लगा था। यह विचार ठीक जान पड़ता है, क्योंकि कुवरेश ने अपना जन्म स्थान यमुना गंगा के बीच बरी गाँव को ही बताया है।

गंगा यमुना बीच में बरी ग्राम था नाम,
तहां सु कवि कुवरेस को वास करे को धाम।

गुरु दरबार में उसे मान - संमान प्राप्त हुआ और गुरु जी की आज्ञा से उसने महाभारत के द्रोणपर्व का सन् १७५२ में ब्रजभाषा में अनुवाद किया। उसका रचनाकाल इस ग्रंथ में कवि ने स्वयं इस प्रकार दिया है —

संवत सत्रह सौ अधिक बावन बीते और,
तामैं कवि कुवरेश यह कियो ग्रंथ को डौर।

इस ग्रंथ के अंत में सभी गुरुओं की वंदना की गई है —

बाहुज बेदी कुल भयो नानक गुरु अनूप,
जिनमें पूरे पाइए पारब्रह्म को रूप।
नानक सिख कीए तिहुन अंगद शुभ नाम,
भक्ति सरोरुह के भये जे रवि आठो जाम।
अंगद निज गुरुता दई भले भले विचार,
अमरदास को निज सकल दीनो जगत उधार।
अमरदास अपनो सकल गुरुता प्रभुता ग्यान,
रामदास को सभ दियो जो सोठी सुलतान।
अरजुन बिक्रम नाग हूँ अरजुन जग पुरहूत,
निज जग जस अरजुन कियो रामदास के पूत।
अरजुन सनु उदार मति हरिगोविंद नरिंद,
जिन हरिलो मारे निखिल बैरी प्रबल करिंद।
छोड्यो गुरूदित्त जू जग माया बिसतार,
तिनके सुत हरिराय को दीनो गुरता भार।
भए सनु हरिराय के गुरू अत्रिस हरिक्रिशन,
तज्यो जबे तिनहूँ जगत तबहि करी यह प्रश्न।
गुरुता प्रभुता को उचित तेग बहादर एक,
नारायन जा पर कियो भक्ति सुधा की सेक।

निज जन कैरव सुख करन तेग बहादर चंद,
जिन भव पारावार के दूर कियो दुख द्वंद।
गुरु गोबिंद नरिंद हैं तेग बहादर नंद,
जिन ते जीवित हैं सकल भूतल कविबुध ब्रिंद।
नदी सतंद्रु तीर तहिं शुभ अनंदपुर नाम,
गुरु गोविंद नरिंद के राजत सुभग सुधाम।
गंगा जमना के बीच में बरी ग्राम को नाम,
तहाँ सुकवि कुवरेश को वास करै को धाम।

इनका एक और छंद देखिए जिसमें गुरु गोविंदसिंह की प्रशंसा की गई है —

सुना निथावन को तुम थान
सदा निभानन के बड मान।
अहो नितानन के तुम त्रान
अस सोभा को कथै जहान।
तुरक तेज ते बिन बल हिंदू,
धरम बिनासत मेलत ब्रिंदू।
महा त्रास ते मैं चलि आयो,
चहत आपनो धरम बचायो।

इस छंद से भी पता चलता है कि धर्म रक्षा के लिए वह गुरु जी के पास आश्रय पाने के लिए आया था। यह प्रार्थना सुनकर गुरु जी ने उसे अपने आश्रय में रख लिया।

आलम

हिंदी के प्रसिद्ध कवि आलम का रचनाकाल आचार्य शुक्ल ने संवत १७४० से १७६० तक माना है। उनके कथन के अनुसार वह औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रय में रहते थे। शुक्ल जी ने यह भी माना है कि आलम ने हिंदी के अतिरिक्त उर्दू में भी कविता की है। परंतु यह तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल ही रहा कि आलम की ब्रज भाषा में लिखी बहुत सी कविता गुरुमुखी लिपि में भी मिलती है। आलम १७६० के पश्चात् पंजाब गुरु गोविंद सिंह के दरबार में आ गए थे और वहीं रहकर काव्य रचना करने लगे थे गुरु गोविंदसिंह के 'विचित्र नाटक' से भी यह स्पष्ट है कि आलम उनके दरबार में रहा था –

'जब बल पार नदी के आयो
आन आलमे हमैं जगायो' (विचित्र नाटक)

शुक्ल जी ने उसके आलमकेलि ग्रंथ का ही उल्लेख किया है। आलम का एक ग्रंथ 'माधवानल कामकंदला' भी है जो 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय', अमृतसर में उपलब्ध है। आलम प्रेमोन्मत्त कवि थे, जिनके एक एक वाक्य में 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' पाया जाता है, यही कारण है कि इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' जैसे प्रेमकाव्य की रचना की। यह ग्रंथ जोध कवि की इसी नाम की संस्कृत पुस्तक का अनुवाद जान पड़ता है। इसका रचनाकाल १७७४ है। 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में एक पुस्तक 'तिलक शतक' भी आलम की ही लिखी

जान पड़ती है। इनका कविता का एक नमूना देखिए। इसमें आपने गुरु गोविंद सिंह की प्रशंसा की है —

> शोभा हू के सागर, नवल नेह नागर हैं,
> बल भीम सम, सील कहाँ लौं गनाइए।
> भूमि के विभूषण, जु दूषन के दूषन,
> समूह सुख हूँ के सुख देखे ते अघाइए।
> हिंमत निधान, आनदान को बखाने? जाने,
> आलम तमाम नाम आठों गुन गाइए।
> प्रबल प्रतापी पातशाह गुरू गोविंद जी,
> भोज की सी मौज तेरे रोज रोज पाइए॥

आशासिंह

आशासिंह गुरू गोविंद सिंह के दरबार में पेशकार था, जो बहुत चरित्रवान तथा इमानदार था, इसलिए गुरू जी का बड़ा प्रिय था वह कुछ कवि भी था। एक बार एक व्यक्ति जिसे अपनी लड़की का विवाह करना था, इनके पास आया और गुरू की दुहाई देकर सहायता करने की प्रार्थना की। उसकी दयनीय अवस्था देखकर यह द्रवित हो गए और जिस स्थान का वह व्यक्ति था, वहाँ के एक सिख व्यापारी के नाम ५००) का टोवूं (हुँडी) लिख दी। उस व्यक्ति का काम तो हो गया। पर गुरू जी को कुछ समय पश्चात् जब उस सिख व्यापारी से इस बात का पता चला, तो उन्हें बड़ा दुख हुआ कि आशासिंह ने उन्हें पूछे बिना ही टीवू लिखकर उस पर उनकी मोहर लगा दी। जब आशासिंह को गुरु जी की नाराजगी का पता चला और देखा कि अपनी सफाई देने का कोई उपाय नहीं, तो वह अपना कार्य किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपकर स्वयं अपने घर में जा छिपा। वह पश्चात्ताप एवं ग्लानि से दिन रात दुखी रहता था। सोचता था कि यद्यपि उसने भलाई का काम किया और परोपकार करना प्रत्येक सिख का कर्तव्य है, पर साथ ही उसने अपने प्राथमिक कर्तव्य को भी तो पूरा नहीं किया और यह एक प्रकार से बेईमानी ही है, इसीलिए उसे बदनाम होना पड़ा। बहुत सोच विचार कर अंत में उसने निर्णय किया कि गुरू जी दयालु, क्षमाशील, उदार तथा विद्वानों के गुणों के प्रशंसक हैं, क्यों न उनके संमुख सारा विवरण देते हुए स्वयं क्षमा याचना करूँ और उसने इस प्रकार कविता में ही अपनी प्रार्थना लिखकर भेजी —

दोहा

> मुख कारा मेरो करै, करत न पर उपकार।
> ताहू को मन करत निज, कारो बदन निहार।
> फट छाती दो टूक भई, रूदन करत लिख जात।
> पर स्वारथ उपकार बिन, मुझे न सुपने शांत॥

चौपाई

> यो लिखनी बच है बर रहा, सो पकराई गुरू मुरकरा।
> यो ऊपकार नाथ ना करों, तदपि तुम ते बहु विधि डरों।

यो सिख तुमरी दई दुहाई, तो मम टोवू दयो कराई।
भूजन मद्ध सदा इह जंतु, सतिगुर है बखशंद बिअंत।
मैंरी खता उर नहिं जानहु, अपनो लीजै बिरद पछानहु।
सरब लच्छ जग मैं इह तोरी, खावंतु मुंच जीव करि जोरी।

गुरु जी यह सुनकर प्रसन्न हो गए और उसे फिर से उसका काम सौंप दिया। इनका समय भी १७५० के निकट का ही है।

ननुआ जी

ननुआ नवें गुरु तेगबहादुर की सेवा में रहा करता था। फिर गुरु जी की आज्ञा से लाहौर के एक फकीर नारायणी की सेवा में लगा रहा। उनसे अवकाश लेकर अपने घर चला गया तथा वहाँ अपने एक मित्र कन्हैया के कहने पर उसने गुरु स्तुति, प्रेम, उपदेश तथा ज्ञान संबंधी कुछ छंद लिखे। भाई मोहनसिंह ने इस कवि का नाम पंजाब के कुछ अन्य कृष्णभक्त कवियों – भवनदास, ग्वालदास, भगवान, बालकृष्ण, रसक लाल, अनंतदास, मनहर माधो, जोगी – आदि के साथ लिया है।[७] किंतु कृष्ण - भक्ति - संबंधी इसका कोई ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। गुरु - प्रशंसा - संबंधी इसका छंद यहाँ दिया जाता है —

लोचन निपट लालची मेरे।
भुक्खे धावें तिपत न पावें
सदा रहैं गुर सूरत घेरे।
जोड़े हाथ अनाथ नाथ पहि
अपने ठाकुर केरे घेरे।
हेर हेर ननुआ हैराना
गुर सूरत विच हरि जी हेरे।

चंद कवि

चंद नाम का एक कवि गुरु गोबिंद सिंह के दरबार में रहता था। वह लाहौर का रहने वाला था। भाई कान्हसिंह ने 'चंद' को महाभारत के पर्व का अनुवाद करने वाला गुरु-दरबार का एक सुनियारा कवि माना है। इससे अधिक इनके जीवन के संबंध में ज्ञात नहीं। इनके जो छंद मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वह सब गुरुओं को एक ही रूप मानते थे। यथा–

कल मैं भइओ एक मरद नानक है नाम जाको
ताते भए नो एक जोती सुहाइओ है।
फेर गुर गोबिंद सिंघ कलगी अवतार होए
खडग धारी होइ महल दसवां कहाइओ है।
तेईअन मैं आए बीच पैठे समाए
गुर दुनीआँ बसाइ जाए पाऊँटा बसाइओ है।

७. इंट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर, पृ० १५७।

सतिगुर बचन सार मरद गुरका बिचार
गोबिंदसिंह क्रिपा ते दास चंद सुनाइश्रो है।

छप्पय

गुर नानक अंगद अमरदास
रामदास गुर अरजन धारिश्रो।
गुरू हरिगोविंद हरिराइ
गुरू हरिक्रिशन बिचारिश्रो।
गुर तेग बहादर भइयो नाम जिन इक मन लीनो।
शबद गुरू उपदेश दान संगत कउ दीनो।
कलाधार गुर गोविंद सिंघ भए
प्रगट भई कल मैं सिक्खी।
जैकार भइश्रो त्रैलोक मैं
जो बिरद पैज सतिगुर रक्खो ॥

इन कवियों के जीवन एवं साहित्य के संबंध में अभी बहुत कम ज्ञान है। इस दिशा में अधिक खोज एवं अध्ययन की आवश्यकता है। इन कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से हिंदी कवि पंजाब में हुए हैं। हस्तलिखित पुस्तक जो 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में है, उसमें पंजाब के कुछ हिंदी कवियों के यह नाम दिए गए हैं – वली, सय्यद, तेजभान, आलम, राजाराम, सालगराम, गोकल, साईदास, चंद, जादो, केशो, चंदा, गियान नंदलाल, गोनाल, बिहारी, बालमीक, देवा, नानक, महानंद, आडा, जगतभान, फतामीयाँ, लारखी, खियानी तथा सुरंग। इस प्रति में इन कवियों की रचनाओं के नमूने भी दिए हैं। निश्चय ही खोज करने पर इनके ग्रंथ भी मिल सकते हैं। डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक पंजाबी साहित्य की भूमिका में कृष्ण भक्ति धारा के कुछ पंजाबी कवियों के नामों का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह कवि हिंदी के प्रसिद्ध कवियों से किसी भांति कम नहीं थे।

डा० मोहनसिंह ने राम तथा श्याम – दो और गुरू जी के दरबारी कवि माने हैं। 'सिख रेफरेंस पुस्तकालय' में जन्म साखी (दौलतराय), महाकारज परीक्षा (सोंधा कवि), अध्यात्म रामायण (गुलाबसिंह), होली - गजलाँ - रुबाइयाँ (नंदलाल गोया), सुदामा चरित (साधुजन), रासलीला (दाना) तथा 'गुरू रामदास पुस्तकालय' अमृतसर में हितोपदेश (तनसुख), बाट अमृतसर जी की (दर्शनसिंह), सभा प्रकाश (संवतसर कवि) भक्तमाल (नाभाजी का गुरुमुखी रूपांतर), भगवत गीता (गोविंद), तत्वविवेक पद दीपिका भाषा (भाई जयरामदास) आरती तुलसी जी की (सांइदास), अबगतोलास (दयाल अनेमानंद) एवं तिलक शतक, सुर रत्नावली, अंग फुरने के फल जैसे ग्रंथ भी देखने को मिले है। कहना न होगा कि हिंदी के सैकड़ों ग्रंथ (गुरुमुखी लिपि में) पंजाब के विभिन्न पुस्तकालयों एवं लोगों के पास बिखरे पड़े है। हिंदी साहित्य का ठीक स्वरूप निर्मित करने के लिए तथा विभिन्न समयों में हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए हिंदी के इस साहित्य की खोज एवं अध्ययन की आवश्यकता है।

*

विमर्श

भक्तमाल का रचनाकाल

संत नाभादास कृत भक्तमाल में जिन भक्तों के चरित्रों का वर्णन हुआ है उनमें से अनेक हिंदी के उत्तम कोटि के कवि हैं। एतदर्थ उनके संबंध में नाभादास जी की भक्तमाल का साक्ष्य उपयोग करने के लिए उसके रचनाकाल का निर्णय करने के हेतु हिंदी साहित्य के इतिहास में रुचि रखनेवाले अध्येता प्रयत्नशील रहे हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में (पाँचवें संस्करण का पृ० १४७) नाभादास जी का परिचय देते हुए लिखा है –

"इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ में प्रियादास जी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे हैं।"

उक्त सूचना में जो छप्पय-संख्या ३१६ दी गई है वह ठीक प्रतीत नहीं होती। मेरे पास की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में १९७ छप्पय ही हैं। इस प्रति में प्रियादास जी की रसबोधिनी टीका के कवित्त उक्त संख्या से अतिरिक्त हैं। प्रियादास जी की रसबोधिनी टीका का रचनाकाल १७६९ इन शब्दों में अंकित है –

संवत् प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर,
फाल्गुन मास बदी सप्तमी बितायकैं।
नारायन दास सुख रासि भक्तमाल लैकैं,
प्रियादास उर बसौ रही छायकैं।।

इससे इस प्रसंग में इतना ही निष्कर्ष निकाला जा रहा है कि संवत् १७६९ के पूर्व भक्तमाल की रचना हुई थी।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की १९१७ – १९ की खोजरिपोर्ट में सूचना संख्या ११७ में उक्त भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६५२ वि० दिया गया है। किंतु किस आधार पर ऐसा उल्लेख वहाँ हुआ है, इसका कोई संकेत वहाँ नही मिलता। भक्तमाल की रचनाशैली तथा परिचयात्मक वर्णनों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि इस ग्रंथ के लेखन में कुछ सूचनाओं का संकलन भी संत नाभादास जी को करना पड़ा होगा। इससे ग्रंथ में रचयिता द्वारा किसी संकेत के अभाव में एक संवत् विशेष का मान लेना उपयुक्त न होगा।

अपने ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य' के पृ० ३१५ पर श्री श्यामसुंदरदास जी ने नाभादास जी को संवत् १६८० तक जीवित होना प्रकट किया है किंतु आचार्य शुक्ल जी ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक नाभादास जी का जीवित रहना बताया है। गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु संवत् १६८० में हुई थी। अतः आचार्य शुक्ल जी के मत से नाभादास १६८० के बहुत बाद तक जीवित रहे। उक्त दोनों मतों के समर्थन में कोई प्रमाण वहाँ प्रकट नहीं किए गए।

भक्तमाल में निम्न छप्पय भगवत् मुदित जी के संबंध में भी लिखा गया है –

कुंजबिहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै।
दंपति सहज सनेह प्रीति पर नित परकासै।

अननि भजन रस रीति पुष्ट मारग करि देखी।
विधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय बिसेखी।
माधव सुत संमत रसिक, तिलम दाम धरि सेव लिय।
भगवंत मुदित उदार जस, रस रसना आस्वाद किय॥

भगवत मुदित जी 'सूजा' के दीवान रहे। अतः 'कुंजविहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै' वाले चरण में निहित परिचय उनके घर त्याग कर वृंदावन में आने के उपरांत की भावनाओं को प्रकट करता है। संवत् १७०७ के प्रारंभ में भगवत मुदित जी ने प्रबोधानंद सरस्वती कृत श्री वृंदावन-महिमामृत की भाषा पद्यानुवाद प्रस्तुत किया था –

संवत् दस पै सात सै अरु सात बरस हैं जान।
चैत मास में चतुर वर भाषा दियौ बखान॥

अतः भगवत् मुदित का भक्त रूप में प्रादुर्भाव १७वीं शताब्दी के अंत में माना जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी एवं भक्त कवि चतुर्भुजदास जी की बारह रचनाएँ द्वादश यश के नाम से प्राचीन काल से ही प्रचलित है। इनकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। द्वादश यश में संग्रहीत तीसरे यश का नाम है 'भक्ति प्रताप यश' यह तीसरा यश इनका बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ है और उसकी अलग से भी प्रतिलिपियाँ हुई। भक्ति प्रताप यश में चार चार त्रिपदी छंद के १५ बंद हैं। प्रत्येक बंद का अंतिम चरण 'भक्ति प्रतापहिं गाइहौं' आता है। अतः छंदों का यह चरण स्मृति में सहज रूप से घर कर सका।

नाभादास जी ने अपनी भक्तमाल में राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी इन्हीं चतुर्भुजदास जी के परिचय में जो छप्पय लिखा है उसमें भी इनके द्वारा भक्ति प्रताप के गाए जाने का उल्लेख है यथा –

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ॥
मुरलीधर को छाप कवित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अंघिरेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनंद में प्रेम रहत भीजौ हियौ।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौड़ देश तीरथ कियौ॥

यद्यपि भक्ति प्रताप यश नामक रचना में उसका रचनाकाल नहीं दिया गया है तथापि उसी द्वादश यश ग्रंथ की दूसरी रचना 'धर्म विचार यश' में उसका रचनाकाल संवत् १६८६ इस प्रकार दिया गया है –

संवत सोरह सौ चौरासी, अधिक द्वै बरस सिरानी जू।
मुरलीधर वर भक्त चतुर्भुज दास प्रताप बखानी जू॥

इस द्वितीय यश के प्राप्त रचनाकाल से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तृतीय यश भक्ति प्रताप की रचना भी इसीके आसपास हुई होगी। फलतः नाभादास जी के उक्त छप्पय की रचनातिथि भी उस संवत् के पूर्व की नहीं मानी जा सकती। इस आधार पर भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १६८६ के पश्चात् ठहरता है।

— वासुदेव गोस्वामी

*

समीक्षा

भारतीय भाषाविज्ञान

"मैं पढ़ता कम हूँ, 'जुगाली' ज्यादा करता हूँ," ये शब्द आचार्य श्री किशोरीदास वाजपेयी ने प्रायः इन पंक्तियों के लेखक से कहे हैं। और इसी 'जुगाली' के फलस्वरूप इधर दो ग्रंथ आचार्य वाजपेयी के (हिंदी-शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा तथा भारतीय भाषाविज्ञान, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी) सामने आए हैं। जिन्होंने वाजपेयी जी को बहुत निकट से देखा है, वे जानते हैं आप निरंतर कितना चिंतन किया करते हैं; छोटे से छोटे शब्द को कितना सोचते हैं और कोई स्वतंत्र हल मिलने पर उसे तर्कपूर्वक सबके समक्ष रखते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने भारतीय भाषाविज्ञान पर स्वतंत्र चिंतन किया है। स्वतंत्र चिंतन वाजपेयी जी के लिये अधिक सुकर है। वे अंगरेजी नहीं जानते अतः उनके चिंतन की पृष्ठभूमि में कोई पूर्वाग्रह का आवरण नहीं रहता। अस्तु,

प्रस्तुत ग्रंथ आठ अध्यायों में विभक्त है। पहले में उन्होंने भाषा, भाषाविज्ञान, उसके इतिहास, शब्द आदि का विवेचन किया है, दूसरे में शब्द-निरुक्ति, वर्णागम, वर्णविवेचन आदि का निरूपण है, तीसरे में भाषा का विकास, वेद, अवेस्ता, धम्मपद आदि की भाषाओं को लिया है, चौथे में प्राकृत तथा आधुनिक जनभाषाओं के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, पाँचवें में हिंदी तथा उसके उपभेदों की व्याख्या है, छठे में भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण पर विचार किया गया है, सातवें में दक्षिण की भाषाओं तथा लिपिभेद आदि की समस्याओं का समाधान है और आठवें अध्याय में भाषा और बोलियाँ, साहित्यिक भाषा, जनभाषा एवं राष्ट्रभाषा आदि गृहीत हैं। अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत शब्द, अर्थ और ध्वनि : लोप तथा आगम आदि पर वाजपेयी जी ने अपने विचार रखे हैं। आरंभ में लेखक ने विशद् भूमिका में अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया है।

सभी कुछ बड़ी सरल सुबोध भाषा में उपस्थित किया गया है। दुरूहता तो वाजपेयी जी की शैली में है ही नहीं। विद्वानों द्वारा इस ग्रंथ का समुचित अनुशीलन होना चाहिए। इस से तत्त्वबोध होगा और भाषाविज्ञान का अध्ययन-अनुशीलन विकसित होगा। हो सकता है वाजपेयी जी की सभी मान्यताएँ विद्वानों को स्वीकार्य न हों। पर विश्वविद्यालयों में इस विषय के अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से वाजपेयी जी के सिद्धांत भी तुलनात्मक अध्ययन के लिये आवश्यक हैं।[1]

आत्मनिरीक्षण

इधर हाल के अनेक महत्व के प्रकाशनों में सेठ गोविंददास का 'आत्मनिरीक्षण' भी है। नाम से ही स्पष्ट है कि इस विशाल ग्रंथ के प्रथम खंड में आत्मचरित, वंश-इतिहास आदि के

१. **भारतीय भाषाविज्ञान**, लेखक — श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ-संख्या ३१८, मूल्य ६.२५ रु०।

साथ लेखक ने आत्मचित्रण तथा आत्म-परीक्षण का समावेश किया है। दूसरे तथा तीसरे खंडों में सेठ जी ने अपने राजनीति तथा साहित्य में लगे चालीस वर्षों की घटनाओं तथा अपने संपर्कों का सिंहावलोकन किया है। यह बताना अनावश्यक है कि महाजन परिवार में जन्मने और पलने के बावजूद सेठ गोविंददास ने देश-साहित्य-समाज-सेवा का मार्ग अपनाया ! इसके लिये उन्हें कितने विरोधों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा – इसकी कल्पना उनके लिये असंभव नहीं जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभिक दिन तथा अँगरेजों का दबदबा देखा है। मेरा मतलब समाज के उस उच्च कहे जाने वाले वर्ग से है जिसका संपर्क इस प्रकार की परिस्थियों से होता रहा है। सेठ जी उसी समय से हिंदी के प्रबल समर्थक हुए और आज भी निर्भीकता पूर्वक है। उनके शताधिक नाटक उनकी साहित्यसेवा के साथ उनके विचारों के प्रतिनिधि हैं। उनके नाटक कैसे हैं, यह अलग बात है। पर यह निर्विवाद है उन्होंने नए नए प्रयोग किए हैं और लगन के साथ नाट्यसाहित्य की अभिवृद्धि को अपना माध्यम बनाया। सेठ जी किस कोटि का लिखते हैं, यह 'आत्म निरीक्षण' के पाठक को स्पष्ट हुए बिना न रहेगा।

मुख्यतः इस आत्मकथा में उनकी राजनीतिक गतिविधि का दिग्दर्शन है – महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए असहयोग आंदोलन का विस्तृत इतिहास। वस्तुतः इस प्रकार की आत्मकथाओं का यही उद्देश्य भी होता है। इनमें लेखक के निजी जीवन के बदले युगविशेष ही प्रधान होता है। इनमें वस्तुतः युग की 'आत्मकहानी' होती है जिसका प्रतिनिधित्व लेखक करता है। सेठ जी को बड़े से बड़े नेताओं के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस आत्मचरित से उस युग की समस्याओं की अच्छी झलक मिलती है। अपने सुदीर्घ राजनीतिक-साहित्यक-सामाजिक जीवन का चित्रण सेठ जी ने बड़ी निर्भीकता से किया है। जो कुछ कहा गया है स्पष्ट कहा गया है। अपने व्यक्तिगत संबंधों में भी उन्होंने स्पष्टता बरती है। हम इस पुस्तक का स्वागत करते हुए आशा करते हैं कि पाठकों को यह पुस्तक रोचक लगेगी और इससे उनका ज्ञानवर्द्धन भी होगा। 'आत्मनिरीक्षण' होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक आत्मश्लाघा से मुक्त है।[२]

—राधाविनोद गोस्वामी

द्विवेदी - युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र

प्रस्तुत संस्करण में द्विवेदीयुग के प्रथितयश साहित्यकारों के वैयक्तिक तथा साहित्यिक जीवन से संबद्ध २३३ पत्रों का संकलन है। संकलित पत्रों में द्विवेजी के १०१, श्री पद्मसिंह शर्मा के ६७, पं० श्रीधर पाठक के ६, श्री बालमुकुंद के २४, पं० बालकृष्ण भट्ट के ५ और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ७ पत्र हैं, जो हिंदी साहित्य की संग्राह्य निधियाँ हैं। संपादक का यह कथन कि "किसी महान् साहित्यिक के वास्तविक व्यक्तित्व की जानकारी के लिए उसकी साहित्यिक कृतियाँ जितनी उपादेय हैं, उनसे कहीं अधिक उपादेय उसके वैयक्तिक पत्र हैं," सर्वथा सत्य है। हिंदी साहित्य में युगनिर्माता साहित्यकारों के पत्रों का संकलन-प्रकाशन उपेक्षणीय रहा है, जो किसी भी समृद्ध साहित्य के लिए लज्जास्पद है। प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में पं० किशोरी दास वाजपेयी, श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद', श्री विनोदशंकर व्यास आदि अग्रसर है।

२. **आत्म निरीक्षण** – लेखक, सेठ गोविंद दास; प्रकाशक, भारतीय साहित्य मंदिर – दिल्ली; पहला भाग पृ० ३००, मूल्य ६.०० रु०; दूसरा भाग पृ० ५००, मूल्य ८.०० रु०; तीसरा पृ० ३३१+६२, मूल्य ८.०० रु०।

द्विवेदीयुग ने साहित्य के निर्माण के साथ साहित्यकारों का भी निर्माण किया है। अतः उस युग के निःस्वार्थ साहित्यसेवियों के पत्रों को ग्रंथरूप में प्रस्तुत कर 'विनोद' जी ने प्रशंसनीय कार्य किया है। इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। यदि प्रत्येक साहित्यकार के एक एक पत्र का ब्लाक भी इस संग्रह में दिया गया होता तो इसकी महत्ता और बढ़ गई होती।[3]

—रामवली पांडेय

'नवनीत' का दीपावली विशेषांक

'नवनीत' हिंदी का अकेला मासिक डाइजेस्ट है जिसने जीवन के आरंभ से ही अपनी दिशा में एक रेखा खींची है। विदेशों में तो ऐसे चयन-पत्र बहुत हैं और उनकी खपत भी कम से कम भारत के लिए विस्मयजनक ही है। पर हिंदी में 'नवनीत' ही इस दिशा में अग्रणी है। प्रति मास इसमें अधिक से अधिक रोचक, ज्ञानवर्द्धक तथा सूचक सामग्री का संकलन रहता है। प्रस्तुत अंक विशेषांक होने के कारण ठोस सामग्री तथा आकर्षक साज-सज्जा से पूर्ण है। सामग्री की विविधता हर प्रकार के पाठकों को आकृष्ट करने में समर्थ है। संस्कृति, इतिहास, साहित्य और महत्वपूर्ण जीवनप्रसंगों का इसमें उत्तम समावेश है।

पाठ्यसामग्री के बीच विज्ञापनों का समावेश नहीं रुचा। उन्हें आदि तथा अंत में ही रखा जाए। दूसरा सुझाव हम यह देना चाहेंगे कि इसमें जहाँ से सामग्री का चयन किया जाय, उसका भी उल्लेख रहे।[4]

—रागी

*

३. द्विवेदीयुग के साहित्यकारों के कुछ पत्र, संपादक–बैजनाथ सिंह 'विनोद', प्रकाशक – हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद। पृष्ठ १६+२२२, सजिल्द मूल्य ५.०० रु०।

४. नवनीत (हिंदी डाइजेस्ट), संपादक — रतनलाल जोशी, नवनीत प्रकाशन, ताँरदेव, बंबई, पृष्ठ संख्या २५०, मूल्य २.००।

संपादकीय

श्रद्धांजलियाँ

कृष्णविहारी मिश्र

पंडित कृष्णविहारी मिश्र का निधन सत्तर वर्ष की वय में उनके गाँव सिधौली-गँधौली (सीतापुर) में गत २४ मई १९५९ को हो गया। प्राचीन हिंदी - साहित्य के मर्मज्ञों और विशेषज्ञों में उनका प्रमुख स्थान था। रीतिकालीन काव्यधारा की समीक्षा में उनको विशेष ख्याति मिली। उक्त क्षेत्र में उनकी मान्यताएँ आज भी महत्वपूर्ण हैं। देव - विहारी, 'मतिराम - ग्रंथावली' तथा गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित आपकी कई साहित्यिक कृतियाँ हिंदी साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं। मिश्रजी गंभीर एवम् चिंतनशील प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अपने विशिष्ट ग्रंथों, शोधपूर्ण निबंधों तथा बहुत दिनों तक माधुरी और समालोचक मासिक पत्रिकाओं के संपादन से उन्होंने हिंदी - साहित्य की अपूर्व सेवा की है। उनके परलोकवास से जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में संभाव्य नहीं दीख पड़ती।

ललिताप्रसाद शुक्ल

पंडित ललिताप्रसाद शुक्ल गत २५ मई १९५९ को साठ वर्ष की वय में जयपुर में स्वर्गवासी हो गए। शुक्ल जी ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी - साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए वंगभाषा क्षेत्र में राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रतिष्ठा एवम् गौरव की वृद्धि के निमित्त आपकी कार्यशीलता सर्वथा प्रशंसनीय रही है। वंगीय हिंदी - परिषद उनकी यशःकीर्त्ति है। उनके निर्देशन में परिषद ने कई महत्त्वपूर्ण हिंदी ग्रंथों का प्रकाशन किया है। जनभारती नामक शोधपूर्ण त्रैमासिक - पत्रिका निकालकर शुक्ल जी ने शोधक्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। वे सुलझे हुए समीक्षक तथा सफल प्राध्यापक थे। उनका विनम्र एवम् विनोदी स्वभाव सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उनके निधन से राष्ट्रभाषा हिंदी की बहुत बड़ी क्षति हुई है।

गोस्वामी गणेशदत्त

गोस्वामी गणेशदत्त जी का निधन सत्तर वर्ष की अवस्था में गत ६ जून १९५९ को हो गया। गोस्वामी जी राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य सेवक थे। पंजाब तथा सीमाप्रांत में हिंदी की उपेक्षा उनको सह्य नहीं हुई और उन्होंने राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए जो कार्य किया वह श्लाघनीय और अनुकरणीय है। उनकी हिंदी सेवाओं के कारण ही उन्हें हिंदी साहित्य संमेलन जयपुर के अधिवेशन का सभापति बनाया गया था। उनका कर्मठ जीवन त्याग तथा सेवा भावना से भरा हुआ था। राष्ट्रभाषा हिंदी के अन्यतम प्रचारक और कार्यकर्ता की अभी कितनी बड़ी आवश्यकता थी किंतु काल की करालता के समक्ष वश ही क्या है।

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का देहावसान ६२ वर्ष की वय में हो गया। वे संस्कृत के विद्वान् थे। मेयो कालिज छोड़कर वे काशी में आ बसे थे और काशी नरेश के राज पंडित थे। रस गंगाधर का उन्होंने परिश्रम पूर्वक प्रामाणिक हिंदी अनुवाद किया जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने १९८४–८५ संवत में दो भागों में प्रकाशित किया था। संस्कृत के दिग्गज विद्वान होते हुए वे अनन्य हिंदी सेवी थे। उनका व्यक्तित्व एवम् व्यवहार बड़ा सरल था। नागरी प्रचारिणी सभा के प्रति उनका अगाध प्रेम था। वे वल्लभमत के मान्य व्याख्याता थे। उनके निधन से साहित्य - जगत की अपार क्षति हुई है।

लोचनप्रसाद पांडेय

पंडित लोचनप्रसाद पांडेय का स्वर्गारोहण पचहत्तर वर्ष की अवस्था में गत १८ नवंबर १९५९ को रायगढ़ में हृदय की गति अवरुद्ध हो जाने से हो गया। वे हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यकार थे। आचार्य द्विवेदी युग के लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकारों में उनका प्रमुख स्थान था। १९२० में मध्यप्रदेश के प्रांतीय हिंदी साहित्य संमेलन की अध्यक्षता उन्होंने ही की थी। उन्होंने महाकोशल इतिहास - परिषद् की स्थापना भी की थी। साहित्य के साथ साथ इतिहास तथा पुरातत्त्व में भी उनकी विशेष अभिरुचि थी और राष्ट्रीय विचारधारा से उनका जीवन ओतप्रोत था। उन्होंने खड़ी बोली की कविता के माध्यम से राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना के उन्नयन में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। गद्य तथा पद्य लेख में उनकी समान गति थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और स्वाभाविक था। उनके निधन से द्विवेदी युग का एक स्तंभ धराशायी हो गया।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

अनेक साहित्यिकों के निधन के पश्चात् नागरीप्रचारिणी सभा के भूतपूर्व उप सभापति तथा वाचस्पत्य सदस्य आचार्य लक्ष्मणनारायण गर्दे का देहावसान गत २३ जनवरी को हो गया। हिंदी-पत्र-कारिता के वे अन्यतम स्तम्भ थे, इसका परिचय हिंदी-जगत को पर्याप्त है। जिस समय भारतीय राजनीति एवं पत्रकारिता से लोग जी बचाते थे उस समय गर्दे जी ने निर्भीकता-पूर्वक उसी को अपना जीवन-पथ चुना। गर्दे जी के पूर्वज पिछली शती में रत्नागिरि जिले आकर काशी में बसे थे और तभी से यह परिवार काशी वासी हो गया। वैवाहिक संबंध से आप श्री गणेश सखाराम देउस्कर के संपर्क तथा प्रभाव में आए। वे देउस्कर जी के द्वितीय जामाता थे। कम से कम पिछली पीढ़ी से परिचित जन श्री देउस्कर की 'देशेर कथा' तथा उनके क्रांतिकारी राजनीतिक विचारों को नहीं भूलेंगे। गर्दे जी अपने विचारों में झुकने वाले नहीं थे। इस से उन्हें बहुतों का बुरा भी बनना पड़ा पर उन्होंने अपने मार्ग से कभी विचलित होना नहीं सीखा। गर्दे जी गीता के ठोस तथा बेजोड़ विद्वान् व्याख्याता थे। साप्ताहिक 'श्री कृष्ण संदेश' की पुरानी फाइलें इसका ज्वलंत प्रमाण है। अपने विचारों की स्थापना में वे मुस्कराते हुए विरोधी विचारों को हतप्रभ कर देते थे। श्री अंबिका प्रसाद वाजपेयी के बाद आप 'भारत मित्र' के संपादक हुए। वहाँ से हटने पर आपने साप्ताहिक 'श्री कृष्णसंदेश' का संपादन किया। लखनऊ से जब 'नवजीवन' निकला तो उसके भी आप ही संपादक नियुक्त

हुए। किंतु अपने निर्भीक विचारों के कारण वहाँ अधिक दिनों तक रहे नहीं। हिंदी पत्रकारिता की त्रयी में एक वे भी थे। सच यह है हिंदी पत्रकारिता के आरंभिक काल में आप उसके पल्लवन में अग्रणी रहे। हिंदी पत्रकारिता सदैव आप की ऋणी रहेगी। हिंदी साहित्य संमेलन आपको 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि देकर गौरवान्वित हुआ। 'सादा जीवन और उच्च विचार' के गर्देजी मूर्तिमान् रूप थे और सबसे ऊपर थी उनकी स्नेहशीलता। उनके निधन से हिंदी पत्रकारिता का जो मानदंड समाप्त हुआ है, उसकी पूर्ति असंभव है।

डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर

गत २५ नवंबर को काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा बाद में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान के निर्देशक तथा प्रसिद्ध पुराविद् डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर महोदय का अचानक देहावसान ६१ वर्ष की अवस्था में हो गया। डाक्टर साहब भारतीय इतिहास कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन के निमित्त अपना अध्यक्षीय भाषण लिख रहे थे और उसे पूर्ण कर टेबुल पर ही छोड़ गए।

भारतीय संस्कृति के इन आचार्य महोदय को डा० राखालदास बंद्योपाध्याय संस्कृत अध्यापक के रूप में काशी लाए थे। मूलतः वे संस्कृत के ही विद्वान थे। आगे चलकर भारतीय संस्कृति के सभी अंगों की उन्होंने पुष्टि की। संस्कृति तथा इतिहास पर डाक्टर साहब की अनेक स्थापनाएँ हैं परंतु भारतीय मुद्राशास्त्र का क्षेत्र तो डाक्टर साहब के उठ जाने से ऐसा रिक्त हो गया है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में कठिन प्रतीत होती है।

विद्वत्ता के अतिरिक्त डाक्टर साहब का जीवन बड़ा सात्विक एवं कर्मठ तथा स्वभाव बड़ा ही सरल था। जिन्हें उनके चरणों में बैठकर विद्याभ्यास का अवसर मिला है वे उनकी शिष्य-वत्सलता को जीवन में भूल न सकेंगे।

चतुरसेन शास्त्री

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' कहानी के लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री का ६६ वर्ष की वय में निधन हो गया। उक्त कहानी उनकी ही नहीं हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में है। इस कहानी के विषय में यह विवाद चला था कि यह एक बंगला कहानी का अपहरण है। इसमें संदेह नहीं कि दोनों कहानियों में अतिशय सादृश्य है पर वैसादृश्य भी है। पहला अंतर तो भाषा बंध का है। बंगला संस्कृत गर्भित है और यह कहानी उर्दू की मिठास से भरपूर। बंगला कहानी में वातावरण, प्रकृति, भवन आदि का वर्णन भरा है जिसके कारण वह कहानी ४५ पृष्ठ लंबी है। शास्त्री जी की कहानी में रवानी इतनी है कि इस सबके लिये अवकाश ही नहीं। एक के बाद एक दृश्य सुंदर और सुगठित रूप से आँखों के सामने खुलता जाता है। फिर भी छिद्रान्वेषियों को कौन रोक सका है। स्वयं शास्त्री जी ने लिखा था कि यह कहानी मुझे एक किस्सा-गो से मिली थी। मैंने स्थिति और आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन किए। उनकी यह बात सही है। मध्यकालीन जीवन संबंधी कहानियाँ कहनेवाले इस प्रकार घटनाएँ कहते रहते हैं। शास्त्री जी बहुत पहले से लिख रहे थे पर सबसे अधिक लेखन कार्य उन्होंने जीवन के अंतिम दशक में किया। सोमनाथ, वयंरक्षामः, सोना और खून,

वैशाली की नगरवधू आदि उपन्यास उन्होंने इसी अरसे में लिखे। अपनी कृतियों के कारण वे हिंदी पाठक के मन में वे सदा आदर का स्थान बनाए रहेंगे। वे कथाकार ही नहीं सफल चिकित्सक और आयुर्वेदज्ञ भी थे। उनकी पुस्तकें अनेक विषयों की हैं जिनकी संख्या सौ से अधिक है।

नाथूराम प्रेमी

नाथूराम प्रेमी सफल प्रकाशक ही न थे पुरातत्व और जैन साहित्य के पंडित भी थे। वे जीवन में आदर्शवादी थे और आदर्शों के अनुकूल साहित्य का ही उन्होंने प्रकाशन किया। हिंदी ग्रंथ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित पुस्तकें उनकी सुरुचि का उत्तम प्रमाण है। अनुसंधान और साहित्य इतिहास विषय में उन्होंने निरंतर महत्वपूर्ण कार्य किए। प्रतिभाशाली नए लेखकों का प्रकाशन करने में वे कभी पश्चात्पद नहीं रहे। उनके देहावसान से हिंदी की अपूरणीय क्षति हुई है।

डा० बारनेट

ब्रिटिश प्राच्य विद्वान् डा० बारनेट का देहांत ८८ वर्ष की अवस्था में २८ जनवरी १९६० को हो गया। वे भारतीय भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिंदी, उर्दू, बंगला, मराठी, तमिल, कन्नड़ और तेलगू का अध्ययन तो किया ही था इनके अतिरिक्त वे कश्मीरी, बलूची और सिंहली भाषाओं के भी पंडित थे। इस दिशा में ब्रिटिश संग्रहालय में उन्होंने बड़े महत्व का कार्य किया है। वे लंदन के युनिवर्सिटी कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक और लंदन स्कूल आव ओरियंटल स्टडीज में भारतीय इतिहास के अध्यापक थे। उनकी हिंदुत्व तथा भारत की परंपराएँ नाम की दो पुस्तकें अनूदित हो चुकी हैं। उक्त दोनों पुस्तकों को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली है। भारत में भी उनके अनेक शिष्य हैं। भारतीय वाङ्मय डा० बार्नेट का पर्याप्त ऋणी रहेगा।

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

२९ फरवरी ६० को परम कारुणिक दुर्घटना घटी श्री रा० र० खाडिलकर के निधन से। ४६ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में अनोखी प्रतिभा दिखाई थी। १९३४ में उन्होंने इस क्षेत्र में 'आज' के माध्यम से प्रवेश किया। १९४२ के आंदोलन के कारण 'आज' जब बंद हुआ तो 'खबर' एवं तदुपरांत दैनिक 'संसार' का संपादन उन्होंने किया। १९४८ में वे पुनः 'आज' में आए तथा उसके प्रधान संपादक भी हुए। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्होंने 'आज' से त्यागपत्र दे दिया था। खाडिलकर जी ने कई पुस्तकें विभिन्न विषयों पर लिखी हैं।

क्षितिमोहन सेन

शांति निकेतन के नाम से परिचित जन आचार्य क्षितिमोहन सेन के सुनाम से भी परिचित हैं। गत मार्च मास में उनका देहावसान बर्दवान में हुआ। उनका जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। विद्यार्थी जीवन में ही उनका झुकाव आध्यात्मिकता की ओर हो गया और उन्होंने पैदल ही अधिकांश भारत का भ्रमण किया तथा अंगरेजी के अतिरिक्त कई भारतीय भाषाओं का अध्ययन भी किया। १९०८ में आप गुरुदेव रवि बाबू के संपर्क में आए और तभी से उनके 'ब्रह्मचर्य विद्यालय' के अध्यापक से शांति निकेतन विश्वविद्यालय के उप-कुलपति तक

रहे। शांति निकेतन के कलामय जीवन का स्वरूप आचार्य जी ने निखारा। आप में विद्वत्ता, सौजन्य, कार्य कुशलता एवं प्रबंध क्षमता सभी गुणों का समन्वय था। संत साहित्य के आप विशेषज्ञ थे। 'दादू' शोध और विश्लेषण की दृष्टि से आपका सर्वोत्तम ग्रंथ है। उनके द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति असंभव है।

'वचनेश' जी

वचनेश जी का देहावसान ८५ वर्ष की अवस्था में उनके फीरोजाबाद स्थित निवास में हो गया। वे बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र और मदन मोहन मालवीय के साथ कालाकाँकर से प्रकाशित होनेवाले हिंदुस्तान (दैनिक) में काम कर चुके थे। गद्य-पद्य दोनों रूपों पर उनका अच्छा अधिकार था। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं। 'शबरी' उनकी बहुत अच्छा खंड काव्य है जिसमें प्रकृति चित्रों के उपयुक्त सन्निवेश के साथ मानस के मर्मों की सुकोमल व्यंजना है। आधुनिक ब्रजभाषा की यह महत्वपूर्ण कृति है। उन्होंने नाटक भी लिखे जो काला काँकर में अभिनीत हुए। उनके जीवन के साथ हिंदी का दीर्घकालव्यापी इतिहास चला गया।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कवि, उपन्यासकार और आलोचक थे। उनका जन्म जौनपुर जिले में हुआ था पर प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० - एल० बी० की उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद वे प्रयाग में बस गए। उन्होंने कोई नौकरी नहीं की सर्वदा स्वतंत्र रहे। उनका पहला काव्यसंग्रह 'रसालवन' सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था जिसकी उस समय सबने प्रशंसा की थी। आरंभ में उन्होंने फुटकर कविताओं के संग्रह प्रकाशित कराए थे। पीछे तारकवध महाकाव्य में हाथ लगाया और कई वर्षों के प्रयत्न के बाद उसकी रचना पूर्ण की। यह उनकी महत्वपूर्ण कृति है। इसकी भूमिका श्री सुमित्रानंदन पंत ने लिखी है। उनकी आलोचनाओं में 'महाकवि हरिऔध' और 'गुप्त जी की काव्यधारा' व्यवस्थित और संतुलित समीक्षा का रूप उपस्थित करती है। इसके अतिरिक्त उनके आलोचनात्मक लेखों के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। खेद है कि उनका निधन केवल ६१ वर्ष के वय में हो गया।

'प्रणयेश' जी

देवी दयालु शुक्ल 'प्रणयेश' कानपुर के प्रसिद्ध हिंदी कवि थे। उन्होंने घनाक्षरी और सवैये को बड़ी सफलता से खड़ी बोली का अपना छंद बनाने में योग दान किया। वे सनेही जी द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपराओं के अनुगामी थे। काव्य-पाठ उनका बहुत आकर्षक और प्रभावोत्पादक था। उनके कई काव्य संग्रह प्रकाशित हैं।

हम इन सभी दिवंगत जनों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परम पिता से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें शांति एवं दुखी परिजनों को धैर्य प्रदान करें।

—संपादक

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६४
संवत् २०१६
अंक ३ से ४

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक विषयसूची

विमर्श

चयन तथा निर्देश

समीक्षा

संपादकीय

*

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिंदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदी प्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। निम्नलिखित भाग प्रकाशित हो चुके हैं—

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

षष्ठ भाग

शृंगारकाल (रीतिबद्ध)

संपादक डा० नगेंद्र

रायल अठपेजी आकार | **आफसेट कागज**

मूल्य प्रत्येक भाग १८)

षोडश भाग

हिंदी का लोक साहित्य

संपादक

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय

मुद्रित हो रहा है तथा अति शीघ्र प्रकाशित होगा।

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक — महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६५ संवत् २०१७ अंक ४

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री करुणापति त्रिपाठी

डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

★

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २॥)

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६५
संवत् २०१७
अंक ४

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

पत्रिका के उद्देश्य

१ – नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२ – हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३ – भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४ – प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

विषयसूची

❀

एक संशोधन

पत्रिका के इसी वर्ष के प्रथम अंक में प्रकाशित 'लोकायतिकों की परंपरा' शीर्षक निबंध में लेखक के स्थान पर श्री जगदीशचंद्र मिश्र का नाम छप गया है। वहाँ श्री हरिहरनाथ त्रिपाठी होना चाहिए। पाठक कृपया सुधार लें। — संपादक

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६५] माघ, संवत् २०१७ [अंक ४

अपभ्रंश के 'प्पणु' और 'तण' प्रत्यय

देवेंद्रकुमार जैन

भाषा के विकास में शब्दों का महत्वपूर्ण योग रहता है। उनमें सदा बदलाव होता रहता है। लेकिन यह परिवर्तन सरलता से समझ में नहीं आता। वर्षों के बाद जब विभक्तियाँ और प्रत्यय घिस-घिसकर खिरने लग जाते हैं तब हम समझने लगते हैं कि भाषा बदलने लगी है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं में इस तरह के अनेक परिवर्तन हुए हैं, लेकिन भाषा का स्वरूप बँधा होने से उनमें अधिक हेर-फेर नहीं हुआ अथवा जो हुआ भी उसकी परंपरा हम तक आ पहुँची है। जन-भाषा से साहित्य की भाषा अधिक कसी हुई कही जाती है। लेकिन भाषा की अभिव्यंजकता और लोच जो जनभाषा में देखी जाती है वह प्रकृत रूप में काव्य की भाषा में नहीं दिखाई देती। परिवर्तन के बीच देशी भाषा के बीज भी साहित्य की भाषा में उगते देखे जाते हैं। आज की हिंदी कविता इसका ज्वलंत उदाहरण है। किसी समय विभक्ति और प्रत्ययों के मेल में एकरूपता थी। इसीलिए वैयाकरण विभक्ति और प्रत्यय में भेद नहीं करते थे। सुप् और तिङ् के भेद से वे विभक्तियों के दो रूपों का उल्लेख करते रहे। लेकिन अपभ्रंश-युग में इनमें भेद आ गया। यों तो यह परिवर्तन प्राकृत-काल से ही आरंभ हो गया था, लेकिन इनका स्पष्ट रूप अपभ्रंश साहित्य में दिखाई दिया। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में तो इनका रूप सर्वथा नवीन हो गया। भाषागत यह उपलब्धि लगभग सभी आधुनिक भाषाओं में देखने को मिल जाती है। इससे पता चलता है कि इन सभी भाषाओं का मूल स्रोत एक ही रहा है।

सामान्य रूप से जनभाषा से ही भाषा-विकास की मूल प्रवृत्तियों का पता लगता है, लेकिन लेखा-जोखा साहित्यिक भाषाओं का प्राप्त होता है। यदि हम बारीकी से देखें तो प्राकृत के नीचे देशी रूप लक्षित हो जाता है। प्राकृत की परंपरा बहुत ही पुरानी है। वह उतनी ही पुरानी है जितने कि वैदिक और अवेस्ता की भाषा के पूर्व रूप हैं। भाषा के इतिहास की यह उल्लेखनीय बात है कि वह ज्यों-ज्यों सँवरती गई शब्द रूपों में वैसे-वैसे विविधता बढ़ती गई। आज उनका विकास स्वतंत्र भाषाओं के रूप में हो रहा है। वेदों की भाषा में भी अनेकरूपता है। लेकिन वह नामरूपों में है, सर्वनामों तथा क्रियाओं में उतनी नहीं।

कहा जाता है कि वेदों में भाववाचक के लिए 'ताति' प्रत्यय आता है। यही 'ताति' हिंदी में आकर 'ताई' बन गया और सुंदरताई, पंडिताई जैसे प्रयोग चल पड़े। लेकिन भाषा-विकास की दृष्टि से यह ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में भाववाचक संज्ञाओं के विविध रूप थे। कृदंत और तद्धित क्रियाओं के साथ ही विशेषणों से भी भाववाचक संज्ञाएँ बनाई जाती थीं। प्राकृतों में इसके कई प्रयोग थे। अकेले 'आइ' प्रत्यय से कई रूप बना लिये जाते थे। संस्कृत में सहायक क्रिया का प्रयोग कहीं नहीं दिखाई देता। किंतु अपभ्रंश में ऐसे प्रयोग विरल नहीं हैं। हिंदी की क्रियाएँ अपभ्रंश के परवर्ती विकास से पूरी तरह प्रभावित हैं। स्पष्ट है कि 'ज्ञातम्' से 'जाना' का सीधा विकास-निकास नहीं हुआ। प्राकृत-अपभ्रंश के जाणिइ, जाणिउ से अवधी में जानेउ, व्रज में जानो, जान्यो आदि रूप चल निकले। सामान्य क्रिया किसी भाव को ही बताती है। संस्कृत में 'नम्' जोड़कर इसका बोध होता है, जैसे पठनम्, चलनम्, गमनम्, हसनम् इत्यादि। इसके अतिरिक्त तुं और इतुं प्रत्ययांत जोड़कर भी सामान्य क्रिया बनाई जाती है। प्राकृत में भी 'दुं' समाप्तिसूचक प्रत्यय लगाकर वर्तमान काल की सामान्य क्रियाएँ बना ली जाती हैं। कहीं कहीं 'इउं', 'एउ', 'इदुं' आदि प्रत्ययों से बनी हुई क्रियाएँ भी दीख पड़ती हैं। अर्धमागधी प्राकृत में सबसे अधिक प्रचलित त्तए या इत्तए प्रत्यय है जो सामान्य क्रिया को सूचित करता है। अपभ्रंश में सामान्य क्रिया के समाप्तिसूचक चिह्न हैं — अण, अणहँ, अणहिं और अणम्। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं एवि, एवं, एवि, एविणु, एप्पिणु, अहं और एव्वहं भी दिखाई देते हैं। इनसे रूपों की विविधता का पता चलता है। संस्कृत से प्राकृत में और प्राकृत से अपभ्रंश में प्रत्यय की अनेकरूपता का पता चलता है। इ, ई, ए, अंइ, अइ आदि स्वरों को क्रिया रूपों के साथ जोड़कर कई तरह के प्रयोग चलते रहे। बोली और साहित्य दोनों में ही इस प्रकार की एकरूपता मिल जाती है। निश्चय ही क्रियाओं में प्रत्ययों के मेल से ही अनेकरूपता संभव हुई। आज की बोलियों की भी यही स्थिति है। भाषा के परवर्ती विकास में प्रत्ययों की विविधता महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यद्यपि यह उपलब्धि सर्वथा नई नहीं कही जा सकती, फिर भी भाषा के बदलाव को समझने के लिए इनका विकास समझ लेना अत्यावश्यक हो जाता है। प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है। संस्कृत में कृदंत के प्रयोगों में जो त्वा और य का प्रत्ययांत भेद माना जाता है वह प्राकृत में नहीं है। इन प्रत्ययों का मेल समान रूप से क्रियाओं से हो जाता है। क्रियाओं में ये प्रत्यय उस स्थिति में भी जुड़ जाते हैं. जब इनमें उपसर्ग लगा हो।[1] संस्कृत का 'त्वा' प्राकृत में 'त्ता' बन जाता है। अर्धमागधी में यह सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। जैन शौरसेनी में भी इसका बार-बार व्यवहार हुआ है और जैन महाराष्ट्री में भी इसका व्यापक प्रयोग है।[2] इसलिये इस 'त्ता' का प्रयोग किसी समय पूर्वकालिक क्रिया के रूप में ही था। आगे चलकर मध्यकालीन आर्य भाषाओं के विकास में इनमें अनेकरूपता आगई। परिणामस्वरूप संस्कृत के 'त्वा' (हिंदी के 'कर') का बोध कराने के लिए अपभ्रंश में आठ प्रत्यय काम में आने लगे। इसी प्रकार क्रियार्थक के लिए भी अपभ्रंश में आठ तरह के शब्द-रूप बनने लगे।

१. देखिए, 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' रिचर्ड पिशल, अनु० डा० हेमचंद्र जोशी, पृ० ८२१।
२. वही, पृ० ८२३।

प्राकृत और अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजनों का अधिक प्रयोग है। स्वरों में या तो संधि हो जाती है अथवा संप्रसारण कर दिया जाता है। किसी किसी ध्वनि का लोप भी हो जाता है। संस्कृत के 'त्व' से प्राकृत का 'त्त' इसी तरह बना है। यह 'त्व' या 'त्त' प्रत्यय भाव का वाचक है। 'महत्' शब्द में 'त्व' जोड़कर ही किसी का 'महत्त्व' आंका जाता है। इसी तरह 'पीन' से ही किसी के 'पीनत्व' का पता लगता है। लेकिन हिंदी में किसी बड़े का पता 'बड़प्पन' से चलता है। इस बड़प्पन को संस्कृत नहीं बता सकती और न प्राकृत ही इसे समझने के लिए हमारी सहायता करती है। अधिक से अधिक वह 'त्तण' को बतला देती है। किंतु उससे हमारा काम नहीं चलता।

देशी शब्दों का प्रयोग वैदिक काल से चला आ रहा है। वेदों के इत, उत, इत्था, इत्थ, गिद्ध, पुत्र, चरु, उषा, इंद्र कवि और अग्नि आदि शब्द उस समय की प्रादेशिक भाषाओं के प्रचलित शब्द ही हैं। बाद में ऐसे कई शब्दों का व्यवहार ब्राह्मण ग्रंथों में हुआ। महाभारत और रामायण में भी ये विरल नहीं हैं। गुप्त-युग की भाषा अवश्य ही कसी कसाई है, लेकिन कसावट के साथ उसमें विदेशी शब्दों की अधिकता है। प्राकृत और अपभ्रंश में धातु-शब्दों की भाँति कुछ देशी शब्दों का प्रयोग क्रियाविशेषण और संज्ञा की भाँति होता है। 'निच्चट्टु' से हिंदी नोचट और 'कोड्ड' से कौतिक, कौतुक आदि शब्द बन गए हैं। इसे देशी परंपरा ही कहा जायगा।

भाषा ही नहीं साहित्य में भी विविध प्रवृत्तियाँ देशी परंपरा की देन हैं। लोकसाहित्य का निर्माण परिस्थितियों के बीच होता है। लेकिन देश-काल और लोक-जीवन की परंपरा का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व उसमें देखा जाता है। 'भाखा-साहित्य' की रचना कोई अधिक पुरानी बात नहीं है। ब्रजभाषा का साहित्य 'भाखा' में ही लिखा जाता था। इसी तरह किसी समय प्राकृत और अपभ्रंश भी 'भाखा' ही थीं। महाकवि स्वयंभू ने राम-कथा को देशी भाषा रूपी दो किनारों से उज्ज्वल कहा है।[3] अपभ्रंश का जन्म ही वास्तव में देशी भाषा से हुआ है। बाद में हेमचंद्र के समय में इसकी वही दशा हुई जो संस्कृत की हो चुकी थी।

अपभ्रंश में जिस प्रकार संज्ञा शब्दों की विविधता है वैसे ही क्रियापदों की भी। प्राकृत में भी क्रिया शब्दों का बाहुल्य तथा अनेकरूपता दिखाई देती है। अकेली 'कृ' धातु के कृदंत में करेवि, करेप्पिणु, करे.मे, करेसि, करेइ, करेन्ति, करेहि, करेसु, करेन्व, करेइ, करेह, करेंन्त, करेमाण, कज्जन्ति, करेदु, कलेमि, कलेशि, कलेदि, कलेहि, कलेम्ह, कलेध, कलेंतआ आदि रूप मिलते है। अपभ्रंश में इनसे भेद है। इतने रूप उसमें नहीं मिलते। इससे पता चलता है कि अपभ्रंश प्रदेशविशेष की भाषा रही होगी। इसमें सामान्य भूत में भी भूतकालिक कृदंत का प्रयोग होता है। हिंदी की भाँति अपभ्रंश में भी निष्ठा प्रत्यय पाया जाता है। भूत-कालिक क्रिया की निजी विशेषता इससे ही पहचानी जाती है। अपभ्रंश में निष्ठा बोधक कई प्रत्यय थे। कुछ प्रत्यय ये हैं—अउ, आ, इअ, इअउ, इआ, इउ, इव, उ, ओ, आदि। संभवतः हिंदी की ऐसी भूतकालिक क्रियाओं का विकास अपभ्रंश से ही हुआ है।

३. देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि दुक्कर घण सद्दसिलायल। १, २ पउमचरिउ।

हिंदी का एक प्रत्यय है 'पन'। यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञा बनाने के काम आता है। जाति तथा गुणवाचक संज्ञाओं में जोड़कर सरलता से भाववाचक का काम लिया जाता है। मारवाड़ी में यह 'पण' और सिंधी में 'पिणि' हो जाता है। अपभ्रंश में इसके लिए दो मुख्य प्रत्यय काम में आते हैं — प्पणु और तण।[४] हिंदी का बड़प्पन 'वड्डप्पणु' या 'वड्डप्पणं' से बना है। इसी तरह उजड्डपन, गँवारपन, छुटपन, बचपन, आदि में 'पन' प्रत्यय भाववाचक संज्ञा का बोधक है। सभी प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए अलग प्रत्यय उपयोग में आते हैं। प्राकृत में संस्कृत के 'ता' के स्थान पर 'आ' हो जाता है, इसलिए 'पीनता' से 'पीणआ' बन जाता है। कहीं-कहीं इसे 'पीणदा' कर देते हैं। यह पूर्वी प्रभाव कहा जा सकता है। इसी तरह 'पीनत्वम्' के तीन रूप बनते हैं- पीणत्तं, पीणत्तणं, पीणिमा। अपभ्रंश में इनके कई रूप मिलते हैं। तण की भाँति त्तण, त्तणं त्तणेण तो व्यापक थे ही, पर इम, त्तणु, तणेण आदि का भी प्रचलन था। कहीं-कहीं संस्कृत 'त' तथा 'ता' का लोपकर इउ, इय, इआदि भी जोड़ देते हैं। इससे भाषा की उदारता का पता चलता है। इस तरह के कई भाषागत प्रयोग उस समय के साहित्य में प्राप्त होते हैं। हेमचंद्र के दोहों में से एक उदाहरण यह है —

एइ ति घोडा, एह थलि, एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ, जो नवि वालइ वग्ग॥

अर्थात — यही वह घोड़ा है, यही धरती है, यही वह पैनी तलवार है। यहां जो घोड़े की लगाम नहीं मोड़ता है इसमें मनुष्यत्व जानिये। इसी तरह एक अत्यंत प्रसिद्ध दोहा देखिए -

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्ढत्तणहो तणेण।
बड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थि मोक्कलडेण॥

अर्थात — बड़प्पन के लिए सभी लोग तड़फड़ाते हैं। पर बड़प्पन खुले हाथ दान देने से मिलता है।

यह दोहा हिंदी के कितने निकट है। इसमें भाववाचक के 'त्तण' और 'प्पणु' दोनों प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं। इन्हीं दोहों में एक स्थान पर 'त्तणु' का भी प्रयोग है। वह है —

उणिगिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ॥

अर्थात — जग आगों से गरम होता है और वायु से शीतल। वैसे ही यदि अग्नि से शीतल होने लगे तो फिर उष्णता किसलिये है? इसी प्रकार —

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु॥

अर्थात — किसके वैभव में स्थिरता होती है और किसका मराठापन सदा बना रहता है। इसी तरह लेख वह पठाया जाता है जो दिल में नाँचट चोट करता है।

४. त्वतलोः प्पणु। सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।४।४३७; त्वतलोप्पणम्। १६।३।३ प्राकृत शब्दानुशासनम् (त्रिविक्रमदेव)।

इस दोहे में 'त्तणउँ' प्रत्यय भाववाचक है। 'मरट्टु' और 'नीचट' देशी भाषा के शब्द हैं। बिना प्रत्यय के ही ऐसे शब्दों से तब काम लिया जाता रहा होगा। इससे भाषा का देशीपन सूचित होता है। स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में भाववाचक 'त्तणुं','तणेण','तइँ' आदि प्रत्यय मिलते हैं। स्पष्ट है कि भाषा में 'तण', 'त्तणं' प्रत्यय पुराने हैं। ये प्राकृत में भी पाए जाते हैं। लेकिन उसमें 'त्व' प्रत्यय भी काम में आता था। संस्कृत के 'त्व' को ही प्राकृत में 'त्त' हो जाता है। पहले पहल यह 'त्त' रूप में रहा होगा। पीणत्त, पुप्फत्त, फलत्त, देवत्त माणुसत्त, रुक्खत्त, मणुयत्त आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। इसकी परंपरा वैदिक भाषा की कही जा सकती है, लेकिन शब्दों को द्वित्व करने की प्रवृति लोक-भाषा की है। इसलिये यह देशी परंपरा का विकास कहा जायगा।

पालि में भाववाचक प्रत्यय 'त्तन' है, जैसे – पुथुज्जनत्तनं (पृथक् जनत्वम्)। वैदिक भाषा में भाववाचक 'त्वन' कहा जाता है। 'त्वन' का विकास 'त्तन' है। प्राकृत 'त्तण' और पालि 'त्तन' में कोई विशेष भेद नहीं है। शास्त्रीय भाषा में 'न' और देशी भाषा में 'ण' भाषा के आरंभ से ही मिलने लगता है। प्राकृत के पीणत्तण, बालत्तण, आयरित्तण, ब्राह्मणत्तण आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। 'त्तण' देशी भाषा का प्रत्यय भले ही न माना जाय, पर परवर्ती विकास उससे सर्वथा भिन्न है। रिचर्ड पिशल 'प्पण' को 'तण' के स्थान पर हुआ मानते हैं।[५] समझने के लिए यह बात ठीक कही जा सकती है। लेकिन प्राकृत वैयाकरण त्रिविक्रम प्राकृत शब्दरूपों की सिद्धि लोक से ही मानते हैं।[६] प्राकृत किसी समय 'देशी-वचन' कही जाती थी। प्रदेश-भेद के कारण ही इसके कई भेद थे। इसलिए यह स्पष्ट है कि देशी प्राकृत का बहता प्रवाह अपभ्रंश रूपी नदी को मिला, पर वह प्रवाह रुका नहीं, बहता ही गया। आगे चलकर प्रत्यय, विभक्ति, सर्वनाम, अव्यय और क्रियापदों में भेद बढ़ता ही गया। इसीलिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी 'प्पणु' 'प्पण' प्रत्यय नहीं दिखाई देते। लेकिन 'त्तणुं', 'त्तणं', 'त्तणेण' के प्रयोग अवश्य मिलते हैं। आचार्य हेमचंद्र के व्याकरण में दिए गए उदाहरण तथा सूत्रों से ही संभवतः पहले पहल 'प्पणु' प्रत्यय का पता चलता है। त्रिविक्रम के व्याकरण में हेमचंद्र के 'शब्दानुशासन' से मिलते-जुलते कई सूत्र हैं। उल्लेख से भी पता चलता है कि वे हेमचंद्र के बाद हुए हैं। सिंधी भाषा में विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए आई, आणि, इ, ई, प, पो, पिणि, त, आत, यत, वत, कारु, कार, काई, क, अ आदि प्रत्यय लगाए जाते हैं।[७] अपभ्रंश में भी एक प्रत्यय 'तउ' कहा गया है जिससे पुरानी राजस्थानी के 'तउ' भाववाचक प्रत्यय का विकास हुआ है। जैसे – अउरतउ (आर्तता)। आधुनिक गुजराती में यह 'ओरतो' नाम से चलता है।[८] यह 'संस्कृत के 'ता' का ही विकास कहा जा सकता है।

पहले लिख आए हैं कि हिंदी की क्रियाएँ कृदंत बहुल हैं। उसके कृदंतसूचक प्रत्यय अपने हैं। तद्धित के अवश्य संस्कृत से मिलते-जुलते हैं, इसलिए हिंदी के संस्कृत तत्सम

५. 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', अनु० डा० हेमचंद्र जोशी, पृ० ८४७।
६. सिद्धिर्लोकाच्च। १, १, प्राकृतव्याकरणवृत्तिः।
७. 'सिंधी भाषा का संक्षिप्त परिचय', कृष्णचंद्र जैतली, पृ० २२६।
८. 'पुरानी राजस्थानी' — डा० तेस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, पृ० १६६।

शब्दों में 'इय' और 'ई' प्रत्ययों का प्रयोग चलता है। किंतु भाववाचक में 'आई' प्रत्यय भी आता है। इसीसे सुवाई, लिखाई, पढ़ाई, रुवाई और धुलाई जैसे शब्द बनते हैं। अपभ्रंश में भी इय, इउ, अइ, आ जैसे प्रत्ययों का चलन हो गया था। लेकिन ऐसे प्रयोग विरल मिलते हैं। 'तण' प्रत्यय का प्रयोग 'दोहाकोश' में भी मिलता है।[१] लेकिन वहाँ यह भाववाचक न होकर संबंधसूचक है। तेस्सितोरी ने ऐसे ही अपभ्रंश के 'तणउ' प्रत्यय का उल्लेख किया है जो संबंध का परसर्ग है। इसके साथ षष्ठी विभक्ति का भी प्रयोग होता है जैसा कि संस्कृत का 'कृते' है। पुष्पदंत के 'महापुराण' में 'त्तणु' का प्रयोगाधिक्य है। उसमें जहां धिट्ठत्तणु (धृष्टता), णिण्णेहत्तणु (निःस्नेहता) णिहितणुं जैसे प्रयोग मिलते हैं वहीं णरत्तं (नरत्वं) बुहत्तं (महत्वं), तिक्खतं जैसे प्रयोग भी विरल नहीं है। इसलिये हिंदी में बड़े मजे में मनुष्यता, दीनता, तीक्ष्णता, चंचलता, मलीनता, महीनता आदि शब्द चल रहे हैं। धनपाल की 'भविसयत्तकहा' में भी 'तणु' प्रत्यय भाववाचक मिलता है। कृदंत रूपों में अंत, इंतु, अंतु प्रयोग विरल नहीं है। महापुराण में एक शब्द है 'छड्डल्लउ' इसका अर्थ है 'छिड़काव'। प्रतीत होता है कि इसमें 'अउ' प्रत्यय भाववाचक है। कृदंत रूपों में भूत कृदंत के लिए 'इउ' का प्रयोगाधिक्य है। उसी महापुराणमें धवलता के अर्थ में 'धवलाइ' शब्द मिलता है। इसी तरह 'धूर्तता' के लिए 'धुत्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसमें भी 'अइ' भाववाचक कहा जा सकता है। 'करकंडचरिउ' में 'सोयलत्तु' मिलता है। श्रावकाचार में भी 'तणु' (मणुयत्तणु) और 'अइ' प्रत्यय भाववाचक दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अन्योक्तियों में भी 'तणु' और 'अइ', 'अउ' प्रत्यय मिलते हैं। संभव है इसी तरह के किसी अइ, अई से हिंदी के भाववाचक 'आई' प्रत्यय का विकास हुआ हो।

प्राकृत में 'केरक' और अपभ्रंश में 'केर' तथा 'तण' प्रत्यय संबंध बताने के लिए षष्ठी विभक्ति में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होते हैं। (संबंधिनः केरतणौ। हेम० १०, ८७)। संस्कृत में इस तरह का 'कृते' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के प्रयोग के पूर्व भी षष्ठी विभक्ति आ जाती है और 'कृते' का अर्थ 'के लिए' होता है, जैसे 'तस्य कृते' (उसके लिए) अपभ्रंश में ऐसा ही प्रत्यय है 'तणेण' (के लिए)। उदाहरणार्थ —

> 'सयलु वि लोउ तडप्फडइ, सिद्धत्तणहु तणेण।
> सिद्धत्तणु परि पावियइ, चित्तहं णिम्मलएण॥'

अर्थात् – सभी लोग सिद्धता के लिए तड़फड़ाते हैं, पर वह सिद्धपन (सिद्धत्व) चित्त की निर्मलता से प्राप्त होता है। इससे एक बात का और भी पता चलता है कि प्रत्यय के बाद विभक्ति और प्रत्यय - विभक्ति एक साथ अपभ्रंश में प्रयुक्त होते हैं। उक्त दोहे में 'सिद्धत्तणहु' में 'हु' षष्ठी विभक्ति का चिह्न है और 'तणेण' 'के लिए' का बोधक चिह्न है। 'सिद्धत्तणु' में 'त्तणु' भाववाचक प्रत्यय है। षष्ठी विभक्ति का 'तण' प्रायः 'तणा' रूप में दिखाई देता है और भाववाचक 'तणु' के रूप में। उदाहरण के लिए —

१. 'काहिम्र गण चाम पसाहिउ। भैरव कालरातितणे पाडिउ॥' पृ० ३६९, दोहाकोश, सं० राहुल सांकृत्यायन।

'अह भग्गा, अम्हहं तणा।'

अर्थात – अथवा भग्न हुई तो हमारी। यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट है। इसी तरह 'तणु' का प्रयोग है —

'जिवं - जिवं वड्डत्तणु, लहहिं, तिवं - तिवं नवहिं सिरेण।'

अर्थात – ज्यों - ज्यों मनुष्य बड़प्पन प्राप्त करता जाता है, त्यों - त्यों उसका सिर नमता (झुकता) जाता है, वह नम्र बनता जाता है।

इस प्रकार अपभ्रंश के 'प्पणु' और 'तण' प्रत्यय से हिंदी के भाववाचक 'पन' प्रत्यय का विकास हुआ है। यही नहीं, 'तण' से आधुनिक आर्य भाषाओं के विविध परसर्गों का भी विकास हुआ है। यह अन्य लेख का विषय है।

*

फ़िर्दौसी का शाहनामा

शिवनंदन सिंह

फ़िर्दौसी का शाहनामा कोई एक सहस्र वर्ष पहले की रचना है। उसमें जिन विश्वासों, प्रथाओं, गाथाओं और घटनाओं का वर्णन है वह कुछ ऐतिहासिक और कुछ प्रागैतिहासिक काल से संबद्ध है। आर्य लोग अपने मूल स्थान से समय समय पर अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं के अनुसार आगे बढ़ते रहे और भूखंडों को अधिकृत करते रहे। वे विभिन्न दलों के रूप में चले। कुछ दलों ने ईरान, गांधार, तूरान, खुरासान, बलख, बुखारा, समरकंद और खीवा आदि में आवास ग्रहण किया। फ़िर्दौसी का शाहनामा इन्हीं दलों के क्रियाकलापों और गाथाओं से संबंधित है। आर्यों के इन अभियानों के फलस्वरूप कुछ दल आर्यावर्त - भारत तथा दक्षिण - पूर्व की दिशा में बढ़ते चले गए। भारत की सभ्यता और संस्कृति मुख्यतया उन्हीं आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का उत्तरवर्ती रूप है। ईरान का नामकरण वहाँ के एक शासक के नाम पर 'पारस' हुआ। पीछे अरबों द्वारा अधिकृत होने पर फारस कहलाया। अरबी वर्णमाला में प-कार नहीं होता इसमें 'प' की निकटतम ध्वनि 'फ' से उसे व्यक्त करते हैं। 'शाहनामा' में सहस्रों वर्ष पर्यंत बिखरे हुए इतिहास की छाप उसमें प्रयुक्त भाषा और तद्गत विषय, भारतीय आर्यभाषा और विचारपरंपरा के ही अस्पष्टरूप हैं। दोनों के बाह्य और अंतस् का सूत्र एक ही है। अतः उसका अध्ययन रुचिकर और उपादेय होगा। 'शाहनामा' एशियावासी आर्यशाखाओं की शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है।

हमने इस प्रसंग में, १ – 'शाहनामा' आका मोहम्मद बाकर ताजिर बंबई के प्रबंध से अबादुल्ला मोहम्मद इब्राहीम द्वारा पांडुलिपि तैयार कराकर और आमोजिंदा शेरमर्द नौरज पारसी, बंबई द्वारा मुद्रित, जिसका प्रकाशनकाल तारीख गर्रा शहर जमादीउस्सानी मिन् शहूर १२७२ हिज्री है, २ – 'शाहनामा' कातिब सैय्यद नाजिम हुसेन द्वारा पांडुलिपि तैयार की हुई, फतहुल्करीम प्रेस बंबई में, ३ रजब १३०८ हिज्री तदनुसार सन् १८९१ खीस्टाब्द में मुद्रित, ३ – 'शाहनामा' आनरेबुल कंपनी प्रेस, कलकत्ता में, टामस 'वाटले' द्वारा संपादित भाग १, १८११, ४ – 'सोखने पारस' रचयिता शम्सुलउलेमा मौलाना मोहम्मद हुसेन 'आजाद' प्रकाशक रायसाहेब मुं० गुलाबसिंह एंड संस, मतबा मुफीद आम, लाहौर १९०७ ई०, ५ – 'शेरुल अजम' मौ० शिबली नोमानी मतबूआ अल् नाजिर प्रेस, लखनऊ १३३५ हिज्री, ६ – 'सनादीदे अजम' मुरत्तबा श्री मेंहदी हुसेन 'नासिरी' और रायसाहेब लाला रामदयाल अग्रवाल बुकसेलर एवं पब्लिशर, कटरा इलाहाबाद द्वारा शांति प्रेस, इलाहाबाद में मुद्रित, १९४१ ई० और मालकम का ईरान का इतिहास, देखे। मोहम्मदी संप्रदाय (इस्लाम) के प्रचार और प्रसार के पूर्व 'शाहनामा' में वर्णित देशों की दशा संक्षेपतः इस प्रकार थी —

श्री मेंहदी हसन नासिरी अपनी 'सनादीदे अजम' में लिखते हैं — "बाशिंदगान

कदीम के मजहबी हालात व अकायद हिंदुओं से मुशावा थे और आमाल व अफआल और रस्मोरवाज के मुकाबिले से जाहिर होता है कि शायद दोनों कौमें इब्तिदा में एक थीं।"

पारस में अनेक वंशों ने राज्य किया। उनमें यह आवादियों का वंश ख्याति, वैभव और शुद्धता में सर्वोपरि था। अंत में पेशदादी, कयानी, अश्कानी और सासानी, ये चार वंश प्रसिद्ध हुए हैं। जिनपर 'पारस' के इतिहास की नींव प्रतिष्ठित है। शम्सुलउलेमा मोहम्मद हुसेन 'आजाद' 'सोखनदाने पारस' में लिखते हैं, "जताने के काबिल यह बात है कि अक्सर बातें शास्त्र के मुताबिक थीं। गोया दो शाखें एक दरख्त से निकलती हैं।" यथा—

१ – हिंदुओं की वर्णव्यवस्था वहाँ मौजूद थी। चार वर्ण यह थे — १ – कातूजी, २ – नैसारी, ३ – नसूदी, तथा ४ – अनोहशी। जब कालक्रम से यह वर्ण विशृंखल हो गए तब जमशेद ने उन्हें यों क्रमबद्ध किया — १ – आसूरनी, २ – स्तश्तार (आतिश्तार), ३ – अश्तर होश, ४ – होतखश।

२ – अहिंसक जंतुओं का बध निषिद्ध था। हिंस्र जंतु बध्य थे। शूद्र आखेट का मांस खाते थे।

३ – पुनर्जन्म में आस्था रखते थे।

४ – प्रातः, दोपहर, सायंकाल और अर्द्धरात्रि में पूजा - उपासना करते थे। मंत्र को मंथ्र कहते थे। पूजा के वस्त्र दूसरे होते थे।

५ – बहुदेववाद में विश्वास रखते थे।

६ – बलि, यज्ञोपवीत, हवन और शिखा का चलन था। नवजात शिशु के कान में किसी का नाम लेते, कानों में बालियाँ, गले में हार, हाथों में कंगन पहनते थे।

७ – आकाशीय पिंडों को पूजते थे।

८ – गाय का संमान करते और गाय के पीछे नामकरण करते थे।

९ – पुजारियों और पुरोहितों के समकक्ष 'मोविद' और 'दस्तूर' होते थे जिनका विद्या और पवित्रता के कारण अपना विशिष्ट वर्ग था।

१० – शकुन का विचार करते थे।

११ – राजा का संमान होता था।

१२ – बसंत के समान ही 'जश्न गुल कोवी' होता था।

१३ – स्वयंवर के समान ही मर्दगीराँ का उत्सव मनाया जाता। होली भोर चिराँगाँ, रोज इरफंद होता था। दिसंबर में मृतात्माओं का श्राद्ध करते, जून मास में 'आबरेजाँ' होता था जिसमें परस्पर रंग खेलते थे। फसलों (नवान्न) के आगमन पर उत्सव करते थे।

१४ – समाज में स्त्रियों के अधिकार बराबर थे। वे राजकाज और आपत्काल में आगे बढ़कर भाग लेती थीं।

राजा प्रजापालन और अपने कर्तव्यों के प्रति आत्यंतिक जागरूकता बरतता था। सार्वजनिक सेवाओं में योग्य व्यक्तियों की ही नियुक्ति होती। प्रजा के धन का अधिकाधिक सदुपयोग होता। लोकसेवक आवश्यक सामग्री से लैस रखे जाते। प्रजाजनों अथवा लोकसेवकों का शोषण उत्पीड़न और असंमान कदापि न होता। प्रत्येक सैनिक का नाम पता और अंगविन्यास लिखा जाता और गिनती ली जाती। गणवेश (युनीफार्म) और युद्धोपकरण यथास्थान, यथाविधि धारण और ग्रहण किए जाते। आपत्कालीन उपयोग के लिए

अतिरिक्त सामग्री भी वितरित होती। कोई सैनिक अपूर्ण तैयारी में मिलता तो उसका वेतन घटा दिया जाता था। राजा स्वयं सुसज्जित होकर सेना के संमुख उपस्थित होता। एक बार नौशेरवाँ उपस्थित न हो सका तो उसके मंत्री 'बाबुक' ने घोषक से घोषणा करवा दी — "जिसे आना था वही नहीं आया। राजसिंहासन और राजछत्र का स्वामी उपस्थित होकर अपनी गिनती कराए।" नौशेरवाँ दूसरे दिन यथाविधि प्रस्तुत हुआ तो 'बाबुक' बोला, "मुझसे आपके काम में भी त्रुटि नहीं देखी जाती।" नौशेरवाँ ने ध्यानपूर्वक जो देखा तो धनुष की दो डोरियाँ मँगाकर पीछे लटकाईं और तब गिनती दी। 'बाबुक' ने 'नौशेरवाँ' का वेतन नियत किया और सर्वाधिक वेतनभोगी अधिकारी से एक ही 'दिरम्' अधिक बाँधा जिससे औरों को डाह न हो नौशेरवाँ ने इसे पसंद किया और उसने 'बाबुक' को पुरस्कृत करके संमानित किया। प्रत्येक गाँव में एक एक 'गणितज्ञ' और 'दस्तूर' रहता था। मंत्री के अधीन दो दस्तकर (अमीन) और दो शुदाबंद (घटना - लिपिक) होते थे। उसके अधीन कई तवंद रविंद (समाचार-वाहक) होते। राजा के समीप चार जनों की चौकी और लेखक रहता। चौकी में से दो बारी बारी सोते और दो पहरा देते। नगरों में कोतवाल होते। जिस गुप्तचर का भेद खुल जाता वह सेवा से निकाल दिया जाता। राजा संबद्ध अधिकारियों की व्यवस्था लिए बिना किसी का वध न कर सकता था। आततायी तत्काल वध्य थे। राजकुमारों की भी अपने समय पर गिनती होती और वे नायक के साथ दरबार में पैदल आते। नौकरी बाप के पीछे बेटे को मिलती अथवा मृत व्यक्ति के प्रियजन को। पशुओं पर लादे जाने वाले माल का भार नियत था। बीमारों और अपाहिजों का उपचार और सुश्रूषा राजकीय प्रबंध से होती थी। इसके लिए स्त्रियों और पुरुषों के अलग अलग विभाग थे। मार्गों और विश्रामालयों का पूर्ण प्रबंध था। सबके पठनपाठन की व्यवस्था थी। सब अपना अपना धंधा करते। दूसरे का धंधा ग्रहण करना वर्जित था। दीन - दुखी साप्ताहिक दर्बार में राजा तक पहुँच सकते थे। वर्ष में राजा एक बार सबके साथ बैठता और भोजन करता। राजा रनिवास में अधिक न रहते। रानी शासनकार्य में बाधा न दे सकती थी। अंतःपुर में स्त्रियों का दर्बार लगता ताकि वे दुखी स्त्रियाँ अपने परिजनों की अनुचित ताडनाओं का भेद राजा को दे सकें। डाक का प्रबंध था। जगह जगह घोड़ों की चौकियाँ नियत थीं। अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से इस आशय की आख्या (रिपोर्ट) प्राप्त करते कि उनसे हमने कोई दुर्व्यवहार नहीं किया और आख्या क्रमशः समुचित माध्यमों द्वारा राजा तक पहुँचती थी। राजा अथवा अधिकारियों के समीपवर्ती किसी के अपराध - क्षमापन की संस्तुति का साहस न कर सकते।

प्रत्येक घर राष्ट्रीय प्रथाओं के पालन में तत्पर रहता। लोग आत्मसंमान और मर्यादा की रक्षा के प्रति जागरूक थे। वृद्धों का संमान होता। बच्चों की शिक्षा - दीक्षा होती थी। प्रौढ़ों को तीन बातों की शिक्षा देते – सत्य भाषण, अश्वारोहण और धनुर्विद्या। अपराधियों की अग्निपरीक्षा होती थी।

अप्रैल में 'जश्न खुर्रम' होता था। राजा साथ बैठकर भोजन करता और वक्तृता देता कि "मैं तुम लोगों में से ही एक हूँ। राजकाज तुम्हारे बिना नहीं चल सकते। मेरा तुम्हारे बिना उसी प्रकार निर्वाह नहीं जिस प्रकार मेरे बिना तुम्हारा। हम तुम भाई भाई हैं। हमें मिलजुल कर रहना है। दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का बलिदान करना है, जिसमें सबके लिए शांति और सुख सामान्यतः बना रहे।"

'शाहनामा' का कलेवर विशाल है। उसमें प्रस्तुत घटनाकाल सहस्रों वर्ष पर्यंत बिखरा है। भौमिक विस्तार एशिया महाद्वीप का विशाल भूखंड है और उसके पात्र संसार की उन्नत, स्वस्थ, प्रबुद्ध और प्रगतिशील जाति से संबद्ध हैं। अतः उसका अध्ययन और अनुशीलन, संसार की सांस्कृतिक और भाषा - विज्ञान - संबंधी गवेषणा में बड़े काम का सिद्ध होगा।

'शाहनामा' का रचयिता अबुल कासिम हसन बिन इशहाक बिन शरफ फ़िर्दौसी है। जैसी कि एशियाई कवियों की विशेषता है, फ़िदौंसी के भी जन्मस्थान और काल के विषय में मतैक्य नहीं है। मौ० शिबली ने खोजबीन के उपरांत उसका जन्म 'तूस' के पड़ोस में ३२९ हिज्री निश्चित किया है और मृत्यु ४११ हिज्री से पूर्व। उसने ८० वर्ष की आयु पाई है, जैसा कि वह आप ही लिखता है –

'कनूं उम्र नजदीक हश्ताद शुद, उम्मींदम् व एकबारा बर्बाद शुद' (अब मेरी उम्र अस्सी के लगभग हुई, मेरी आशा सहसा निष्फल हो गई)। सम्मुल उलमा 'आज़ाद' लिखते हैं – "फ़िदौंसी का पिता 'इसहाक' जमींदार 'तूस' के शासक के बाग का माली था। 'फ़िर्दौसी' प्रकृति के अंक में पला। सरितातट, निर्झरिणियों, मुक्त आकाश और हरित वन भूमि उसके क्रीडाक्षेत्र बने। पक्षियों ने कलरव से उसका स्वागत किया। आखेट और वनविहरण से उसे प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार फ़िर्दौसी स्वस्थ, सरल, विचारक, तथ्यवादी और प्रकृति-चिंतक बन गया। शिष्टाचार - पालन और प्रकारांतर-पूर्ण भूलभुलैयाँ में डालनेवाले दर्शनों से अछूता रहा, जो दर्बारी कवियों के बस की बात नहीं। वह सर्वथा स्वतंत्र और संपन्न वातावरण में पला था। उसमें मनोबल तथा विद्याव्यसन था – पुस्तकावलोकन करता और काव्यरचना भी। कहीं सुना कि 'दकीकी' ने 'शाहनामा' पद्यबद्ध करने का श्रीगणेश किया था और कोई हजार (किसी किसी के मत से बीस हजार) शेर कहे थे कि अपने ही गुलाम के हाथों उसकी हत्या कर दी गई। इसे भी स्वतः चोप उत्पन्न हुआ। फलतः 'जमशेद' के पतन और 'जहाक' के उत्थान की कथा पद्यबद्ध की तो श्रोताओं ने पसंद की। अब 'फ़िर्दौसी' इसी काम पर लग गया। 'तूस' के आमिल 'अबू मंसूर' ने प्रोत्साहन दिया। फिर उसके उत्तराधिकारी 'अलप अर्सलान' का अवधान भी उधर को हुआ। कहीं यह बात 'महमूद' तक पहुँच गई। वह 'शाहनामा' की रचना में रुचि रखता था, उसने फ़िदौंसी' को बुलवा भेजा। बात यह है कि सामानी वंश को 'शाहनामा' के संपादन की लगन थी और 'दकीकी' (मृत्यु ४३१ हिज्री) जिसने 'फ़िर्दौसी' से भी पहले 'शाहनामा' की रचना प्रारंभ की थी – 'नूह बिन मंसूर' सामानी[1] के दर्बार का कवि था और गजनवी वंश सामानियों का ही कृपापात्र था। अतः उसने विद्याप्रेम और राष्ट्रीयता उन्हीं से सीखी थी। 'अब्दुलमलक बिन नूह' सामानी का एक 'अलप्तगीन' नामक गुलाम उन्नति करके 'खुरासान' का गवर्नर हो गया। 'मंसूर बिन अब्दुल मलक' के शासनकाल में वह गजनी चला गया और सोलह वर्ष राज्य करके वहीं मर गया फिर 'अबू इसहाक बिन अलप्तगीन' वारिस हुआ और कुछ दिनों में मर गया। तब प्रजा ने 'अलप्तगीन' के गुलाम 'सुबुक्तगीन' को 'गजनी' का अधिकारी नियुक्त किया जिसका उत्तराधिकारी 'गजनी' में 'महमूद' हुआ और 'सामानी' वंश का कृपापात्र रहा। मौ० शिबली

१. 'सामानी' वंश ईरान का राष्ट्रीयतावादी वंश था जो संप्रदायेन अरब से प्रभावित होते हुए भी ईरान की भाषा और और परंपराओं का पोषक और रक्षक रहा।

लिखते हैं – "निदान 'महमूद गजनवी' ने 'तूस' के हाकिम 'सलान खाँ' को फर्मान भेजा कि 'फिर्दौसी' को दर्बार में भेज दो।" फिर्दौसी ने पहले तो असहमति प्रकट की पर पीछे तैयार हो गया। वह अभी मार्ग (हिरात) में ही था कि दर्बार के मीर मुंशी 'बदी उद्दीन, दबीर' के संकेत से दर्बारी कवि 'अंसारी' ने फिर्दौसी' के पास दूत भेजकर कहलाया' कि "बादशाह ने यों ही तरंग में आकर आपको बुलाने को कहा था, परंतु फिर अद्यावधि कभी चर्चा नहीं की। वस्तुस्थिति की सूचना आपको दी गई।" इनकी अपनी मान्यता यह थी कि यदि 'फिर्दौसी' कहीं दर्बार में आ गया और 'शाहनामा' की रचना में सफल हुआ — जिसमें ये लोग शाही प्रस्ताव होने पर भी प्रगति न कर सके थे — तो अन्य दर्बारी कवियों की किरकिरी होगी। इसी बीच 'अंसारी' और 'बदी उद्दीन' में मनफेर हो गया और 'बदीउद्दीन' ने 'फिर्दौसी' को लिखा कि "आप आएँ। 'अंसरी' ने स्वार्थवश आपको रोका था।" 'फिर्दौसी' ने स्वीकारोक्ति के साथ ये शेर लिख भेजे —

'ब गोश अज सरोशम् बसे मुजदहास्त, दिलम् गंजे गौहर जुबाँ अजदहास्त।
चे संजद् ब मीजाने मन् 'अंसरी' गया चूँ कशद पेश गुलबुन सरी।'

(हजरत जिब्रील मेरे कानों में अनेक शुभ समाचार पहुँचा रहे हैं, मेरा दिल रत्नराशि है और मेरी जबान उसकी रक्षा में सर्प के समान बैठी है। 'अंसरी' मेरी तराजू में नहीं तुल सकता, मेरे मापदंड से उतर कर है – गुलाब के समक्ष घास - पात कैसे सिर उठा सकते हैं – कदापि नहीं।)।

निदान 'फिर्दौसी' गजनी आया। शहर में उसका लोगों से व्यवहार था। उन्हें सूचना भेजी। आप एक बाग में ठहर गया। वहाँ दर्बार के विशिष्ट कवित्रय 'अंसरी', 'फरुंखी' और 'अस्जदी' विचरण के लिए आए हुए थे। शराब के दौर चल रहे थे। इन्हें देखा तो अपरिचित व्यक्ति काँटे सा गड़ा। छेड़छाड़कर बाहर करने को तो अशिष्टाचार समझा परंतु चतुष्पदी (रुबाई) का एक चरण समस्यापूर्ति के लिए रखा और पूर्ति करने बैठ गए कि गति होगी तो गोष्ठी में संमिलित कर लेंगे, अन्यथा लज्जित हो, आप बाहर हो जायगा। सबों ने मिस्रे लगाए, जो इस प्रकार हैं —

अंसरी —

'चूँ आरिजे तू माह न बाशद रौशन' (चंद्र भी तेरे कपोलों सा प्रकाशमान नहीं)

फरुंखी —

'मानिंद दरख्ते गुल न बुवद दर गुलशन' (उपवन में गुलाब सा दूसरा पौदा नहीं)

अस्जदी —

'मिज़गानत न गुजर कुनद अज जौशन' (तेरी पलकें कवच को बेध देती हैं)

फिर्दौसी —

'मानिंद सिनाने गैऊ दर जंग पिशन' (पिशन के युद्ध में गैऊ (मल्ल) की बर्छी के समान।)

सबों ने 'फिर्दौसी' की सफलता पर षड्यंत्र रचा जिसमें वह दर्बार में प्रवेश न पा सके। सुयोग से बाग ही में 'माहक' नामक एक सहृदय व्यक्ति से – जो 'महमूद' का पार्श्ववर्ती था – भेंट हो

गई। वह 'फिर्दौसी' की योग्यता और मृदुभाषिता से प्रभावित हुआ, घर लाकर रखा और उसकी रामकहानी सुनी।

उन दिनों 'महमूद' द्वारा मनोनीत एक कविसप्तक 'शाहनामा' की रचना में दत्त चित्त था। 'फिर्दौसी' ने 'माहक' से इस नियुक्ति और 'अंसरी' के अशआर की प्रशंसा सुनी तो 'माहक' द्वारा अपनी रचना भी 'महमूद' तक पहुँचाई। उसने बुलवाया। परिचय के उपरांत उक्त कविसप्तक के समक्ष 'फिर्दौसी' से उसकी रचना पढ़वाई। उसने पहले 'महमूद' की प्रशस्ति पढ़ी जो इस प्रकार है —

> जे यजदाँ अबर शाहबाद आफरीं, कि नाजद ब ऊ तख्तो ताजोनगीं।
> जहाँदार महमूद शाहे बुज़ुर्ग ब आबश खुर आरद हमीं शेरो गुर्ग।
> जहाँ आफ़रीं ता जहाँ आफ़रीद, चु ऊ-मर्जबाने नयायद पदीद।
> जे कश्मीर ता पेश दरियाए[1] चीं, बरू शहयारां कुनन्द आफरीं।
> चु कौदक लब अज शीर मादर बशुस्त, बगहवारा महमूद गोयद नख़स्त।
> ब बज्म अंदरू[2] आस्माने वफ़ास्त[3] ब रज्म अन्दरू शेर जंग आजमास्त[4]।
> ब तन जिन्दा पीलो बजाँ जिब्रईल, ब कफ़ अब्र बहमन ब दिल रूदे नील॥

(बादशाह महमूद पर प्रभु का प्रसाद हो। छत्र सिंहासन और शासन उस पर गर्व करता है। परमात्मा की सृष्टि का जहाँ तक पसारा है, ऐसा शासक नहीं दीखता। उसके शासन में निर्बल सबल और परस्पर विरुद्ध स्वार्थों वाले सभी सुख तथा हेल मेल से रहते और समान साहाय्य प्राप्त करते हैं। सभी राजा उसके प्रशंसक हैं। बच्चा जब सर्वप्रथम माँ का दूध पीता है तो पालने में पहले 'महमूद' शब्द का उच्चारण करता है। बादशाह व्यवहार और कर्तव्यपालन में अद्वितीय है और रणक्षेत्र में धीर वीर है। शरीर पुष्ट और प्राण-शक्ति स्फूर्तिमान है। इसका हाथ बहमन (मास विशेष) के मेघ के समान और हृदय दरियाए नील के सदृश (उदार) है।)

इस प्रशस्ति के साथ ही 'शाहनामा' विषयक कविता जो 'रुस्तम' और 'इस्फंदयार' पर थी, पढ़ी —

> 'कनूँ[5] खुरद बायद मये खुश गवार, किमी बूए मै आयद अज जूएबार।
> हवा पुरखरोशो जमीपुर जे जोश खुनक आं कि दिल शाद दारद जे जोश।
> दिरम् दारदो नुक्ल नानो नबीद, सरे गोस्फंदे तवानद् बुरीद।

मस्नवी रचयिताओं की परंपरा में शराब व कबाब का वर्णन करके नए उनवान (शीर्षक) का प्रारंभ करते हैं। 'फिर्दौसी' भी यहाँ पर उसी का पालन करता है कि बहार का समय है, मदिरा की बास आ रही है, मद्यपान करना चाहिए, सारा वातावरण – धरती से आकाश तक – उग्र हो रहा है, मदिरा अति शीतल है। उसके पान से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, भोग-

१. बर + ऊ। २. अंदर + ऊ। ३. वफा + अस्त। ४. आजमा + अस्त।
५. अकनूं।

विलास की सामग्री प्रस्तुत है — मद्य और उसके सहायक उपकरण। अतः खान - पान का कार्यक्रम करना चाहिए।

'फिर्दौसी' के कवितापाठ से संपूर्ण दर्बार अवाक् रह गया। 'अंसरी' ने उठकर 'फिर्दौसी' के हाथ चूमे। 'महमूद' ने फिर्दौसी को धन - धान्य से पुरस्कृत करके उसे 'शाहनामा' की रचना के लिए वरण कर लिया। उसे यह महान् कार्य सौंपा गया। राजप्रसाद के निकट ही, एक भवन को संपूर्ण सामग्री से लैस करके उसके आवास की व्यवस्था की गई। संपूर्ण युद्धोपकरणों, (आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक शस्त्रास्त्रों), अजम के शासकों, युद्धस्थलों, मल्लों, पशुओं के चित्रों और आलेखों से उस भवन को सुसज्जित किया गया। एक एक शेर के लिए, एक एक दिरम पारिश्रमिक बांध दिया गया। प्रत्येक सहस्र शेरों की समाप्ति पर दिरमों (स्वर्ण मुद्राओं) की चुकौती की आज्ञा हुई। पर फिर्दौसी ने खंडशः के स्थान पर अंत में बँधी राशि लेना ही पसंद किया और संकल्प किया कि पुरस्कार के धन से अपनी जन्म-भूमि में एक बाँध को – जो वर्षा में टूटकर कीचड़ कर देता था — पक्का कराएगा।

'फिर्दौसी' चार वर्षों के रचनाकाल के उपरांत अपने वतन गया और कई वर्ष पीछे गजनी लौटा। जितना अंश लिखा जा चुका था, 'महमूद' के समक्ष प्रस्तुत किया और उसके उपलक्ष में प्रशंसा तथा साधुवाद से संमानित हुआ।

कारणों के विषय में तो मतैक्य नहीं, पर यह निश्चित है कि उसके वर्णन-चमत्कार और श्रम का फल उसे न मिला। स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर रजत मुद्राएँ ही दी गईं। कोई कहते हैं कि इसमें 'अयाज' का हाथ था जिसको 'फिर्दौसी' भजता न था। किसी के मत में दर्बारियों की कारस्तानी थी जो 'फिर्दौसी' के संरक्षक वजीर हसन मैमन्दी के विरोधी थे और कोई कहते हैं 'हसन मैमन्दी स्वयं 'फिर्दौसी' के 'शिया' होने के कारण उसके विरुद्ध था। भूमिका लेखकों का कहना है कि 'महमूद' स्वयं 'फिर्दौसी' पर अप्रसन्न हो गया था, क्योंकि उसने 'शाहनामा' में स्थान स्थान पर कुलीनता को सगर्व सराहा है और 'महमूद' को यह असह्य हो उठा, क्योंकि वह गुलामजादा था। उसने इसे अपने ऊपर अप्रत्यक्ष प्रहार समझा, जैसा कि हम पूर्व पंक्तियों में 'महमूद' की वंशपरंपरा के विषय में कह चुके हैं।

'अयाज' पारिश्रमिक लेकर उसके निवास पर पहुंचा तो 'फिर्दौसी' नहा रहा था। निवृत्त हुआ तो थैलियाँ उसके संमुख प्रस्तुत की गईं। 'फिर्दौसी' ने उत्कंठा से हाथ बढ़ाया, तो चाँदी थी। दीर्घ निःश्वास ली, सारा धन खड़े खड़े लुटा दिया और 'महमूद' को कहलवाया कि मैंने इतना कठोर श्रम इसलिए नहीं किया था। 'महमूद' ने सुना तो 'मैमंदी' को बुलाकर कोप प्रकट किया और कहा, "तेरी छेड़खानी ने मुझे इतना कलंकित किया।" 'मैमंदी' "बोला "महाराज आप चुटकी भर धूल भेजते तो उसे शिर पर चढ़ाना था, राजकीय पुरस्कार की अस्वीकृति धृष्टता है।" 'महमूद' फिर गया और बोला, "कल उसे इसका प्रतिफल मिलेगा।" 'फिर्दौसी' ने सुना तो अत्यंत व्यग्र हुआ। प्रातःकाल महमूद बाग में आया तो पैरों पड़ा और शेर पढ़े —

चु दर मुल्क सुल्ता कि चर्क्षश सतूद, बसे हस्त तरसा व गिब्रो यहूद।
गिरफ्तन्द दर जिल्ले अदलशकरार, शुदा ईमन अज गर्दिशे रोजगार।
चे बाशद कि सुल्तान गदूं 'शिकोह' रहीरा शुमारद यके अज गरोह।

(जब कि सम्राट के देश में – जिसका प्रशंसक आकाश है – अनेक 'अग्निपूजक, मसीही और यहूदी बसते हैं और उसकी न्याय - प्रतिपादित छत्रछाया में स्थैर्य प्राप्त करते हैं तथा कालचक्र के संकटों से निर्भय रहते हैं, तो क्या बात होगी यदि महान् समृद्धिशाली सम्राट दास को भी उन्हीं में से एक समझे और छत्रछाया में स्थान दे ?)। 'महमूद' को दया आ गई और क्षमा कर दिया। अब 'फिर्दौसी' गजनी से भागा और 'अयाज' को एक मुहरबंद लिफाफा देता गया कि 'महमूद' को बीस दिनों के उपरांत सौंप दे। 'महमूद' ने लिफाफा खोला तो हजो-विषयक अशआर (निंदा विषयक पद्यबद्ध पंक्तियाँ) थे। उनका नमूना इस प्रकार है —

न ब कै बंदगी करदम ऐ शहयार, कि मानद जे तू दर जहाँ यादगार।
पै अफगंदम् अज् नज्म काखे बुलन्द, कि अज बादो बारां न यावद गजंद।
बसे रंज बुर्दम दरीं साल सी, अजम जिन्दा कर्दम् बदीं पारसी।
चु बर् बाद दादंज गंजे मेरा, न बुद हासिले सी व पंजे मेरा।
अगर शाह रा शाहबूदे पिदर, बसर बर निहादे मेरा ताजे जर।
व गर मादरे शाहबानू बुदे, मेरा सीमोजर ताब जानू बुदे।
परिस्तार जादा न यावद बकार, बगर चंद दारद पिदरशहयार।
सरे ना सजायाँ बर अफराश्तन्[१] व जेशाँ[१] उम्मेदे विही दाश्तन्।
सरे रिश्तये खेश गुम कर्दनस्त[२], बजेबन्दरूँ[३] मार परवर्दनस्त।
दरख्ते कि तल्खस्त[४] वेरा सरिश्त गरश बर निशानी ब बागे बिहिश्त।
वरज[५] जूए खुल्दश बहंगामे आब, बबीख अंगबीं रेजी वो शहदे नाब।
सरंजाम गौहर बकार आवरद्, हुमाँ मेवए तल्ख बार आवरद्।
जे बद अश्ल चश्मे बिही दाश्तन्, बुवद खाक दर दीदा अम्पाश्तन्।
अजाँ गुफ्तम् ईं बैतहाए बुलन्द, कि ता शाह गीरद अजीं कारपंद।
कि शायर चु रंजद बगोयद् हेजा, बमानद् हेजा ता कयामत बजा।

(हे राजन् मैंने कितने समय तक सेवा की कि संसार में आपकी स्मृति बनी रहे ? मैंने काव्य द्वारा इस उच्च भवन की नींव डाली; जिसे आँधी और पानी क्षति नहीं पहुँचा सकते। इन तीस वर्षों में मैंने अपार दुख सहे हैं और इस पारसी द्वारा जो 'शाहनामे' में व्यवहृत हुई है, मैंने अजम - ईरान - तूरान आदि को पुनरुज्जीवित किया है। तथापि मेरी निधि नष्ट कर दी गई और इन पैंतीस वर्षों का कुछ परिणाम न निकला। यदि शाह ('महमूद') का पिता राजा होता तो वह (महमूद) मेरे शिर पर सुवर्ण का मुकुट रखता और यदि उसकी माँ राजकुल की होती, तो मैं घुटनों तक सोने चाँदी से ढक गया होता। लौंडी की संतान चाहे उसका पिता राजकुल का व्यक्ति ही क्यों न हो, कुलीन और प्रकृत नहीं हो सकती। अयोग्यों को गौरवास्पद करना और उनसे भलाई की आशा बाँधना अपने आपको भ्रष्ट करना है और साँप को जेब में रखकर पालने के समान है। जो वृक्ष स्वभाव से कड़ुवा है, उसे यदि नंदन वन में रोपें और पानी के स्थान पर स्वर्ग की नदियों का शुद्ध मधु मूल में सींचे, तथापि वह

१. अज + एशाँ। २. कर्दन्+अस्त। ३. ब + जेब + अन्दरूँ।
४. तल्ख + अस्त। ५. ब + अगर + अज्।

अपना स्वभाव न छोड़ेगा और वही कड़ुवा फल लाएगा। बुरे से भलाई की आशा करना अपनी आँखों में धूल झोंकना है। मैंने इन विशिष्ट पंक्तियों को इस प्रयोजन से कहा कि 'महमूद' शिक्षा ले। क्योंकि कवि रूठता है तो निंदा करता है, जो सृष्टि पर्यंत स्थायी रहती है।)

'महमूद' क्या क्या नष्ट भ्रष्ट नहीं कर गया, पर 'फिर्दौसी' की वाणी जो निकली अक्षय रही। 'फिर्दौसी' भागा तो चादर और लाठी साथ थी। शुभचिंतक तो थे पर राजकीय कोपभाजन को कौन शरण दे? 'अयाज' ने गुप्त रूप से कुछ धन और यात्रोपयोगी कुछ सामग्री भेजवा दी थी। वह 'हिरात' में छः मास छिपा रहा। राजकीय गुप्तचर पीछे लगे थे। 'तूस' होता हुआ 'कहस्तान' के 'नासिरुल मुल्क' के प्रेम और आग्रहपूर्ण बुलावे पर उनके यहाँ ठहरा। उन्होंने हजो के अशआर एक सुवर्ण मुद्रा प्रति शेर मोल ले लिए और शाहनामा से उन्हें निकाल देने को कहा। 'फिर्दौसी' ने यही किया। परंतु उनकी ख्याति इतनी हो चुकी थी कि उनका मिटना असंभव हो गया। 'नासिरुल्मुल्क' ने इस आशय का पत्र 'महमूद' को लिखा और 'फिर्दौसी' के साथ की गई कठोरता की भी चर्चा की। उधर 'फिर्दौसी' जब गजनी से चला था तो जामा मस्जिद में लिख आया था —

खजिस्ता दरगहे मह्मूद गजनवी दरियास्त, चगूना दरिया कराँ करा न पैदास्त
च गोताहा जदम[1] वान्दरूं न दीदम् दुर, गुनाह बख्ते मनस्त ईं गुनाह दरिया नेस्त।

(महमूद की शुभ ड्योढ़ी अपार जलाशय है, मैंने उसमें कितने ही गोते लगाए और मोती एक भी न दिखा तो यह मेरे भाग्य का दोष है, जलाशय का नहीं।)

'महमूद' जामा मस्जिद में नमाज पढ़ने गया तो ये शेर देखे। अत्यंत दुखी हुआ। लौटा तो 'नासिरुलमुल्क' का पत्र मिला। ग्लानि से और भी व्यथित हुआ। मध्यवर्तियों की छेड़खानी पर उनकी डाँट फटकार की। उधर 'महमूद' का एक भारतीय राजा से पत्रव्यवहार हो रहा था। 'महमूद' ने मंत्री से एक दिन कहा "यदि प्रतिकूल उत्तर मिला हो तो क्या होगा?" मंत्री ने उत्तर दिया —

अगर जुज ब कामे मन आयद जवाब, मनोगुर्जो मैदानो अफरासियाब।

(यदि मेरी इच्छा के अतिरिक्त कुछ और उत्तर आता है, तो मैं हूँ, गदा है, रणक्षेत्र है और अफरासियाब है।)

'महमूद' ने उत्कंठापूर्वक पूछा – "शेर किसका है?" उत्तर मिला – "उसी दुर्भाग्य के मारे 'फिर्दौसी' का।" महमूद अत्यंत लज्जित हुआ और साठ हजार सुवर्ण मुद्राएँ भेजवाईं।

उधर फिर्दौसी 'माजन्दरान', 'दारुलमरज' और बगदाद के देलमियों के यहाँ होता हुआ अपने घर 'तूस' पहुँचा। राह में जहाँ गया स्वागत सत्कार हुआ। पर 'महमूद' के भय के कारण कहीं न जम सका। जब 'महमूद' के द्वारा भेजा गया पुरस्कार पहुँचा, तब फिर्दौसी की मृत्यु हो चुकी थी और उसकी अर्थी निकल रही थी। 'फिदौसी' की संतान में एक पुत्री थी। उसने आत्मसंमान के विरुद्ध समझकर पुरस्कार ग्रहण न किया। अंत में 'तूस' के शासक ने 'महमूद' की आज्ञा से एक धर्मशाला 'फिर्दौसी' की स्मृति में बनवा दी।

१. ब + अंदरूं।

एक मौलवी अबुल कासिम गुरगानी थे। उन्होंने 'फिर्दौसी' के जनाने की नमाज नहीं पढ़ी। क्योंकि उसने 'शाहनामा' में फरीदूँ 'कैखुसरो', 'कैकाऊस', 'सयाऊस', 'रुस्तम' और 'नौशेरवाँ आदि की – जो मुसलमान न थे और अग्निपूजक तथा देवोपासक थे – प्रशस्तियाँ लिखी थीं। उक्त मौलवी साहब ने यह भी फतवा (व्यवस्था) दिया कि 'फिर्दौसी' का शव मुसलमानों से समाधिस्थान में गाड़ा नहीं जा सकता। लोगों ने कितनी ही अनुनय-विनय की तथापि वह फतवा वापस लेने को तैयार न हुए। तब फिर्दौसी का शव एक बाग में जो उसकी निजी संपत्ति था समाधिस्थ किया गया। श्री मेंहदीहसन नासिरी 'सनादीदे अजम' में लिखते हैं – उक्त मुफ्ती ने रात को स्वप्न देखा कि 'फिर्दौसी' स्वर्ग में गौरवास्पद हो रहा है। मौलाना ने मुक्ति का रहस्य पूछा तो 'फिर्दौसी' ने कहा, इस शेर के बलबूते पर —

जहाँ रा बुलंदी व पस्ती तुई, नं दानम् चए हर्चे हस्ती तुई।

(संसार को उन्नति के शिखर पर चढ़ाने और अवनति के गर्त में गिरानेवाला तू ही है। मैं तेरे सिवा किसी को नहीं जानता। जो कुछ है तू ही है। अर्थात् परमात्मा में एकांत अनन्यता ही मुक्तिदायिनी है।) 'शाहनामा' ४०० हिज्री में पूर्ण हुआ है जैसा कि उसी में अंत में आया है —

जे हिज्रत शुदा पंज हश्ताद् बार, कि गुफ्तम मनीं[1] नामए शहयार।

(हिज्रत से पाँच अस्सी अर्थात् चार सौ वर्ष व्यतीत हो गए थे जब मैंने यह राजवंशों का वर्णन किया।) यह भी लिखा है कि इस समय उसकी वय प्रायः ८० वर्ष की थी —

'कनूं उम्र नजदीक हश्ताद शुद, उमीदम् बइकबारा बर्बाद शुद।

'शाहनामा' की समाप्ति संवत् ४०० हिज्री है। ३५ वर्ष रचनाकाल की अवधि है। इस प्रकार रचना का श्री गणेश ३६५ हिज्री समझना चाहिए, जो 'महमूद' की गद्दीनशीनी (३८८ हिज्री) से २३ वर्ष पूर्व है। अतः यह धारणा कि 'शाहनामा' 'महमूद' ने लिखवाया सर्वथा निराधार और निर्मूल है। उसने रचना का प्रयोजन यों लिखा है –

हमीं खाहम् अज दादगर यक खुदाए, कि चंदा बमानम् बगीती बजाए।
कि ईं नामए शहयाराने पेश, ब पैवन्दम् अज खूब गुफ्तार खेश।
बसे रंज बुर्दम् दरीं साल सी, अजम जिंदा कर्दम् बदीं पारसी।
हमा मुर्दा अजरोजगारे दराज, शुद् अज गुफ्ते मन् नामे शां जिन्दाबाद।
चू ईसा मनीं[1] मुर्दगांरा तमाम, सरासर हमा जिन्दा करदम् बनाम।
पै अफगन्दम् अज नज्म काखे बुलन्द कि अज बादो बारां न नयाबद्गजन्द।

(न्यायमूर्ति परमात्मा से प्रार्थना है कि मैं कुछ दिन संसार में अपनी जगह पर सुस्थिर रहूँ। क्योंकि पूर्वकालीन राजाओं का इतिवृत्त अपनी सुंदर वाणी में क्रमबद्ध करता हूँ। मैंने इस कार्य में तीस वर्ष पर्यंत अनेक कष्ट सहे हैं; तब अपनी इस 'पारसी' द्वारा 'अजम' को पुनरुज्जीवित किया है। बहुकालीन मृतप्राय नाम मेरी वाणी से अनुप्राणित हो उठे हैं। प्रभु यीशु ख्रीष्ट के समान मैं इन्हें अपनी वाणी से जीवनदान देता हूँ। मैंने पद्यरचना द्वारा एक उच्च भवन की नींव रखी है जिसे वर्षा या वात किसी से क्षति न पहुँचेगी।

१. मन + ईं।

'फिर्दौसी' मजूसियों (अग्निपूजकों) का वंशज था। ईरानी राजाओं का सजातीय था और 'दकीकी' ने जिस 'शाहनामा' का शिलान्यास उसके पूर्व किया था उसकी जनसाधारण में चर्चा थी अर्थात् 'शाहनामा' में सर्वप्रियता की क्षमता थी। ये बातें फिर्दौसी के आकर्षण के लिए पर्याप्त थीं। संयोग ही है कि 'फिर्दौसी' के वतन में ही एक व्यक्ति के पास कथावस्तु संग्रहीत थी। वह 'फिर्दौसी' का घनिष्ट मित्र भी था। रुचि देखी तो पुस्तक लाकर सौंप दी। उसके पाते ही 'फिर्दौसी' का अंधकार प्रकाश में बदल गया —

'ब शहरम् यके मेहरबाँ दोस्त बूद्, तू गुफ्ती कि बा मन् वो एक पोस्त बूद।
मेरा गुफ्त खूब आमद् ईं राय तू, ब नेकीं खरामद् मगर पाय तू।
नविश्ता मनीं[1] नामए पहलुवे, ब पेशे तू आरम् मगर नगनुए।
चु आवुर्द ईं नामा नजदीक मन, बंरफरोख्त[2] ई जान तारीफ़ मन।

रचना के महत् कार्य में हाथ लगाते ही विद्या-प्रेमियों ने गुणग्राहता दिखलाई। 'तूस' के शासक 'मंसूर बिन मोहम्मद' ने उदारतापूर्वक सर्वाधिक सहायता दी —

बदी नामा चूं दस्त करदम् दराज, यके मेहतरे बूद गर्दन फराज।
मेरा गुफ्त कज मन च आनद हमीं, कि जानत सोखन बरगरायद हमीं।
ब चीजे कि बाशद मेरा दस्तरस, बकोशम् नियाजत ब आरम् बकस।

'शाहनामा' की प्रामाणिकता

'शाहनामा' में राजवंशों के इतिहास के साथ ही ऐसे प्रचलित किस्से भी मिलते हैं जो विश्वसनीय नहीं, तथापि ऐतिहासिक तथ्य पूर्णतः स्थिर और पुष्ट हैं। प्रोफेसर 'ब्राउन' लिखते हैं — "हमारी दृष्टि में, उसका संमान यह देखकर बढ़ जाता है कि जिन किताबों के आधार पर 'शाहनामा' लिखा गया है, उनसे क्रमबद्ध तद्रूपता पाई जाती है। वे पुस्तकें ये हैं—'अवस्ता', 'माबकार जरेराँ', 'कारनामक', 'अरनख्त शर मायका' और 'खुदाई नामा'।" श्री 'मालकम' 'तारीख ईरान में लिखते हैं –

"किताबे 'फिरदौसी' अगर्चे अफसाना ब खयालात बिसियार दारद लाकुन तकरीबन अखबारे कि दर तारीख कदीम तूरान व ईरान, दर मुल्क आसिया (एशिया) याफ्त मी शवद दरां मुन्दर्ज अस्त।"

'शाहनामा' का सूत्र —

यके नामा बुद अजगहे पास्ताँ फरावाँ बुद ऊ अन्दरा दास्ताँ।
परागन्दा दर दस्त हर मो बिदे, अजू[3] बहर ए बुर्द हर बखिरिदे।
यके पहलवाँ बूद दहकाँ निजाद् दिले रो बुजुर्गो खिरदमन्द राद्।
.जे हर किश्वरे मोबिदे सालखुर्द, ब यावर्दा ईं नामा रा गिर्द गिर्द।
ब पुरसीद शाँ अज निजादे कयाँ, वजाँ[4] नाम नामदाराने फरुख गवां।
ब गुफ्तन्द पेशश यकायक जहाँ सोखन हाय शाहाँ व गश्ते जहाँ।
चु व शुनीद जों[5] शाँ सिपहबद सोखन यकें नामवर नामा अफगंद बुन।

१. मन् + ई। २. बर् + अफरोख्त। ३. अज + ऊ। ४. व + अज + आँ।
५. अज + ई।

(प्राचीनकालिक गाथाओं की एक पुस्तक थी। उसमें सविस्तर कथाएँ वर्णित थीं। वह अस्तव्यस्त दशा में मोबिदों के हाथ में थी। प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने उससे लाभ उठाया था। एक ग्रामीण मल्ल था जो साहसी, वयोवृद्ध, उदार और प्रतिभावान् था। उसने देश देश के मोबिदों से पुस्तक को एकत्र किया, 'कथानियों' से पूछताछ की और वैभवशाली मल्लों से संपर्क किया। उन्होंने उसके समक्ष राजाओं और उनकी समस्त संसार-यात्राओं के वर्णन प्रस्तुत किए, यह सब सुनकर एक प्रसिद्ध व्यक्ति ने ग्रंथ की नींव रखी।)

यह पुस्तक दो हजार वर्ष पूर्व की रचना थी। इसीपर 'शाहनामा' की नींव पड़ी। इसके अतिरिक्त दूसरे सूत्रों का उल्लेख भी फिर्दौसी ने किया है। दूसरा सूत्र —

ब सामे नरीमाँ कशीदश निजाद, ब़से दाश्त रज़्मे बरुस्तम् बयाद्।
ब गोयम् सोखन उँ च जूयाफ्तम्[1], सोखन रा यक अंदर दिगर बाफ्तम्।

('साम नरीमान' के वंशजों में से एक जो 'रुस्तम' के युद्ध कंठस्थ किए था, वही बातें संजोकर लिखता हूँ।)

'फिर्दौसी' ने प्राकृत इतिहास ही लिखा है —

गरज[2] दास्ताँ यक सोखन कम बुदे, रवाने मेरा जाय मातम बुदे।

(यदि गाथा में एक बात भी कम हुई तो मेरी आत्मा को कष्ट होता है।)

फिर्दौसी का महत्व

दर शेर से तन पयंबरानंद[3] हरचंद किला नबीबादी।
आबया तो कसीदा वो गजल रा, फिर्दौसी अनवरी व सादी।

अनवरी का कौल —

आफरी बरवाने फिर्दौसी, आँ हुमायूं निजादो फर्ख़न्दा।
आँ न उस्ताद बूद व मा शागिर्द आँ खुदावंद बूदो मा बन्दा।

निजामी का कौल —

सोखन गोए पेशीना दानाए तूस, कि आरास्त जुल्फे सोखन चूँ उरूस।

सादी का कौल —

चे खुश गुफ्त फिर्दौसिये पाक जाते कि रहमत ब रां तुर्बते पाक बाद।

अल्लामा इब्ने 'कसीर' कहते हैं—"अर्बी भाषा इतना विस्तार और शब्दबाहुल्य होते हुए भी 'शाहनामा' का प्रतिस्पर्द्धी प्रस्तुत नहीं कर सकती। वस्तुतः वह ग्रंथ कुरानुल अजम है।"

'दौलतशाह' अपने तजकरे में लिखते हैं — "समस्त विद्वज्जन एकमत हैं कि इस्लाम में इस अवधि में 'फिर्दौसी' सा व्यक्ति नहीं जन्मा। गत ५०० वर्षों में कवियों और वाणी-विशारदों ने 'शाहनामा' के समकक्ष कोई रचना नहीं प्रस्तुत की।" 'आतिशकदा' में आया है—

१. अज + उ। २. अगर + अज। ३. पयम्बरान् + अंद।

"इन सात सौ वर्षों की अवधि में कवियों में से कोई ऐसा न निकला कि उसका (फ़िर्दौसी का) सहयोगी बनता। यही नहीं वरन् एक भी नहीं हुआ जो उसकी शिष्यमंडली से बाहर जा सके।" 'मजमउल फुसहा' में लिखते हैं—"ता ईं गायत शोर ए अजम दर नज्म पारसी किताबे मानिन्द शाहनामा व मस्नवी मोलवी मानवी दर आलम यादगार न गुजारता अन्द।"

शाहनामा की कतिपय विशेषताएँ

१ – अरबी का महान अभियान जो पारसी पर हुआ था, 'फ़िर्दौसी' ने उससे 'पारसी' को मुक्ति दिलाई।

२ – सौंदर्य और प्रेम का वर्णन मर्यादित है। सोजो गुदाज नाला व फरियाद की अदाओं से पाक है।

३ – समासशैली को अपनाकर अर्थगौरव और गांभीर्य का निर्वहण करता है –

कनूं जंग सोहराबो रुस्तम सुनो, दिगरहा शुना हस्ती ईं हम सुनो।
पए मशवरत् अंजुमन् साख्तन्द, नशिस्तन्दो गुफ्तन्दो बरखास्तंद।

४ – युद्धस्थानीय वातावरण और क्रमालंकार का एक उदाहरण —

ब रोजे नेबर्द आँ यले अर्जुमन्द, ब शमशीर खंजर व तेगो कमन्द।
बुरीदो दरीदो शिकस्तो बबस्त, यलाँ रा सरो सीना बोपा बदस्त।
फ़रो शुद व माही व बर शुद् बमाह बुने नेजवो कुब्बए बारगाह।
जे बस गर्द मैदाँ कि बर शुद् बदश्त, जमीं शश शुदो आस्माँ गश्तहश्त।

५ – पात्रगत सामंजस्य – 'बहराम गोर' और 'मंजर' क्रमशः 'अजम' और अरब का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'अफरा सियाब' क्रूरता और उत्पीड़न का प्रतीक है। 'जहाक' क्रूर और अत्याचारी है। 'कैकाऊस' में बड़प्पन और शौर्य के साथ-साथ राज - हठ और खुद सेवा विद्यमान है। 'कैखुसरो' में भद्रता का बाहुल्य और ईरानी वैभव का पूर्ण विकास चित्रित किया है।

६ – दर्शन की व्याख्या, चरित्रवर्णन और उपदेश प्रसंगात आ जाते हैं। संप्रदायवाद से 'फ़िर्दौसी' स्वतंत्र और उदारचेता है। वह सर्वत्र सत्य का प्रकाश देखता है। उसका 'समद' 'सनम'[1] से निकट ही है। 'सीनदुख्त' (रुस्तम की नानी) अपने दामाद रुस्तम के बाप से कहती है —

खुदावन्द मा वो शुमा खुद यकेस्त[2], ब यज़दाने मा हेच पैकार नेस्त।
गुजस्ता अजू[3] किबलए मा बुतस्त[4], चे दर चीन काबुल चे दर हिन्द बस्त।
शुमारा खुरद आतिशे पुर फ़रोज, तु दानी कज़ीं[5] दर तु गुफ्तम दरोग।
परस्तनीदने हर दो राहे बदस्त[6], चु मारा हमा आरजू[7] ईजदस्त।

१. ब्रह्म और प्रतीक अथवा प्रतिमा का अभेद मानता है। मंजिल लक्ष्य है। पंथ के ऊपर संघर्ष नहीं चाहता।

२. यक + अस्त। ३. अज + ऊ। ४. बुत+अस्त। ५. कि + अज + ईं। ६. बद + अस्त। ७. ईजद + अस्त।

(हमारे तुम्हारे भगवान् में कोई संघर्ष नहीं। मूर्ति तो उस तक ले जाने वाला पंथ मात्र है—न लक्ष्य है न गंतव्य। तुम्हारा पंथ अग्निपूजा है, पंथ पूजा गर्हित है, अभीष्ट तो प्रभु ही है।) इस वार्तालाप की पृष्ठभूमि इस प्रकार है कि 'रूदाबा' 'जाल' पर आसक्त हुई। ब्याह की ठहर गई तो 'मनूचेहर' बादशाहवक्त ने 'जाल' के पिता 'साम' को ससैन्य काबुल भेजा कि रूदाबा के वंश को ही नष्ट कर दे। क्योंकि वह वंश 'जहाक' की परंपरा में था। ('मनूचहर' के पूर्वजों का वध जहाक ने कराया था।) 'रूदाबा' का पिता चिंतित होकर अपनी पत्नी 'सीनदुख्त' से बोला कि, "तुमको 'रूदाबा' समेत बध कर दूँ। यही विधि संकट टालने की है।" 'सीनदुख्त' ने अवसर के अनुरूप ही धैर्य से काम लिया। घोड़े पर चढ़कर स्वतः 'साम' से मिलने चली। साथ में लच्च सुवर्ण मुद्राएँ, दस घोड़े, सौ जरीं कमर गुलाम जिनके हाथों में मुश्क (कस्तूरी), याकूत (पन्ना), और जवाहारात से भरे प्याले थे, एक प्याला शराब, एक प्याला शक्कर शकुन के लिए, चालीस कमखाब के थान मोती के टँके हुए, दो सौ हिंदी तलवारें, सुर्ख ऊँटनियाँ, सौ बारकश ऊँट, एक रत्नजटित ताज और सुनहरा तख्त, हार, कंगन और बालियाँ लीं और पहुँची। सूचना भेजवाई और उक्त भेंट के साथ 'साम' के समक्ष प्रस्तुत हो गई और बोली — 'अपराधी तो 'मेहराब' है। नागरिकों का क्या दोष? इतना कहकर ऊपर लिखित शेर पढ़े। 'साम' का इस व्यवहार और विचार-विनिमय से बड़ा समाधान हुआ। अपना पत्र देकर 'जाल' को 'मनूचहर' की सेवा में भेजा। उसमें लिखा था —" मैं बूढ़ा हुआ। मेरा स्थान कृपया 'जाल' को दें। इसका 'रूदाबा' पर आसक्त होना स्वाभाविक था। कृपया इन दोनों के प्रणय बंधन को अंगीकार करें।" मोबिदों द्वारा 'जाल' की परीक्षा ली गई। वह उत्तीर्ण निकला। 'जाल' की उसके बाप के स्थान पर नियुक्ति हो गई और रुदाबा के साथ विवाह की आज्ञा हुई। इस प्रकार 'सीनदुख्त' ने मनूचहर के वर्गवादी और सांप्रदायिक संकीर्ण और संकुचित विचारों का खंडन करके परिस्थिति का शमन किया और अपने पति मेहराब का संकट हर लिया।

शम्सुल उलमा मौ० मोहम्मद हुसेन 'आजाद' लिखते हैं—"सब्जाजार के सामान और हुस्न के जलवे शोराए ईरान के मामूली तकिया कलाम हैं। हर मतलब को इन्हीं में फैलाते हैं 'फिर्दौसी' के यहाँ यह रंग कम है। कोई सरगुजश्त सब्जाजार में वाके हुई तो उसकी खुशनुमाई दिखा दी। किसी हसीन का जिक्र आ गया, अच्छी सूरत भी देख ली। शराब का जिक्र आ गया, लाजमा मजलिस था, वह भी पी ली। और शायर खयाली मतलब को अच्छा फैलाते हैं, परंतु बयान वाकया में कमजोर पड़ जाते हैं। मगर उसकी जबान का जोर हर मतलब पर पूरी कुदरत रखता है। उसका दूसरा मिस्रा भी भर्ती का नहीं होता। ऐसे ढंग से बयान करता है कि असल माजरे का जुज वह भी लगता है।" 'रुस्तम' की नव विवाहिता वधू के बारे में कहता है —

लबानज तबरजद, जुबानज शकर, दहानश मुरस्सा ब लालो गुहर।
दो अब्रू कमानो दो गेसू कमन्द, जबानश चु खंजर दानश चु कन्द।

(उसके ओंठ मिश्री और जिह्वा शकर से रचे गए थे। मुँह लाल और मोतियों से जड़ा गया था। दोनों भौंहें धनुषाकार, केश कमंद (पाश) के समान, जबान में खंजर सा मर्मभेदी प्रभाव था और मुख मिश्री के समान मृदु था।)

यह स्पष्ट है कि प्रथम परिचय के समय तत्काल जिन बातों पर ध्यान जाता है वह यही बाह्य सौंदर्य है। दर्शक दूर से आँखों और कानों द्वारा ही परिचय प्राप्त कर सकता है।

उसका यहाँ दो ही पंक्तियों में पूर्ण परिपाक हो गया है। गुणपरिचय की बारी रूप और वाणी के पीछे आती है। इससे उसका वर्णन यहाँ पर नहीं किया। साथ ही धनुष, पाश और खंजर की चर्चा करके 'रुस्तम' की रणव्यवसायिता का निर्वाह किया है।

'शीरी' के मूबाफ (वेणी) का वर्णन करता है —

बहम बस्ता मूरा ब सद् पेचोताब, गिरहदाद शब रा पसे आफताब।

(केशों को अनेक कुंडलियाँ देकर बाँधा और इस प्रकार सूर्य - मुखाकृति के पीछे रात्रि—काले बालों—की गाँठ लगा दी।)

'रुस्तम' और 'अश्कबोस कशानी' तूरानी मल्ल की जंग देखिए —

तहमतन ब बन्दे कमर बुर्द चंग, गजीं कद यक चोबा तीरे खुदंग।
खुदंगे बर आउर्दो पैकां चु आब, निहादा बरू चार परें उकाब।
ब मालीद चाचीं कमांरा बदस्त, ब चिरमे गोजन अन्दरा उर्द शस्त।
सतूं कर्द चपरा व खम कर्दरास्त, गरेब अज खमे चर्ख चाची बखास्त।
चुबोसीद पैकाँ नर अंगुश्त ऊ, गुजर कर्द अज मोहरए पुश्त ऊ।
कजा गुफ्त गीरो कहर गुफ्त दह, मलक गुफ्त अहसन फ़लक गुफ्त जह।
बजद तीर बर सीनए अश्क बोस, सिपहरे बरीं बर कफ़स दाद बोस।
कशानी हम अन्दर जमाँ जाँ बदाद, तु गुफ्ती कि अज बत्ने मादर नजाद।

('रुस्तम' ने कमरबंद से बँधी तर्कश से एक तीर की छड़ निकाली। उस पर गाँसी (फर) लगाई और उकाब के चार पर उसमें संजोए। 'चाच' को बनी कमान पर उस तीर को दबाया और गोजन के चमड़े से निर्मित रोदे पर लगाकर लक्ष्य किया। बाएँ हाथ को सीधा किया और दाएँ को मोड़ा तो धनुष के झुकने से आकाश - व्यापी तुमुल ध्वनि उठी। जब तीर की नोक ने 'रुस्तम' के बाएँ हाथ के अँगूठे को चूमा (स्पर्श किया) तो बाण अश्क बोस धड़ को वेधकर पृष्ठ भाग में रीढ़ की गुरियों को पार गया। 'यमदेव' ने 'रुस्तम' से कहा 'दे' (मार) और 'अश्कबोस' से कहा 'ले' (चोट अंगीकार कर), फरिश्तों ने कहा 'सर्वोत्तम' और आकाश ने कहा 'साधु साधु'। 'रुस्तम' ने जब 'अश्कबोस' के वक्षःस्थल पर बाण वेध दिया तो आकाश ने उसकी हथेली को बोसा दिया। 'कशानी' तत्काल निष्प्राण हो गया कि आप कहेंगे मानो माँ की कोख ने जन्मा ही न था।)

रणक्षेत्र की तत्परता की एक झाँकी —

पए मश्वरत मजलिसे साख्तन्द, न शिस्तन्दो गुफ्तन्दो बर्खास्तन्द।

(परामर्श के लिए बैठक सँजोई। बैठे, बातें की और उठ गए।) यह पंक्ति 'तुलसीदास' की 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े' की सुधि दिलाती है। युद्धस्थल का रणकौशल और शस्त्रास्त्र-संचालन चित्रित किया है —

बरोजे नेबर्द आँ यले अर्जुमन्द, बशम्शेरो खंजर व गुर्जो कमन्द।
बुरीदो दरीदो शिकस्तो ब बस्त, यलाँ रा सरो सीना वोपा बदस्त।

(युद्ध के दिन उस प्रतापी मल्ल ने क्रमशः तलवार, भाले, गदा और पाश से पहलवानों के शिर, वक्षःस्थल, पैरों और हाथों को काटा, फाड़ा, तोड़ा और बाँध दिया।)

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि की समासशैली, शब्दचयन, गति, ध्वनि, लहर, चित्रोपमता,

कथन और लाघव दर्शनीय है। साथ ही क्रमालंकार का प्रयोग श्लाघ्य है, जो अलंकार-चातुरी - द्योतन के लिए नहीं, अर्थप्रवणता के लिए व्यवहृत हुआ है।

युद्ध - वर्णन के साथ साथ आचार - शास्त्र - विवेचन भी 'फिर्दौसी' की मनोदशा का विशिष्ट पक्ष है, जो एक ग्रामीण - परंपरा - पोषित व्यक्ति के अनुरूप ही है। 'रुस्तम' 'खाकानचीन' पर विजयलाभ करता है पर गर्वोन्मत्त नहीं होता —

चु अज दस्त रुस्तम रिहा शुद् कमन्द, सरे शहयार अन्दूरामद ब बन्द।
जे पील अन्दरावुर्दो बरजद जमीं, ब बस्तन्द बाजूए खाकाने चीं।
चुनीं अस्त रस्मे सराए फरेब, गहे बरफ़राजदगहे बर नशेब।
चुनी बूद नाबूद गर्दां सिपह, गहे जंग जहरस्तो गहनोश मेह।

(रुस्तम' के हाथ से ज्योंही पाश छूटी 'खाकाने चीन' का शिर फंदे में आ गया। हाथी से नीचे गिराकर जमीन पर धर पटका और भुजाएँ बाँध दीं। इस मायावी संसार की यही गति है। कभी उठता है कभी गिरता है। जब से यह असत् संसार चक्कर लगा रहा है, यही हुआ है। युद्ध कभी विष सिद्ध होता है कभी मीठी घूँट।)

'फिर्दौसी' को अपने प्रशंसनीय पात्रों की नीति भी सर्वदा सह्य नहीं। फलतः बहराम गोर को जो अपने संपूर्ण भद्र व्यवहार के साथ ही विजयी भी था प्रशस्तिवाचन के साथ साथ उसे आलोचनागर्भित उपदेश देता है —

ब पंजाह खुसरो जे तख्ते कयाँ, कि ब शुनीद बर तख्त ईरानियाँ।
न बुद हेच मानिन्द बहराम गोर, बदादो बुजुर्गी ब फरहंगो जोर।
ब यक माह यकबार आमेख्तन, गरफजूँ[1] बुवद खूं बुवद रेख्तन्।
हमी माया अज बह फर्जन्द रा, बबायद जवाने खिरदमन्द रा।

(ईरान में 'कयानी' वंश के पचास राजा सुने हैं। इनमें से कोई भी न्याय, बुजुर्गी, बुद्धिबल और शरीरबल में बहराम गोर का समकक्ष नहीं हुआ। पत्नी से एक माह में एक बार संभोग समुचित है। यदि इससे बढ़ जाय तो आप अपना रक्तपात करने के समान है। विवेकपूर्ण नवयुवक के लिए यही संतानोत्पत्ति की पूँजी है।)

'कै खुसरो' ने 'अफरासियाब' पर सैनिक अभियान किया तो आज्ञा प्रसारित की कि जो लोग बैरी के मुल्क में हमारे सामने आएँ, उन्हें कष्ट न दिया जाय —

नयाजर्द[2] बायद कसे रा बराह, चुनी अस्त आईनो रस्मे कुलाह।
कुशावर्जा या मर्दुमे पेशावर, कसे कू[3] बरज्मे न बन्दद कमर।
नयायद[4] कि बर वे बजद बादे सर्द न कोशीद जुज़ बाकसे हम नेबर्द।

'अफरासियाब' के पराजित होने पर रनिवास सामने आया जो निरपराध था। कै खुसरो बोला —

१. मगर + आफजूँ। २. न + आजर्द। ३. कि + ऊ। ४. न + आयद।

हर्चे बर खुद नपसन्दी वर दीगराँ हम मपसन्द।

(जो अपने लिए न चाहो दूसरों के लिए भी न चाहो। = आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।)

जे खूं रेखतन् दस्त बायद कशीद, मरे बे गुनाहाँ ने बायद बुरीद्।

'अफरासियाब' ने कैखुसरो के बाप की अत्यंत असंमानपूर्वक हत्या की थी। 'कैखुसरो' ने अपने हाथ से उसका वध किया और कमखाब के कफन तथा सुनहरे ताबूत में दफनाया।

जनतांत्रिक विचार

अल्लामा शिवली नोमानी लिखते हैं—"राजतंत्र में संपूर्ण अनाचार की आधारशिला दो वस्तुएँ हैं— १ - विचार-स्वातंत्र्य का अभाव। २ - निरंकुशता। निरंकुशता राजा पर ही सीमित नहीं रहती वरन् क्रमशः संपूर्ण शासक वर्ग तक उसका प्रसार रहता है। कोई उन्हें टोक नहीं सकता। इस कारण प्रत्येक प्रकार के दोष छा जाते हैं। परंतु 'शाहनामा' में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र दीखता है। राजा की भूल पर दर्बारी स्वतंत्रता से आलोचना करते हैं। इसी प्रकार समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अधीनस्थ अपने अधिकारी की आलोचना करता है। जहां उसे असंतुलित देखता है, रोकता है। 'कैकाऊस' ने नई रानी 'सौदाबा' के षड्यंत्र में फँसकर अपने बेटे 'सयाऊस' को खोया। 'रुस्तम' को विदित हुआ तो भरे दर्बार में 'कैकाऊस' से कहा—

तेरा इश्क सौदाबा वो बद खुई, जे सर बर गिरफ्त आँ कुलाहे कई।
कसे कू बुवद महतरे अंजुमन, कफन बेहतर ऊराजे फर्माने जन।

(तेरे 'सौदाबा' के प्रणय और तेरी कुप्रवृत्ति ने 'कयानी' राजकुमार 'सयाऊस' को खोया। जो एक वर्ग का प्रधान हो उसे स्त्री की आज्ञाकारिता की अपेक्षा कफन को वरीयता देनी चाहिए।) यह कहकर 'रुस्तम' रनिवास में घुसा। 'सौदाबा' को घसीटता बाहर लाया और शिर उड़ा दिया। 'कैकाऊस' बैठा देखा किया।

'ब खंजर बदोनीम कर्दश बराह, न जुंबीद बरतख्त काऊसशाह।

'शाहनामा' विस्तृत काव्य है। अनेक पात्रों का चित्रण इसमें है। 'फिर्दौसी' ने अपने पात्रों के साथ सर्वत्र न्याय बरता है। 'रुस्तम', 'कैखुसरो', 'अफरासियाब', 'जहाक', 'सोहराब' और 'सीनदुख्त' आदि विशिष्ट चरित्र हैं। इनके चित्रण में सर्वत्र संतुलन का निर्वाह हुआ है। जहाँ तहाँ रणक्षेत्र की कठोरता और एकस्वरता को मध्यम करने के लिए प्रणय चित्रण भी हुआ है। तथापि उसमें भी समरोचित गौरव को हाथ से जाने नहीं दिया। 'सोहराब' 'माह आफरीद' पर आसक्त होता है और इस पर 'होमान' उससे कहता है—

फरेबे परीपैकारने जवाँ, न खाहद कसे कू बुवद पहलवाँ।
तु ई मर्द मैदान ईं सरवराँ, चे कार्त ब इश्के परी पैकराँ।

(सुंदरी युवतियों की माया किसी व्यक्ति को न लगनी चाहिए और उसे तो और भी नहीं जो पहलवान हो। इन सर्दारों में तू ही रणधीर है। तुमको सुंदरियों के प्रणय से क्या काम ?)

किसी सफल कवि की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उसकी कथनी उत्तरवर्ती समाज की करनी बन जाय। उसका वर्णन ऐसा सामान्य और याथातथ्य समन्वित हो जिसे जन-साधारण अपने ऊपर घटित कर सके। उसके द्वारा अपने विचारों को व्यंजना से संक्षेप में प्रकट कर सकें। ऐसे ही कथन जिह्वाग्रस्थ होकर लोकवाणी का रूप ले लेते हैं और 'लोकोक्ति' कहलाते हैं। इस कला में वही कवि क्षम होते हैं जिनमें मर्मभेदिनी सूक्ष्म दृष्टि और व्यापक विचार होते हैं। हम 'शाहनामा' से ऐसे ही कुछ पद्य यहाँ उद्धृत करते हैं —

तवाना बुवद हर कि दाना बुवद। (बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।)
शुनीदम् जे दाना कि दानिश बसेस्त[1] व लेकिन परागन्दा बाहर[2] कसेस्त।
(सुनता हूँ संसार में प्रतिभा बहुत है परंतु जने जने में बिखरी है। इसमें समष्टिपरायणता और प्रजातंत्र का पुट है।)

गुलिस्तां कि हम रोज बाशदबबार, तु फर्दा बचीनीं नयायद बकार।
('समय चूकि पुनि का पछिताने।' (साँप निकल जाने पर घिसलन पीटना)

'कि सद गुफ्ता चूंनीम किर्दार नेस्त।' = सौ कथनी न एक करनी।)
चु बर गीरी अज कोहो न निहीं बजाए, सरंजाम कोहन्दरायद जेजाय।
(बूँद बूँद सों घट भरै टपकत रीतो होय।)

तवंगरे शवद हर कि खुशनूदगश्त दिले आजूं खानए दूद गश्त।
(प्रसन्नता में ही संपन्नता है, लालसामय जीवन सदा व्यग्र रहता है।)

दो दिल दारद ईं बाजगूनासिपह[3] यके पुर जे कीनो यके पुरजे मेह।
(आकाश के दो दिल हैं एक द्वेषपूर्ण दूसरा प्रेमपूर्ण। सबै दिन नाहिं बराबर जात।)

पिदर गर पिसर रा बजन्दाँ कुनन्द, अजाबेह कि दुश्मन गुलिफशाँ[4] कुनन्द।
(पिता द्वारा दिया गया कारावास बैरी की पुष्पवर्षा की अपेक्षा सुष्ठुतर है। प्रियजनों का कोप शत्रुओं के स्नेह की अपेक्षा वरणीय है। प्रिय बानी जे कहहिं जे सुनहीं, ऐसे नर निकाय जग अहही। वचन परमहित सुनत कठोरे, कहहिं जे सुनहिं ते नर न घनेरे।)

निशाने बुजुर्गी हर आँकस कि जुस्त, नखस्तीं बखूं बायदश दस्तशुस्त।
(जिस किसी ने भी गौरवास्पद होने की अभिलाषा की उसे पहले अपने खून से हाथ साफ करने पड़े।)

ब इक खाना गुजंद दह पारसा, ब मुल्के न गुंजन्द दो बादशा।
(दस साधु पुरुष एक घर में निर्वाह कर सकते हैं परंतु दो राजा एक देश में नहीं।)

चु दाना तेरा दुश्मने जान बूद, बेहज दोस्त मर्दे कि नादान बूद।
(मूर्ख मित्र से सुबुद्धि बैरी अच्छा।)

१. बसे + अस्त। २. बा + हर + कसे + अस्त।
३. आकाश (काल चक्र); क्योंकि पहिले दिन रात का होना आसमान के घूमने पर निर्भर समझा जाता था।
४. गुल + इफशां + कुनद।

बनामे[1] बुलन्दर बगलतीं बखूँ। नेहज[2] जिन्दगानी बनंगन्दरूं[3]।

(गौरवमय जीवन चाहे यातनापूर्ण ही क्यों न हो, विलासपूर्ण परंतु तिरस्कृत और विडंबित जीवन से श्रेयस्कर है।)

अगर जुज ब कामे मन आयद जवाब, मनो गुर्जो मैदानो अफरासियाब।

(यदि मेरी इच्छा के विरुद्ध उत्तर मिलता है तो मैं हूँ, रणक्षेत्र है, और अफरासियाब —वैरी है। निपट लिया जायगा। किसी दृढ़ निश्चय के संबंध में — जिसे प्राण - पण से करना हो इस पंक्ति का प्रयोग करते है।)

जहाँ आफरीं ता जहाँ आफरीद, सवारे चु रुस्तम नयायद पदीद।

(संपूर्ण सृष्टि में 'रुस्तम' बेजोड़ है। किसी भी अनुपमेय व्यक्ति के लिए प्रयोग करते है।)

अगर यार खारस्त खुद किश्त ई, व गर पर्नियाँ अस्तखुद रुस्तई।

(यदि तुम्हारा मित्र तुम्हारा लिए कांटे सा दुःखद है, तो तुमने स्वतः उसे उगाया है और यदि वह क्षौम वस्त्र सा कोमल है तो तुमने ही स्वतः उसे बुना है।)

यही बात किसी के इस कथन में गर्भित है कि 'मैं तुम्हें बता सकता हुँ कि तुम कैसे हो यदि तुम मुझे यह बता दो कि तुम्हारा मित्र कैसा है।' विनयपत्रिका में गोस्वामी जी इसी विषय को उपमाओं द्वारा स्पष्टतर शैली में कहते है। देखिए किस प्रकार वेदांत को दृष्टांत में उतारा है —

जो यह मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख नाना शोक अपारा।
शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई।
त्यागन गहन उपेक्षणीय अहि हाटक तृन की नाईं।
विटप मध्य पुतरिका सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रकटहिं अवसर पाए॥
असन बसन पसु बस्तु विविधि विधि सब मन महँ बस जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसहि मध्य मन वैसे॥
रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कँह चिदि विलास जग बूझत बूझत बूझै॥

यदि हिंदी में 'शाहनामा' का अविकल अथवा संक्षिप्त संस्करण ही प्रकाशित हो तो संभव है उससे हिंदी की श्रीवृद्धि हो और वह संस्करण संस्कृति और राष्ट्रीयता के पोषक साहित्य की पंक्ति में खड़ा हो सकने में समर्थ भी हो।

*

१. बुलन्द + अगर। २. नेह + अज। ३. नंग + अंदरूँ।

रामकथा का प्रतीकार्थ – एक नवीन दृष्टिकोण

वीरेंद्र सिंह

रामकथा का प्रतीकार्थ आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं विकासवादी – इन तीन दृष्टिकोणों के समन्वय के द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त डा० बुल्के और श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने रामकथा के कुछ पात्रों एवं स्वयं ऋग्वेदीय घटनाओं के कुछ अंशों को रामकथा से संबंधित किया है, जो मेरे विचार से रामकथा के प्रतीकात्मक अर्थ को समझने के हेतु एक दृष्टिकोण अवश्य रखता है।[1] परंतु यहाँ पर मैं जिस नवीन दृष्टिकोण को सामने रखता हूँ, वह उपर्युक्त तीन मानवीय ज्ञानक्षेत्रों के समन्वय का फल है जो रामकथा के तात्विक अर्थ को स्पष्ट करता है। अनेक विचारकों का मत है कि रामकथा को इस प्रकार प्रतीकात्मक अर्थ देने से उसकी ऐतिहासिकता पर आघात होता है और कालांतर में लोग उसे एक कल्पनामात्र रूपक मानने लगते हैं। परंतु यह प्रवृत्ति उस कथा को एक सीमित क्षेत्र के अंदर ही आबद्ध करती है और उसके व्यापक अर्थप्रसार को, उसके तात्विक अर्थ को एक प्रकार से कुंठित कर देती है। सत्य तो यह है कि ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता दोनों का न्यूनाधिक निर्वाह कवि की अंतर्दृष्टि पर अवलंबित है। यदि कोई पौराणिक कथा ऐतिहासिकता के साथ साथ तात्विक अर्थ की ओर संकेत करती है तो वह और भी अधिक व्यापक अर्थ-समष्टि को अपने अंदर समेटने में समर्थ होती है। और फिर, पौराणिक कथाओं का सौंदर्य उनके प्रतीकार्थ में ही समाहित है। किसी कथा को प्रतीकार्थ के रूप में मनन करना, उसके अर्थ को और भी विस्तार देना है न कि उसे सीमित करना। भगवान् ईसा की कथा, कृष्ण अथवा ज्योराष्ट्र की कथाएँ ऐतिहासिक होते हुए भी प्रतीकात्मक हैं, उनमें मानव-आत्मा का चिरंतन सत्य है, इसी से उनका महत्व सदा सुरक्षित रहेगा। फिर रामकथा के ही प्रतीकात्मक अर्थ पर यह उपेक्षा क्यों? रामकथा में भी मानव आत्मा का सत्य है, उसमें भी तात्विक निर्देश और जीवन के प्रति आस्था है।

पौराणिक कथाओं और सगुण भक्तिधारा में अवतार, लीला एवं रूप – इन तीनों भावनाओं का समान महत्व है। राम काव्य अथवा कृष्ण काव्य में अवतारवाद और लीलावाद का समान महत्व है क्योंकि इन्हीं के वैज्ञानिक विश्लेषण पर रामकथा की पृष्ठभूमि (प्रतीकात्मक) आश्रित है।

अवतार की भावना का आदिम रूप आदि-मानवीय जिज्ञासा एवं रहस्य-मिश्रित भय की भावना है जब मानव-मन प्राकृतिक शक्तियों को मानवीय रूप प्रदान करने लगा और

१. 'रामकथा'—डा० कामिल बुल्के (१९५०); 'मानस कीरामकथा' श्री परशुराम चतुर्वेदी (१९५३)। प्रथम पुस्तक के पृ० ४-२६ और पृ० १०३-१२० तक तथा दूसरी पुस्तक के पृ० ५५-६० तक में वैदिक साहित्य में प्राप्त रामकथा के कुछ पात्रों एवं घटनाओं का वर्णन मिलता है।

क्रमशः धार्मिक भावना के कारण यह मानवीकरण की प्रवृत्ति धर्म - ग्रंथों में दिव्य अवतारों की पृष्ठभूमि के रूप में अवतरित हुई। यही कारण है कि पुराण – साहित्य में प्रायः सभी अवतारों की धारणा में वेदों की प्राकृतिक शक्तियों का मानवीय रूप अपनी चरमावस्था में प्राप्त होता है। परंतु मानवीकरण और अवतार में एक स्पष्ट अंतर है। अवतार में तात्त्विक अर्थ के साथ किसी शक्ति विशेष का विस्तार मानवीय धरातल पर होता है, परंतु मानवीकरण में तात्त्विक अर्थ का क्षीण आभास ही प्राप्त होता है। इस दृष्टि से पुराणों में अवतारों के बहाने वेदों का रहस्य ही खोला गया है।[२] इस दृष्टि से अवतारों में दिव्य भावना का आरोप एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। अवतार मानवीय जीवन में 'दिव्य आत्मा' का प्रसार है, उसके द्वारा 'दिव्य परम चेतना' का धरती पर क्रमिक विकास ही दृष्टिगत होता है। महर्षि अरविंद ने एक परम चेतना का विकास द्रव्य से आत्मा तक माना है जिसे उन्होंने 'चेतन शक्ति' की संज्ञा दी है। यही चेतन शक्ति मानवीय चेतना के ऊपर की स्थिति उस समय हो जाती है जब वह 'अति - चेतना' की दशा में पहुँचती है।[3] अवतारों में भी चेतना का विकास निम्न दशा से क्रमशः उच्च दशा की ओर प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में अवतार का अर्थ इस धरती पर चेतन शक्ति का कमिक विस्तार है जो विकास की दृष्टि से, उच्च एवं निम्न स्तरों को एक सूत्र में बाँधता है।

विकासपरंपरा का रूप, वैज्ञानिक दर्शन के अनुसार भी चेतना एवं भौतिक संगठन का अन्योन्याश्रित विकास है। हमारे दस अवतार भी इसी मानवीय चेतना के क्रमिक विकास की ओर संकेत करते हैं। आधुनिक विकासवादी सिद्धांत मानव का उदय अनायास नहीं मानता है, पर उसका विकास एक शृंखलाबद्ध रूप में मानता है। इस विकासक्रम की एकसूत्रता भारतीय अवतार है।[४] प्रथम अवतार है मत्स्य का जो नितांत जल में रहनेवाला जीव है, इसके बाद दूसरा अवतार कूर्म का है, जो अंशतः जल में और अंशतः पृथ्वी पर रह सकने में समर्थ है। इस स्थिति में विकास का एक क़दम आगे बढ़ा प्रतीत होता है जब जल से पृथ्वी की ओर जीवन की समान पहुंच हो जाती है। वाराह अवतार तक आते आते जीवधारियों की सबसे उच्च श्रेणी—स्तनधारी जीवों का प्रादुर्भाव होता है जिसे मैमल्स की संज्ञा जीवशास्त्र में प्रदान की गई है। चौथे अवतार में नरसिंह का नाम आता है जो एक ओर नर और दूसरी ओर सिंह की मिश्रित अभिव्यक्ति है, और जो यह तथ्य प्रकट करता है कि अब भी मनुष्य में पशु का अंश वर्तमान है जिसका उन्नयन आवश्यक है। वामन अवतार में आकर यह मानवीय विकास एक स्पष्ट रूप धारण करने लगता है। मानव में जब रक्त-पिपासा की प्रवृत्ति जागृत होती है, तब वह 'परशुराम' की दशा का द्योतक है। सातवाँ अवतार 'राम' का है जो परशुराम की प्रवृत्ति का दमन करते है और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी आरोहण के सबल प्रतीक के रूप में 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। रामावतार में विष्णु एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हैं और उस क्षेत्र में एक आदर्श की अवतारणा करते हैं। परंतु विष्णु के कृष्णावतार में चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होता है जिसमें 'बुद्धि - मानस्' का

२. उपनिषद् चिंतन — श्री देवदत्त शास्त्री (१६५६), पृ० ५३ (प्रयाग)।
३. डिवाइन-लाइफ — श्री अरविंद, भाग प्रथम, पृ० १०३ – १०४ (१६४३) कलकत्ता।
४. पुराण, के० एन० अय्यर, (१६१६) मद्रास, पृ० २०१।

सुंदर विस्तार है जब कि रामावतार में मानस - तत्व का मोहक रूप चरमावस्था में प्राप्त होता है। नवाँ अवतार बुद्ध का है जो मानसिक स्तर से उच्च बिंदु पर है। यहाँ पर आकर मानव के भावों के विकास का संकेत भी प्राप्त होता है जो कल्कि अवतार में अपनी चरमाभिव्यक्ति में लक्षित होता है। ये अंतिम तीन अवतार भविष्य - विकास की ओर संकेत करते हैं जिनमें मानव के आध्यात्मिक आरोहण का रहस्य छिपा हुआ है। ये तीन अवतार क्रमिक रूप से अतिमानव (सुपरमैन) के स्वरूप का दिग्दर्शन करते हैं जिसमें चेतनशक्ति, मानसिक स्तर (मेंटलिटी) से ऊपर के स्तरों की ओर आरोहण करती है।[५] यह विवेचन स्पष्ट करता है कि मानसिक चेतना केवल एक मध्य की स्थिति है जिसके ऊपर अतिचेतना का और जिसके नीचे उपचेतना (सबकांशिएंट) के स्तर विद्यमान रहते हैं। तथ्य रूप में ये सब विकास - स्तर एक ही चेतन शक्ति के विविध रूप हैं। इस दृष्टि से भी उपर्युक्त अवतारों में प्रारंभ के चार अवतार (मत्स्य, कूर्म, वाराह और नरसिंह) चेतना - विकास के भिन्न स्तरों के प्रतीक हैं और अन्य अवतार मानव के मानसिक स्तर से क्रमिक अतिचेतन की ओर विकास - क्रम कहे जा सकते हैं।

अवतार के इस वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा विष्णु के अवतारों का एक विकासवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया जा सकता है। भक्तिकाव्य में विष्णु के दो प्रमुख अवतार, राम और कृष्ण की लीलाओं का अत्यंत महत्व है। अतः अवतार और लीला को भावनाएँ एक दूसरे की पूरक ही हैं। भक्तिकाव्य में लीलातत्व का महत्व दो दृष्टियों से है — प्रकट अथवा अप्रकट रूप में। अप्रकट लीला धरती से परे गोलोक की लीला है जिसका प्रसार धरती पर प्रकट रूप से होता है। लीला में आकर ही अक्षर रूप ब्रह्म क्षर रूप में बहुमुखी विकास प्राप्त करता है और अंत में वह मानव - चेतना के विविध अभियानों की ओर अग्रसर होता है — भौतिक और अभौतिक कार्यों के द्वारा वह मानवीय शक्ति की ओर संकेत करता है।

वैष्णव मत में लीला की भावना के साथ आनंद - तत्व का प्रमुख स्थान है। भारतीय दर्शन में ब्रह्म को रसरूप कहा गया है। उपनिषदों में यह घोषणा कि "आनंद से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है, आनंद के द्वारा ही उनकी स्थिति रहती है और अंत में, आनंद में ही सब लय हो जाता है।" सत्य में, परब्रह्म के आनंदरूप की ओर संकेत करती है। निरपेक्ष सत्य एक पूर्ण इकाई होती है जिसकी धारणा में विपरीत तथ्यों एवं व्यापारों की समरसता होती है। विकासवाद की दृष्टि से यह रसरूप ब्रह्म अकेला ही अपनी सृष्टि का विस्तार नहीं कर सकता है क्योंकि 'अकेला तत्व' चाहे जितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, अकेले सृष्टि - विस्तार अथवा लीला - प्रसार नहीं कर सकता है। जीव - विज्ञान की प्रजनन - क्रिया का मूल रहस्य यही मैथुन सत्य है जो हमें लीला की भावना में व्याप्त प्रतीत होता है। अतः एक के स्थान पर युगल - भावना का प्रसार एवं अभिव्यक्तीकरण लीला का केंद्रबिंदु है। वाक् और वाणी, नारायण और श्री, शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति आदि इसी मिथुन सत्य की तात्विक अभिव्यक्तियाँ हैं। आधुनिक वैज्ञानिक तत्ववेत्ता प्रो० आइंस्टीन ने अपने जगत प्रसिद्ध सापेक्षवादी सिद्धांत में भी इसी तथ्य की ओर संकेत

५. डिवाइन लाइफ, भाग १, पृ० ६०१ (कलकत्ता)।

किया है। उसका मत है कि पदार्थ और इनर्जी मूलतः एक ही तत्व के दो रूप हैं जिनसे सृष्टि के विकास की परंपरा चलती है। यह एक तत्व का दो तत्वों में विभक्त होना बृहदारण्यकोपनिषद् के कथनानुसार 'पति - पत्नी के' युगल रूप का प्रतीक है।[६] यह आनंदमय रमणशील अस्तित्व - तत्व का मूल विकास परब्रह्म की लीला का स्रोत है और श्री, राधा, सीता आदि उसी की प्रेरणा शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार होता है। तुलसी ने भी इसी सत्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है —

वाम भाग शोभित अनुकूला।
आदि शक्ति छबिनिधि जगमूला ॥[७]

इसके साथ ही परम - सत्य अपने अन्य अंशों सहित अवतरित होता है लीला में भाग लेने के हेतु —

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।
लेहउँ दिनकर बंस उदारा ॥[८]

अतः लीला और अवतार के इस वैज्ञानिक विवेचन के प्रकाश में रामकथा के प्रतीकार्थ पर विचार अपेक्षित है। जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि अवतार मानव - विकास के क्रमिक सोपान हैं जिसमें चेतना उच्च से उच्चतर अभियानों की ओर प्रयत्नशील रहती है। राम उसी चेतना के एक उच्चतर स्तंभ हैं जिनके द्वारा मानव हृदय के अंधकार और मोह का उन्नयन होता है। स्वयं तुलसी ने रामचरित में इस भावना का समन्वय किया है। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जो इस बात को स्पष्ट करता है कि विकास की दृष्टि से, राम पुरुषों में उत्तम हैं जो मानवीय चेतना के भावी विकास की ओर संकेत करते हैं। मैथुन सत्य की ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है। परमतत्व नारायण या हरि प्रारंभ में एक यौन से युक्त थे, पर पृथ्वी पर अत्याचार एवं देवगणों के रक्षार्थ उन्होंने अंशों सहित अवतार लिया। इस एक यौन (होमोसेक्सुअल) की परिधि से हटकर उन्हें द्वै- यौन की स्थिति (बाइसेक्सुअल) में आना पड़ा। तथ्य में, यह एक प्राकृतिक घटना है और इस विभाजन के उदाहरण हमें जीवविज्ञान में भी अत्यधिक प्राप्त होते हैं। अमीबा एक ही कोष (सेल) का प्राणी होता है पर समय पड़ने पर वह अपने कोश को दो में विभक्त कर लेता है। अतः नारायण को श्री या लक्ष्मी में विभक्त होना पड़ा। विष्णुपुराण में इसी मिथुन सत्य को वाक् और अर्थ की संज्ञा दी गई है। तुलसी ने रामावतार में इसी सिद्धांत को तात्विक रूप देने का सफल प्रयत्न किया है। इसी से उन्होंने सीता को रामवल्लभा की संज्ञा दी है —

'सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभां।'[९]

इसे ही 'अगुन अरूप' से 'सगुन और सरूप' में व्यक्त होना कहा गया है —

६. हिंदुस्तानी पत्रिका (त्रैमासिक), रामोपासकों का रसिक संप्रदाय — श्री परशुराम जी चतुर्वेदी पृ० ६, भाग १६, अंक ३ (जुलाई - सितंबर)।
७. रामचरितमानस, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० १५८ (बालकांड)।
८. वही, पृ० १८१, (बालकांड)।
९. वही, पृ० २१ (बालकांड)।

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥[१०]

यहाँ पर जो मैंने जीवविज्ञान का सहारा लिया है, वह उसके तात्विक अर्थ को और भी व्यापक रूप दे देता है न कि उसे सीमित अथवा निम्न अर्थ की ओर ले जाता है।

रामकथा को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विकास-दशा में समस्त पदार्थों का द्विविध रूप हो जाता है। रामावतार में धरती केवल एक भौतिक तत्व ही नहीं रह जाती है, वरन् उसपर एक देवादेव या मनश्चेतना का प्रसार होने लगता है। राम और सीता के समस्त कार्यकलाप इसी मनश्चेतना के पूरक अंग हैं। जिस समय राम का अवतार हुआ था उस समय उत्तराखंड में आर्यजाति निवास करती थी जो सत्व-तत्व की प्रतीक थी और लंका उस समय असुरों का निवासस्थल था, जो तामसिक तत्व के प्रतीक थे। मानसिक चेतना के धरातल पर ये दोनों देश — भारत और लंका — मन के दो पक्षों, सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों के, प्रतीक हैं। यह देवों और असुरों का अंतर्द्वंद्व ही मानस की रामकथा का रूप मुखर करता है। 'रामचरित मानस' नाम भी इसी ओर संकेत करता है। मानस का प्रतीकात्मक अर्थ यही है कि उसका रहस्य मानसिक चेतना में ही समाहित है और उसमें रमनेवाला व्यक्ति अपने मन में ही उसका (चेतना) का प्रतिबिंब देखता है। तुलसीदास ने इसीसे कहा —

अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥[११]

बिना इस 'मानस तत्व' के अवगाहन किए रामायण का अर्थ अस्पष्ट ही रहेगा। इसी रहस्योद्घाटन पर सभी पौराणिक आख्यानों का महत्व निहित है। इस प्रकार पौराणिक उपाख्यान रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट भाषा है; यही सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है।[१२]

अतः राम का व्यक्तित्व 'चेतनयुक्त आत्मा' का प्रतीक है। वे सात्विक गुण से युक्त हैं। इसी से जो भी उनके अंश हैं, वे न्यूनाधिक सात्विक या शुभ प्रवृत्तियों के सूचक हैं। इस दृष्टि से अयोध्या से संबंधित जितने भी पात्र हैं, वे अधिकतर सात्विक मन के विविध रूप प्रतीत होते हैं। दशरथ शब्द 'दश' और 'रथ' से बना है अर्थात् जिसके दस अंग या रथ हों। ये अंग प्रत्यक्ष रूप से दस इंद्रियाँ हैं जो भौतिक प्रकृति की प्रतीक हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दशरथ निम्न चेतना अथवा भौतिक प्रकृति के शासक हैं जिनके आत्मा रूप में राम तथा अन्य पुत्रों का जन्म हुआ। परंतु राम का जन्म कौशलम् या सौभाग्य (प्रोसपेरेटी) अर्थात् कौशल्या से हुआ। किसी भी व्यक्ति में आत्मचेतना का जन्म अत्यंत सौभाग्य से ही होता है। अतएव शरीर, आत्मा और सौभाग्य (यथा दशरथ, राम और कौशल्या) का मानव-जीवन में अन्योन्य संबंध है। जब आत्मचेतना या 'प्राण' ही भौतिक शरीर को त्याग दे तब शरीर मृत्यु का भागी हो जाता है। इस तथ्य का सुंदर अभिव्यक्तीकरण राम का

१०. वही, पृ० १३३ (बालकांड)।
११. मानस, पृ० ७१ (बालकांड)।
१२. कामायनी-सौंदर्य — फतेह सिंह, पृ० ४०१ (राजस्थान सं० २०१०)।

वनवास और तथाकथित राम के विरह में दशरथ की मृत्यु है। अतः शरीर की चेतना के लिये आत्मा प्राण के समान प्रिय है, इसी तत्व की प्रतिध्वनि इस कथन में साकार हो उठती है – 'नृपति प्रान प्रिय तुम रघुबीरा'।[१३] परंतु दूसरी ओर सौभाग्य अपने प्रारब्ध पर भरोसा किये हुए चौदह वर्ष तक राम की प्रतीक्षा करता है।

दशरथ की अन्य दो रानियाँ थीं, कैकेयी और सुमित्रा। सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो कैकेयी का 'कय्' शब्द निम्न चेतना का वाचक है जिससे मन का (भरत का) जन्म होता है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान की दृष्टि से 'मन' (चक्र) चेतना का वह स्तर है जहाँ पर चेतन शक्ति आत्मचेतना की ओर अग्रसर होती है। भरत का चरित्र इसी आत्मचेतना (राम) की ओर उन्मुख है जिसका विवेचन यथास्थान होगा। इसी प्रकार सुमित्रा का अर्थ 'सबका सुमित्र' होना है जिनसे लक्ष्मण, जो शेषावतार माने जाते हैं, का जन्म होता है। शत्रुघ्न 'शंख' के प्रतीक हैं जो आकाश तत्व का प्रतीक माना जाता है। इस तालिका में चक्र, शेष (सर्प) और शंख को क्रमशः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का रूप कहा गया है। इस तात्विक अर्थ को हृदयंगम करने के लिए नारायण की धारणा का विश्लेषण आवश्यक है। नारायण में त्रिमूर्ति की कल्पना चक्र, सर्प और शंख की संमिलित अभिव्यक्ति के द्वारा की गई है। इनमें से सर्प समय का प्रतीक है जो या तो अव्यक्त है अथवा व्यक्त। प्रत्यक्षतः, लक्ष्मण शेषावतार होने से समय के प्रतीक हैं। चक्र नारायण या विष्णु के उस कार्य का प्रतीक है जो उन शक्तियों का नाश करता है जो मानसिक चेतना के विकास में बाधक स्वरूप आ उपस्थित होती हैं। दूसरे शब्दों में चक्र चित्त या मन की विकासशीलता का प्रतीक है जो रामकथा में भरत के द्वारा व्यक्त हुआ है। शंख से नाद या ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है जो आकाश तत्व (महाभूत) का प्रतीक है, अतः महाभूत आकाश - तत्व ही शत्रुघ्न का प्रतीक हैं।[१४] अतः नारायण जब अपना विस्तार करते हैं तब उनकी ये तीन शक्तियाँ सृष्टि विकास में सहायता देती हैं। समय, आकाश और चेतना (टाइम, स्पेस एंड कांशस्नेस) की परिधि में ही समस्त प्राणिजगत् का, सृष्टि का विकास संभव होता है। आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन भी यही सिद्ध करता है कि समय और आकाश का महत्व सापेक्षता में है। इसी सापेक्षता की अभिव्यक्ति लक्ष्मण और शत्रुघ्न हैं – और उनकी निरपेक्षता स्वयं नारायणरूप परमतत्व ही है। मन (भरत) इन दोनों के मध्य में आकर, एक प्रकार से, मध्यस्थ का कार्य करता है जो इन दोनों तत्वों को समानांतर कार्य करने की ओर बाध्य करता है। परंतु यह आकाश - तत्व जो शब्द का प्रतीक है, भौतिक पदार्थ को भी जन्म देता है, अतः शत्रुघ्न को पदार्थ का वाचक शब्द मानना अधिक उपयुक्त होगा।

राम की शक्ति सीता है जो 'श्री' की अवतार है। सीता को पृथ्वी की पुत्री भी कहा गया है। इन दोनों तत्वों का समाहार रामकथा की सीता में प्राप्त होता है। यदि तात्विक दृष्टि

१३. मानस, अयोध्याकांड, पृ० ३८७।

१४. छांदोग्योपनिषद्, नवम खंड पृ० ११७ में कहा गया है कि "ये समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही लय को प्राप्त होते हैं और इनका आश्रय भी आकाश है।" उप० भाष्य (खंड ३)।

से देखा जाय तो सीता आत्मा की एक चेतन-किरण है जो स्वयं आत्मा से उद्भूत है। सीता के 'सि' शब्द का अर्थ रेखाओं का या झुर्रियों का बनना है। जब आत्मा की प्रकाश-किरण (सीता) आकाश या पृथ्वी की रेखाओं से उत्पन्न हुई, तब उसका (किरण) पर्यवसान अग्नि के द्वारा ही होता है और अंत में वह फिर शुद्ध रूप में आविर्भूत होती है। यदि हम यहाँ पर रामायण की कथा से तुलना करें तो सीता का पृथ्वी से उत्पन्न होना, अग्नि में प्रवेश करना और फिर अपने पवित्र रूप में निखर आना – इन सबका एक आध्यात्मिक समाधान प्राप्त हो जाता है। सत्य में, यह अग्नि का रूप स्वयं आत्मा से उद्भूत शुद्धात्मक शक्ति है जिसके द्वारा सीता का पवित्र रूप पुनः प्रकट होता है। सीताहरण के प्रथम, राम ने सीता से कहा था कि अब मैं अपनी लीला का विस्तार करूँगा, अतः तुम कृत्रिम सीता का रूप धारण करो जिससे तुम्हारा शुद्ध रूप अव्यक्त हो जाय। अग्निप्रवेश का प्रसंग यह तथ्य प्रकट करता है कि यह कृत्रिम रूप अग्नि की 'पवित्र शक्ति' के द्वारा (जो आत्मा की शक्ति है) क्रमशः अपने पवित्र स्वरूप के सहित प्रकट होता है यही कारण है कि आत्मकिरण 'सीता' अग्नि की शिखा को देखकर कह उठती है —

> पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहि भय कछु तेही॥
> जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
> तौ कृसानु सबकै गति जाना। मोकहुँ होउ श्रीखंड समाना॥[१५]

क्या ये वचन आत्मा के प्रति एकनिष्ठता के द्योतक नहीं हैं?

अब प्रश्न उठता है कि रावण सीता को लंका क्यों ले गया? जैसा कि प्रथमतः संकेत किया जा चुका है कि लंका अधोमन का प्रतीक है जहाँ मन की तामसिक वृत्तियाँ ही प्रमुख हैं। सीताहरण का रहस्य यही है कि आत्मा की चेतनकिरण का विस्तार अत्यंत व्यापक है, वह मन के प्रत्येक क्षेत्र एवं स्तर को आलोकित करना चाहती है। इसी तथ्य को श्री अरविंद ने उर्ध्व मन का निम्न मन के क्षेत्र में अवरोहण कहा है।[१६] परंतु आत्मकिरण के विस्तार में तामसिक वृत्तियाँ बाधा उत्पन्न करती हैं। सीता का तमसावृत्त निम्न मानसिक स्तर 'लंका' में जाने का अर्थ यही है कि आत्मचेतना की किरण उस क्षेत्र को भी प्रकाशित करना चाहती है और साथ ही उसका उन्नयन भी। इस कार्य में वह सफल भी होती है। उसी के और आत्मा के प्रभाव के कारण तामसिक वृत्तियों के प्रतीक विभीषण, मंदोदरी, त्रिजटा आदि सात्विक गुणों से ओतप्रोत दिखाए गए हैं। प्रत्यक्ष रूप से यह ऊर्ध्व मन का अधोमन के उन्नयन का प्रयत्न है अथवा दूसरे शब्दों में, देवों की असुरों पर विजय है। यह दिव्य एवं आसुर भावों का संघर्ष सदा मानसिक क्षेत्र में चला करता है। तत्वतः पौराणिक गाथाएँ इसी संघर्ष को व्यक्त माध्यमों द्वारा स्पष्ट करते हैं।[१७] रामकथा में भी यही संघर्ष अत्यंत कठिन कथा के द्वारा व्यक्त हुआ है।

१५. रामचरितमानस, लंकाकांड, पृ० ८४१।
१६. लाइफ डिवाइन — श्री अरविंद, भाग ३ पृ० ५०१ (मद्रास)।
१७. उपनिषद् चिंतन-देवदत्त शास्त्री, पृ० ७७ (प्रयाग)।

रामायण की कथा में भरत की भक्ति एवं प्रेम को एक उजवलतम रूप दिया गया है। भरत का चरित्र जहाँ भक्ति एवं श्रद्धा का परम प्रतीक है, वहाँ वह तात्त्विक अर्थ में भी अत्यंत व्यापक है। भरत, जैसा संकेत किया गया कि 'मन' का प्रतीक है और राम आत्मा के। राम का बनवास और भरत का 'नंदिग्राम' में रहकर शासनकार्य चलाना एक तात्त्विक अर्थ की व्यंजना करता है। 'मन' और 'आत्मा' जो स्थूल एवं सूक्ष्म आंतरिक जगत के प्रतीक हैं, वे एक साथ एक स्थान पर राज्य नहीं कर सकते। आध्यात्मिक मनोविज्ञान के अनुसार मन और आत्मा मानव जीवन के दो आवश्यक अंग हैं, एक (मन) से वह विचार एवं भाव के जगत् का सृजन करता है, तो दूसरे (आत्मा) से वह अनुभूति एवं अंतर्दृष्टि के द्वारा 'सूक्ष्म-सत्य' का साक्षात्कार करता है। इसे ही अरविंद ने बाह्य आत्मा और आंतरिक आत्मा की संज्ञा दी है। महर्षि के शब्दों में "द प्रिंसिपुल आव ब्लिस इन अस इज सोल......इट इज ह्वेन सम रेफ्लैक्शन आव दिस लार्जर प्योरर साइकिक एन्टिटी कम्स टु द सर्फेस दैट वी से आव ए मैन ही हैज ए सोल एंड ह्वेन इट इज ऐब्सेंट, देन, ही हैज नो सोल।"[१८] अतः आत्मा का क्षेत्र अनुभूतिजन्य आनंद का है और मन का क्षेत्र ज्ञानमय सुख का। न्याय और वैशेषिक दर्शन में मन को दुःख-सुखादि का अनुभव करनेवाला कहा गया है और उसे प्रत्येक आत्मा में नियत होने के कारण अनंत परमाणु-स्वरूप कहा गया है।[१९] अतएव, मानव के हेतु मन और आत्मा अन्योन्यपूरक है।

इस दृष्टि से, मन और आत्मा एक ही स्थान पर शासन न कर सकने के कारण, राम को चौदह वर्ष का बनवास हुआ। इस बनवास के समय लक्ष्मण, जो ईश्वर के समय के रूप में एक नियम है, सदा साथ रहते हैं। तत्त्वतः चौदह वर्ष की अवधि चौदह मन्वंतर हैं जिनमें आत्मा को भौतिक पदार्थों के मध्य में आत्म-ज्योति का प्रसार करना होता है। राम का अवतार इसी ज्योति-प्रसारण के हेतु हुआ था जिससे अंधकार का नाश हो और 'धर्म' की स्थापना। यही तथ्य तुलसी के इस कथन से व्यक्त हुआ है —

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥[२०]

परंतु मन और आत्मा एक दूसरे के पूरक हैं। मानव मानसिक विकास के द्वारा ही आत्मिक ज्योति की अनुभूति प्राप्त करता है। इसीलिए रामकथा में मन (भरत) को सदैव राम (आत्मा) का एकाग्र प्रेमी एवं भक्त ही चित्रित किया गया है। इसी से भरत का चरित्र आत्मा के प्रति एकनिष्ठ होने के कारण, इतना उज्वल है कि तुलसीदास ने उन्हें एक आदर्श भक्त का प्रतीक ही बनाया —

जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुरि धरनि धरत को॥[२१]

१८. लाइफ डिवाइन — श्री अरविंद, भाग १, पृ० २६५ – २६६ (मद्रास)।
१९. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन—डा० द्वारकाप्रसाद पृ० ३४६ (आगरा १९५८)।
२०. रामचरितमानस, बालकांड, पृ० १३८ (गोरखपुर)।
२१. वही, अयोध्याकांड, पृ० ५१८।

भरत का यह आदर्श चरित्र प्रतीक की श्रेणी में आता है और आत्मा (राम) के न रहने पर, वह आत्मा की 'प्रेरणा' (पादुकाओं) से ही राज्यकार्य का संचालन करते हैं। परंतु मन के साथ शत्रुघ्न का सदैव साथ दिखाया गया है और दोनों – भरत और शत्रुघ्न — अयोध्या में ही रह जाते हैं। जैसा कि पीछे स्पष्ट हो चुका है कि शत्रुघ्न 'पदार्थ' का प्रतीक हैं, अतः मन और भौतिक 'पदार्थ' का एक साथ रहना यह सिद्ध करता है कि मन और पदार्थ (माइंड एंड मैटर) का अन्योन्य संबंध है। मनोविज्ञान के अनुसार भी मानसिक भावों एवं विचारों का उद्गम भौतिक जगत के पदार्थों के बिंबग्रहण से होता है। पदार्थ और मन का यह चिरंतन सत्य रामकथा के इस प्रसंग में साकार हो उठा है। परंतु राज्यकार्य का भार शत्रुघ्न पर नहीं सौंपा जाता है वरन् आत्मा ने राज-संचालन का कार्य भरत को ही सौंपा है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में, मन पदार्थ (शत्रुघ्न) की सहायता से ही अपना कार्य संपन्न कर सकता है। यह तथ्य, सत्य रूप में रामकथा के इस प्रसंग को एक सुंदर आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अर्थ प्रदान कर देता है। अब प्रश्न है कि भरत नंदिग्राम में रहकर राज्यकार्य क्यों करते हैं? क्यों अयोध्या से नहीं करते हैं? इसका समाधान यह है। अयोध्या में 'योद्धा' शब्द का अर्थ है विजयी होना अर्थात् अयोध्या का लाक्षणिक अर्थ यह ध्वनित होता है कि जो मन (भरत) के द्वारा विजित न किया जा सके और जिसका शासनकार्य केवल निरपेक्ष ईश्वर या आत्मा (राम) के द्वारा ही हो सकता है। यही कारण है कि भरत अयोध्या से शासन न कर नंदिग्राम से करते हैं। परंतु 'नंदी' का अर्थ 'प्रणव' हैं जो शब्दब्रह्म का स्थान ही है जहाँ से भरत राज्य करते हैं। अतः नंदिग्राम जो ब्रह्म रूप राम का ही दूसरा स्थान है पर स्वयं शब्दब्रह्म नहीं है, ऐसे स्थान से भरत अयोध्या का राज्यकार्य संचालित करते हैं। अस्तु, जो व्यक्ति ऐसे स्थान पर रहकर शासन करेगा, वह 'राजमद' से सर्वथा मुक्त होगा, वह लिप्त रहकर भी निर्लिप्त रहेगा। भरत का पावन चरित्र इसी प्रकार का है जब कि स्वयं तुलसी ने भरत के प्रति ये शब्द कहे–

> भरतहि होइ न राजमदु विधि हरिहर पद पाइ।
> कबहुँ कि काँची सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ ॥[२२]

यही कारण है कि भरत का चरित्र भक्ति का परमादर्श है। उनका मन तो आत्मा में लगा हुआ है और वह राजपद भी उसी आत्मा की विभूति मानते हैं। दूसरे शब्दों में, भरत की राम के प्रति यह आस्था एवं भक्ति सूक्ष्म रूप से, मन की आत्मा के प्रति अटल उन्मुखता है। मानसिक चेतना का विकास उस समय तक एकांगी ही रहेगा जब तक वह अन्य उच्च अभिधानों की ओर मानव को न ले जा सके। श्री अरविंद ने इसे ही आत्मा की ओर 'आरोहण' कहा है।[२३]

रामकथा में भरत को जहाँ भक्ति का आदर्श रूप चित्रित किया गया है वहाँ उन्हें मननशील एवं संयमी भी कहा गया है। विकास की दृष्टि से मानसिक चेतना उसी समय ऊर्ध्वमन (सुपरमाइंड) को स्पर्श कर सकती है (यहाँ पर आत्मा है) जब वह एकाग्र ध्येय की तन्मयता में लिप्त हो जिससे कि वह अधोमन के स्तर को छोड़तर ऊर्ध्वमन के स्वर्ण प्रकाश का

२२. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ५१७ (गोरखपुर)।
२३. लाइफ डिवाइन – महर्षि अरविंद, भाग २, पृ० ५०२ – ५०३ (१९४४ कलकत्ता)।

आभास प्राप्त कर सके।[२४] भारतीय दर्शन में 'मन' की एक मुख्य क्रिया मननशीलता है। यास्क ने 'मनु' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका अर्थ मनन करना कहा है।[२५] भरत के चरित्र में ये दोनों तत्व तुलसी ने समाहित किए हैं। इस मननशीलता की आधारशिला पर ही 'मन' नीर-क्षीर-विवेक को विकसित करता है जिस तक पहुँचने के लिए आत्मा या ऊर्ध्वमन जैसे ध्येय का होना अपेक्षित है। तुलसी के शब्दों में—

> भरत हंस रविबंस तडागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
> गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥
> कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥[२६]

राम से संबंधित प्रमुख पात्रों में बानरवर्ग है जो रामकथा की घटनाओं को गति प्रदान करता है। इन सभी पात्रों की प्रवृत्तियाँ शुद्ध सात्विक नहीं हैं वरन् उनमें कभी कभी राजसिक अथवा तामसिक वृतियों के भी दर्शन होते हैं। परोक्ष रूप से इनकी इसी निम्न चेतना को उच्च स्तर तक ले जाने के लिए अथवा उनका उन्नयन करने के हेतु ही आत्मा को और उनके अन्य सहयोगियों की बानरों से भेंट होती हैं। इसी मानसिक विकास की उच्च दशा में पहुँचकर हनूमान, अंगद, सुग्रीव आदि सद्वृत्तियों से युक्त दिखाए गए हैं। विकास की दृष्टि से यह बानर-वर्ग आदि मानव की वह शाखा थी जो मानवीय धरातल की ओर क्रमशः अग्रसर हो रही थी और इस अभियान में उन्हें अधिक विकसित आर्यजाति के सत्व-गुणों का भी सहारा मिला था।

रामकथा में इन बानरोंका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके साथ साथ उनका अपना प्रतीकार्थ है। सुग्रीव का लाक्षणिक अर्थ ज्ञान अथवा बुद्धि है। इसी प्रकार बाली का शब्दार्थ काम या काम से उद्भूत इच्छाएँ है। अतः 'ज्ञान' एवं 'काम' का द्वंद्व सदैव का सत्य रहा है। राम का अवतार धर्म-स्थापन के लिए हुआ था। आत्मा का पवित्र प्रकाश उसी समय विस्तार प्राप्त कर सकता है जब 'वह' ज्ञान की निर्मल धारा को अबाध गति से प्रवाहित होने का मार्ग प्रशस्त करे। यही कारण है कि आत्मारूपी 'राम' को बाली जैसे कामुक व्यक्ति को मारना पड़ा और इस प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर ज्ञान के प्रकाश को अक्षुण्ण बनाए रखना पड़ा। इस दृष्टि से बाली की मृत्यु राम के चरित्र पर कलंक नहीं है, पर वह उनका एक प्रमुख कर्तव्य था जिसके हेतु उनका अवतार हुआ था। कुछ इसी प्रकार की स्थिति उस समय भी उत्पन्न हुई थी जब शिव की तपस्या को भंग करने के हेतु 'काम' ने प्रयत्न किया था और फलस्वरूप उसे शिव के तीसरे नेत्र से जलकर भस्म होना पड़ा था। शिव के तीन नेत्र आग्नेय शक्ति के प्रतीक हैं जो क्रमशः पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक में व्याप्त हैं। यही अग्नि-शक्ति कामदेव की मृत्यु का कारण हुई।[२७] इस कथा का सविस्तर वर्णन तुलसी ने भी किया है।[२८]

२४. लाइफ डिवाइन — श्री अरविंद, भाग २ पृ० ५०२ (कलकत्ता)।
२५. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, — डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० २४८ (आगरा)।
२६. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृ० ५१८ (गोरखपुर)।
२७. उपनिषद् चिंतन — श्री देवदत्त शास्त्री, पृ० ६२ (प्रयाग)।
२८. रामचरितमानस, बालकांड, पृ० १०५ – १०६ (गोरखपुर)।

वानरवर्ग में राम के प्रमुख सेवक हनुमान का नाम आता है। पवनपुत्र (हनुमान का दूसरा नाम) नाम ही यह सिद्ध करता है कि हनुमान पवन अथवा वायु के प्रतीक हैं जो विश्व में व्याप्त है, उसी का रूपांतर प्राणवायु (श्वास) के रूप में शरीर में भी समाहित है। योगप्रणाली में इसी 'प्राणवायु' को अधिकार में करने की बात कही गई है। अतः प्राण-वायु या श्वास आत्म-चेतना के लिए एक आवश्यक अंग है और यही कारण हैं कि रामकथा में पवनपुत्र का स्थान एक प्रकार से मध्यस्थ का है। वह एक ऐसे चेतन प्राणवायु का प्रतीक है जो भरत (मन) को राम (आत्मा) की सूचना देता है, आत्मा को आत्म-किरण (सीता) का समाचार देता है, अधामन (लंका) को उर्ध्वमन (भारत) से अनुस्यूत करता है और यहाँ तक कि समय (लक्ष्मण) की रुकती हुई गति को पुनः चेतनयुक्त करता है (संजीवनी लाकर)। इसी से, 'वह' रामकथा के विभिन्न पात्रों के मध्य एकसूत्रता का विधान करता है। हनुमान की यह प्रतीकात्मक व्यापकता सिद्ध करती है कि 'प्राण' की पहुँच मन एवं विश्व में अत्यंत व्यापक हैं, वह एक ऐसी शक्ति है जो गहन से गहन मन की परतों को भेद कर आत्मा के प्रकाश को चिरंतन बनाए रखती है।

राम अथवा बानरों की संमिलित सेना लंका की ओर प्रयाण करती है और उसके सामने महोदधि को पार करने की समस्या आती है। तब सेतुबंध के द्वारा समुद्र को पार किया जाता है। यह सेतु किस रहस्य की ओर संकेत करता है? जैसा कि संकेत किया गया कि भारत और लंका क्रमशः उच्च तथा अधोमन के प्रतीक हैं, मानसिक जगत के इन दो स्तरों का एक सूत्र में संबंध होना मानसिक जगत के लिए परमावश्यक है। यही कार्य यहाँ पर सेतु करता है जो मानसिक क्षेत्र के दो स्तरों को मिलाता है। इस प्रकार इस ऐतिहासिक घटना को एक प्रतीक का रूप प्राप्त हो जाता है जो मेरे इस कथन की पुष्टि करता है कि रामकथा में ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता का समान निर्वाह हुआ है।

मानसिक जगत के सात्विक एवं तामसिक गुणों का यह विवेचन तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक उसके तामसिक पक्ष की ओर दृष्टिपात न किया जाय। मानसिक संगठन में इन तीनों गुणों एवं प्रवृत्तियों का स्थान है और जिस मनुष्य में जो मनोवृत्ति या गुण प्रधान हो जाता है, वह उसी के अनुरूप अपने व्यक्तित्व का विकास करने लगता है। लंका से संबंधित करीब करीब सभी पात्र (कुछ को छोड़कर) तामसिक मनोवृत्तियों एवं गुणों के प्रतीक हैं। इनकी अधिकता होने से एक ज्ञानी पुरुष भी (रावण प्रकांड पंडित था, ऐसी मान्यता है) अहंकारी एवं तामसिक मनोवृत्तियों की प्रचुरता के कारण किसी अज्ञानी की तरह आचरण करने लगता है। रामकथा में रावण का चरित्र इसी प्रकार का है। मानवीय विकास की दृष्टि से रावण राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के मध्य में दर्शित होता है। इन अज्ञानी एवं तामसिक तत्वों की अभिव्यक्ति 'दसग्रीव' के अर्थ में समाहित है जो रावण का एक अन्य नाम है। यहाँ पर दस इंद्रियाँ एवं उनके गुण मस्तिष्क में ही केंद्रित है और इसी से, रावण सदैव ही इन्हीं भौतिक इंद्रियों की तृप्ति के बारे में ही सोचा करता है, जब कि दशरथ उनके उन्नयन के प्रति अधिक सचेत रहते हैं। इसी कारण, रावण में अहंकार की चरम परिणति प्राप्त होती है जो स्थान स्थान पर लंकाकांड में मंदोदरी एवं रावण के वार्तालाप के प्रसंग में दृष्टिगत होती है—

सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे ॥[२९]

यह 'अहं' का भाव तामसिक वृत्ति का परिचायक है जो रावण के उपर्युक्त कथन में साकार हो उठा है। तमस् के दो अंग होते हैं—अवर्ण और विक्षेप। अवर्ण 'अहं' का वह शक्तिशाली रूप है जो केंद्र से संपूर्ण परिधि को अच्छादित कर लेता है। इस अहं का विस्फोट एवं उसका विस्तार ही विक्षेप है।[३०] अहं के इन दोनों रूपों का सामाहार रावण के चरित्र में प्राप्त होता है। रावण के इस 'अहं' का विस्तार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हृदयंगम किया जा सकता है।[३१]

अतः रावण का व्यक्तित्व तामसिक वृत्तियों का अहंपूर्ण विस्तार था और इसके विपरीत कुंभकर्ण तामसिक मन का केंद्रीभूत रूप था। एक में, यदि सब कुछ पर अधिकार करने की बलवती लालसा थी, तो दूसरे में अपने अंदर ही प्रत्येक वस्तु को सुप्तावस्था में रखने की प्रबल प्रवृत्ति थी। इसी से, रावण का क्रियात्मक रूप और कुंभकर्ण का क्रियाहीन (पैसिव) व्यक्तित्व रामकथा में लक्षित होता है। इसी कारण कुंभकर्ण को निद्रामग्न ही चित्रित किया गया है। मेघनाद तामसिक वृत्ति के उस वेगवान् 'मेघ' का रूप था जिसके सामने परमात्मा का नियम – 'समय' (लक्ष्मण) भी एक बार मूर्छित हो गया था (शक्ति लगने का प्रसंग)। इससे यह सिद्ध होता है कि निम्न मन की तामसिक शक्ति का अधिक विस्तार होने पर विकास के नियम, जो समय के अंतर्गत ही संपन्न होते हैं, का व्यवधान हो जाता है। इसी प्रकार शूर्पणखा जो वासनापूर्ण 'काम' की प्रतीक है, वह अपनी तृप्ति के लिए किसी भी ओर उन्मुख हो सकती है, उसके सामने औचित्य का या अनौचित्य का कोई भी प्रश्न नहीं है। पंचवटी का अर्थ पाँच वृक्ष है जो पाँच इंद्रियों से युक्त भौतिक शरीर के अंग है। कोई भी व्यक्ति आत्मज्ञान का प्रकाश उसी समय पा सकता है जब वह भौतिक जगत से ऊपर उठकर

२९. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ० ७५४ (गोरखपुर)।

३०. पुराणज्ञ — के० एन० अय्यर, पृ० २४४ (मद्रास)।

३१. श्री पी० के चिदंबर अय्यर ने 'एनल्स आफ भंडारकार रिसर्च इन्स्टीट्यूट' वाल्यूम् १२ (१९४१) के अंक में रावण के व्यक्तित्व का सुंदर विश्लेषण नवीन मनोविज्ञान की दृष्टि से किया है। वे रावण के व्यक्तित्व को एक मानसिक विघटन का उदाहरण कहते है। "उसका यह रूप, वातावरण तथा उसपर पड़े पूर्व संस्कारों के कारण था। सत्य में, वह एक राक्षसी नारी और देव ऋषि से उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसके व्यक्तित्व में देव एवं अदेव (राक्षसी) प्रवृत्तियों एवं भावनाओं का अद्भुत मिश्रण था। उसके दस शिर और बीस हाथ माता की गर्भावस्था के समय किसी संवेदनात्मक एवं भावात्मक असंतुलन के कारण हो गए होंगे। ऐसे उदाहरण आज भी यदा कदा देखे जा सकते हैं। इसी से रावण में हीन एवं अमर्ष के भावों का अत्यधिक विकास प्राप्त होता है। अतः वह एक स्नायुपीडित (न्यूरोटिक) व्यक्तित्व का उदाहरण हो गया। इसी कारण, अपने इस हीन व्यक्तित्व को प्रकाशित करने के लिए वह 'अहं' की शरण में गया और एक अहंपूर्ण अहंकारी व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आया।" (पृ० ४६ – ५८) यह अध्ययन ऐतिहासिक होते हुए भी मनोवैज्ञानिक है इसी से रावण के प्रतीकरूप में केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सहारा लिया गया है।

ऊर्ध्वमन की ओर अग्रसर हो। शूर्पणखा पंचवटी में इन इंद्रियों के ऊपर उठने का प्रयत्न तो करती है, परंतु अपनी वेगवती कामवासना के कारण 'आत्मा' के प्रकाश के निकट नहीं पहुँच पाती है और इसी बीच, ईश्वर का विधिरूप — समय — उसे कुरूप कर देता है। इससे यही अर्थ ग्रहण होता है कि काम वासना के उद्दाम वेग से व्यक्ति का मानसिक एवं बौद्धिक संतुलन प्रायः नष्ट हो जाता है और वह अज्ञानवश अपनी तामसिक पशु प्रवृत्तियों का खुलेआम प्रदर्शन करने लगता है और अंत में, यह प्रदर्शन इतना अमर्यादित हो जाता है कि वह अपने नाक कान का भी छेदन करा लेता है। इसी प्रकार 'मारीचि' भ्रमपूर्ण मृगतृष्णा से युक्त अज्ञान का प्रतीक है जिसका संबंध स्पष्टतः 'मृगमरीचिका' शब्द से जोड़ा जा सकता है। इसी मरीचिका के प्रभाव में केवल आत्म किरण (सीता) ही नहीं आती है स्वयं आत्माराम भी उससे अछूते नहीं रह सकते हैं। माया की शक्ति ही ऐसी है कि संसारी जीव उससे पूर्ण रूप से बच नहीं सकता है। यही सीता का मृग को देखकर आकर्षित होना था और राम (आत्मा) का सीता के इच्छानुसार उसके पीछे दौड़ना था। परंतु अंत में, आत्मा उस मायावी शक्ति को मृत्यु का ग्रास बनाकर आत्मशक्ति का ही परिचय देता है और यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव - विकास के हेतु आत्म - चेतना की क्रमिक प्रगति आवश्यक है।

अतः राम एवं रावण का यह युद्ध 'मानस' की राम कथा का प्रतीकात्मक रूप है जिसमें सात्विक (देव) और तामसिक (असुर) प्रवृत्तियों का मानसिक संघर्ष है। यह देवासुर संघर्ष, मानसिक पक्ष में एक चिरंतन सत्य है जिसमें सात्विक गुणों की ही अंत में विजय होती है। रामकथा में सात्विक क्षेत्र से संबंधित पात्रों के द्वारा ही तामसिक एवं राजसिक गुणों से युक्त पात्रों का उन्नयन दिखाया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तामसिक मन के अज्ञानांधकार को ऊर्ध्व मन के ज्ञानप्रकाश से क्रमशः आलोकित किया जा सकता है। सत्य में, रामकथा इसी ऊर्ध्वमन के ज्ञान प्रकाश की ओर संकेत करती है और अप्रत्यक्ष रूप से मानव - चेतना के भावी विकास - स्तर की ओर भी लक्ष्य करती है। इसी मानसिक संघर्ष को प्रतीकात्मक रूप देने के लिये उपनिषदों में देवासुर - संग्राम[32] और पुराणों में अनेक कथाओं की योजना प्राप्त होती है। अस्तु, रामकथा की प्रतीकात्मकता तथा उपनिषदों की कथाओं में तात्विक अर्थ का पूर्ण सादृश्य है। सबका ध्येय है—मानव के आध्यात्मिक मनोविज्ञान का विकास करना जिसके बल पर मानव अपनी भावी विकास-परंपरा को दिव्य जीवन[33] (डिवाइन लाइफ) में परिणत कर सके।

*

३२. द्रष्टव्य-बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ६, ब्राह्मण १ में और दूसरी बृह० उप० अध्याय १, ब्राह्मण ३ तथा छान्दोग्य - उपनिषद् के प्रथम प्रपाठ के द्वितीय खंड में देवासुर - संग्राम से संबंधित कथाएँ। इन्हीं कथाओं का एक विस्तृत रूप पुराणों में भी प्राप्त होता है। (शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर , सं० २०१४)।

३३. श्री अरविंद की प्रसिद्ध पुस्तक 'द लाइफ डिवाइन' से गृहीत शब्द।

पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान और शिवभूषण

राजमल बोरा

शिवाजी के दरबार में भूषण कवि, परमानंद कवि, गागा भट्ट और अनेक कवि थे। जयराम पिण्ड्ये भी उनके दरबार में थे। जयराम पिंड्ये बारह भाषाओं को जानता था और उसने 'राधामाधव विलास चम्पू' इसी ढंग का काव्य लिखा है।[1] 'पर्णाल-पर्वत-ग्रहण-ख्यान' इसीका लिखा हुआ एक खंड काव्य है। यह संस्कृत में है। इसमें पन्हाला किले के विजय की कथा है। शिवाजी ने कई किलों पर विजय प्राप्त की, उनमें पन्हाला किला भी एक है। पुस्तक का नाम इसी दृष्टि से 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान' रखा गया है। भूषण ने अपने ग्रंथ शिव भूषण में पन्हाले की विजय की चर्चा की है। उसने केवल कुछ पद ही इस संबंध में लिखे हैं किंतु जो कुछ लिखा है, उसमें अतिशयोक्ति नहीं है और इतिहास की दृष्टि से वह बिल्कुल ठीक है। शिवाजी के संबंध में 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान' लिखने वाले की जो धारणा रही है वही शिवभूषणकार की भी है। दोनों का आदर्शबिन्दु एक ही हैं। जयराम पिण्ड्ये और भूषण आपस में मिले थे या नहीं इस संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता अतः इस संबंध में कुछ कहना कठिन है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी का अनुमान है कि भूषण की रचनाओं से जयराम पिंड्ये परिचित थे।[2] जयराम पिंड्ये के अनुसार शिवाजी विष्णु के अवतार के रूप में पैदा हुए हैं।[3] भूषण ने भी शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है।[4] जयराम पिंड्ये ने मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में शिवाजी की कथा लिखी है, पर वह

१. मया द्वादशभाषाभिः कविकर्म विरच्यते ॥ २७ ॥ — पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, अध्याय १।

२. भूषण – पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (प्रथम संस्करण पृ० १०३ और १०४)।

३. श्रूयते किल हिंदूनां शास्त्रे कैश्चिदुदाहृतम्।
कल्कि विष्ण्वतारणां दशमस्संभविष्यति ॥ ६ ॥
छेत्स्यते तेन सर्वत्र व्याप्तं यावन मण्डलम्।
तस्यैव कल्किनस्तावद् सावमे समागतः ॥ ७ ॥
दूतो वै प्रतिभात्यस्मान्यतोऽस्मन्निधनोष्यत। — पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान्, अध्याय १।

४. राजत है दिनराज को, बंस अवनि अवतंस।
जामैं पुनि पुनि अवतरे, कंसमथन प्रभु अंश ॥ ४ ॥ — शिव भूषण।

× × ×

उदित होत सिवराज के मुदित भए द्विज देव।
कलियुग हट्यो मिट्यो सकल, म्लेच्छन को अहमेव ॥ १२ ॥ — शिव भूषण।

अब नहीं मिलती। इसका उल्लेख कवि ने प्रस्तुत ग्रंथ में किया है।[५] राधामाधवविलास चंपू काव्य में उसके द्वारा लिखे गए कुछ पद हिंदी में हैं। संभव है, इसके अतिरिक्त भी उसने कोई स्वतंत्र रचना हिंदी में लिखी हो, जो अब नहीं मिलती। उसकी हिंदी रचना का एक नमूना देखिए—

गायो उत्तर देस को द्वै गुनि अति अभिराम।
नाम एक को लालमनि, दूसरो है घनशाम।
बात अचंभो एक यह जंत्र सजे को ठाट।
चित्ररचना के दारि मह, चित्ररचना के दारि मह।
चित्ररचना के दारि वारन साट लिखि ल्यायो।
जंत्र सज्यो जह ठाट रागे मारुत बुरि गायो।[६]

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी का अनुमान है कि यही घनशाम भूषण का वास्तविक नाम होगा।[७]

'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान' पाँच अध्यायों में लिखा गया है, जिसमें प्रथम दो अध्याय प्रस्तावना में चले गए हैं। पन्हाले के विजय की कथा तीसरे अध्याय से शुरू होती है। यदुनाथ सरकार के अनुसार २४ नवम्बर १६७२ ई० को बीजापुर के सुलतान अली आदिल शाह का स्वर्गवास हुआ और उनकी जगह ४ वर्ष का बालक सिकंदर सुलतान हुआ। इस समय बीजापुर का वजीर खवासखाँ था। वह मुगलों से मिलकर रहना चाहता था किंतु दूसरे सरदार ऐसा नहीं चाहते थे। खवासखाँ की इस नीति को शिवाजी अच्छी तरह समझते थे। मुगल और बीजापुर दोनों आपस में मिल जायँ ऐसा अवसर शिवाजी ने आने नहीं दिया। उन्होंने पन्हाला किला लेने का निश्चय किया। प्रतापराव और आनंदराव दोनों इस समय मुगल सीमा की ओर थे। शिवाजी ने उन्हें आदेश भेजा कि शत्रु के प्रदेश को लूट लें और डटे रहें। इधर आनाजी पंडित और कोंडाजी फर्जंद इन्हें गुप्त रूप से आदिलशाही की ओर पन्हाला लेने भेजा। कोंडाजी की सहायता के लिए गणोजी मामा, मोत्याजी मामा और खलेकर को भी भेजा। आनाजी राजापुर पहले ही पहुँच गए। घोरपड, रस्सी की सीढ़ियाँ और आवश्यक सामग्री के साथ वे किले के पास पहुँच गए। इस समय तक चुने हुए व्यक्ति भी वहाँ

५. ततः श्री मच्छिवेनेयं सुरती लुंठिता पुनः।
तद्वैवमहाराष्ट्रभाषायुग्मेन वर्णितम्॥ २६॥
× × ×
तदप्यहो महाराष्ट्र हिंदुस्थानभवेन वै।
भाषायुग्मेन विहितं ततः सह्याद्रिमल्लकः॥ ३२॥— पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान अध्याय १।

६. 'राधामाधव विलास चंपू' – जयराम पिंड्ये (प्रस्तुत अंश पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी की 'भूषण' पुस्तक से लिया गया है – पृ० १०३)।

७. भूषण – पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०३ और १०४।

आ गए। अँधेरी रात होने के कारण किसी को कुछ मालूम नहीं हुआ। आनाजी पंडित स्वयं कुछ व्यक्तियों के साथ किले के पीछे की ओर छिप गया और कोंडाजी अपने कुछ साथियों के साथ दुर्गम किले पर चढ़ गया। भीतर उतरकर उन्होंने कर्णा बजाया। पहरेदारों और अधिकारी वर्ग में खलबली मच गई। बाबूखान वहाँ का अधिकारी था। कोंडाजी ने किसी को होशियार होने का अवसर नहीं दिया और घोषणा कर दी कि किला उनका हो गया है और मुख्याधिकारी मार डाला गया है। नागोजी खंजाची ने जो यह हाल देखा तो जान बचाकर भाग गया। दूसरे दिन विजयध्वनि के साथ शिवाजी वहाँ आए। यह सूचना खवासखाँ को मिली। बीजापुर के दूसरे सरदारों ने सारा दोष खवासखाँ का माना और उसकी अवमानना की कि उसीकी मूर्खता के कारण किला हाथ से निकल गया है। खवासखाँ को अपनी गलती स्वीकार करनी पड़ी। बीजापुर से बहलोलखाँ को सेनापति बनाकर शिवाजी से लड़ने भेजा गया। शिवाजी को यह सूचना पहले ही मिल गई। शत्रु लड़ने के लिए तैयार हो, इससे पहले ही शिवाजी की सेना शत्रुस्थल पर पहुँच गई और उसने अचानक हमला कर दिया। बहलोलखाँ को मुँह की खानी पड़ी। वह जान बचाकर भागा। 'पर्णाल-पर्वतग्रहणाख्यान' की कथा संक्षेप में यही है, जो इतिहास के अनुकूल है।

भूषण ने पन्हाले की विजय के संबंध में जो लिखा है उनमें से कुछ उदाहरण ये हैं—

देखत उँचाई उदरत पाग, सूधी राह,
घोसहू मैं चढ़ै ते जे साहस निकेत हैं।
सिवाजी हुकुम तेरो पाय पैदलन,
सलहेरि परनालो से ते जीते जनु खेत हैं॥
सावन भादौं की भारी कुहू की अंध्यारी चढ़ि,
दुग्ग पर जात मावलों दल सचेत हैं।
भूषन भनत ताकी बात मैं बिचारी तेरे,
परताप रवि को उज्यारो गढ़ लेत हैं॥ १०६॥

— शिवराज भूषण।

+ + +

जाय भिरौ न भिरे बचिहौ, भनि भूषन भौंसिला भूप सिवा सों।
जाय दरीन दुरौ दरिओ तजिकै दरियाव लंघौ लघुता सों॥
सीछन काज वजीरन को कहै बोल यों एदिल साहि सभा सों।
छुटि गयौ तो गयौ परनालो सलाह को राह गहौ सरजा सों॥ १७६॥

— शिवराज भूषण।

+ + +

माँगि पठाये सिवा कछु देस वजीर अजानन बोल गहे ना।
दौरि लियो सरजा परनालो यों भूषन जो दिन दोय लगे ना॥

धाक सों खाक बिजैपुर भो मुख आयगो खान खवास के फेना ।
भै भटकी करकी धरकी दरकी दिल आदिलसाही की सेना ॥ २५५ ॥
— शिवराज भूषण ।

भूषण की इन उपर्युक्त पंक्तियों को 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान' की कथा की पृष्ठभूमि में देखें। इतिहास की जानकारी के बिना भूषण की पंक्तियों का अर्थ नहीं जाना जा सकता। परनाले की किले की ऊँचाई और उस अमा के अँधियारे में मावली सेना का किले पर चढ़ जाना जयराम पिंड्ये के वर्णन से मिलता है।[८] इसी प्रकार परनाला किले के हाथ से छूट जाने पर बहलोल खाँ आदि सरदार खवास खाँ को दोष देते हैं, यह भी जयराम पिंड्ये की कथा में है।[९]

जयराम पिंड्ये ने कथा विस्तार से लिखी है, जिससे वह अपनी बात स्पष्ट रूप से कह सका है। भूषण ने शिवराज भूषण अलंकारग्रंथ लिखा है। कथा से अधिक ध्यान उसका अलंकारों पर रहा है। इतिहास का उल्लेख उसमें आनुषंगिक रूप में हो गया है। क्रम से कथा वह लिखना ही नहीं चाहता था। इस पर भी घटनाओं के जो संकेत उसमें हैं उनमें विपर्यास बहुत कम है। 'पर्यालपर्वतग्रहणाख्यान' की पूरी कथा इतिहास से मेल खाती है। व्यक्ति-स्थल का विपर्यास उसमें नहीं है। सभासद बखर की कथा से वह मेल खाती है। कथा में रंग भरने का काम कवि ने किया है जिस पर उसका अपना अधिकार है। शिवकालीन संस्कृति के चित्र इस काव्य में देखने मिल सकते हैं। संस्कृत भाषा में लिखा यह काव्य अपने आप में अनूठा है। कवि ने इसे पौराणिक बनाने का प्रयत्न किया है। भूषण के काव्य पर भी पौराणिकता की छाप है। दोनों कवियों की यह दृढ़ धारणा रही है कि शिवाजी गौ, ब्राह्मण और हिंदू जाति की रक्षा करने के लिए अवतरित हुए हैं।

८. सूचीभेद्यं तमस्तावन्मुष्टिग्राह्यतया स्थितम् ।
एक एव हि लोकेऽस्मिन्नद्वितीय तया पुनः ॥ २८ ॥
... ...
अभवन्हतगर्वास्ते सर्वत्रोच्छ्राय दर्शनात् ।
ततस्तैः साधनैर्युक्ताः कृतव्यत्यास नामकाः ॥ ३१ ॥
हस्ताहस्तिकदानादि दत्वाऽध्यारुरुहुस्तदा ।
मौनेनाधित्यकायामप्यध्यारुढा दृढ़ायुधा ॥ ३२ ॥
– पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, अध्याय ३ ।

९. ततस्ते बहलोलाख्य प्रमुखा मुख्य मंत्रिणः ।
खवासाख्यं ह विख्यातः प्रोचुराक्षेपपूर्वकम् ॥ १ ॥
तवैवा विनयेनैतदस्याहित मुपास्थितम् ।
यतः सख्यस्य भंगेऽसौ शिवराजो व्यवस्थितः ॥ २ ॥
त्वयैतत् सर्वमाक्रान्ते महता बुद्धिशालिना ।
तस्मात्सर्वमिदं राष्ट्रं दृश्यते मज्जनोन्मुखम् ॥ ३ ॥
– पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान, अध्याय ५ ।

भूषण की रचना को समझने के लिए इतिहास की जानकारी रहना आवश्यक है, इसलिए कि इतिहास उसमें बिखरा हुआ है। इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति जब उसे पढ़ेगा तो उसके लिए यह समझना मुश्किल हो जाएगा कि परनाला किला कहाँ है और उसे किस प्रकार शिवाजी ने लिया? भूषण ने न कोई प्रस्तावना दी है न पृष्ठभूमि। इतिहासकार इतिहास की दृष्टि से उसे अनुपयोगी कहते हैं तो इसी लिए। परंतु इतिहासकार यदि धीरज से काम लें और क्रम को जोड़कर पढ़ें तो बहुत सी नई बातें प्रकाश में आ सकती हैं। 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान' के प्रति यह बात नहीं कही कही जा सकती क्योंकि वह अलंकारग्रंथ नहीं, खंड काव्य है और कथा उसमें क्रम से प्रस्तावना और पृष्ठभूमि के साथ कही गई है इसलिए इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसे समझ सकता है।

*

भारतवर्ष में देवदासी

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

'देवदासी' शब्द का ध्वन्यार्थ अपने वाच्यार्थ से भिन्न हो गया है। आज वह संमानसूचक न होकर अप्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया है। कानून की दृष्टि में यद्यपि उस प्रथा का निषेध हो गया है, किंतु अभी भी वह किसी न किसी रूप में जीवित बतलाई जाती है। अब वह धार्मिक से अधिक सामाजिक प्रश्न हो रही है जिस कारण श्री कारखानिस जैसे समाज-हितैषियों के लिए वह चिंता का विषय बन चुकी है।

स्वयं 'दासी' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। इसका सामान्य प्रयोग दासीकन्या के अर्थ में होता है। 'मेदिनी कोश' में **दासी बाला भुजिष्ययोः** कहा गया है। कश्मीरनरेश जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर की रचना 'कुट्टनीमतम्' में **दासी कामुकी सर्वल्लभा** सूचित किया गया है। इस ग्रंथ में दासी विषयक एकाध अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जो इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। वैजयन्ती के अनुसार **'चेटी चिरण्टी दासी च'** बतलाया गया है। वैयाकरण पाणिनि का **दास्या कामुकः** द्वारा कदाचित् इसी ओर संकेत है। सुबंधु कृत 'वासवदत्ता' में **कामुक जनानुबध्यमान दासी** का भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। राजशेखर-प्रणीत 'कर्पूर मंजरी' में विदूषक तोते को **आ दासीए पुत्त सुत्थल्लजोगोसि** कह कर अपना रोष प्रकट करता है। 'मृच्छकटिक' का शकार भी 'वसंतसेना' के संदर्भ में **दाशीए धीए शलपलिवत्ते कड़े** द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करता है। उसी में वसंतसेना पर क्रुद्ध होकर विदूषक **ता मा दाव दासीए धी आए गणिकाए मुहंपि पेक्खिस्सं** कह कर अपनी मनोदशा का परिचय देता है। इन जैसे उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि 'दासी' शब्द का प्रयोग 'वेश्या' के अर्थ में अधिकतर किया जाता रहा है।

परंतु देवदासी का कर्मक्षेत्र वेश्यावृत्ति तक ही सीमित नहीं रहा है। उसे एक अन्य दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता था। उसे देवालयों में सेवाकार्य भी करना पड़ता था। 'नारद स्मृति' के अनुसार यद्यपि दासियों का कोई पृथक् वर्ग नहीं है, तथापि देवदासियों का है। यदि हम भारतीय 'वास्तुविद्या' की विधियों पर विचार करें तो पता चलेगा कि 'नाट्यशालाएँ' मंदिरों का एक विशिष्ट भाग हुआ करती थीं जो आधुनिक क्लबों के समान थीं। कलांतर में यह अनुभव किया जाने लगा कि देवी - देवताओं के मनोरंजनार्थ पूजा - अर्चन एवं राग - भोग के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्था होनी चाहिए। देवदासी प्रथा को किसी ऐसी ही प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। 'शिवपुराण' के अनुसार शिवमंदिरों में बहुसंख्यक वेणु-वीणा-वादन में प्रवीण पुरुषों के साथ **उत्तम स्त्री सहस्रैश्च नृत्य गेय विशारदैः** की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। स्कंद पुराण के प्रभास खंड में भी शिवमंदिर में गायन, वादन के बीच **कांचीनूपुर शब्देन सामकीर्णं दिगन्तरम्** का वर्णन आया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी देवदासी का

उल्लेख है। इस प्रकार हिंदू मंदिरों में इस प्रथा का प्रचलन संभव हुआ। इस प्रथा के प्रचलन में बाह्य प्रभाव भी संभव हो सकता है, क्योंकि यह प्रथा इसी देश की एकांत विशेषता नहीं है।

देवताओं और वारांगनाओं के संबंध का उल्लेख 'महाभारत' के वन पर्व में मिलता है। एक स्थल पर उर्वशी द्वारा अर्जुन से कहलाया गया है कि "हम तो देवताओं की वारांगनाएँ हैं, तपस्या से ही हमारा रमण संभव है।" अश्वघोष कृत 'सौन्दरानन्द काव्य' के अनुसार देवताओं के यहाँ वेश्याएँ भी रहा करती थीं जो **सदा युवत्या मदनैककार्याः** जैसे गुणों से संपन्न थीं। वैसे बौद्ध काल में मंदिरों का अधिक प्रचलन नहीं रहा है जिस कारण बौद्ध साहित्य में यह संदर्भ अति न्यून मात्रा में उपलब्ध है, जो कुछ है भी वह अपवाद - स्वरूप।

प्रश्न उठ सकता है कि देवताओं के संपर्क में रहने वाली देवदासियों का वर्गहीन होना क्यों समझा जाने लगा था। इसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं है। फिर भी यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि वर्गरूप में देवदासियाँ, वास्तव में दासकन्याएँ थीं। इसलिए उन्हें वह संमान सुलभ न हो सका जो अभिजात वर्ग की कन्याओं के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुरातन काल में दासी को भोग्य सामग्री समझने की परंपरा थी। 'महाभारत' में रुष्ट होकर विदुर ने एक स्थल पर भर्त्सना की है कि **दासी भावेन कृष्णश्च भोक्तुकामाः सुतास्तव**। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिंतामणि' के दानखंड में एक ऐसे मंत्र को उद्धृत किया है जिसका उच्चारण दासीकन्या के ब्राह्मण को भेंट किए जाते समय करना चाहिए—

इयं दासी मया तुभ्यं श्रीमती प्रतिपादिता।
सदा कर्मकरी भोग्या यथेष्टं भद्रमश्नुते॥

देवदासी का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हमें पुराणों में प्राप्त है। 'पद्म पुराण' के सृष्टि खंड में कन्यादान-महात्म्य का वर्णन एक ऐसे ही संदर्भ में किया गया है—

मुनीनां प्रेयसीं नारीं युवतीं रूपशालिनीम्।
सालंकारां सशय्याश्च दत्वानन्त फलं लभेत्॥
अनयोश्च फलं तुल्यं युवती कन्ययोरपि।
एकावराय दातव्या अपरा ब्राह्मणाय तु॥
क्रीता देवाय दातव्या धारेण क्लिष्ट कर्मणा॥
कल्पकालं भवेत् स्वर्गे नृपो वासौ महाधनी।
प्रति जन्म लभेतैष वपली घरवर्णिनीम्॥ ५२-९७-१००

'स्कंद पुराण' के अरुणाचल माहात्म्य के महेश्वर खंड में बतलाया गया है कि—

प्रतर्दनाख्यो नृपतिर्ग्रहीतुं देवकन्यकाम्।
अरुणाद्रियतेर्गानं कुर्वन्तीं सादरो भवत्॥
यया‌द् कपिमुखो जातो मन्त्रिभिश्चोदितोन्नृपः।
प्रत्यर्प्य तां पुनश्चान्याः प्रादादरुणभूभृते॥
ततश्चारुमुखो जातः प्रसादादरुणेशितुः॥ ६।५४-५६

उसी खंड में मारकंडेय ऋषि से कहलाया गया है—

मया च शम्भुमभ्यर्च्य कृताग्न्याहुतिसम्भवाः।
सप्त कन्या वरारोहाः पूजार्थं विनियोजिताः॥ ६।१।२६

इसी प्रकार राजा वज्रांगदेव के विषय में कहा गया है—

सौन्दर्यशालिनीरात्म परिवार वरांगनाः।
सेवार्थं शोपानाथस्य दत्तवान् दीर्घं दर्शनः॥ २४।१२

'भविष्य पुराण' में निर्देश है—

वेश्याकदम्बकं यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः।
स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुमान्॥ ६३।६७

'चतुर्वर्ग चिंतामणि' में हेमाद्रि ने 'कालोत्तर तंत्र' का उद्धरण दिया है—

योऽलंकृत्य स्त्रियं शम्भोरुत्तमां विनिवेदयेत्।
सोऽश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥
सुविनीतां स्त्रियं दासीं भृतकार्थं निवेदयेत्।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥ पृ० ६४१ – २

उपर्युक्त उद्धरणों से हमें कुछ निष्कर्ष निकालने का आधार मिल जाता है। 'पद्मपुराण' का रचनाकाल चौथी शताब्दी है और संभवतः इसकी रचना महाराष्ट्र में हुई थी। इस पुराण से किसी घटना का ठीक - ठीक पता नहीं चलता, किंतु यह देवदासी-प्रथा की सराहना अवश्य करता है। इसके विपरीत सातवीं शती की रचना 'स्कंदपुराण' निश्चित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है और वह उसके समर्थन में परंपराओं का उल्लेख करता है। हेमाद्रि द्वारा 'कालोत्तर तंत्र' का प्रस्तुत उद्धरण आर्येतरों का परिचायक है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 'भविष्य पुराण' वाले उद्धरण को छोड़कर अन्य का संबंध शिव से है और शिव अधिकतर दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य देवता हैं। इस प्रथा को उन्होंने कदाचित् भूमध्यसागर के समीपस्थ निवासियों से अपनाया था, जहाँ इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। इनसे दाक्षिणात्यों का संपर्क समुद्री व्यापार के कारण संभव भी था। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इस पर आष्ट्रिक सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव देखा है। उत्तरी भारत के मंदिर कदाचित् उतने पुराने नहीं हैं जितने दक्षिण भारत के। अतएव इधर देवदासी प्रथा के प्रसार का समय भी परवर्ती प्रतीत होता है।

ऐसा लगता है कि देवदासी बनने के लिए सभी श्रेणियों एवं प्रकार के लोगों को छूट थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सातवीं शती तक उसे पवित्र ही माना जाता था। इस संदर्भ में राजा प्रतर्दन वाली घटना उल्लेखनीय है।

यह प्रथा दाक्षिणात्यों में, बौद्धों एवं जैनों के अतिरिक्त प्रचलित रही है। परंतु 'धम्मपद' की टीका में बुद्ध कस्सप्प के प्रतिमास्थापन के प्रसंग में एक रोचक वर्णन आता है जिसके अनुसार अगुआ (मुखिया) बनने के उमंग एवं उत्साह में एक ग्रामीण ने अपने पूरे परिवार को देव - पूजा के नाम पर अर्पित कर दिया। इसी प्रकार देवदत्ता नामक एक कुबड़ी दासीकन्या ने अपने को 'जिन' की प्रतिमा की सेवा में लगा दिया जिसका उल्लेख जैकोबी के महाराष्ट्रीय प्राकृत कथाओं में पाया जाता है। इस कथा का संबंध उज्जैनी के राजा

पज्जोया और उदयन से है। फिर भी सामान्यतः इस प्रकार की किसी प्रथा को ये प्रश्रय देते नहीं जान पड़ते। कदाचित् इसी कारण जैन साहित्य इस प्रश्न पर मौन है।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की जोगीमारा की गुफाओं के शिलालेखों से भी देवदासी प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। यह गुफा देवदासी सुतनुका के आदेश पर निर्मित हुई थी और इसका उपयोग उनके विश्रामगृह के रूप में होता था, यद्यपि डा० काशीप्रसाद जायसवाल इस निष्कर्ष से सहमत नहीं जान पड़ते।

ऐतिहासिक तथ्य के रूप में देवदासी प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख हमें सातवीं शती के चीनी विद्वान् युआनच्वांग के यात्राविवरणों में मिलता है। जब वह 'मु - लो - सान - पुलो' (मूलस्थानपुर = मुलतान) स्थित सुप्रसिद्ध सूर्यमंदिर को देखने गया तो वहां उसने लगातार गाने वालियों को पाया। ये गानेवालियाँ संभवतः देवदासियाँ रही होंगी। 'भविष्य पुराण' से भी इसका समर्थन होता है। इस संदर्भ में आठवी - नवीं शती के अरब भूगोलवेत्ता अल - इद्रिसी और अदू जैद अलहसन आदि के उन वर्णनों का भी स्मरण हो आता है, जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद विन कासिम के सिंध - आक्रमण के प्रसंग में उक्त मंदिर का उल्लेख किया है। आठवीं शती की रचना 'कुट्टनीमतम्' में भी ऐसी कन्याओं की चर्चा है। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती थी उनको 'बोद' अथवा बोड' कहने की प्रथा थी जो बुद्ध या बुत का भी समानार्थी हो सकता है। क्योंकि ईरान में बुद्ध मूर्तियों के ही आधार पर बुत कहने की प्रथा चल निकली। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' में काश्मीर राजा जलुक का वह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उसने प्रसन्न होकर अपने रनिवास की सौ स्त्रियों को देवताओं के संमान में गाने नाचने का आदेश दिया था। यही नहीं राजा ललितादित्य (आठवीं शती) के संदर्भ में भी सुरवर्द्धन ग्राम की ऐसी ही दो देवदासियों का उल्लेख है।

तंजोर के राज राज मंदिर में भी एक ऐसा शिलालेख है जिसके अनुसार दसवीं - बारहवीं शती के सुप्रसिद्ध चोलराजा ने शिवपूजा के निमित्त चार सौ देवदासियों के पालन-पोषण के लिये कुछ भूमि दानस्वरूप भेंट की थी। यह दान महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार १००४ ई० में दिया गया था। इसी प्रकार 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' में महामंडलेश्वर चामुंड रायरस का उल्लेख है जिन्होंने भरुंडेश्वर और मंदिर से संबद्ध कुंदराज की छोटी बहन 'बीचा बरसी' को कुछ भूमि दान में दी थी।

तेरहवीं शती के मुस्लिम इतिहासज्ञों ने, जो सोमनाथ मंदिर पर आक्रमण के समय महमूद गजनी के साथ थे, लिखा है कि उन्होंने पाँच सौ गाने - नाचनेवालियों को देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर गाती - नाचती थीं। 'तारीख - ए - अलफी' में भी इस मंदिर का वर्णन है, जहाँ पर बतलाया गया है कि इस मंदिर से तीन सौ गवैये और पाँच सौ नर्तकियाँ संबद्ध हैं। "यह यहाँ की प्रथा है कि भारत के राजे - महाराजे तक अपनी कन्याओं को मंदिर में सेवा के लिए भेज दिया करते हैं।" इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया कि दाक्षिणात्य मंदिरों के प्रभाव में दक्षिण से लेकर उत्तर तक में देवदासी प्रथा प्रचलित हो गई। इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा का प्रसार अधिकतर शिव एवं सूर्य मंदिरों तक ही सीमित रहा। दामोदर गुप्त लिखित 'कुट्टनीमतम्' के आधार पर काशी विश्वनाथ मंदिर की वैसी स्थिति तक का परिचय मिल जाता है। 'वामन पुराण' का काशीवर्णन इस वर्णन से अद्भुत साम्य रखता है।

परंतु वहाँ उनका निजी स्वार्थ था मंदिरों का नहीं, जब कि मालाबार और उसके आसपास के देवस्थानों में उनसे संबद्ध मंदिरों का भी स्वार्थ निहित था जैसा कि अबू जैद अल् हसन ने सूचित किया है। फिर भी 'स्मृतिकौमुदी' के प्रमाण पर ऐसे कामों के लिए केवल स्त्रियों की नियुक्ति नहीं होती थी। पुरुषों की भी भर्ती की जाती थी –

जातिहीनः समातृणां माहयेत्कर्मनामनि।
योज्यो देवपुरे राज्ञा वर्णसंकर भीरुणा॥ १० ७१

उपर्युक्त वर्णनों से देवदासी प्रथा का पता तो चलता है, किंतु इस प्रथा की विधियों का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। यह विलक्षण बात है कि दक्षिण में भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा - विवरणों में तो इस प्रथा का उल्लेख मिलता है, किंतु उत्तर भारत में भ्रमण करने वाले बर्नियर और मनूची जैसे विदेशी यात्रियों के यात्राविवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पाई जाती। यही नहीं, मुस्लिम इतिहासकार भी इस संदर्भ में मौन से हैं। केवल बर्नियर जगन्नाथ मंदिर की देवदासी प्रथा का नाम लेता है। संभव है उत्तर भारत में मुस्लिम शासकों की रीति - नीति का आतंक ऐसा रहा हो कि देवदासी प्रथा इस क्षेत्र में अपने आप रुद्ध हो गई हो। इन देवदासियों के संबंध में कहा गया है कि ये किसी भी मूल्य पर विदेशियों को सुलभ नहीं हैं जबकि पुरोहितों और साधुओं - फकीरों के लिए उन्मुक्त हैं। इनका कल्पित विवाह संबंध जगन्नाथ से हुआ करता था, किंतु छद्मवेश में पुजारी वर्ग रात्रिकाल में इनका उपभोग करता था।

फरिश्ता ने बहमनी राज्य के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी (चौदहवीं शती) के कर्नाटकविजय के प्रसंग में लिखा है कि उसने चार सौ मुरलियों को हस्तगत किया था। इसमें संदेह नहीं कि उसने उन्हें अपने हरम में रख लिया होगा।

विदेशी यात्री मार्को पोलो (तेरहवीं शती ने) ने लिखा है कि मालाबारी नर - नारी शिव - शक्ति के प्रतिमा - पूजक हैं जिन्हें वे अपनी कन्याएँ अर्पित करते हैं जो महंतों अथवा पुजारियों के आदेशानुसार मूर्ति की प्रसन्नता के हेतु गाती - नाचती हैं। इटालियन यात्री निकोली कोंटी (पंद्रहवीं शती) ने भी विजयनगर में रथयात्रा के समय मूर्ति के समक्ष सजी-सजाई नारियों द्वारा स्तुतिगान करने की चर्चा की है। एक अन्य विदेशी यात्री गैस्पो बाली के अनुसार विजयनगर राज्य के निवासी धार्मिक उमंग में अंधे माता - पिता द्वारा अर्पित स्त्रियाँ, जो मूर्तिपूजा में संलग्न रहती हैं, मूर्तिपूजा की व्यवस्था और भरणपोषण के लिए अपना शरीर बेचती हैं। विजयनगर के एक स्थान पर ऐसी चार सौ वेश्याएँ निवास करती हैं। इसकी पुष्टि सोलहवीं शती के पुर्तगाली यात्री दोमिंगो पेज के विवरण से भी होती है जिसने धारवार के किसी मंदिर की चर्चा इस संदर्भ में की है। सोलहवीं शती के अंत में धर्मपिता डे विग और रिसिनो ने त्रिलूर की उस यात्रा को देखा था जिसमें बीस दीपवाहिनी नर्तकियों का उल्लेख है जो गायकों तथा वादकों के साथ अविवाहिता अवस्था में मूर्तिसेवा करती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि इन मंदिरों की बड़ी आय है जिसमें से कुछ की आय ऐसी स्त्रियों की भक्तिभावना के कारण बढ़ जाती है जो इस हेतु वेश्यावृत्ति तक में उतर आती हैं। फ्रेंच यात्री बर्नियर (सत्रहवीं शती) ने भी अपनी आगरा - यात्रा के प्रसंग में कुछ ऐसा ही वर्णन किया है। महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार शाहंशाह औरंगजेब ने औरंगाबाद के प्रवासकाल में सतारा के खंडोबा मंदिर में प्रचलित हिंदुओं की मुरली - प्रथा

(देवदासी - प्रथा) के विरुद्ध निषेधात्मक कानून लगा दिया था। इस प्रकार दक्षिण में यह प्रथा उस समय भी प्रचलित रही, जब कि उत्तर भारत में इसका विशेष पता नहीं चलता। दक्षिणवालों में कालांतर में, विवाहिता के बजाय अविवाहिता कन्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी और ये गाने - नाचनेवाली लड़कियाँ संगीतविद्या की संरक्षिका समझी जाने लगीं। कहा जाता है कि अठारहवीं शती में टीपू सुलतान ने माता - पिता द्वारा मंदिरों के लिए बालक - बालिकाओं को अर्पित करने की प्रथा का निषेध कर दिया था। वह बालक - बालिकाओं को मालाबार क्षेत्र में कृषि - कर्म करने के लिए खरीद लिया करता था।

बंबई में देवदासियों का एक नाम 'माविन' भी प्रचलित रहा है। सार्वजनिक रूप में उनका गाना - बजाना वर्जित रहा है। 'सेजविधि' के अनुसार मूर्ति के साथ कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाता था अर्थात् देवता द्वारा धारण किए हुए किसी अलंकार के साथ उसका विवाह संपन्न होता था। ये अधिकतर मराठा सरदारों की दासियों द्वारा उत्पन्न कन्याएँ होती थी। इसके विपरीत 'मुरली' मराठा शूद्र जाति की थीं। ऐसी जातियों में भंडारी, कुनबी, धांगड़ और नायक आदि के नाम गिनाए जाते हैं।

असम प्रदेश में देवदासीप्रथा की भाँति 'दोइ - धनी' अथवा 'देव - पत्नी' प्रथा प्रचलित रही है जिसका संबंध देवमंदिरों से रहा है।

मद्रास में देवदासियों का दीक्षासंस्कार विचित्र रीति से होता रहा है। आरती द्वारा आरंभ होकर, पुजारी द्वारा हारा जैसी किसी वस्तु के दिए जाने से उसका समापन होता रहा है। देवपूजन के फलस्वरूप उसे अन्नवस्त्र और आवास की चिंता से मुक्ति मिल जाती रही है। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वह एक रात्रि में किसी एक ही 'छैल छबीले' के साथ अंकशायिनी हो सकती जी। उसके द्वारा अर्जित आय का या तो बटवारा हो जाता था अथवा मंदिर के अधिकारियों द्वारा वह हस्तगत कर ली जाती थी। यह प्रथा कर्नाटक के स्पृश्यास्पृश्य दोनों में ही प्रचलित रही है। अस्पृश्यों के होलेर और मादर जातियों में उनकी संख्या अधिक रही है। यहाँ पर इन्हें 'जोगती' कहने की परंपरा है। इसी प्रकार तेलंगाना में वे 'बसवा' कहलाकर प्रसिद्ध हैं। चेंगलपट (दक्षिण) में कई जगह तांतियों में यह प्रथा रही है कि वे अपनी ज्येष्ठ कन्या को ऋतुमती होने के पूर्व ही किसी मंदिर को भेंट कर दिया करते थे।

इस संदर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि हिंदुओं की देखादेखी कतिपय मुस्लिम संप्रदायों ने भी देवदासी प्रथा को किसी न किसी रूप में अपना लिया जिन्हें लखनऊ में 'अछूती' कहते रहे हैं। उनके स्मारकस्वरूप उस नगर की एक गली 'अछूती गली' कहलाकर प्रसिद्ध है।

*

भूमि – वैधानिक निर्वचन

हरिहरनाथ त्रिपाठी

संस्कृत साहित्य में 'भूमि' शब्द के विविध पर्याय मिलते हैं[1] योगियों की अवस्थाविशेष को भी भूमि कहा गया है[2]। पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में भूमि, भूमि की उत्पत्ति, भार और दान का वर्णन मिलता है।[3] महाभारत के मोक्षधर्म में भूमि का गुण स्थिरता, गुरुत्व, काठिन्य प्रसवार्थता, गंध, संघातशक्ति, स्थापना और धृति बतलाया गया है। इन शब्दों की नीलकंठ ने जो व्याख्या की है, उसे देखते हुए ज्ञात होता है कि भूगर्भशास्त्र का महत्तम अध्ययन प्राचीन मनीषियों को हो चुका था।[4] भूमि के विभिन्न क्षेत्रों के स्थान पर केवल उसके वैधानिक निर्वचन पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि आज का विधि - विज्ञान भी अभी कोई नया प्रतिमान प्रस्तुत नहीं कर पाया।

सामान्यतया भूमि के प्रयोग से उसकी सतह का ही संबंध लिया जाता है। राजा को समग्र भूमि का स्वामी कहा गया है। भूगर्भ - स्थित समग्र संपत्ति का भी वह स्वामी समझा जाता है। फलतः भूमि शब्द से सतह के साथ उसके और अंश भी गृहीत होते हैं। भूमि, क्षिति और पृथ्वी पर्याय माने गए हैं, जिनका अनुवाद अंग्रेजी के लैंड, स्वायल और कंट्री शब्दों से किया जा सकता है। विधि के क्षेत्र में भूमि शब्द का तात्पर्य सामान्य से विशेष हो जाता है। लार्ड कुक ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है — "भूमि (लैंड) वैधानिक संदर्भ में कोई भूभाग, सतह या तत्संबंधी चरागाह, परती, ऊसर, बंजर, तलहटी यहाँ तक कि गृह, किसी प्रकार के भवन आदि का ग्रहण करता है। भवन के संबंध में नींव और ढाँचा दोनों का संबंध आ

१. गौः, उमा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षाया, क्षोणी, स्थिति, अवनि, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदिति, इला, निर्ऋति, भू, भूमि, पूषा, गातु, गोत्रा, वेद (निघंटु, अध्याय १)। भूमि-पर्याय में आकाश का भी ग्रहण होता है 'सदाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' में पृथिवी का अर्थ अंतरिक्ष किया है।
मेदिनी कोश — भवन्ति भूतान्य स्वामीति पृथिवी स्थानमात्रम्।
वैधरत्नमाला — भूर्भूमिः पृथिवि पृथ्वी मेदिनी वसुधावनिः।
गन्धो गुरुत्वं शक्ति च संघातः स्थापना धृतिः॥

२. गीतागूढार्थदीपिका में मधुसूदन सरस्वती।

३. उत्पत्ति – ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खंड, पृथिव्युपाख्यान, अध्याय ७।
भार – ब्र० वै० पु० खं० श्रीकृष्ण-जन्म खंड, अ० ४।

४. नीलकंठ स्थैर्यमचाचल्यम्, गुरुत्वं पतनप्रतियोगी गुणाः, प्रसवार्थता धान्याद्युत्पत्ति स्तदर्थता, गंधः, गुरुत्वं पिंड पुष्टि शक्तिः, गन्धग्रहण सामर्थ्यम्, संघातः श्लिष्टावयवत्वम्, स्थापना मनुष्याद्याश्रयत्वम्, धृतिः यो पांचभौतिके शरीरे यो धृत्यंशः।

जाता है।[५] स्टेफन ने इसे और भी स्पष्ट किया है। उसके अनुसार 'भूमि से अंतस्थ और ऊर्ध्वगत' का ग्रहण होता है। ऊर्ध्व से तात्पर्य है सतह—जिसका अधिकार सतह पर है, तत्संबंधी आकाश भो उसी के अधिकार में माना जा सकता है। इसी प्रकार सतह के अनुसार भूगर्भ स्थित अंश का भी ग्रहण होता है।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमि कहने से केवल सतह का ही नहीं अपितु उससे संबद्ध अंतःस्थ और ऊर्ध्वस्थ का भी ग्रहण होता है।[७]

उक्त व्याख्या इंग्लैंड के विधिशास्त्रियों के अनुसार हुई। मेदिनी ने पृथिवी और स्थान, दो पर्याय दिए हैं। मोनियर विलियम्स ने भूमि के पर्याय में अंग्रेजी शब्द—अर्थ, स्वायल और ग्राउंड दिए। जहां तक भारतीय शास्त्रों का संबंध है भूमि शब्द की परिभाषा नहीं मिल सकी। मनु के 'धातूनामेव च क्षितौ' तथा 'भूमेरधिपतिर्हि सः' के आधार पर कहा जा सकता है कि भूमि का प्रयोग 'ग्राउंड' या 'स्वायल' के अर्थ में हुआ है। मनु [८।३९] ने यहां भूमि से उसके अंतस्थ और ऊर्ध्व दोनों का ग्रहण किया है। क्षिति का तात्पर्य पृथिवी से ज्ञात हो रहा है। यहां इतना और स्पष्ट हो रहा है कि अंग्रेजी वैधानिक शब्द 'लैंड' के अर्थ में ही भूमि का प्रयोग हो रहा है। कांचन के तीन प्रकार बताते हुए राजनिघंटुकार ने लिखा है कि तत्रैकं रस वेधजं तत्परं जातद्वयं भूमिजं किंचत्तद्बहुनो हंसकर्ता चेति त्रिधा कांचनम्'। यहां स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्ण भूमिज है। कामंदकीय नीतिसार के परिगणन के द्वारा इसका पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है। उसके अनुसार जो परिगणन किया गया है उससे पश्चिमी परिगणन में कोई भेद नहीं रह जाता।[८]

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि आकर भूमि का भाग है। यदि भूमि का उक्त अर्थ मानते हैं, तभी कामंदक द्वारा दिया 'शस्याकरवती' विशेषण भूमि के लिए उपयुक्त होता है। इसी प्रकार का विशेषण ब्रह्मवैवर्त पुराण में पृथ्वी की उत्पत्ति के समय दिया गया है। वहाँ पृथ्वी को 'कांचनी-भूमि-संयुक्ता' कहा गया है।[९] शब्दकल्पद्रुम ने भूमिचंपक को "भूमिजात चंपकः' वृक्षविशेषः, 'भुई चापा' इति भाषा" लिखा है। यहाँ भी भूमि का पूर्व विवक्षित अर्थ हो रहा है। ऋग्वेद की ऋचा में आकाश के पर्याय में पृथिवी शब्द का प्रयोग दोनों के संबंध को स्पष्ट कर देता है।

भूमि के उक्त व्यवहार से राजनीतिक संप्रभुता के सिद्धांत पर भी प्रकाश पड़ता है। इसी से संबद्ध शब्द राष्ट्र है। वेदों से लेकर स्मृतियों तक राष्ट्र शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में आया है।[१०] इन प्रमाणों के आधार पर उपेंद्रनारायण बख्शी और काशीप्रसाद जायसवाल

५. कुक, पृ० ४२।
६. स्टीफेंसन का०, जिल्द १, पृ० १४, १४वाँ संस्करण।
७. वही पृ० १०।
८. कामन्दक ४, ५०, ५६।
९. पुण्यतीर्थं समायुक्ता पुण्य भारत संयुक्ता।
कांचनी भूमि संयुक्ता सर्वदुर्गं समन्विता। ब्र० वै० पु० उ० खं० ८, १८।
१०. शुक्र, १, १६; महा० शा० ६७। २, ३, ५, ६; रामा० अयो० का० १४, ४५, ६७, २१ तथा मनु० ६-२६४, ७-११०, ७-१५७, ७-१८०।

ने राष्ट्र को राज्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है, किंतु यहां इसपर ध्यान देना आवश्यक होगा कि राज्य के सप्तांग सिद्धांत में राष्ट्र राज्य का अंग है। अतएव राष्ट्र राज्य का पर्याय नहीं बन सकता। राष्ट्र के समान जनपद शब्द है। इसका भी संबंध भूमि के विशेष प्रकार से लिया जा सकता है। कहीं कहीं तो दोनों पर्याय बन जाते हैं। जनपद का भी संबंध भूमि, जनसंख्या और क्षेत्र विशेष के साथ संप्रभुता-संपन्न भू-भाग हो जाता है। यहां भूमि से हमारा मंतव्य उस अर्थ में नहीं है, जिसमें उपर्युक्त अवसर पर प्रयोग किया गया है। मनु (७-३२ और ८-४१) पर कुल्लूक भट्ट ने जनपद और राष्ट्र दोनों को देश के अर्थ में प्रयुक्त किया है। जनपद के साथ उसका अर्थ 'नियत देश व्यवस्थिताम्नायाविरुद्ध' किया गया है, जिसका संबंध भूमि के साथ शासन को संप्रभुता से हो जाता है। जनपद के अन्य प्रयोग भी इसी प्रकाश में विचारणीय है।[11]

इन दो शब्दों से भूमि शब्द के अर्थ को और स्पष्ट करने तथा अभिप्रेत अर्थ में उनका संबंध व्यक्त करने के लिए कुछ उदाहरण आवश्यक हैं।[12] इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं —

> सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमि प्रयच्छति। महा० शा० ६१, ४०
> धर्ममेव प्रपद्यन्ते नहि सन्ति परस्परम्।
> अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं वदि रक्षति भूमिपः। शा० ६६, ३७-३८
> सुजवान् यदा स्व यूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत। शा० १२०, १०।
> ज्ञाति सामन्त धनिकां क्रमेण भूमि परिग्रहान्। अर्थ० ३, ९।
> आसीनस्त्वासने शुद्धे भूमौ पादौ निधापयेत। उशनर सं० ३, ९३।
> परस्य भू भागे तु पितृणां वै न निर्वपेत। उशनर संहिता ५, १५।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी इस अर्थ में पर्याप्त उपलब्ध होते हैं।[13] भूमि-स्वामित्व के प्रश्न पर राजा और व्यक्तिविशेष, फलतः दो स्वामित्व का सिद्धांत भूमि पर दिखाई पड़ता है। किंतु सामान्य से विशेष 'सप्त वित्तागमा' के अंश में मुख्य होता हैं, जिसका अपहरण राज्य नहीं कर सकता। जब संप्रभुता-संपन्न भू-भाग का अर्थ ग्रहण करना होता है तो जनपद या राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया जाता है। भूमि शब्द के प्रयोग से उसकी सतह, ऊर्ध्वस्थ और अंतरस्थ

११. महा० शा० १४-३; ६७-२४; रामा० अयो० ६७-६; मनु० ८, ४१।

१२. प्रताप कामाधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदालिप्सेत मेधावी परभूमि धनान्युतः॥ शा० १२०, १०।
क्वचित्सर्वेऽनुरक्तास्तां भूमिपालाः प्रधानतः।
क्वचित्प्राणास्तदर्थेषु संत्यजन्ति तया हृताः॥ सभा० ५, ६५।
न यस्य कूटं कपटं माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्म सनातनः॥ शा० ५७, ३७।
आदित्यो वरुणो विष्णुर्ब्रह्मा सोमो हुताशनः।
शूलपाणिस्तु भगवानभिनन्दति भूमिदम्॥ अत्रि० ३३०।

१३. मनु० ४-५५, ४-३३०, ५-१२८, ६-१४; कामंदक ८, ५०; ब्र०वै० प्र० ६-५, १४-१५।

भूभाग को ग्रहण किया जाता रहा, जिसमें वैयक्तिक और राज्यगत दोनों स्वामित्व समाविष्ट रहते हैं।

भूमि के साथ 'महाभूमि' विशेषण महत्वपूर्ण है। इसका प्रयोग प्राचीन विधि-व्याख्याता निबंधकारों ने किया है। भूमि पर द्वैध अधिकार का समन्वय भूमि और 'महाभूमि' शब्द की स्पष्टता में निहित है। भूमि के दान, विक्रय आदि का स्वत्व ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करता है।[१४] विश्वजित् यज्ञ के अवसर पर पुरोहित की भूमि को छोड़कर समग्र भूमि का दान राजा करता है। इस अवसर पर मीमांसकार के वचन का समन्वय कठिन हो जाता है। उनका कहना है कि 'न भूमि देया स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् भूमि का दान राजा नहीं कर सकता क्योंकि समान रूप से वह सबकी है। शबर स्वामी का भाष्य वैयक्तिक संपत्ति का समर्थन करते हुए इस बात का प्रतिपादन कर रहा है कि राजा के सामान्य अधिकार के साथ राजा का विशेष अधिकार लगा हुआ है। व्यवहारमयूख के दाय-निर्णय में नीलकंठ ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। धर्मशास्त्र के विवेचन में विज्ञानेश्वर के बाद माधव का स्थान आता है। उनकी व्याख्या इस उलझन को स्पष्ट रूप से दूर कर देती है। उन्होंने भूमि और महाभूमि का भेद स्पष्ट किया है। उनके अनुसार सार्वजनिक उपयोग की भूमि जैसे राजपथ आदि पर किसी का स्वत्व नहीं होता अतएव उसका दान नहीं हो सकता। राज्य का भी उस पर संरक्षण मात्र का संबंध होता है।[१५] मीमांसा की भट्टदीपिका में कहा गया है कि महाभूमि पर किसी का स्वत्व नहीं होता।[१६]

इस प्रकार भूमि के स्वामित्व - बोध में वैयक्तिक, राज्य और सार्वजनिक या महाभूमि, ये तीन भेद किए जाते हैं। यह समस्या पश्चिमी विधिवेत्ताओं के सामने भी आई थी। उन्होंने अपनी दृष्टि से उसका समाधान भी किया। लेकिन भारतीय शब्दविज्ञान और विधिशास्त्र का समन्वय महत्वपूर्ण है जिसका स्वरूप शब्दप्रयोग और व्यवहार के साथ ही स्पष्ट हो जाता है।

*

१४. ई० ए० १९१०, पृ० ११६।

१५. देया न वा महाभूमिः स्वत्वाद्राजा ददातु ताम्।
पालनस्यैव राज्यत्वान्न स्वयम्भूर्दयिते न सा॥

— माधवाचार्यकृत न्यायमाला, आनन्दाश्रम सं० सीरीज, पृ० ३५८।

१६. पूर्व मीमांसा दर्शन पर भट्टदीपिका, मैसूर संस्करण, खं० २, पृ० २१७।

हिंदी - व्याकरण - संबंधी गवेषणा – ४

शब्दसमुदाय एवं वाक्य में शब्दक्रम

स० म० दीमशित्स

•

हिंदी भाषा में शब्दसमुदाय एवं वाक्य में सीधा या उल्टा दोनों क्रम चलते हैं। सीधा शब्दक्रम तब प्रयुक्त होता है जब शब्दसमुदाय और वाक्य में शब्द भाषा के व्याकरणात्मक ढाँचे के अनुसार समवेत अर्थात् जुड़े हुए हैं। उल्टा शब्दक्रम शैलीगत भूमिका अदा करता है और शब्दसमुदाय व वाक्य में उस अंग पर जोर डालने के लिए है जिसपर पाठक या श्रोता का ध्यान खींचना हो। शब्दसमुदाय में विशेषांकित अंग मुख्य शब्द के बाद रखा जाता है। जैसे – 'किताब मेरी, यात्रा गाँव की।'

वाक्य में वह अंग जिसपर विशेष बल दिया जाता है प्रायः वाक्य के प्रारंभ में रखा जाता है। यथा – (१) कहा उसने यह आपसे। (१) यह मैंने नहीं सुना। (३) रात थी कैसी अच्छी।

प्रश्नवाचक शब्द जोर देने के लिए वाक्य के शुरू में या विधेय के आगे नहीं, बल्कि विधेय के अंगों में रखा जाता है। यथा – (१) तुम जानते क्या हो? (२) हमारे बगैर वह जलसा शुरू कैसे करेंगे?

शब्दसमुदाय में शब्दक्रम — शब्दसमुदाय में शब्दक्रम शब्दसमुदाय से निर्दिष्ट होता है।

(१) शब्दसमुदाय में जिसमें कोई संज्ञा मुख्य शब्द होती है, उससे संबद्ध विशेषण या कर्म प्रायः संज्ञा से पहले रखा जाता है। यथा – बड़ा लड़का, युद्ध के विरुद्ध संघर्ष।

(२) उन शब्दसमुदायों में जिनमें मुख्य शब्द विशेषण है उससे संबद्ध क्रियाविशेषण उसके पहले प्रयुक्त होते हैं। यथा – बहुत खूबसूरत, बहुत अच्छा, जाने को तैयार।

(३) संज्ञा से संबद्ध संख्या संज्ञा से पहले रखी जाती है। यथा – दस आदमी, दूसरा आदमी।

(४) 'स्वयं', 'खुद', 'आप', 'सब' आदि सर्वनाम जो दूसरे सर्वनाम से संबद्ध हैं वे उनसे संबद्ध सर्वनाम से पहले या उसके बाद रखे जा सकते हैं। यथा – खुद हम, हम खुद। सब ये, ये सब।

(५) क्रिया से संबद्ध शब्द क्रिया से पहले प्रयुक्त किए जाते हैं। यथा – पूरा होना, हमला करना, अच्छा पढ़ना, जल्दी दौड़ना, जाने देना, घूमने जाना।

(६) क्रियाविशेषण से संबद्ध क्रियाविशेषण मुख्य क्रियाविशेषण से पहले रखा जाता है। यथा – बहुत आहिस्ता, यहाँ से नजदीक।

वाक्य में शब्दक्रम – हिंदी भाषा में शब्दक्रम मनमाना अर्थात् अनियमित नहीं है। वाक्य के सब अंगों का वाक्य में न्यूनाधिक नियत स्थान होता है, हालाँकि प्रकरण या प्रसंग

के अनुसार उनका स्थानांतरण हो सकता है। यह नियम वाक्य के मुख्य अंगों व वाक्य के सहायक अंगों पर लागू होता है। हिंदी भाषा के वाक्यों में सीधा शब्दक्रम व्याकरणात्मक भूमिका अदा करता है। प्रायः ऐसे वाक्यों के अंगों की पहचान केवल शब्दक्रम से होती है। उक्त मतानुसार —

(१) जब विशेषण संज्ञा से पहले रखा गया होता है तो वह विशेषताबोधक होता है। किंतु जब वह संज्ञा के बाद आता है तो विधेय का नामिक अंग होता है। जैसे –(१) सागर में छोटे दिन और बड़ी रातें होती थीं। (२) सागर में दिन छोटे और रातें बड़ी होती थी।

जब कर्ता और विधेय के नामिक अंग की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष कारक के रूप में संज्ञा से की गई होती है तो कर्ता सदा विधेय के नामिक अंग से पहले आता है। जैसे –(१) दिल्ली हिंदुस्तान की राजधानी है। (२) हिंदुस्तान की राजधानी दिल्ली है।

(३) जब वाक्य में कर्ता प्रत्यक्ष कारक के रूप में संज्ञा से और विधेय के नामिक अंग क्रिया के सामान्य रूप से अभिव्यक्त हैं तथा उलटे क्रम से है तो कर्ता सदा विधेय के नामिक अंग से पहले आता है। जैसे –(१) विद्यार्थियों का कर्तव्य पढ़ना है। (२) पढ़ना विद्यार्थियों का कर्तव्य है।

(४) शब्दक्रम की सहायता से उन कर्ता और प्रधान कर्म का भेद स्पष्ट हो जाता है जो प्रत्यक्ष कारक के रूप में संज्ञाओं से अभिव्यक्त होते हैं, अर्थात् कर्ता प्रथम स्थान पर रखा होता है और प्रधान कर्म विधेय से ही पहले। इसके कारण वाक्य के अर्थ तक बदल जाते हैं। जैसे- ऐसी स्थिति सदा असंतोष उत्पन्न करती है। असंतोष सदा ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है।

सीधे शब्दक्रम में सामान्य वर्णनात्मक वाक्य के अंग निम्नलिखित क्रम से रखे जाते हैं –

(१) मुख्य अंग –(क) कर्ता या तो वाक्य के शुरू ही में अथवा समय - विशेषताबोधक (और कभी स्थान विशेषताबोधक भी) के पश्चात् रखा जाता है। यथा –(१) बेचारा लारी के ऊपर नहीं चढ़ सकता था। (२) एक दिन वह बाजार से गुजर रहा था। (३) एक दूकान पर कुछ नौजवान ताश खेल रहे थे।

(ख) विधेय सदा वाक्य के अंत में ही रखा जाता है। यथा –(१) कल ही महमूद का खत आया था। (२) हम उनको वहाँ उपस्थित न पायेंगे।

(२) वाक्य के सहायक अंग — कर्म –(क) प्रधान कर्म सकर्मक क्रिया से संचालित होता है और प्रायः उस क्रिया से पूर्व ही प्रयुक्त होता है। यथा – अचानक किसी ने उसे धक्का दिया।

(ख) अप्रधान कर्म अधिकतर प्रधान कर्म से पहले आता है। यथा – हम यहाँ सिर्फ यूरेशियन लोगों को नौकरी देते हैं।

अप्रधान कर्म जो 'को' विभक्ति सहित अप्रत्यक्ष कारक संज्ञा, या सर्वनाम अथवा कर्म कारक के रूप में सर्वनाम से अभिव्यक्त है वह प्रायः या तो वाक्य के प्रारंभ में अथवा समय विशेषताबोधक (स्थान विशेषताबोधक) के बाद या कर्ता के पश्चात् ही रखा जाता है। यथा –(१) उसे (उसको) कहीं नौकरी नहीं मिली थी। (२) अब सरोज को इन

बातों की परवाह न थी। (३) वहाँ उसे (उसको) एक फोरमैन मिल गया। (४) तुम मुझे (मुझको) अच्छे आदमी दिखाई देते हो।

हिंदी भाषा के वाक्य में विशेषण प्रायः विशेष्य से पहले आता है। यथा – (१) सागरा ब्राह्मणों का गाँव था। (२) नाले के किनारे वाले खेतों में सदा पानी खड़ा रहता था। (३) सारे गाँव में यही एक दूकान थी।

यदि वाक्य में कई विशेषण होते हैं तो विशेष्य के बिल्कुल आगे वह विशेषण रखा जाता है जो उनमें सबसे अधिक गुणवाचक होता है। यथा – (१) अचानक एक छोटा सा बाजारू कुत्ता कहीं से आ निकला। (२) एक लंबी ऊँची चीख निकली। (३) वह एक पुराना नीला कोट पहने था।

विधेय से संबंधित विशेषण विशेष्य के बाद विधेय के निकट रखा जाता है। यथा – पगडंडी एक ऊँचे पहाड़ के चारों ओर चक्कर खाती हुई ऊपर उठती जा रही थी।

विशेषताबोधक शब्द — हिंदी भाषा में विशेषताबोधक शब्दों का कोई नियत स्थान नहीं है, अतः उनके विषय में हम केवल यही कह सकते हैं कि उनका व्यवहार वाक्य में न्यूनाधिक प्रायः किस स्थान पर होता है।

(क) स्थान - विशेषताबोधक – यह या तो विधेय से पहले (प्रायः जब वह क्रिया की दिशा या स्थान का निर्देश करते हैं) अथवा वाक्य के आदि में कर्त्ता से पूर्व ही, या फिर कर्त्ता के पश्चात् रखे जाते हैं। यथा – (१) उसने अपनी टाँगे फर्श पर पसार दीं, और बाहें फैला दीं। (२) सब लोग अपने - अपने घरों को चले गए। (३) वहाँ कोई न था और दरवाजे बंद थे। (४) तुमने कारखाने में कभी काम नहीं किया।

(ख) समय - विशेषताबोधक – यह प्रायः कर्ता से पहले या कर्ता के पश्चात् प्रयुक्त होता है। कभी कभी विधेय से पहले भी आता है। यथा – (१) सुबह के धुँधलके में पुलिस के एक सिपाही ने ठोकर से सरोज को जगा दिया। (२) तहसीलदार साहब ने दिन भर चीड़ के एक छोटे से झाड़ के नीचे अपना दरबार लगाया। (३) मैं यह काम कल पूरा करूँगा।

जब वाक्य में स्थान – विशेषताबोधक और समय - विशेषताबोधक दोनों होते हैं तो समय-विशेषताबोधक प्रायः स्थान - विशेषताबोधक से पहले आता है। यथा – कुछ दिनों से यहाँ बहुत बारिश हो रही है।

*

विमर्श

क्या ब्रह्मसूत्र एवं वेदांतसूत्र एक हैं ?

आठ जुलाई १९५९ के साप्ताहिक हिंदुस्तान में पंडित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का एक लेख 'समाज सुधारक और राजनैतिक नेता महर्षि व्यास' छपा था। उसकी आलोचना स्व० चतुरसेन शास्त्री ने अपने लेख 'क्या कौरवों - पांडवों की कथा कपोलकल्पित है ?' में की थी जो १२ अगस्त सन् १९५९ के साप्ताहिक हिंदुस्तान में ही छपा था। उसका प्रत्युत्तर २३ सितंबर सन् १९५९ के साप्ताहिक हिंदुस्तान में महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा ने 'कौरव - पांडवों की कथा कपोल कल्पित नहीं' शीर्षक लेख में दिया था। आचार्य चतुरसेन के निधन के कारण वह ज्ञानवर्द्धक विवाद निष्कर्ष के पूर्व ही समाप्त हो गया।

उक्त वादविवाद में व्यास कृत ब्रह्मसूत्र पर भी विचारविमर्श हुआ था किंतु उसका कोई निष्कर्ष नहीं निकला।

प्रश्न है क्या ब्रह्मसूत्र और वेदांतसूत्र एक ही पुस्तक है ? इसका उत्तर आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पंडित गिरधर शर्मा तथा लोकमान्य तिलक ने 'हाँ' में दिया है और चिंतामणि विनायक राव ने असहमति प्रकट की है। इन विद्वानों के शास्त्रार्थ का क्या परिणाम निकलता है, उसी पर विचार यहाँ करना है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री पंडित गिरधर शर्मा की आलोचना करते हुए अपने लेख में लिखते हैं —

"लेख में चतुर्वेदी जी गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों का भी उल्लेख करते हैं और गीता और ब्रह्मसूत्र दोनों ही को व्यास प्रणीत कहते हैं। निःसंदेह गीता न तो व्यास प्रणीत है – न वह महाभारत का प्राचीन अंग है। वह तो महाभारत में पीछे से घुसेड़ी गई वस्तु है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र भी व्यास प्रणीत नहीं है। गीता में ब्रह्मसूत्र और ब्रह्मसूत्र में गीता की चर्चा है। ब्रह्मसूत्र के दूसरे पाद के कुछ सूत्र तो स्पष्ट ही बौद्ध विज्ञानवाद की आलोचना करते हैं। अनेक सूत्र तो गीता के आधार पर ही लिखे गए हैं।

"शंकर की इस विचारपरंपरा में एक गोष्ठी थी जिसके मूल प्रचारक बादरायण थे। यह गोष्ठी दक्षिण में संगठित हुई। वेदांत को पूर्वमीमांसा के समकक्ष उत्तरमीमांसा कहा जाता है। पूर्वमीमांसा में उत्तर भारत के आर्यों की जो वैदिक संस्कृति थी, उसका मूलाधार वेद था। परंतु वेदांत के मूलाधार उपनिषद् थे। बादरायण ने उपनिषद को ही श्रुति कहकर एक नई समस्या खड़ी कर दी।

श्रुति के साथ स्मृति और समीक्षादर्शन की आवश्यकता थी। इसलिए शंकराचार्य ने गीता को स्मृति और वेदांत को समीक्षादर्शन का रूप दिया और उपनिषद्, वेदांत और गीता को प्रस्थानत्रयी का रूप दिया जो बौद्धों के त्रिपिटक के अनुकरण पर था। इसी प्रस्थानत्रयी के द्वारा शंकर ने भारत के सिद्धांतों को पछाड़ा और कुमारिल के धर्म पर पानी फेर दिया। शंकर के इस असाधारण प्रयास से उत्तर भारत से वैदिक धर्म का लोप हो गया और नए

हिंदू धर्म की स्थापना हुई जो वेदविरोधी था। इसी से गीता में वेदविरोधी भावना तथा वेदों की निंदा है। कृष्ण से गीता का कोई संबंध ही नहीं है।"

इस विवरण में हम आचार्यजी द्वारा प्रस्तुत कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाते। जिसके आधार पर हम यह तय कर सकें कि वे सही नतीजे पर पहुँचे हैं। इस वक्तव्य से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि आचार्य जी वेदांतसूत्र तथा ब्रह्मसूत्र को एक ही मानते हैं जो वास्तव में सही नहीं है और वेदांतसूत्र और ब्रह्मसूत्र को एक ही पुस्तक मान लेने से यह समस्या उपस्थित हुई है।

ब्रह्मसूत्र के प्रणेता कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं और वेदांतसूत्र के रचयिता बादरायण व्यास। अतः इन दोनों को अलग अलग मानने से कोई झगड़ा नहीं रहता।[1] गीता में ब्रह्मसूत्र का संकेत है न कि वेदांतसूत्र का। अतः गीता को वेदांतसूत्र के साथ घसीटने का प्रश्न ही नहीं उठता। गीता अपने स्थान पर है और वेदांतसूत्र अपने स्थान पर। व्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्र कौन से हैं? यह एक अलग प्रश्न है और उस पर खोज अपेक्षित है। यदि वे नहीं मिलते तो जैसे बहुतेरे ग्रंथ नष्ट हो गए वैसे ही यह भी नष्ट हो गए, यह मानने में क्या आपत्ति है। ब्रह्मसूत्र के स्थान पर वेदांतसूत्र को मानकर नया बखेड़ा खड़ा करने की क्या आवश्यकता।

आचार्य जी ने बादरायणाचार्य को शंकराचार्य का समकालीन मानकर उनकी गोष्ठी में माना है, यह सर्वथा निराधार है क्योंकि वे उनको वेदांतसूत्र का रचयिता मानते हैं[2], और शंकर ने उसे प्रस्थानत्रयी का प्रमुख ग्रंथ माना है। प्रस्थानत्रयी में स्थान पाने के लिए वेदांतसूत्र का निर्माण शंकर से पर्याप्त समय पूर्व होना चाहिए ताकि उनके समय तक उसकी इतनी अधिक प्रतिष्ठा हो जाए कि वह गीता व उपनिषद के समकक्ष आ सके। चिंतामणि विनायक वैद्य वेदांतसूत्रों का निर्माण ईसा से १५० से १०० वर्ष पूर्व तक मानते हैं जो सही प्रतीत होता है।[3] सारांश यह कि हम आचार्य जी के इस मत से तो सहमत हैं कि कृष्ण द्वैपायन व्यास एवं बादरायण व्यास दो व्यक्ति थे, किंतु इस कथन से सहमत नहीं कि गीता में संदर्भित ब्रह्मसूत्र के प्रणेता बादरायण हैं। ब्रह्मसूत्र और वेदांतसूत्र अलग अलग ग्रंथ हैं जिनके निर्माण में हजार वर्ष के लगभग का अंतर होना चाहिए।

इस विषय पर लोकमान्य तिलक ने अपना मत गीतारहस्य में यों व्यक्त किया है —

"इस विचारविरोध को मिटाने के लिए ही बादरायणाचार्य ने अपने वेदांतसूत्र में सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है और इसी कारण से वेदांतसूत्र भी उपनिषदों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदांतसूत्रों का दूसरा नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरक सूत्र' है।"[4]

१. रावबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य – महाभारतमीमांसा।
२. गीतारहस्य।
३. रावबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य – महाभारतमीमांसा।
४. गीतारहस्य पृष्ठ १२।

"और यदि इन ब्रह्मसूत्रों को तथा वर्तमान वेदांतसूत्रों को एक ही मान लें तो कहना पड़ता है कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदांतसूत्रों के बाद बनी होगी। अतएव गीता का कालनिर्णय करने की दृष्टि से इस बात का अवश्य विचार करना पड़ता है कि ब्रह्मसूत्र कौन से हैं, क्योंकि वर्तमान वेदांतसूत्रों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक कोइ दूसरा ग्रंथ नहीं पाया जाता और न उसके विषय में कहीं वर्णन ही है और यह कहना तो किसी प्रकार उचित नहीं जँचता कि वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के बाद गीता बनी होगी।"[५]

"इन दोनों बातों को मिलाकर विचार करने से यही अनुमान होता है कि भारत और तदंर्गत गीता को वर्तमान स्वरूप देने का तथा ब्रह्मसूत्रों की रचना करने का काम भी बादरायण व्यासजी ने ही किया होगा। इस कथन का यह मतलब नहीं कि बादरायणाचार्य ने वर्तमान महाभारत की नवीन रचना की। हमारे कथन का भावार्थ यह है कि महाभारत ग्रंथ के अति विस्तृत होने के कारण संभव है कि बादरायणाचार्य के समय उसके कुछ भाग इधर उधर बिखर गये हों या लुप्त हो गये हों, ऐसी अवस्था में तत्कालीन उपलब्ध महाभारत के भागों की खोज करके तथा ग्रंथ में जहाँ जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ दीख पड़ीं वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़कर बादरायणार्य ने इस ग्रंथ का पुनरुज्जीवन किया है। अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया है।"[६]

लोकमान्य ने उपर्युक्त कल्पना क्यों की, इसका कारण भी उन्होंने स्वयं बतलाया है —

"परंतु जब यह मानते हैं कि भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख है और ब्रह्मसूत्रों में स्मृति शब्द से भगवद्गीता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है तो दोनों में कालदृष्टि से विरोध उत्पन्न हो जाता है। वह यह है — भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का साफ साफ उल्लेख है, इसलिए ब्रह्मसूत्रों का गीता से पहिले रचा जाना निश्चित हो जाता है; और ब्रह्मसूत्रों में स्मृति शब्द से गीता का निर्देश माना जाये, तो गीता का ब्रह्मसूत्रों से पहले होना निश्चित हुआ जाता है······तब अड़चन से कैसे पार पाएँ हमारे मतानुसार इस अड़चन से बचने का बस एक ही मार्ग है; यदि यह मान लिया जाय कि जिसने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उसी ने मूल भारत तथा गीता को वर्तमान स्वरूप दिया है।"[७]

लोकमान्य तिलक के उक्त मत के विषय में हमारा ससंमान निवेदन यह है कि प्रथम तो लोकमान्य ने अपने इस कथन के समर्थन में कि इन्हीं वेदांतसूत्रों का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र अथवा शारीरक सूत्र है, प्राचीन आप्त बचन उद्धृत नहीं किए हैं, दूसरे संभवतः वेदांतसूत्रों को ही ब्रह्मसूत्र मानने का कारण स्वयं लोकमान्य तिलक के शब्दों में इस प्रकार रहा, "इस बात का अवश्य निर्णय करना पड़ता है कि ब्रह्मसूत्र कौन से हैं क्योंकि वर्तमान वेदांतसूत्रों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नाम का कोई ग्रंथ नहीं पाया जाता।" यह मत सही नहीं लगता क्योंकि मूल पुस्तक के अभाव में अथवा उसके लोप हो जाने की दशा में उसी विषय की दूसरी पुस्तक अथवा उसी के समान नामवाली पुस्तक को वही पुस्तक मान लेना तर्कसंगत नहीं। लोकमान्य

५. गीतारहस्य पृष्ठ ५५७।
६. गीता रहस्य पृ० ५६०।
७. गीता रहस्य पृ० ५६०।

का यह कथन भी सही नहीं है कि ब्रह्मसूत्र का कहीं वर्णन नहीं मिलता, क्योंकि पंडित गिरधर शर्मा ने अपने लेख में पाणिनि के सूत्र **'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'** में इसका उल्लेख प्रमाणित किया है।[८]

तीसरा कारण यह है कि जैसा कि ऊपर कहा गया है और स्वयं लोकमान्य भी मानते हैं कि बादरायण व्यास तथा कृष्णद्वैपायन व्यास दो भिन्न व्यक्ति हैं, ऐसी दशा में बादरायण व्यास कृत वेदांतसूत्र का संदर्भ कृष्ण द्वैपायन व्यास कृत गीता में कैसे आ सकता है। इस विषय में यह कहना है कि वेदांतसूत्रों को रचनेवाले बादरायण व्यास ने ही महाभारत को वर्तमान रूप दिया होगा, क्लिष्ट कल्पना है तथा किसी ऐतिहासिक आधार पर स्थित न होने से माननीय नहीं है।

यदि हम यह कल्पना सत्य भी मान लें तो प्रश्न उठता है कि बादरायणाचार्य ने गीता में ब्रह्मसूत्र का हवाला क्यों दिया जब कि उन्हें वेदांतसूत्र अभीष्ट था। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार वेदांत-सूत्र-कर्ता तथा महाभारत को वर्तमान रूप देनेवाला आचार्य गीता में ब्रह्मसूत्र लिखकर परिवर्तन कर सकता है, तो जिन द्वैपायन व्यास ने ब्रह्मसूत्र एवं गीता लिखी हैं, उनको यह कार्य करने में क्या कठिनाई थी। और यह सीधी साधी बात मान लेने में क्या आपत्ति है कि वेदव्यास ने ही ब्रह्मसूत्र गीता के पहले रचकर उसका हवाला गीता में दिया है।

इन कारणों से हम लोकमान्य के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने पंडित गिरधर शर्मा के ब्रह्मसूत्र - विषयक अंश की आलोचना इस प्रकार की थी —

"इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस समय धार्मिक असहिष्णुता समाज में बढ़ रही थी। भिन्न भिन्न दर्शनों के भिन्न भिन्न मतों का प्रचार हो जाने से उनके अनुयायी अलग अलग समूहों में बह रहे थे तथा कर्म, उपासना और ज्ञान भी जुदे जुदे ग्रंथ बनाकर समाज में भेदभाव फैला रहे थे। ज्ञानी उपासकों की निंदा करते, उपासक कर्मकांडियों को छोटा समझते तथा कर्मकांडी और उपासक - ज्ञानियों को ढोंगी कहते थे। अति होने पर यह विभिन्नता भी समाज के लिए घातक सिद्ध होती। यह खतरा भगवान् वेदव्यास की गंभीर दृष्टि से बचा नहीं था, इस खतरे को मिटाने का उन्होंने ब्रह्मसूत्र में और भगवद्गीता में खूब प्रयत्न किया है।"[९]

उक्त आलोचना का उत्तर पंडित गिरधर शर्मा ने जिस अवतरण में दिया है वह यह है —

"जिस ब्रह्मसूत्र को वह शंकराचार्य के गुट का अर्थात आठवीं - नवीं शती का मानते हैं; उसका तो व्याकरण के सूत्रकार महामुनि पाणिनि ने भी **'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट-सूत्रयोः** — इस सूत्र में उल्लेख किया है। वह जो बादरायण को वेदव्यास से पृथक सिद्ध करते हैं — इसी पाणिनि सूत्र से यह बात भी कट जाती है, क्योंकि पाणिनि ने पराशरपुत्र

८. साप्ताहिक हिंदुस्तान २३ सितंबर १९५६, पृ० ३७।
९. साप्ताहिक हिंदुस्तान ८ जुलाई सन् १९५६, पृ० ३।

व्यास को ही भिक्षुसूत्र का प्रणेता कहा है। संन्यास मार्ग के प्रतिपादक और संन्यासियों के पठनीय होने के कारण इन सूत्रों की उस समय भिक्षु सूत्र के नाम से ही प्रसिद्धि थी, ऐसा मानने में कोई अड़चन नहीं क्योंकि व्यासप्रणीत दूसरे भिक्षुसूत्र कहीं प्राप्त नहीं है। जैसे पाणिनि - विरचित सूत्रों को व्याकरण - सूत्र, पाणिनीय, सूत्र या अष्टाध्यायी सूत्र भी कहा जाता है, इसी प्रकार उक्त सूत्रों को ब्रह्मसूत्र, भिक्षुसूत्र या पाराशरि सूत्र भी कहा जाता है।

"यह ठीक है कि ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध विद्वानों का खंडन है किंतु यह तो नहीं माना जा सकता कि बौद्ध सिद्धांत श्री शाक्यसिंह ने ही प्रचलित किए। बौद्ध सिद्धांत तो बहुत प्राचीन समय के हैं जैसा कि बौद्ध ग्रंथकारों ने भी माना है। पहले भी अनेक बुद्ध हो चुके थे। श्री शाक्यसिंह ने उन्हीं का अनुकरण किया। इसका प्रमाण यह है कि श्रमण शब्द जो बौद्ध सन्यासियों के लिए प्रयुक्त होता है वह शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें कांड में भी सुषुप्ति अवस्था के निरूपण में प्रयुक्त हुआ है और बुद्ध के असद्वाद का निराकरण भी उसी १४वें कांड में है। यह तो कदाचित चतुरसेन जी भी मानते होंगे कि शतपथ ब्राह्मण की रचना शाक्यसिंह के बाद की नहीं है। तब यही मानना होगा कि बौद्ध सिद्धांत बहुत पुराने हैं और उन्हीं की आलोचना ब्रह्मसूत्रों में की गई है।"[१०]

महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने ब्रह्मसूत्र का निर्माण किया है इसमें तो अब कोई संदेह नहीं रहता। दिक्कत तब आती है जब कि मौजूदा वेदांतसूत्रों को ही महर्षि व्यास द्वारा प्रणीत कहा जाता है। पाणिनि ने भिक्षु सूत्र का प्रणेता पराशरपुत्र व्यास को कहा है। इससे यह बात कैसे कट जाती है कि बादरायण, वेदव्यास से पृथक् नहीं हैं। ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता व्यास है तो वेदांतसूत्र के प्रणेता बादरायण। महामहोपाध्याय जी ने ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया जिससे यह प्रमाणित हो सके कि वेदव्यास एवं बादरायण जी व्यास एक ही व्यक्ति हैं तथा ब्रह्मसूत्र तथा वेदांत सूत्र एक ही ग्रंथ का नाम है। शर्मा जी के इस कथन को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि ब्रह्मसूत्र को ही भिक्षुसूत्र या पराशरि सूत्र कहते हैं। हमारा चतुर्वेदी जी से इसी में मतभेद है कि बादरायण व्यासदेव से भिन्न व्यक्ति हैं तथा ब्रह्मसूत्र से वेदांत सूत्र अलग पुस्तक है। जब तक पूर्ण रूप से यह सिद्ध न हो जाए कि वेदव्यास तथा बादरायण व्यास एक ही व्यक्ति हैं तब तक इन दोनों को अलग अलग ही माना जाएगा। इस विषय में चिंतामणि विनायक वैद्य ने अपने ग्रंथ महाभारतमीमांसा तथा लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में विशद् विवेचन करके यह मत स्थापित किया है।

पंडित गिरधर शर्मा जी ने अपने समर्थन में कहा है कि श्रमण शब्द जो बौद्ध सन्यासियों के लिए प्रयुक्त होता है, वह शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें कांड में भी सुषुप्ति अवस्था के निरूपण में प्रयुक्त हुआ है और बुद्ध के असद्वाद का निराकरण भी इसी १४वें कांड में है इसके लिए निवेदन है कि गौतम बुद्ध ने आर्य साहित्य तथा धर्म का गहन अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उनका धर्म भी भारतीय धरातल पर ही फला फूला है। ऐसी अवस्था से भगवान बुद्ध ने कुछ शब्द तथा विचार अपने धर्म में ग्रहण कर लिए तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनके पूर्व के विचार भी उनके ही द्वारा प्रतिपादित हुए।

१०. साप्ताहिक हिंदुस्तान २२ सितंबर १९५७, पृ. ३७।

चतुर्वेदी जी कहते हैं "बौद्ध सिद्धांत तो बहुत प्राचीन समय के हैं जैसा कि बौद्ध ग्रंथकारों ने भी माना है। पहले भी अनेक बुद्ध हो चुके थे – श्री शाक्यसिंह ने उनका ही अनुकरण किया।" इस विषय में अब हमें देखना है कि इन पहले के बुद्धों ने बौद्ध धर्म के लिए क्या दिया जिसका अनुकरण शाक्यसिंह ने भी किया है।

बौद्ध साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि पूर्व के तथाकथित अनेक बुद्धों के वर्णन तथा उनके उपदेश आदि का इतिवृत्त जातक कथाओं में संगृहीत है। जातक कथाओं में ही हमें मिलता है कि बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व भगवान बुद्ध किन किन योनियों में रहे और वहाँ उन्होंने क्या क्या कार्य किए। इन जातक कथाओं में बौद्ध धर्म का कितना इतिवृत्त है और ये कहाँ तक बौद्ध धर्म संबंधित है – इस विषय में प्रसिद्ध विद्वान रिस डेविस का कथन है–

'बट आइ वेंचर टु गो फारदर एंड टु सजेस्ट दैट द कैरेक्टर आव दीज़ टेन अर्लियर जातकज, इन देयर प्रि- जातक शेप, इनेबुलस अस टु ट्रेस देयर हिस्टरी बैक बियॉंड द बुद्धिस्ट लिटरेचर आल्टुगेदर। नन आव देम इज स्पेशली बुद्धिस्ट। दे आर मौडीफाइड, परहैप्स मोर आर लेस टु सूट बुद्धिस्ट एथिक्स। बट इवेन द महा सुदस्सन हिच इज़ द मोस्ट सो, इज इन द मेन सिंप्ली ऐन एंश्येंट इंडियन फोक लोर। देयर इज़ नथिंग प्राइमरिली बुद्धिस्ट एबाउट देम। ईवेन द एथिक्स दे इन्कल्केट आर इंडियन। ह्वाट इज बुद्धिस्ट एबाउट देम इन दिस देयर ओल्डेस्ट शेप इज ओन्ली सेलेक्शन्स मेड। देयर वाज आफ कोर्स, मच अदर फोकलोर हर्ड अप विद सुपरस्टिशन। दिस इज लेफ्ट आउट एंड दिस एथिक इज आफकोर्स आव ए भेरी सिंपुल काइंड। इट इज मिल्क फोर बेबीज।[११]

[अर्थात् मैं इसके आगे बढ़कर यह कह सकता हूँ कि इन दस जातक कथाओं का वृत्त इनके जातक कथाएँ बनने के पूर्व की शक्ल में हमको उनका इतिहास जानने के लिए समस्त बौद्ध साहित्य से आगे जाना पड़ेगा। उनमें से कोई भी खास तौर पर बुद्ध-संबंधी नहीं है। उन्हें न्यूनाधिक परिवर्तन करके बौद्ध धर्म के अनुकूल बनाया गया है! किंतु महासुदस्सन भी, जो कि अधिकांश ऐसा ही है, मूलरूप में सूर्यपूजा की एक भारतीय कथा है। और शेष बुद्ध के पूर्व की भारतीय जनगाथाएँ हैं। उनमें बुद्ध संबंधी खासियत कुछ भी नहीं है। उनमें बुद्ध-संबंधित क्या है, केवल इस प्राचीनतम रूप में उनका चुनाव है। वास्तव में दूसरी जन गाथाएँ भी थीं किंतु उनमें दकियानूसी थी – इस कारण छोड़ दी गई। और धर्म जो उनमें है बहुत ही साधारण किस्म का है। वह तो बच्चों के दूध के समान है।]

जातकों में जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वह जब बहुत ही साधारण किस्म का है यानी बच्चों के दूध के समान तो ऐसी दशा में हमारे पास ऐसा कोई जरिया नहीं है जिससे हम संतुष्ट हो सकें कि बौद्ध सिद्धांत शाक्यसिंह के पूर्व के थे जिनका उन्होंने अनुकरण किया था। यदि शाक्य मुनि भी जातक के बुद्धों जैसा ही कार्य करते और उनका ही अनुकरण करते तो संभवतः बौद्ध धर्म आज विश्वधर्म न बनता और उनकी भी कथा एक जातक कथा में लिखी रह जाती।

११. रिज डेविस, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० १९७।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वेदांतसूत्र ही ब्रह्मसूत्र है जैसा कि आजकल माना जाता है और जिसके चतुर्वेदी जी भी समर्थक हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की आलोचना के उत्तर में उन्होंने यह माना है कि ब्रह्मसूत्रों (वेदांतसूत्रों) में बौद्ध सिद्धांतों का खंडन है, किंतु उनका कथन है कि बौद्ध सिद्धांत तो बहुत प्राचीन समय के हैं, पहले भी अनेक बुद्ध हो चुके थे तथा श्री शाक्यसिंह ने उन्हीं का अनुकरण किया। चतुर्वेदी जी की उपर्युक्त धारणा तथ्य के आधार पर नहीं है। क्योंकि यह सर्वविदित है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् जैन धर्मावलंबियों के समक्ष खड़े रहने तथा अपने धर्म को अनादित्व देने के लिए ही बौद्ध आचार्यों ने जातक कथाओं का निर्माण, या यों कहिये उस समय प्रचलित गाथाओं का संपादन किया। वेदांतसूत्र में जिन बौद्ध सिद्धांतों का खंडन है, वे तो स्वयं शाक्यसिंह के समय में भी प्रचलित नहीं थे। शाक्यसिंह ने चूँकि बौद्ध धर्म की स्थापना की थी, इस कारण वह अपनी शैशव अवस्था में थे और उस समय उनके विचार प्रौढ़ न थे अपितु साहित्य भी बहुत कम निर्मित हुआ था। ऐसी दशा में जिन सिद्धांतों का खंडन वेदांतसूत्रों में है, उनका प्रतिपादन बुद्ध के समय से पूर्व होना संभव नहीं। इस विषय में श्री चिंतामणि विनायक वैद्य की मान्यता द्रष्टव्य है —

"बादरायण कृत वेदांतसूत्रों का समय प्रायः निश्चित सा है। इनका निर्माण ईसवी सन् के पहले १५० से १०० तक के समय में हुआ है। इनमें बौद्ध और जैन मतों का खूब खंडन किया गया है। पाशुपत और पांचरात्र मतों का भी खंडन इन सूत्रों में है। ऐसी दशा में कहना चाहिए कि बौद्ध और जैन मतों के गिर जाने पर यह ग्रंथ बना होगा। अर्थात् जब मौर्य वंश का उच्छेद हो गया और पुष्पमित्र तथा अग्निमित्र नामक राजाओं ने ईसवी सन् के पहले १५० के लगभग मगध राज्य को अपने अधीन कर लिया, तब यह ग्रंथ बना होगा। ये दोनों सम्राट पूरे सनातन धर्माभिमानी थे। इन्होंने बौद्ध धर्म को गिराकर यज्ञादि कर्मों का फिर से आरंभ किया था। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। सारांश, इनके समय में आर्य धर्म की पूरी विजय हो गई थी। इनके समय में ही वेदांत-तत्वज्ञान की प्रबलता प्रस्थापित हुई है। यह आश्चर्य की बात है कि इन राजाओं के समय (ई० पू० १०० वर्ष) के इन ग्रंथों का उल्लेख महाभारतांतर्गत गीता के श्लोक में पाया जाय। इस आश्चर्य का कारण यह है कि महाभारत में बौद्ध और जैन मतों का खंडन नहीं है। इसी प्रकार पांचरात्र और पाशुपत तथा सांख्य और योग मतों का भी खंडन न होकर इन सबका मेल मिलाया गया है। ऐसी दशा में तो महाभारत वेदांतसूत्रों के पहले का होना चाहिए और भगवद्गीता तो उसके पहले की है। यदि भगवद्गीता में वेदांतसूत्रों का उल्लेख पाया जाता है तो कहना पड़ेगा कि महाभारत का और भगवद्गीता का भी समय ई० पू० १५० वर्ष के आर का है।"[१२]

संप्रति यदि वर्तमान महाभारत को संपूर्णतः महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रणीत भी मान लें तो यह कैसे संभव होगा कि महाभारत में तो व्यास ने बौद्ध, जैन, पांचरात्र और पाशुपत तथा सांख्य योग मतों का मेल मिलाया, और वेदांतसूत्र में जो कि महाभारत से भी पूर्व की मानी जाता है, व्यास ने ही पर्याप्तरूप से खंडन किया।

१२. महाभारतमीमांसा, पृ० ५४।

इसी प्रकार यदि गीता को व्यासकृत न मानकर किसी ऐसे व्यक्ति का मानें जिसने गीता को वर्तमान रूप दिया और वेदांतसूत्रों की रचना की, जैसा कि लोकमान्य तिलक ने कल्पना की है, तब भी यह मेल नहीं बैठता। श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के शब्दों में—

"भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र अथवा वेदांतसूत्र के कर्ता एक नहीं हो सकते। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि वेदांतसूत्रकार का प्रधान शत्रु सांख्य ही है जिसका खंडन उसने बहुत मार्मिक रीति से और विस्तार से किया है। सांख्यमत के खंडन को शंकराचार्य ने 'प्रधान-मल्ल-निर्बहण' कहा है और इसी के साथ 'एतेन योगः प्रयुक्तः' इस प्रकार योग का भी खंडन वेदांतसूत्रों में है। भगवद्गीता में यह बात नहीं है। उसमें सांख्य और योग दोनों को स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि सांख्य को प्रथम संमान दिया गया है। सारांश, भगवद्गीता ने सांख्य और योग को अपनाया है परंतु वेदांतसूत्रों ने इन दोनों को लथेड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों का कर्ता एक नहीं हो सकता और न दोनों का समय ही एक हो सकता है।"[13]

यह तो सर्वविदित है कि महर्षि वेदव्यास के पाँच शिष्य—सुमंतु, जैमिनी, पैल, शुक और वैशंपायन थे जिन्होंने पाँच भिन्न भिन्न संहिताओं या महाभारतों की रचना की थी।[14] अब क्या यह संभव है कि इन्हीं अपने किसी शिष्य द्वारा प्रतिपादित किसी 'वाद' के मत का स्वयं महर्षि अपने पूर्वलिखित ग्रंथ में खंडन करें, जैसा कि निम्न अवतरण से प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र की रचना व्यासदेव महाभारत से पूर्व कर चुके थे। इस कारण उसका हवाला उन्होंने अपनी गीता में दिया। अपना 'जय' ग्रंथ लिखने के पश्चात् उन्होंने अपने शिष्य को 'भारत' ग्रंथ लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।

ऐसी दशा में ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव के लिए यह कैसे संभव हो गया कि वे अपने ही शिष्य द्वारा प्रतिपादित मत का खंडन करें। निम्नलिखित सूत्र इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं —

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ३।२।४० ॥[15]
पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ॥ ३।२।४१ ॥[16]

१३. महाभारतमीमांसा, पृ० ५७।

१४. लोकमान्य तिलक – गीतारहस्य पृ० २४६।

१५. आचार्य जैमिनी मानते हैं कि युक्ति और वैदिक प्रमाण – इन दोनों कारणों से यह सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फल का दाता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि खेती आदि कर्म करने से अन्न का उत्पत्तिरूप फल होता है। इसी प्रकार वेद में भी 'अमुक फल की इच्छा हो तो अमुक कर्म करना चाहिए', ऐसा विधि वाक्य होने से यह सिद्ध होता है कि कर्म स्वयं ही फल का देनेवाला है, उससे भिन्न किसी कर्मफल-दाता की कल्पना आवश्यक नहीं।

१६. सूत्रकार व्यास जी कहते हैं कि जैमिनि जो कर्म को ही फल देनेवाला कहते हैं, वह ठीक नहीं, कर्म तो निमित्त मात्र होता है। वह जड़, परिवर्तनशील और क्षणिक होने के कारण फल की व्यवस्था नहीं कर सकता। अतः जैसा कि पहले कहा गया है, वह परमेश्वर ही जीवों को कर्मानुसार फल देनेवाला है क्योंकि श्रुति में ईश्वर को सबका हेतु बताया है।—वेदांतदर्शन पृ० २७४, श्री हरिकृष्णदास गोयंदका।

सारांश यह कि उपर्युक्त समस्त विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वेदांतसूत्रों के बनानेवाले व्यास बादरायण व्यास हैं और महाभारत के कर्ता द्वैपायन व्यास हैं। महाभारत में बादरायण का नाम कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे शब्दों में गीता में जिस ब्रह्मसूत्र की चर्चा है, उससे वर्तमान वेदांतसूत्र का कोई संबंध नहीं।

— नरेंद्रसहाय सक्सेना

चयन

रोडा कृत 'राउल वेल' (राजकुल विलास)

[ग्यारहवीं शती का एक शिलांकित भाषाकाव्य]

डा० माताप्रसाद गुप्त

हिंदी अनुशीलन (धीरेंद्र वर्मा विशेषांक) में प्रकाशित निबंध का सार —

रोडा कृत 'राउल वेल' दामोदर पंडित के 'उक्ति - व्यक्ति - प्रकरण' से भी पूर्व की रचना है जिसके संबंध में एक बड़ी बात यह है कि इसका पाठ शिलांकित होने के कारण अपने मूल रूप में सुरक्षित है। यह शिलालेख प्रिंस आफ वेल्स म्युजिअम, बंबई में सुरक्षित है। इसका आकार ४५ इंच × ३३ इंच है। यह कहाँ पर प्राप्त हुआ, ठीक ज्ञात नहीं है। वर्तमान रूप में यह भग्न अवस्था में है। लेख के बाएँ भाग में लेख कर्णवत् टूट गया है जिससे प्रत्येक पंक्ति के तीन चार अक्षर नष्ट हो गए हैं। शिलालेख कदाचित् अपने समग्र रूप में प्राप्त है और किसी बड़े लेख का अंश मात्र नहीं है। अंतिम पंक्ति का अधिकांश घिसकर निकल जाने के कारण लेख की तिथि अनिश्चित है। इसकी लिपि संपूर्ण रूप से भोजदेव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है। अतः इस लेख का समय 'कूर्मशक' के उक्त शिलालेख के आसपास ही, अर्थात् ११वीं शती ई० होना चाहिए। इसका लेखन - स्थान त्रिकलिंग होना चाहिए, जहाँ का इसका नायक था। यहाँ गौड़ तथा गोदावरी तटवर्तियों का उल्लेख है। ११वीं तथा १२वीं शती में त्रिकलिंग कलचुरि वंशीय राजाओं के शासन में था, जो गौड़ न थे। अतः यह लेख उनके किसी सामंत से ही संबंधित हो सकता है। इस लेख का विषय उक्त सामंत की नायिकाओं का नखशिख है। कुल छह नखशिख इस लेख में आते हैं। प्रथम पाँच नखशिख पद्य में तथा छठा गद्य में है। लेख की भाषा पुरानी दक्षिणी कोसली है, जैसे 'उक्ति - व्यक्ति - प्रकरण' की पुरानी कोसली।

रचना के अंत में "रोडें राउलवेल वरखा [णी]। [पुणु?] तहं भासहं जइसी जाणी।" (पंक्ति ४९) आता है। अतः कवि का नाम रोडा या रोड तथा रचना का नाम 'राउल-वेल' (=राजकुल-विलास) प्रकट होता है। इसमें किसी सामंत के रावल (राजभवन) की रमणियों का वर्णन है। इस लेख में व और ब एक ही प्रकार से लिखे गए हैं। ण का प्रयोग बहुतायत से है — कभी कभी न के लिये भी। प्रस्तुत निबंध में भूमिका के बाद रचना का संपादित पाठ देकर उसकी व्याख्या का प्रयास है। भाषा की दृष्टि से रचना का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

इस रचना पर डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भयाणी पहले से ही कार्य कर रहे थे। यह ज्ञात होने पर लेखक ने अपना कार्य भयाणी जी के निबंध के प्रकाशन (भारती विद्या, भाग १७, अंक ३ - ४, पृ० १३० - १४६) के उपरांत प्रकाशित कराया। अतः भयाणी जी के मतों पर भी लेखक ने अपने सुझाव भी दिए हैं। अंत में लेख की मसि छाप, संपादित मूल पाठ तथा व्याख्या है।

मध्यदेश का एक अज्ञात सांस्कृतिक केंद्र अंगईखेड़ा

डा० जगदीश गुप्त

हिंदी अनुशीलन (धीरेंद्र वर्मा विशेषांक) में प्रकाशित निबंध का सारांश —

मध्यदेश के प्रमुख सांस्कृतिक केंद्रों में हस्तिनापुर, इंद्रप्रस्थ, कांपिल्य, संकाश्य, अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुब्ज, नैमिषारण्य, कौशांबी, श्रावस्ती, सारनाथ, काशी और प्रयाग की गणना है पर उसमें किसी प्रकार 'अंगई खेड़ा' (जिला हरदोई) का नाम मिलना संभव नहीं। इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में इसका महत्व सर्वथा अज्ञात रहा। इस क्षेत्र के निवासी भी इसके इतिहास से अनभिज्ञ रहे। जो कुछ परिचय हुसेन खाँ ने अपने 'नामा-ए-मुजफ्फरी' में दिया है, वह उन्हें इस प्रकार ज्ञात है —

"जिस जगह पर अब यह कस्बा शाहाबाद है, एक कस्बा 'अंगई खेड़ा' के नाम से बसा था और उसमें ठठेरों की कौम आबाद थी......इस कस्बए अंगईखेड़ा की आबादी की मुतल्लिक हमें कोई तारीख हिंदी नहीं मिली मगर हमारे एक महक्क्किक दोस्त ने, जो कौम हिंदू थे, एक संस्किरत की पोथी से तर्जुमा करके कुछ बयान लिखाये जो नज्र हाजिरीन पेश किए जाते हैं : 'रवायत है कि अंगई अस्ल में अंगदगढ़ था। राजा अंगद ने यह बस्ती अपने नाम से बसाई थी। राजा अंगद महाराजा रामचंद्र के सिपहसालार थे...—बाज राजा अंगद को महाराजा रामचंद्र की औलाद भी बताते हैं।' "

इसी विवरण में पाँच प्रसिद्ध कुओं के अतिरिक्त नर्वदा, बाराहवर्त आदि नौ तीर्थों की गणना भी है। लोक में इनकी कुछ स्मृतियाँ भी सुरक्षित हैं। मुजफ्फर खाँ के अनुसार 'कस्बा शाहाबाद मुल्के अवध का सबसे बड़ा कस्बा है।' इस विवरण से अंगईखेड़े का महत्व सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्पष्ट है।

प्रस्तुत निबंध में वहाँ से उपलब्ध कतिपय इष्टक - खंड, सीलों, मुद्राओं आदि अभिलिखित वस्तुओं, पंचमार्क सिक्कों - ताम्रमुद्राओं, मूर्तियों (टेराकोटा), अर्चा सरोवर और नैगमेष तथा सिनीवाली - मूर्ति आदि का परिचय देते हुए इस क्षेत्र पर विस्तृत अध्ययन - संभावनाओं पर बल दिया गया है। सारा हरदोई जिला ऐसे टीलों - खंडहरों से भरा है जिनका विधिवत सर्वेक्षण अभी नहीं हुआ है।

वररुचि की पत्रकौमुदी

सुरेशचंद्र बनर्जी

बुलेटिन आव द दकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, खंड २०, भाग १ – ४ में प्रकाशित 'पत्र - कौमुदी आव वररुचि' का सारांश—

वररुचि कृत मानी जानेवाली 'पत्रकौमुदी' छोटी सी रचना है। एक प्रारंभिक श्लोक में कहा गया है कि लेखक ने इसे प्रसिद्ध (कीर्तिसिंधु) राजा विक्रमादित्य के आदेश पर रचा। 'विक्रमादित्य' की उपाधि भारत के कई सम्राटों ने धारण की और कम से कम छह वररुचि भी संस्कृत में सुपरिचित हैं। अतः लेखक की पहचान और रचना का काल - निर्धारण करना

कठिन है। एक श्लोक (सं० २३) से ऐसा लगता है ग्रंथरचना के समय तक प्राकृत भाषा प्रयोग में थी। यहाँ इस रोचक रचना का सारांश देने का उपक्रम है।

देवों तथा देवियों को नमस्कार के उपरांत लेखक ने राजा, मंत्री, पंडित, गुरु, पति भार्या, पिता, पुत्र, शत्रु आदि के प्रति लिखे जाने वाले पत्रों के नियम आदि का निर्देश किया है—यथा, कागज का तीन भागों में मोड़ना चाहिए, ऊपर के दोनों मोड़ छोड़कर अंतिम भाग में संवाद लिखना चाहिए।

राज - पत्र - लेखक के गुण यों बताए गए हैं — १. मंत्रणा में कुशल, २. राजनीति और धर्म में निपुण, ३. अनेक भाषाओं तथा लिपियों में गति, ४. सद्‌गुणी ५. शांति, युद्ध तथा राजधर्म का ज्ञान, ६. सदा राजा का शुभचिंतक, ७. सत्यवादी, आत्मनिरोधी, विवेकी तथा स्पष्ट वक्ता। राजा की आज्ञा पर लेखक आदेशानुसार प्रारूप प्रस्तुत करे तथा राजा की स्वीकृति पर उसे अंतिम रूप दे। पहले 'स्वस्ति', तदुपरांत 'श्री', कुशल (संस्कृत में) लिखकर संस्कृत या प्राकृत में शुभ अशुभ समाचार लिखकर प्रशस्ति श्लोक के बाद 'किमधि-कम्' आदि लिखा जाए।

पत्रों के सही रूपों के ज्ञान की ओर उस समय बड़ा महत्व दिया जाता था।

पत्र का आरंभ राजा को 'महाराजाधिराज', 'दानशौंड' आदि से, मंत्री को गुणानुवाद से, विद्वान् को प्रणाम या नमस्कार-संख्या आदि से होना चाहिए। इसी प्रकार पति, भार्या पिता, पुत्र आदि के पत्रों में संबोधनों आदि का निर्देश है। पत्रों के अनुसार 'श्री' - संख्या निर्दिष्ट है—६ श्री गुरु को, ५ श्री पति को, भृत्य को २, पुत्र को १ आदि।

ग्रंथ के पर्यवेक्षण से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में पत्र - लेखन - कला आवश्यक थी तथा उसके सुनिश्चित नियम थे।

पत्रकौमुदी के अनुसार पत्र का रूप प्रायः निम्नलिखित होगा—

(१) स्वस्तिश्री...उपाधियुक्त नाम

(२) कुशल

(३) शुभाशुभ वार्ता

(४) पत्र का मुख्य अंश

(५) प्रशस्तिपद्य

(६) किमधिकम् आदि

(७) लेखन - प्रेषण - तिथि - युक्त पद्य

पत्रकौमुदी

[श्री मद्वररुचि कृता]

* श्रीमत्कृष्णपदारविन्दयुगलं ब्रह्मेश्वराद्यमर-
श्रेणीनम्र किरीट कोटिवडभिपुष्पार्चितं सन्ततम् ।
वाणीं च प्रणमामि विश्वजननीं प्रत्यूह विध्वंसिनीम्
भक्तानुग्रहविग्रहां भगवतीं नित्यं वचोवृद्धये ॥ १ ॥

विक्रमादित्यभूपस्य कीर्त्ति सिन्धोर्निदेशतः ।
श्रीमद्वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम् ॥ २ ॥

राज्ञां मन्त्रि प्रवीराणां पण्डितानां तथैव च ।
गुरूणां स्वामिभार्याणां तथैव पितृपुत्रयोः ॥ ३ ॥

संन्यासिभृत्यशत्रूणां तथैवान्यविवेकिनाम् ।
एतेषामपि सर्वेषां पत्रचिह्नादिकं ब्रुवे ॥ ४ ॥

अथानुक्रमणिका —

पत्राणां रञ्जनं चैव पत्रप्रमाण भङ्गकम् ।
पत्रलेखकचिह्नानि पत्रस्य रचनाक्रमः ॥ ५ ॥

पत्रलेखप्रकारश्च पत्रस्य नयनक्रमः ।
पत्रस्य पठनं चैव पत्रचिह्नं ततः परम् ॥ ६ ॥

पदन्यासप्रकारश्च पत्रकोणस्य कर्तनम् ।
प्रशस्तिपदविन्यासः श्रीशब्दस्य पदक्रमः ॥ ७ ॥

उत्थाप्याकाङ्क्षयपत्रं च शङ्कितलिखनक्रमः ।
अङ्कपत्रविभाषा च भाषापत्रस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

कीर्तिवर्णनश्लोकाश्च प्रीतिश्लोकास्तथैव च ।
नीतिश्लोकाश्च ग्रन्थेऽस्मिन् समासेनोपवर्णिताः ॥ ९ ॥

अथ पत्ररञ्जनम् —

सुवर्णरूप्यरङ्गाद्यै रञ्जयेत् पत्रमुत्तमम् ।
सामान्येन तु मध्यानां पत्ररञ्जनमीरितम् ॥ १० ॥

* पाद टिप्पणियों में दिए पाठभेद छोड़ दिए गए हैं । —संपादक

अथ पत्रप्रमाणम् —

षडङ्गुलाधिकं हस्त पत्रमुत्तममीरितम् ।
मध्यमं हस्तमात्रं स्यात् सामान्यं मुष्टिहस्तकम् ॥ ११ ॥

अथ पत्र भङ्गप्रकारः —

पत्रं तु त्रिगुणीकृत्य ऊर्द्ध्वे तु द्विगुणं त्यजेत् ।
शेषभागे लिखेद्वर्णं गद्यपद्यादिसंयुतम् ॥ १२ ॥

अथ लेखकलक्षणम् —

ब्राह्मणो मन्त्रणाभिज्ञो राजनीतिविशारदः ।
नानालिपिज्ञो मेधावी नानाभाषासमन्वितः ॥ १३ ॥

मन्त्रणाचतुरो धीमान् नीतिशास्त्रार्थ कोविदः ।
सन्धिविग्रहभेदज्ञो राजकार्यविचक्षणः ॥ १४ ॥

सदा राजहितान्वेषी राजसन्निधि सङ्गतः ।
कार्याकार्यविचारज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

स्वरूपवादी शुद्धात्मा धर्मज्ञो राजधर्मवित् ।
एवमादि गुणैर्युक्तः स एव राजलेखकः ॥ १६ ॥

अथ पत्र रचनाक्रमः —

राजलेखकमाहूय नृपो ब्रूयात् प्रयत्नतः ।
पत्रं कुरु यथायोग्यं गद्यपद्यादि संयुतम् ॥ १७ ॥

पण्डितं स्वयमानीय लेखको रहसि स्थितः ।
यथायोग्यानुसारेण पत्रं कुर्यान्मनोरमम् ॥ १८ ॥

दिनद्वयत्रयं वापि विचार्य पण्डितेन वै ।
स्वभ्रान्तेर्दूषणं ज्ञात्वा विलिखेत् पत्रपुस्तकैः ॥ १९ ॥

सांमान्यपत्रे संलिख्य रहसि श्रावयेन्नृपम् ।
नृपाज्ञया श्रुते पत्रे विलिखेद् राजलेखकः ॥ २० ॥

अथ पत्रलेखनप्रकारः —

अङ्कुशं प्रथमं दद्यान्मङ्गलार्थे विचक्षणः ।
मध्ये विन्दुसमायुक्तमधः सप्ताङ्कसंयुतम् ॥ २१ ॥

तदधः स्वस्ति विन्यस्य ततो गद्यं सुशोभनम् ।
ततः श्रीशब्दरूपाणि पदन्यासक्रमं लिखेत् ॥ २२ ॥

भाषया संस्कृतेनैव कुशलं विलिखेत् सुधीः ।
ततः शुभाशुभां वार्ता संस्कृतैः प्राकृतैस्तथा ॥ २३ ॥

पत्रप्रमाणसन्देशं ततो वार्तां नियोजयेत् ।
कीर्तिप्रीतियुतं पद्यं ततः किमधिकादिकम् ॥ २४ ॥

पत्रप्रेषणश्लोकं च अङ्कमासादिसंयुतम् ।
सर्वेषामेव पत्रे-तु लिखनं चैवमीरितम् ॥ २५ ॥

सर्वेषामेव पत्राणां विधिं ज्ञात्वा लिखेत्तु यः ।
स्वदेशे कीर्तिमाप्नोति तथा देशान्तरेष्वपि ॥ २६ ॥

एवं शास्त्रक्रमं ज्ञात्वा यो लिखेद् राजपत्रकम् ।
स राजमन्त्रिभिः सार्द्धं न्यशः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ २७ ॥

शास्त्रसंदर्भमज्ञात्वा यो लिखेद् राजपत्रकम् ।
स राजमन्त्रिभिः सार्द्धं दुर्यशो महदाप्नुयात् ॥ २८ ॥

अथ पत्रनयनक्रमः —

राजपत्रं नयेन्मूर्ध्नि ललाटे राजमन्त्रिणाम् ।
गुरुपत्रं नयेन्मूर्ध्नि ब्राह्मणानां तथैव च ॥ २९ ॥

यतिसंन्यासिनां चैव स्वामिनश्च तथैव च ।
सादरेणैव यत्नेन तथा मूर्द्धनि धारयेत् ॥ ३० ॥

भार्यापुत्रस्य मित्रस्य हृदये धारयेत् सुधीः ।
प्रवीराणां कण्ठदेशे पत्रधारणमीरितम् ॥ ३१ ॥

एतेषां चैव पत्राणामुक्तं धारणलक्षणम् ।
अन्येषामपि पत्राणां नियमो नात्र दर्शितः ॥ ३२ ॥

अथ पत्रपठनप्रकारः —

पत्रं धृत्वा नमस्कृत्य पूर्वाग्रेणैव स्थापयेत् ।
दक्षिणाग्रेण सदसि नृपाग्रे राजलेखकः ॥ ३३ ॥

पत्रं वितत्य सदसि द्विवारं मनसा पठेत् ।
स्फुटं पश्चात् प्रवक्तव्यमक्षोभो राजलेखकः ॥ ३४ ॥

रहसि श्रावयेत् पत्रं शुभं वा यदिवाशुभम् ।
पत्रं श्रुत्वा विदित्वार्थं सभायां श्रावयेत्ततः ॥ ३५ ॥

रहस्यपत्रं रहसि नृपाग्रे श्रावयेद्द्विजः ।
अशुभं नैव सदसि शुभं पत्रं नृपाज्ञया ॥ ३६ ॥

एवं क्रमेण पत्रार्थं श्रावयित्वा द्विजोत्तमः ।
नृपतेः सन्निधौ स्थित्वा नृपाज्ञामनुवर्तते ॥ ३७ ॥

अथ पत्रचिह्नानि—

ऊर्ध्वं षडङ्गुलं त्यक्त्वा वर्तुलं चन्द्रबिम्बवत् ।
कस्तूरीकुङ्कुमैः कुर्याद्राजपत्रं सुचिह्नितं ॥ ३८ ॥

मन्त्रिणां कुङ्कुमेनैव पण्डितस्यैव चन्दनैः ।
गुरूणां चन्दनेनैव सिन्दूरेणैव स्वामिनः ॥ ३९ ॥

भार्यायाश्चाप्यलक्तेन चंदनैः पितृपुत्रयोः ।
संन्यासिनां चन्दनेन यतीनां कुङ्कुमेन च ॥ ४० ॥

रक्तचंदनपङ्केन भृत्यस्य समुदीरितम् ।
शोणितेनैव शत्रूणां पत्रचिह्नं प्रकल्पयेत् ॥ ४१ ॥

एतेषां चैव सर्वेषां यथायोग्यानुसारतः ।
पत्रस्योर्ध्वे तु मतिमान् कुर्याच्चिह्नं सुवर्तुलम् ॥ ४२ ॥

अथ राजपत्रस्य कोणच्छेदप्रकारः —

दक्षिणे पत्रकोणस्य अधस्ताच्छेदयेत् सुधीः ।
एकाङ्गुलप्रमाणेन राजपत्रस्य चैव हि ॥ ४३ ॥

अथ राजपत्रादेः पदन्यासः —

महाराजाधिराजं च दानशौण्डं तथैव च ।
तथा सच्चरितं योज्यं कल्पवृक्षादिकं न्यसेत् ॥ ४४ ॥

यथायोग्यानुसारेण तथैव गुणभेदतः ।
राजपत्रेषु सर्वेषु पदन्यासक्रमं विदुः ॥ ४५ ॥

अथ मंत्रिपत्रस्य—

प्रथमं गुणभेदेन तथा सच्चरितादिकं ।
विन्यस्य विलिखेत् प्राज्ञो मन्त्रिपत्रे पदक्रमम् ॥ ४६ ॥

अथ पंडितस्य—

संख्यावद्वन्दितपदं शास्त्रार्थनिपुणादिकम् ।
पण्डितानां च पत्रेषु विलिखेद् वै पदक्रमम् ॥ ४७ ॥

अथ गुरुपत्रस्य—

सांख्यसिद्धान्तनिपुणं नमस्कारादिकं पदम् ।
विन्यस्य विलिखेद् प्राज्ञो गुरुपत्रे पदक्रमम् ॥ ४८ ॥

अथ स्वामिपत्रस्य—

प्रवर्यं सनमस्कारं प्राणप्रियादिकं पदम् ।
विन्यस्य विलिखेद्धीमान् स्वामिपत्रे पदक्रमम् ॥ २९ ॥

अथ भार्यापत्रस्य—

प्राणप्रियापदं साध्वीं तथा सच्चरितादिकम् ।
भार्यापत्रे लिखेद् विद्वान् पदक्रममनुत्तमम् ॥ ५० ॥

अथ पितृपत्रस्य—

प्रभुवर्यं नमस्कारं तथा सच्चरितादिकम् ।
विन्यस्य विलिखेत् पुत्रः पितृपत्रे पदक्रमम् ॥ ५१ ॥

अथ संन्यासियतिपत्रस्य—

सर्ववाञ्छाविनिर्मुक्तं सर्वशास्त्रार्थपारगं ।
संन्यासियतिपत्रेषु विलिखेच्च पदक्रमम् ॥ ५२ ॥

सामान्यस्य—

सामान्यभृत्यशत्रूणां विनियोज्यामुकं प्रति ।
..... पदं भृत्यतुल्यादिकं तथा ॥ ५३ ॥

ऐतेषामेव पत्रेषु यथायोग्यानुसारतः ।
विन्यस्य विलिखेत् प्राज्ञः पदक्रममनुत्तमम् ॥ ५४ ॥

अथ श्रीशब्दविन्याससंख्या—

षड्गुरोः स्वामिनः पञ्च द्वे भृत्ये चरो नृपौ ।
श्रीशब्दां त्रयं मित्रे द्वयेकैकं पुत्रभार्ययोः ॥ ५५ ॥

अथ राज्ञः प्रशस्तिः —

स्वस्तिश्रीगीर्वाणचयचूडारत्नराजिरोचिश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणनखेन्दुवृन्दचन्द्रिकासन्दोहास्वादचतुरचेतश्चकोरवरविषमसमरसंचरत् -प्रबलतरतुरगखुरपुटपटलदलित-भूपृष्ठोत्थितद्भूयिष्ठधूलिधाराधूसरितसकलहरिदन्तकप्रचण्डभुजदण्डभ्राजमानखरतरारि-वित्रासितप्रत्यर्थिपृथ्वीपतिसार्थप्रार्थितानुकम्पासुधासम्पातानवरतविद्वद्दारिद्र्यविद्रावण द्रविणराशिदानविश्राणनसमुपार्जितयशो.....सञ्चितयशोमृणालजालभूपालकुलोज्ज्वल-तिलकश्रीलश्रीयुतमहाराजाधिराजेषु ॥

स्वस्तिसुचिराराधितश्रीविश्वेश्वरचरणसरोरुहानुग्रहसमासादितातिवितताऽनवद्य-विद्याविलासपीयूषपरम्परा.....विविधालंकारालङ्कृत.....

स्वस्तिप्रचण्डदोर्दण्ड.....मुक्तावलीमण्डितसंग्रा..... वारणवाहादिकाय-काण्ड.........नक्रचक्रचन्द्र... .....रतिक्रमणीयापगापतिप्रभूतयशश्चन्द्रचन्द्रिका-......खिलजगन्मङ्गलाविविधद्रविणार्पणसंतोषितसूरिसमूहस्तूयमानावदातकीर्तिनर्त-कीनर्तनलीलालेपलेपितगीतिधूरीणोर्वश्यादिवेश्याजनसविलासगीयमानगुणश्रवणान्दो -

लितश्रवणकुण्डलपरितः प्रसर्पितप्रतापतपनोचापितारातिः ... ... समध्यासितनि-कुञ्जकुञ्ज.........श्रीमन्नारायणचरणकिंकर श्रायुतमहाराजदानशौण्डेषु (१)

अथ मन्त्रिप्रशस्तिः —

श्रोम् स्वस्तिश्रीसमस्तसामन्तसेवकनिर्वाहकेषु कोशगोकृषिकृषीवलगजवाजिगृह-परि......नीतिसेतु......निपुणेषु श्रीश्रीमन्त्रिप्रवीरेषु......

अथ गुरुप्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीनारायणपादपा... ...मकरन्दमधु... ...मानसेषु विविधविद्या-विद्योति.........वेदवेदाङ्गपारगस्वाश्रमोचिताचारसंपन्नपरमहंसपारव्राजकाचार्यसेव्य मानश्रीगोविन्द......चरणारविन्देषु कोटिशः प्रणामः ॥

अथ भार्यायाः स्वामिप्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीमदुद्दामप्रेमहेमभूषिता... ...कामस्य... ...श्रीमत्स्वामिचरणार-विन्देषु गोविन्द इव इन्दिरायाः शङ्कर इव गिरिजायाः महेन्द्र इव पुलोमजायाः प्रतिदिनंवर्द्धमान ......राधनाप्रणामपूर्वमास्ताम् ॥

अथ भर्तुर्भार्याप्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीमत्समस्तप्रेम......लावण्य......प्रियतमायां नेत्रयुग्म...क्षणदा-यामिव कमलाकरस्य कमलिन्यामिव पथि......छायामिव तृषातुरस्य शीतलामृत-धारायामिव मम सप्रेमनिवेदयन्ती......सर्वदा ।

अथ पुत्रस्य पितरं प्रति प्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीमदभिनववशंवदचिच्चचिन्तितस्वीयानुरागानुरञ्जितानुगृहीतस्व......निजचरणसरोजरञ्जितपरागसंरक्तास्मदादिभालस्थलविशालभाग्यसंभावकेषु श्रीयुतपितृच-रणसरोरुहेषु अकिंचित्करकिंकरस्य मम बद्धकरसंपुटस्यावनीपृष्ठलग्नाः साष्टाङ्गप्रणतयः सहस्रमजस्रं विज्ञाप्यं च ॥

अथ पितुः पुत्रं प्रति प्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीविश्वेश्वरचरणसरोरुहाहानुग्रहसमासादिताति विततानवद्य विद्या-विलासपीयूषपरंपरा ...... विविधगुणालंकृतनिजवंशावतंससकलविश्वासनिधाननिज-कुलपवित्रीकृतात्मप्रायेषु श्रीयुत् शुद्धाचारपरिपूरितपुत्रेषु ॥ शुभाशिषां राशयः सन्तु विज्ञाप्यं च ॥

अथ संन्यासियतिप्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकरणनिपुण ... ... विषमविषयदोषा-दर्शन......वेदवेदान्तसांख्यासिद्धान्त......प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानशीलेषु ...वन्दित-

चरणारविन्द'·····परिपालनपवित्रीकृतधरित्रीतलेषु सकलभूदेवपूजित श्रीयुत गोस्वामिं-चरणारविन्देषु ममावनीसंलग्नाः साष्टाङ्गप्रणामसहस्रमजस्रं श्रों नमोनारायणेति मन्त्रेण-कलितमस्तु ।

अथ भृत्यप्रशस्तिः —

स्वस्ति भगवच्चरणपरायणसकलद्रविणाविरंजकगोमहिष्यादिप्रतिपालक निखिल वंशानुसेवकवशंवदा······भृत्यं प्रति ॥

अथारिप्रशस्तिः —

स्वस्ति सम······भ्रष्टप्रतिभटायशः परिपूरितसकलसामन्तराज·········राज-धानीविजृम्भितवीरशस्त्रावशोषित···नुरञ्जकखततपरित्रस्तशरणागतामुकं प्रति ।

अथ विवेकिनां प्रशस्तिः —

स्वस्ति श्रीभगवत्पदपङ्कजपूजनोपचित पुण्यपुञ्जपवित्रीकृतान्तःकरण····· मिलन्म······कला······निरवधिवसुविश्राणनाधरीकृतसुरपुरभूमिरुहेषु ॥

स्वस्ति श्रीमत्परमेश्वरपादपाथोरुहास्वादचतुर······वृन्दावनजनिता चित··· ···पङ्कपटलालङ्कृतदि······स्तनतटप्रबलप्र······प्रत्यर्थिसार्थगर्वाकूपारपारेषु ॥

इति श्रीमद्वररुचिकृता पत्रकौमुदी समाप्ता ॥

*

नि र्दे श

हिंदी - अनुशीलन (धीरेंद्र वर्मा विशेषांक), वर्ष १३ : अंक १ - २

यास्क द्वारा दी गयी 'दंड' शब्द की व्युत्पत्ति — एम० ए० मेहंदले।

पैशाची भाषा — शालिग्राम उपाध्याय।

भोजपुरी के ध्वनिग्राम — उदयनारायण तिवारी।

'व्रजबुलि' की भाषागत तथा व्याकरणगत विशेषताएँ — रामपूजन तिवारी।

संतसाहित्य के प्रामाणिक पाठ का प्रश्न — परशुराम चतुर्वेदी।

ग्वाल कवि — विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

हनुमान के चरित्रचित्रण का विकास — कामिल बुल्के।

चैतन्यमत के व्रजभाषा - साहित्य की खोज — प्रभुदयाल मीतल।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में संशोधन - निर्देश - जगदंशकिशोर बलबीर।

कुमाऊँनी में मुक्तक वर्णिक छंदयोजना - पुत्तूलाल शुक्ल।

अंग्रेजी

जर्नल आव द युनिवर्सिटी आव पूना (पुणें विद्यापीठपत्रिका) संख्या ११, १९५९

इंटरप्रिटेशन आव हिस्टरी (इतिहास की व्याख्या) — १ – टी० एस० शेजवाल्कर, २ – एस० जी० सरदेसाई, ३ – वी० के आप्टे, ४ – एल० वी० हरोलिकर।

बुलेटिन आव द दकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट (सुशीलकुमार दे फेलिसिटेशन वाल्यूम) खंड २०, भाग १ - ४

ए डांसिंग फिगर आन द चाल्कोलिथिक पौटरी फ्राम नागदा (नागदा के ताम्रपात्र पर एक नृत्यमुद्रा) — एन० आर० बनर्जी।

पिक्युलिअरिटीज इन द अलंकार - सेक्शन आव द अग्निपुराण (अग्निपुराण के अलंकार विभाग की विशेषताएँ) — सुरेशमोहन भट्टाचार्य।

म्यूचुअल बौरोइंग इन इंडो - आर्यन (भारतीय - आर्यों में आदानप्रदान) — सुनीतिकुमार चटर्जी।

सम ऐस्पेक्ट्स आव द गुप्त सिविलिजेशन (गुप्त सभ्यता के कुछ पहलू) — आर० एन० दांडेकर।

पूर्वमीमांसा सूत्र, ब्रह्मसूत्र, जैमिनि, व्यास एंड बादरायण — पी० वी० काणे

कंट्रीब्यूशंस टु द स्टडी आव अशोकज इंस्क्रिप्शंस (अशोक के शिलालेखों के अध्ययन में योगदान) —एल० अल्सडौफ।

आन द स्ट्रक्चर आव द विष्णुस्मृति (विष्णुस्मृति का गठन) — लूई रेनो।

लिरिक इन संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य में गीत) शिबानी दासगुप्ता।

*

स मी क्षा

रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना

शाखा के संबंध में शुक्लजी के विचार

हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक अध्ययन करनेवालों द्वारा भक्तिविषयक बहुत सी सामग्री इधर प्रकाश में आ रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास का निर्माण जिस समय हुआ उस समय तक बहुत सी बातें सामने नहीं थीं। रामभक्ति-साहित्य में मधुर भाव की उपासना अथवा रसिक - संप्रदाय की साधना से संबद्ध साहित्य की चर्चा, उपलब्ध सामग्री के अभाव में तब अपूर्ण थी। इस संप्रदाय से संबद्ध प्रचुर सामग्री का इधर परिचय मिला है और इसके साथ ही साथ सांप्रदायिक सिद्धांत की दृष्टि से उसके विश्लेषण - विवेचन का भी प्रयास आरंभ हुआ है।

जीवन और साहित्य के संबंध में शुक्लजी एक निश्चित दृष्टि और मान्यता लेकर ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में अवतरित हुए। उनकी चिंतनपद्धति के अनुसार भक्ति के क्षेत्र में भगवान् का सगुण रूप अधिक महत्वपूर्ण था। साथ ही साथ सगुण भक्तिधारा भी उन्हें साहित्य के अधिक अनुकूल प्रतीत हुई। पर उनको इतने से ही संतोष नहीं था। उन्हें भगवान का लोकरंजक, लोकरक्षक तथा लोकसंग्राही रूप अधिक मान्य और ग्राह्य लगा। इस कारण माधुर्यभाव और रागानुगाभक्ति एवं वात्सल्य, सख्य तथा शृंगारी भावना को लेकर चलनेवाली कृष्णभक्ति-शाखा की अपेक्षा तुलसी की रामभक्ति - शाखा उन्हें अधिक सुरुचिपूर्ण, स्वस्थ और लोक-हितकारी प्रतीत हुई। उनकी दृष्टि में साहित्य के द्वारा समाज और व्यक्ति के रागात्मक परि-वेशों और आयामों का परिष्करण, अनेक साहित्यिक उद्देश्यों में, एक प्रधानतर प्रयोजन था।

इसी कारण रामभक्तिशाखा में तुलसी के मर्यादावादी लोक - संग्रही एवं समाजोन्नायक भक्तिस्वरूप को उन्होंने सबसे अधिक प्रतिष्ठित भूमि पर स्थिर किया। मधुर भाव की उपासना को लेकर चलनेवाले रसिक - संप्रदाय को उन्होंने बड़े कटु और क्षोभपूर्ण शब्दों में अपनी आलोचना का विषय बनाया। सामग्री के अभाव का कारण तो था ही, पर इसी के साथ - साथ शुक्ल जी की उक्त मनोवृत्ति भी, रामभक्ति की पूर्वोक्त उपशाखा के प्रसंग में, तटस्थ शोध और साहित्यालोचन से उनका सामंजस्य बैठाने में बाधक रही। रामभक्तिशाखा में शृंगारी और अतिशय मधुर भावना के प्रवेश को वे अनर्गल, अपावन तथा बीभत्स विपर्यय कहने में भी संकोच न कर सके। साथ ही उन्होंने रसिकशाखा का अनुसंधान करनेवालों को सावधान रहने की कड़ी चेतावनी भी दी। संभवतः इस शाखा को वे अपेक्षाकृत अर्वाचीनतर मानते थे। उनकी दृष्टि में मानस के एक टीकाकार (अयोध्या के रामचरणदास जी) थे जिन्होंने पति - पत्नी भाव की उपासना प्रवर्तित की और शाखा का नाम 'स्वसुखी' रखा। शुक्लजी का ऐसा ख्याल था कि अनेक नवीन ग्रंथों को, जैसे—लोमशसंहिता, हनुमत्संहिता, भुशुंडिरामायण, महारामायण, कोशलखंड और महारासोत्सव आदि को प्राचीन बताकर और उनका नाम लेकर मत की पुष्टि की गई। और इस पंथ के आचार्यरूप में एक कल्पित व्यक्ति

'कृपानिवास' का नाम लिया गया। इसी प्रकार कुछ कटु आलोचनापूर्ण अन्य बातें भी उन्होंने अपने इतिहास में लिखीं।

नवीन सामग्री

परंतु इधर जो नई सामग्री शोध द्वारा सामने आई है और नए सूत्रों से जो ऐतिहासिक सूचनाएँ उपलब्ध हुई हैं उनसे ग्रंथों की सत्ता उतनी अर्वाचीन नहीं सिद्ध होती जितनी शुक्ल जी की घोषणा से ध्वनित होती है। यद्यपि यह सही है कि अधिकांश ग्रंथ बहुत प्राचीन नहीं हैं तथापि उनको एक दम अर्वाचीन और संप्रदायप्रवर्तकों का जाल भी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः हिंदी में इस संप्रदाय के प्रथम साहित्यकार अग्रदासजी कहे जा सकते हैं (जिनका दूसरा नाम अग्रअली भी था)। उन्होंने 'ध्यानमंजरी' और 'अष्टयाम' नामक ग्रंथों की रचना की। इनके ग्रंथों में मधुर भावना और रसिक उपासना के सिद्धांत, रामभक्ति के संबंध में, सामने आए। इसके अनंतर उक्त शाखा के साधक साहित्यकारों में अनेकानेक भक्त जन आते हैं जिन्होंने प्रचुर साहित्य का निर्माण किया है। नाभादास ने भी 'भक्तमाल' में मानदास, मुरारिदास आदि चार रसिक रामभक्तों का उल्लेख किया है।

मधुराचार्य का महत्व और संप्रदाय के मुख्य भक्त

स्वामी 'अग्रदास' और 'कीलदास'—दोनों ही स्वामी 'पयहारी कृष्ण जी महाराज' के शिष्य थे। अग्रदास जी की परंपरा में 'नाभादास' और 'प्रियादास' हुए और 'कीलस्वामी' की परंपरा में 'मधुराचार्य, मधुररसविजयशिरोमणि रामप्रपन्न' जी मधुरोपासक हुए। 'रामप्रपन्न जी' की उपाधि अपने सांप्रदायिक महत्व और शास्त्रीय विवेचनशीलता के कारण 'मधुराचार्य' पड़ी। इन्होंने शास्त्रीय पद्धति पर रामभक्ति में मधुरोपासना को लेकर 'रसिक संप्रदाय' के दार्शनिक पक्ष को संपुष्ट किया। जिस प्रकार बंगाल के 'षड्गोस्वामियों' ने और मुख्यतः 'सनातनगोस्वामी, जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने', गौड़ीय वैष्णव मधुरोपासना के शास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण किया उसी प्रकार **जीवगोस्वामी** के, भक्ति, प्रीति आदि षट्संदर्भ वाले विशालग्रंथ के अनुसार मधुराचार्य जी ने भी छः संदर्भोंवाले विशाल ग्रंथ द्वारा रामभक्ति के मधुरोपासक संप्रदाय का शास्त्रीय पक्ष प्रतिष्ठित किया। यद्यपि इसके दो संदर्भ ही सुंदरमणिसंदर्भ तथा वैदिकमणिसंदर्भ—प्रकाशित हो सके हैं तथापि पांडित्यपूर्ण और शास्त्रीय पद्धति से उन्होंने राम के रसिक संप्रदाय का पक्ष सिद्ध कर दिया। इन्होंने अपने सिद्धांत के समर्थनार्थ **बाल्मिकि रामायण** को प्रस्थान ग्रंथ के रूप में स्वीकार करते हुए उक्त ग्रंथ की स्वमत - समर्थक व्याख्या भी की।

'रसिक' साहित्य के निर्माताओं में अग्रदास, नाभादास, प्रेमकली, जानकी रसिक शरण, प्रेमसखी, रामचरणदास आदि यद्यपि अनेक साधक और विद्वान हुए जिन्होंने स्वल्प और विपुल, शास्त्रीय और भक्ति - उद्गार की कृतियों का निर्माण किया तथापि 'अग्रदास', 'बालसखे' या 'बाल अली,' रामसखे और 'मधुराचार्य' — इन चार महापुरुषों को इस संप्रदाय का व्यापक विकास करनेवालों में प्रमुख कह सकते है। अठारहवीं शताब्दी और विशेषरूप से उन्नीसवीं शताब्दी के रसिकोपासकों ने इस साहित्य को पुष्ट, प्रौढ़ संपन्न एवं शास्त्रीय - दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। इस धारा को यद्यपि जानकीसंप्रदाय, जानकी-वल्लभ-संप्रदाय, सियासंप्रदाय और रहस्य-संप्रदाय भी कहा जाता है तथापि अधिक अभ्यंजक होने से इसे 'रसिक संप्रदाय' कहना कदाचित् अनुचित न होगा।

रसिक संप्रदाय और स्वकीयाभाव

रामभक्ति की मधुरोपासना में कृष्णभक्ति की मधुरभक्ति से कुछ वैशिष्ट्य भी दिखाई देता है। कृष्णोपासना की मधुरा धारा ने जहाँ सौंदर्य और रति-शृंगार को प्रमुख स्थान दिया है वहाँ रामावत - रसिकों ने ऐश्वर्य - संवलित माधुर्य को उपास्य का आदर्श स्वीकार किया है। अतएव यहाँ वैयक्तिक भाव - साधना के साथ - साथ लोक - धर्म और लोकमर्यादा का भी प्रत्याख्यान नहीं किया गया है। इसी कारण उपास्य इष्टदेव के साथ सखीभाव - केंद्रित मधुरोपासना में भी, पारिवारिक नातों का संबंध रखने में बाधा नहीं है। और इसी कारण राम को सामाजिक संबंधों के अनेकानेक रूपों में अंगीकृत किया गया है। यहाँ पर भी ऐश्वर्य और माधुर्य, दोनों भावों का संतुलन बनाए रखने की हलकी चेष्टा सर्वत्र लक्षित होती है।

सीता को भावरूप से अंशी माननेवाली सखियाँ वस्तुतः सीता के अंश से संभूत उन्हींकी विविध मूर्तियाँ हैं। इसी कारण उन सखियों की स्थिति राम के साथ दांपत्य - केलि में स्वकीया की ही है। यही स्थिति जनकपुर की अनेकानेक कुमारियों की भी है। वे सभी सीता की अंश - प्रतिमा होने से सीता से अभिन्न हैं और इसी कारण राम की स्वकीया और भोग्या हैं।

दांपत्य - केलि के संदर्भ में भी लीलाओं और काम - केलियों के चित्रण में भी रसिकोपासक, परिवेश और परिप्रेक्ष्य की आयाम - मर्यादा की रेखा को भग्न नहीं करना चाहते। और इसी कारण रामभक्ति के सख्यभावोपासक या वात्सल्यभावोपासक भी मधुर साहित्य से अनुराग रखने में हिचकते नहीं। स्त्री और पुरुष, दांपत्य - केलि और कामक्रीड़ा, रासलीला और आनंदविहार — सर्वत्र प्रायः मधुरोपासक मर्यादा को ध्यान में रखना चाहते हैं। यद्यपि बहुत सा साहित्य अश्लीलता की सीमा भी कभी - कभी तोड़ने लगता है और लोकमर्यादा के प्रतिकूल रागिनी गाते हुए भी इस शाखा के आचार्य सामने आ जाते हैं तथापि सामान्यरूप से यहाँ लोकपक्ष की ओर जागरूक रहने की कुछ चेष्टा दिखाई देती है।

हनुमानजी को प्रधानता दी गई है और उनमें उपासकों की निष्ठा, आचार्यत्व का भी दर्शन करती है। यही नहीं, शृंगारी उपासकों ने उन्हें सीताराम की सखियों में दो रूप से पूज्य माना है। श्रीप्रसादा और चारुशीला का नाम उन्हें दिया है। यद्यपि हनुमानजी का यह रूप प्रचलित दास्य-भाव के परंपरागृहीत उपासकरूप के विपरीत दिखाई देता है तथापि विशुद्ध सांप्रदायिक दृष्टि के कारण इस रूप की कल्पना, मधुरोपासकों को संभवतः बलपूर्वक करनी पड़ी। एक कारण और भी हो सकता है—रामरसिक शाखा के इन उपासकों में तुलसी के प्रति एकस्वर से अगाध निष्ठा और मतभेदहीन श्रद्धा है। शृंगारी शाखा के पूर्वोक्त परकालवर्ती आचार्य रामचरणदासजी रामचरितमानस की अपनी टीका द्वारा तुलसी को भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान देते हैं और कदाचित् अपनी व्याख्या के अनुसार गूढ़ मधुरोपासक मानने के कारण हनुमान में भी प्रेमाभक्ति के उपासक रूप की कल्पना करनी पड़ी।

इसके अतिरिक्त रसिक तीर्थों में, मुख्यतः चित्रकूट और मिथिला में तथा सामान्यतः अयोध्या में उनकी निष्ठा विशेष महत्व रखती है।

रामभक्ति के रसिकोपासक अपना चरम पुरुषार्थ मानते हैं युगल सरकार दिव्य दंपति, सीताराम का सेवासुख और उनके युगलकेलि के प्रेमरस का आस्वादन। इस लक्ष्य की प्राप्ति उपास्य के सांनिध्य में सखा, सखी, दास आदि किसी रूप से ध्यान करते हुए, दिव्य शरीरप्राप्ति होने पर और प्रभुसेवा में आत्मसमर्पण करने पर ही हो सकती है। निकुंज सेवारस,

महलमाधुर्य आदि लीलारस के विभिन्न कक्ष हैं। रासलीला में यहाँ भी परमानंदमय रस की चरमपरिणति मानी गई है। क्योंकि वह अवतारी लीलापुरुष आनंदधाम राम का चिद्विलास है और उसमें जीव का प्रवेश चरम लक्ष्य की सिद्धि है। निरपेक्ष भगवत्कृपा से वह स्थिति प्राप्त होती है और तभी दिव्य देह भी मिलता है और तभी अनंत, अहैतुकी अनुरक्ति भी युगल की लीला के प्रति हो उठती है। अतः इस चरम सुख की ओर मधुर भक्त का अग्रगमन पूर्णतः भगवदनुग्रह एवं तज्जन्य गुरुकृपा से प्राप्त दीक्षा और मार्गदर्शन से होता है। गुरु के शरण में पहुँच कर, सांप्रदायिक सिद्धांतों के विषय में आचार्योपदेश से ज्ञान प्राप्त कर, भावदेह से आराध्य का वरण करते हुए उनकी दिव्य लीलाओं का अतुल और अनंत वैभव देखकर भक्त इष्ट का किंकर हो उठता है। और तब साकेत - लीलाप्रवेश और भावानुकूल सेवा की स्थिति आती है। अंततः उसे सेवासुख का चरम आनंदास्वाद प्राप्त हो जाता है। इसमें सबसे अधिक सहायता भगवदनुग्रह की प्राप्ति और आचार्य प्रपत्ति से होती है जहाँ पंचसंस्कार दीक्षा, पंचार्थ-उपदेश, प्रपत्तिउपदेश आदि के साथ-साथ तत्वत्रय ज्ञान से होती है। विशेष विस्तार में न जाकर इतना कह सकते हैं कि आचार्यों ने इस पक्ष को सैद्धांतिक स्तर से निरूपित करने का पूर्ण प्रयास किया है।

आलोच्य कृति का सामग्री-संकलन

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित और श्री भुवनेश्वर मिश्र (माधव) द्वारा लिखित शोध-ग्रंथ—'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' पूर्वोक्त विषय की एक महत्वपूर्ण रचना है। संभवतः अपने विषय की यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कृति है। बड़ी लगन और श्रम के साथ संबद्ध विषय का प्रामाणिक एवं अनुशीलनात्मक विवेचन इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि वक्तव्य में श्री शिवपूजनसहाय जी ने लिखा है, श्री भुवनेश्वर जी स्वयं इस उपसना-पद्धति के भावुक उपासक तथा साधक हैं। ग्रंथ की भूमिका में दिए गए लेखक के विवरण से पता चलता है कि आलोच्य ग्रंथ के निर्माण में लेखक ने अत्यंत अध्यवसायपूर्वक अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है। गंभीर अध्ययन, चिंतनशील विश्लेषण एवं निष्ठापूर्ण रस के साथ मधुर उपासना से संबंध रखनेवाली सामग्री का संकलन किया गया है। इस संबंध में लेखक को विशेष रूप से इस संप्रदाय के अयोध्यावासी रसिक भक्तों की उदार कृपा प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप बहुत सी अलभ्य और अप्रकाशित सामग्री से ग्रंथकार का पूर्ण परिचय तो हुआ ही, साथ - ही - साथ संप्रदाय के सांप्रदायिक और उपासनात्मक तत्वों को समझने में भी पूर्ण सहायता मिली। इसके अतिरिक्त जयपुर, चित्रकूट, काशी, मिथिला आदि स्थानों की यात्रा करके लेखक ने जहाँ तक सामग्री उपलब्ध हो सकी या देखने को ही मिल सकी – उन सबका उपयोग - विनियोग ग्रंथ के निर्माण में किया है। अवश्य ही कभी - कभी सांप्रदायिक मान्यता की संकुचित मनोवृत्ति और परंपरागत गुह्य-भावना के कारण, इस प्रकार के अनुशीलनात्मक ग्रंथ - लेखक को पूर्ण सुविधा नहीं मिल पाती। पर उसके लिए अनुशीलक को दोष नहीं दिया जा सकता। हो सकता है और स्वयं लेखक भी स्वीकार करता है कि इस पंथ के उपासकों के यहाँ जाने कितनी कृतियाँ ग्रंथों में ही पड़ी हों, उनकी केवल अक्षत पुष्प, धूप - दीप से पूजा ही की जाती हो और अबतक उन्हें पढ़ने - समझने का किसी को अवसर ही न मिल सका हो। निश्चय ही, धीरे - धीरे बहुत सी अज्ञात सामग्री प्रकाश में आएगी — यदि दीमक - झींगुरों की कृपा से बची रह गई!

ग्रंथ का विवरण

प्रस्तुत ग्रंथ आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'रागमयी भक्ति और उसकी वैष्णव - परंपरा' है। इस अध्याय में बताया गया है कि 'रागानुगा' भक्ति भगवत्प्राप्ति की साधनस्वरूपा नहीं अपितु स्वयं साध्य है। अतः स्वतः 'महाआनंदप्रदायिनी स्वरूपा' है और उसका विषयावलंबन है 'आत्मास्वरूप भगवान्'। इस परम दुर्लभ भक्ति के शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार (मधुरा) भेद से पंचरूपों का, एवं 'प्रेमा, परा और प्रौढ़ा' संज्ञक अवांतर भेदों का भी परिचय दिया गया है। इसी प्रौढ़ा में भक्ति - शृंगार का चरम रसपरिपाक अपने शाश्वत - अनंत माधुर्य और अपरिमेय औज्ज्वल्य के साथ वर्तमान रहता है। 'रस' की वास्तविक और सहज रस्यमान रसता यहीं मुख्यरूप से रहती है, अन्य रसों में गौणरूप से। इसका यथार्थलाभ प्रभु की कृपा से होता है और उसके वास्तविक लाभ का अर्थ है — 'रसराज में प्रवेश का अधिकार, प्रिया - प्रियतम का चिद्विलास तथा पुण्यविहार का परात्पर दर्शन, जिसे पाकर जीव परमफल - लाभ कर लेता है, पूर्णकाम हो जाता है। उपनिषदों में 'आत्माराम' या 'आत्मरमण' आदि की स्थिति भी, यही बताई गई है। परमप्रियतम भगवान् के रूपरस, लीलारस या सेवारस का आस्वादन रामभक्ति की मधुरोपासना में सखीभाव या नारीभाव से ही हो सकता है — क्योंकि भगवान् भोक्ता है और जीवमात्र भोग्य।

इस अध्याय में श्री भुवनेश्वर जी ने आलवार वैष्णव संत भक्तों के समय से लेकर गौड़ीय वल्लभ और निंबार्क तक के संप्रदायों के प्रकाश में रागमयी भक्ति की आयाम - सीमा से परिचय कराने का प्रयास किया है। इसके साथ ही 'निंबार्क' मतानुसार सखी - भाव की उपासना का रूप सामने रखा है। रागानुगा भक्ति के उपासकों की दृष्टि से स्मरण की मुख्यता तथा साधना का क्रम स्पष्ट करते हुए अजातरति और जातरति की अवस्था का साध्य - साधन भेद भी स्पष्ट किया है। सिद्धदेह या भावदेह का महत्व बताते हुए भक्ति के साधन, साध्य और लीलादर्शन की विवेचना भी की गई है। इसके अनंतर उत्तमा भक्ति का निरूपण करते हुए भाव, रति, प्रेम, और महाभाव आदि का परिचय गहराई के साथ उपस्थित किया गया है। इसी प्रसंग में भक्ति की रसरूपता एवं रस्यता का शास्त्रीय ढंग से सांगोपांग निरूपण हुआ है।

'द्वितीय अध्याय' में 'मधुर रस का स्वरूप' सामने रखा गया है। कृष्णभक्ति के संदर्भ में, मुख्यतः चैतन्य संप्रदाय के अनुसार गौड़ीय गोस्वामियों के शास्त्रीय संदर्भों और ग्रंथों का आधार लेकर मधुर रस या उज्ज्वल रस का विस्तार के साथ परिचय दिया गया है। 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'हरिभक्ति - रसामृतसिंधु' के प्रतिपादित भक्तिरस, उसके आलंबन रूप नायिकानायक, उसके आश्रय, परकीयाभाव, नित्यगोलोक, लीला, व्रजरस आदि का निरूपण करने के बाद लेखक ने (नायिका की दृष्टि से और भावों के अनुसार) मधुरा रति के भेद, प्रणय के भेद तथा विकासक्रम आदि का संक्षिप्त पर सारभूत परिचय दिया है। साथ ही नित्य लीला और नित्य संभोग — इनकी भी सामान्य चर्चा की गई है। इसी अध्याय के अंत में गुह्य - धर्मसाधनों के विवेचन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए ग्रंथकार ने प्रेममूलक भक्तिभावना की व्यापकता का उल्लेख किया है।

'तृतीय अध्याय' का वर्ण्य विषय है — 'भारतीय अंतरंग (एसाटरिक) धर्म - साधनाओं में मधुर भाव'। इस प्रकरण में बौद्धों (महायान, मंत्रयान, वज्रयान) — बौद्धतांत्रिकों, उनकी

उपासना - साधना के क्रम में मधुर भाव के आगमन, मिश्रण, स्पष्टोदय और विकास की चर्चा करते हुए आचारत्रय, सप्तभाव और 'धारिणी' का परिचय दिया गया है। बौद्ध - साधना में मिथुन - योग के प्रवेश का विवरण उपस्थित करते हुए 'पंचमकार' के मूल और विशुद्ध गुह्य अर्थों को और उनके स्थान पर आ बैठने वाले मत्स्य, मांस आदि के स्थूल अर्थों का सप्रमाण प्रतिपादन भी किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर, 'सिद्ध संप्रदाय और रसेश्वर दर्शन' में मधुरभाव के उदय, स्वरूप और विकास से भी परिचित कराया गया है। 'कापालिक, नाथ तथा संत - साधना' में भी मधुरभाव के ग्रहण का इतिहास बताया गया है। इस प्रसंग में कौलमत, कुलतंत्र, अकुलतंत्र, कुंडलिनीयोग - साधना, चक्रभेदनप्रक्रिया, पशुभाव, वीरभाव, दिव्यभाव, वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि का शास्त्रसंमत परिचय भी देने की चेष्टा की गई है। इन मतों में सहज साधना के प्रवेश और उनकी महत्ता का विवेचन मिलता है। तदनंतर किस प्रकार वज्रयानियों, सिद्धों और संतों की सहजोपासना ने परकीयाभाव की भक्तिसाधना को 'वैष्णवसहजिया' मत में पुष्पित - पल्लवित किया इसका चित्र अंकित हुआ है।

चतुर्थ अध्याय ग्रंथ के प्रस्तुत विषय से अधिक संबद्ध है। इसमें 'लीलाप्रवेश' के अधिकार की चर्चा करते हुए मधुर साधना और मधुरोपासक के दार्शनिक रूप का निरूपण किया गया है। स्थूल देह की अयोग्यता और सिद्ध देह की अधिकार - योग्यता के संदर्भ में स्थूल देह, विषयासक्त मन, बहिर्मुखी बुद्धि और कामनामलिन अंतःकरण की अक्षमता कैसे बाधक है और किसी प्रकार वैधी भक्ति के ग्यारह अंगों से उनका शोधन होनेपर तन्मयता-कारक भगवदनुग्रह और तदनुरक्ति से सिद्धदेह प्राप्त करके साधक लीलाप्रवेश का अधिकारी हो सकता है — इस विषय को सांगोपाग समझाने की चेष्टा की गई है। इस क्रम में भाव-भक्ति, प्रेमाभक्ति, सखीभाव, सखियों के वय, नाम, रूप, वास, सेवा आदि के द्वारा युगल-मूर्ति राधाकृष्ण का उपासक कैसे 'सिद्धदेह' प्राप्त करता है, अष्टसखियों, अष्टमंजरियों के नाम, रूप, वय, वेष, सेवाभाग क्या है, साधक - देह और सिद्धदेह (भावदेह और सिद्धदेह) का रहस्य क्या है तथा मधुरोपासना में उनका महत्व क्या है, कैसे भक्तिदेह की अवस्था तक साधक पहुँच जाता है — एवं इनका विकास - क्रम और मार्ग क्या है — इन सबका विवरण दिया गया है।

पंचम अध्याय ग्रंथ का केंद्रस्थल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व अध्याय में जो कुछ निरूपण हुआ है — वह कृष्ण किंवा राधाकृष्ण की मधुरोपासना के संदर्भ से मुख्यतः संबद्ध है। उक्त विषय में गौड़ीय गोस्वामियों का शास्त्रीय आधार सर्वतः प्रमुख है। निंबार्कमत स्वकीयाभाव की महत्ता को स्वीकार करता है और गौड़ीय या चैतन्य संप्रदाय में परकीया-भाव सर्वप्रमुख है। गोस्वामियों ने परकीयाभाव को ही सर्वतः प्रमुख स्थान दिया है। यों भी कह सकते हैं, उनकी उपासना परकीयाभाव की है, यद्यपि परकीयादृष्टि में आध्यात्मिक दार्शनिकता का महत्व ही मुख्य है। पर रामोपासना में स्वकीयाभाव का महत्व अधिक है।

प्रस्तुत अध्याय 'अवतारतत्व और रामोपासना' के परिवेश में मुख्यतः रामोपासना और उसमें मधुर भाव के उद्भव और विकास की कथा है। आरंभ में समस्त मुख्य धर्मसाधनाओं में अवतारतत्व की विशेषता और भारतीय संस्कृति में वैष्णव अवतारों को रूपरेखात्मक विवेचना हुई है। इस संदर्भ में पुरुषावतार गुणावतार, लीलावतार, मन्वन्तरावतार और युगावतार का रूप बताते हुए एवं उनके सामान्य - विशेष प्रयोजनों का निर्देश करते हुए, लेखक ने अवतारों

के भेद - प्रभेदों का परिचय दिया है तथा युगावतार और पूर्णावतार का वैशिष्ट्य क्या है—यह भी समझाया है। इस प्रकार आरंभ में अवतारतत्व का मूल सिद्धांत समझाकर 'मानवीय रस' की चर्चा करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से, कृष्णभक्ति की अपेक्षाकृत प्राचीनता स्वीकार की गई है। इस पद्धति का आरंभ, ग्रंथकार की दृष्टि से, सातवीं शताब्दी के आसपास हो गई थी उपासना-तत्व का मूल हेतु और भागवत धर्म के विकास की संक्षिप्त चर्चा करते हुए रामोपासना का आरंभ और उससे संबद्ध स्रोतों की चर्चा की गई है।

इसके पश्चात् मर्यादा - स्वरूप की मुख्यता और शरणागति की साधनप्रमुखता का परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि रामभक्ति की मधुरोपासना या रसिक संप्रदाय में भी मर्यादाभाव का स्वर सर्वदा एकरूप से आद्यंत मुखरित रहा है। शरणागति और दास्यभाव की अनिवार्य महत्ता के कारण रामभक्ति में मधुरभाव की उपासना अपना विशेष महत्व रखती है। अतः सामान्य रामोपसना में जहाँ ऐश्वर्यभाव, भक्त के श्रद्धामय हृदय का आकर्षण केंद्र है वहाँ मधुरोपासना में मधुरलीलाएँ और प्रेममय रसाचरण ही महत्वपूर्ण होते हैं। रामोपासक मधुर - साधकों के लिए भगवान् के दोनों रूप ही आराध्य हैं। फिर भी युगलमूर्ति की मधुरलीलाएँ और ललित रासरंग यहाँ अनिवार्य हैं। बिना उनके रसिकों की दृष्टि में उपास्य की उपासना अपूर्ण ही नहीं, लक्ष्य तक ले जाने में भी बहुधा असमर्थ ही रह जाती है। तात्पर्य यह कि सातवीं शताब्दी के आसपास से आरब्ध रामोपासना में आरंभ से ही 'दास्यभाव के साथ - साथ दाम्पत्यभाव या मधुरभाव का संनिवेश हो गया था।' 'शिवसंहिता' के अनुसार प्रथमतः ऐश्वर्य - श्रवण से ईश्वरभाव का स्फुरण हो जाने पर माधुर्यभाव में प्रवेश होता है। 'अगस्त्य' में उक्त दोनों भावों की भक्ति है, पर 'हनुमान' में केवल माधुर्यभाव ही है भगवान् रामचंद्र एकमात्र पुरुष हैं और समस्त शेष जीव स्त्री हैं। प्रभु जगत्त्रय में रमणशक्ति-शील हैं। जारबुद्धि से उनका भजन करने पर भी प्रभु की अपार अनुकंपामयी प्रीति प्राप्त होती है। उस प्रभु के गुणधर्म हैं — सौंदर्य, माधुर्य, यौवनारंभ, सौकुमार्य, लावण्य, परमकांति, सौशील्य, सौहार्द्र, बल, परमवात्सल्य, सदा प्रसन्नता आदि — जो भक्तों का हृदय सदा हरते रहते है। युगलसरकार श्री सीताराम दोनों ही रसमूर्ति और भक्तों के उपास्य हैं। कोटिकंदर्पलावण्य और जगत् के प्राणभूत श्री राम की भी सीता प्राणेश्वरी हैं। राम, सीता के बिना और सीता, राम के बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते। इनका शृंगार या मधुर प्रेमरस किसी फल का साधन नहीं वरन् सिद्धस्वरूप है। यह शृंगार स्थूल और लौकिक नहीं अपितु शिव, सनकादि का भी उपास्य होने के साथ - साथ दिव्य और नित्यसिद्ध है, अलौकिक है, आध्यात्मिक है, लीलाधिकारप्राप्त भक्तमात्र का बोधगम्य हैं।

'शिवसंहिता' की भाँति 'लोमशसंहिता' और 'हनुमत्संहिता' आदि में रामभक्ति की मधुरोपासना का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार 'भुशुंडिरामायण' भी उक्त रसिकभाव का विस्तृत वर्णन करता है। पर इन सबकी अपेक्षा 'सत्योपाख्यान' एवं 'बृहद्कौशलखंड' आदि ग्रंथ प्राचीनतर हैं जिनमें युगलमूर्ति की विविधविध मधुरलीलाओं, केलिक्रीडाओं और रतिविलास का 'रसीला' वर्णन मिलता है। 'आनंदरामायण' के विलासकांड में 'आनंद रामायण' में, तथा 'कामिल बुल्के' द्वारा उपलब्ध 'चित्रकूट माहात्म्य' की पांडुलिपि में राम सीता की प्रणयकेलि, जलविहार, रासलीला, और विलासक्रीड़ा के विशद, विस्तृत और सरस वर्णन मिलते है।

मधुरोपासक अास्थावान् रसिक भक्तों के मध्य 'प्राइवेट सर्कुलेशन' के लिए दो खंडों में प्रकाशित 'बृहत्कौशलखंड' नामक रचना, इस संप्रदाय का महत्वपूर्ण आधारग्रंथ है और उसमें मधुरोपासना के अनेक परमगुह्य रहस्यों का उद्घाटन विस्तार के साथ मिलता है। इसमें राम की लीलाएँ पूर्णतः कृष्णलीलाओं सी वर्णित प्रतीत होती हैं। इसके अनुसार विवाह से पूर्व ही प्रभु राम पहले सखाओं के साथ, पुनः क्रमशः गोपकन्याओं, देवकन्याओं और राजकन्याओं के साथ रासलीला में निमग्न वर्णित हैं। इसके अनंतर देवकन्याओं के साथ परिहास, उपालंभ तदनंतर मैथिली जी के साथ पूर्वराग, विरह और विवाह - रहस्यों और प्रेमकेलियों के वर्णन हैं। विवाह के पश्चात् देवकन्या, गंधर्वकन्या, राजकन्या, साध्यसुता, गुह्यकदेवकन्या, यक्षकन्या और नागकन्या के साथ रास वर्णित है। पूरा ग्रंथ १०७२ श्लोकों का है। हनुमत्संहिता तथा यह—दोनों ही ग्रंथों को, रसिक संप्रदाय में वेदवत् प्रतिष्ठा है और इनका अष्टयाम में विधिवत् पाठ भी किया जाता है।

इन सब प्रमाणों के आधार पर ग्रंथकार के मत से, रामभक्ति में 'ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक साधना और साहित्य में माधुर्यभक्ति का ज्वार उमड़ रहा था और परम गोपनीय होते हुए भी इसमें कृष्णभक्तिशाखा की तरह माधुर्य साधना का पूरा-पूरा संनिवेश हो गया था। गीता में हम जिसे 'रामः शस्त्रभृतामहम्' का दर्शन कर आए थे वे 'जानक्या सह संप्रीतः क्रीडारसविलम्पटः' तथा 'महारासरसोल्लासी विलासी सर्वदेहिनाम्' हो चुके थे और प्रेमी भक्तों के बीच उनका वह रूप ही विशेष प्रिय हुआ।' व्रजनिधि ग्रंथावली का आधार लेकर लेखक आगे कहता है — "गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का प्रणयन करते समय अपने चारों ओर फैले हुए इस माधुर्योपासना के प्रचुर साहित्य को अवश्य देखा होगा और कुछ साहित्यकारों को यह भी मान्यता है कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास की उपासना भी ऊपर - ऊपर दास्यभाव की, पर अंदर - अंदर मधुरभाव की ही थी।" (पृ० ११५) पर लगता है कि ग्रंथकार भी उक्त मत से सहमत नहीं है। क्योंकि आगे उसने स्वयं कहा है— "रामोपासना का प्रादुर्भाव दास्य – सेवक सेव्यभाव में हुआ तथा मर्यादा ही इसकी मुख्य प्रेरणा एवं आधारशिला रही। परंतु क्रमशः दास्य ··· माधुर्य में परिणत हो गया और आज लगभग चार सौ वर्षों से रामभक्ति की माधुर्य धारा उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही है।··· अलबत्ता यह स्वीकार करना होगा कि कृष्णभक्ति शाखा की तरह इसमें सखीभाव, अत्यंत उन्मुक्त रूप में व्यक्त नहीं हो पाया है। यहाँ सखीभाव में भी मर्यादा रही।" लेखक मानता है "रामभक्ति संप्रदाय में मधुरभाव का संनिवेश कृष्णभक्ति के अनुकरण में नहीं हुआ अपितु 'दास्य प्रस्फुटित होकर माधुर्य में पर्यवसित हुआ।' पर बौद्ध सहजिया, वैष्णवसहजिया, काश्मीर शैव, रसेश्वर दर्शन, कृष्णायत सखीसंप्रदाय आदि का प्रभाव इसके उदय और विस्तार पर अवश्य पड़ा। इस लेखक ने आगे चलकर अनुशीलनात्मक विवेचन के साथ यह दिखाने का प्रयास किया है कि रामभक्ति के रसिक संप्रदाय में मधुरभाव के प्रवेश के कारण क्या थे, उसका वर्तमान स्वरूप क्या है, अंतरंग - बहिरंग साधना में क्या संबंध है' आदि।

छठे अध्याय का वर्ण्य विषय है —'रामोपासना की रसिक परंपरा'। इसमें बताया गया है कि इसका नाम रसिक संप्रदाय है' और इसके आद्य प्रवर्तक हनुमान जी हैं जिनका सांप्रदायिक नाम 'चारुशीला जी' है और व्यास, वशिष्ठ, शुकदेव, पाराशर आदि भी इससे संबद्ध हैं। इसके अनंतर विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध संप्रदाय - परंपरा का वर्णन करने के बाद 'गालता गद्दी' (जयपुरवाली) का परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि वह गद्दी पहले

'नाथ सिद्धों' की थी, बाद में रामनंदी वैष्णवों के हाथ आ गई। इस परंपरावालों के मत से 'अग्रदास', 'कील्हस्वामी' तथा 'नाभादास' आदि भी इसी भाव के साधक थे। अग्रदास जी का नाम 'अग्रअली' था। अनंतानंद जी की पूरी परंपरा भी रसिकोपासक ही है। इसी परंपरा के 'बालअली जी' भी हैं। 'कील्हस्वामी' की शिष्यपरंपरा में 'रामप्रपन्न' जी मधुराचार्य भी हैं जिनका स्थान, शास्त्रीय - पक्ष - निरूपण के कारण संप्रदाय में अप्रतिम है। वाल्मीकि रामायण' की मधुराश्रयी (लक्षश्लोकात्मक) टीका लिखकर उस ग्रंथ को भी एतत्पक्षीय बनाने का प्रयास उन्होंने किया है।

इन सब वर्णनों के निष्कर्षरूप में ग्रंथलेखक मानता है कि रामोपासना में मधुरभाव की विवृति सोलहवीं शती से मिलने लगती है।

सप्तम अध्याय में रसिक संप्रदाय के साहित्य का परिचय दिया गया है। मूलस्रोतों के रूप में एतत्संप्रदायप्रेरक संस्कृत के ग्रंथों का परिचय देते हुए 'रामतापनीयोपनिषद्', 'विश्वंभरोपनिषद्', 'सीतोपनिषद', 'श्री मैथिली महोपनिषद्', 'रामरहस्योपनिषद', नामक उपनिषद् ग्रंथों का उल्लेख है, संहिताग्रंथों में श्री हनुमत्संहिता, श्री शिवसंहिता, श्री लोमशसंहिता, श्री बृहद्ब्रह्मसंहिता, श्री अगस्त्यसंहिता, श्री वाल्मीकिसंहिता, श्री शुकसंहिता, श्री वशिष्ठसंहिता, आदि ११ संहिताग्रंथों के नाम आए हैं। इनके अनंतर 'स्तवराज और गीति' के संदर्भ में रामस्तवराज, जानकीस्तवराज का निर्देश है और श्री जानकीगीत, तथा सहस्रगीति का परिचय दिया गया है। तत्पश्चात् रामयणों के विवरण हैं — श्री वाल्मीकि रामायण, आनंदरामायण, महारामायण, आदिरामायण, रामायण मणिरत्न, मैन्दरामायण, मंजुल रामायण, और भुशुंडी रामायण हैं। संस्कृत के नाटकों में हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, मैथिलीकल्याण, आदि हैं तथा काव्यों में 'उदारराघव' और 'जानकीहरण' आदि का नाम लिया गया है। संस्कृत में मधुराचार्य के — 'बृहत्कौशलखंड' और 'माधुर्य - केलि - कादंबिनी' दो ग्रंथ अधिक संप्रदाय - प्रिय हुए और 'रामलिंगामृत' भी इसी धारा में आता है। प्रमाण और सिद्धांतग्रंथों के रूप में श्री सुंदरमणिसंदर्भ तथा रामतत्वप्रकाश: (दोनों ही मधुराचार्यकृत), शास्त्रीय प्रौढ़ता से संपन्न कृतियाँ होने के कारण संप्रदाय में अत्यादृत हैं। इनमें राम - मधुरोपासना की उत्कृष्टता, कृष्ण की भी अपेक्षा राम में रूप के साथ - साथ गुण का उत्कर्ष तथा तत्परिणामभूत तपोनिरत ऋषियों की भी उनके साथ रमणोत्सुकता—इस मत के अन्यतम वैशिष्ट्यों का वर्णन है। इसी के साथ 'रमण', 'रास', 'विहार-विलास' आदि के गूढ़ार्थ एवं स्वकीया - परकीया भाव के राम - संपृक्त रहस्य आदि का शास्त्रीय स्तर से निरूपण हुआ है। संस्कृत में निर्मित अर्वाचीनतर सांप्रदायिक साहित्य का भी विवरण दिया गया है और शृंगारिक खंडकाव्यों के नाम भी लिए गए हैं।

आठवें अध्याय में **'रसिक परंपरा का साहित्य'** (हिंदी में) शीर्षक के अंतर्गत १८७ पृष्ठ से ४२७ पृष्ठ तक, ग्रंथ के अंतिम अंश में रसिक - संप्रदाय के मुख्य - मुख्य हिंदी - साहित्यकारों का विस्तृत वर्णन है — जिसमें परंपरा - संबद्ध विविध प्रकार के साहित्य का सोदाहरण परिचय भी दिया गया है। इसमें मुख्यतः अग्रस्वामी से लेकर परम भक्त बैजनाथ कुरमी, मथुराप्रसादसिंह, अंबिकाप्रसाद दैवज्ञ और श्री सीतारामशरण जी तक (संवत् १९९१ तक के) वाङ्मय का परिचय दिया गया है। इनमें अग्रदास जी, नाभादास जी बालअली कृपानिवासजी, रसिकअली जी, रामचरणदास जी, युगलानन्यशरण जी, महात्मावनादास जी,

श्री सीतारामशरण रामरसरंगमणि जी, श्री ज्ञानअलि सहचरी जी, श्री रामसखे जी श्री प्रेमकलीजी, प्रेमलता जी, श्री रघुराजसिंह जी, श्री श्यामसखे जी आदि की कृतियों को साहित्यिक और सांप्रदायिक – विभिन्न दृष्टियों से विशेष महत्व दिया जा सकता है। अंत में परिशिष्ट (क) के अंतर्गत 'महावाणी' शीर्षक से कुछ सुंदर मनोहर और महत्वपूर्ण छंद दिए गए हैं।

आकलन

सारांश यह, कि प्रस्तुत पुस्तक आद्यंत अनुशीलनात्मक ढंग से लिखी गई है। हाँ यह कहा जा सकता है कि मधुरोपासना पर प्रभाव डालनेवाले मूल स्रोतों के परिचय में आवश्यकता से अधिक विस्तार के साथ विषयों का निरूपण किया गया है। पर सब मिलाकर प्रस्तुत ग्रंथ अपने ढंग का विवेच्य विषय पर हिंदी में ऐसी प्रथम कृति है जिसमें प्रमाणों के साथ निरूप्य संदर्भ की अनुशीलनात्मक योजना प्रस्तुत की गई है। यद्यपि इसी के कुछ ही बाद या आसपास ही डा० भगवतीप्रसाद सिंह का उपाधि के लिए लिखित शोधग्रंथ 'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय भी प्रकाशित हुआ, पर प्रस्तुत ग्रंथ की अपनी महत्ता अक्षुण्ण है। आशा है, यह प्रकाशन रामभक्ति की मधुरोपासना पर व्यापक और गंभीरतम अध्येताओं का समुचित पथ - प्रदर्शन करेगा।

मतभेद

परंतु यहाँ एक बात के विषय में अपने विचार लिखने की क्षमा मैं अवश्य चाहूँगा। रामभक्तिशाखा में मधुरोपासना का प्रवेश, कृष्णभक्तिशाखा की अपेक्षा निश्चय ही अर्वाचीनतर है। कम से कम भागवतकाल से तो कृष्णभक्ति में मधुरभाव और प्रेमरति का निश्चय ही व्यापक प्रभाव सुस्पष्ट हो गया था। दक्षिण की वैष्णव भक्तिधारा में सामान्यतः वैष्णव भक्ति का वर्णन है जिसमें पुरुषोत्तम, विष्णु, वासुदेव, कृष्ण आदि की प्रमुखता है और भक्ति के दास्य आदि रूपों के साथ - साथ यत्र - तत्र प्रेमाभक्ति का स्वर कहीं कम और कहीं अधिक मुखरित हुआ है। विष्णु - अवतार होने के कारण 'राम' और रामसीता की भी चर्चा सामान्य रूप से हुई है यद्यपि कृष्ण की अपेक्षा कम और मधुरलीलासक्त रूप में बहुत ही कम। बंगाल के वैष्णव सहजियों में भी कृष्ण का प्रभाव सर्वतोधिक था। जयदेव और विद्यापति में भी हम उसी रूप का लीलागान पाते हैं। आगे चलकर प्रस्फुटित होने वाले वैष्णव-भक्ति-प्रवाहों में हमें कृष्ण की लीला का व्यापक प्रसार, प्रेमक्षेत्र में — चाहे वह वात्सल्य का हो, चाहे सख्य का हो, चाहे सखीभाव का हो या दांपत्य भाव का हो — लीलामयी मधुरमूर्ति को लेकर ही हुआ। मीरा की पतिभाव से उपासना भी कृष्ण के चतुर्दिग् भ्रमरी सी गुंजन करती दिखाई देती है। हाँ निर्गुणी संत कबीर ने अवश्य दांपत्य प्रेम के प्रतीकात्मक संदर्भ में अपने ब्रह्म के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति करते हुए रामं का नाम अनेकानेक बार लिया। पर वह सगुण भक्ति से दूर की चीज है। साथ ही निर्गुण ब्रह्म के प्रति सूफियाना ठाट में प्रीतम का राग भले ही गाया गया हो — वहाँ युगलमूर्ति के रतिविलास और रास - विहार का गंध भी नहीं मिलता।

कृष्णभक्ति की प्रेरणा

कहने का सारांश यह कि रामभक्ति - शाखा में मधुरोपासना का सांप्रदायिक स्तर पर प्रवेश — कृष्णभक्ति की मधुरोपासना के बाद की चीज है। इसे तो प्रस्तुत ग्रंथकार भी दबे

स्वर में मानते हैं। पर वस्तुतः विवेच्य रसिक-संप्रदाय का साधनात्मक आविर्भाव, वैष्णव सहजिया और रामानंदी मत से ही प्रभावित नहीं है, इसपर निंबार्क, वल्लभ, गौड़ीय, और राधावल्लीय ('हित'-संप्रदाय) के साथ-साथ, सखीसंप्रदाय (हरिदासी) — टट्टीसंप्रदाय आदि का प्रभाव ही नहीं पड़ा है वरन् कृष्णभक्ति की मधुरोपासना का पथानुसरण करने के उद्देश्य से ही रामभक्तिशाखा में इसका प्रवर्त्तन किया गया। कृष्ण की मधुरलीलाओं का वर्णन प्राचीनतर है, 'मेघदूत' में भी 'गोपवेशधारी' विष्णु का उल्लेख है। कृष्णभक्ति में मधुर भावना का प्रचार, बंगाल और वृंदावन के मधुराश्रयी भक्तों की लोकप्रियता और प्रभाववृद्धि से आकृष्ट तथा रसद्रवित होकर रामोपासकों ने इस नवीन शाखा का प्रवर्त्तन किया। इसमें संदेह नहीं प्रतीत होता।

इसे चाहे हम अनुकरण कहें या प्रभावग्रहण, दोनों एक ही बात है। उक्त प्रकार की कृष्णभक्ति से प्रेरणा और वहीं के अधिकांश तत्वों को लेकर, सोलहवीं शती के बाद ही, इस धारा का सांप्रदायिक प्रवर्त्तन सप्रयास किया गया। रामभक्ति में मधुरोपासना के बीज चाहे जहाँ-तहाँ मिल जायँ पर न तो १६ वीं शती तक उनका लोक में कोई स्थान, प्रभाव और ग्रहण था और न संप्रदाय के रूप में ही उनका अस्तित्व था।

उक्त मत का समर्थन और निरूपण करनेवाले प्रायः सभी संहिता-ग्रंथ और रामायण-ग्रंथ बहुत अर्वाचीन रचनाएँ हैं। उनकी प्राचीनता सर्वथा संदिग्ध और निराधार है। वाल्मीकि रामायण में प्रेम और दांपत्य की चर्चा काव्य की वर्णन शैली के क्रम में आई है न कि माधुर्यभाव की सहज और सांप्रदायिक उक्ति के रूप में। उससे वाल्मीकि रामायण में भी मधुरोपासना के तत्व की कल्पना केवल तर्कसत्य हो सकता है, तथ्य कथमपि नहीं। 'हनुमन्नाटक' आदि के शृंगारी प्रसंग भी काव्यप्रवाहसंभूत हैं, कवि की शृंगारिकता से उसी प्रकार उद्भूत हैं जिस प्रकार रीतिकालीन शृंगारी कवियों के कृष्णनामांकित शृंगारवर्णन। यदि शृंगारी वर्णन से ही मधुरोपासकता सिद्ध होती तो कुमारसंभव में शिवपार्वती के रतिविलास का वर्णन करनेवाले कालिदास भी शिव के मधुरोपासक हो जाते। हनुमन्नाटककार ने भी अपने प्रसिद्ध मंगलाचरण 'कल्याणां निधानम्...' में राम के मधुररूप का उस प्रकार वर्णन नहीं किया है जैसा कि गीतगोविंदकार के मंगलाचरण '...राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः' है। इसी प्रकार तुलसी की भक्ति सर्वथा, भीतर से भी और बाहर से भी दास्यभाव की, सेवक-सेव्यभाव की ही है — और कुछ नहीं। महाकवि और सहृदय होने के नाते उनकी सरस पर, मर्यादित काव्योक्तियों में मधुरता का गुह्यरूप ढूँढ़ना केवल स्वसमर्थन और स्वतोष के लिए है — उसमें सार कुछ नहीं है।

मुझे तो ऐसा प्रतिभासित होता है कि रामभक्ति की इस साधना-पद्धति और साहित्य पर हित प्रभु के राधावल्लभ संप्रदाय का प्रभाव व्यापक ही नहीं उपजीव्य रूप में भी पड़ा है। यद्यपि शास्त्रीयता और रसरूपता ली गई है गौड़ीय संप्रदाय से, पर वहाँ की परकीया भावना यहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रति दृढ़मूल लोकनिष्ठा के कारण छोड़नी पड़ी। निम्बार्क की स्वकीयाभावना यद्यपि रामभक्ति परंपरा के अनुकूल रही पर उसमें 'रसिक' साधक की भक्ति-गाढ़ता का रंग चटकीला झलक नहीं पाता था। इस कारण यहाँ लिया तो गया स्वकीयाभाव पर ऐसा जिसमें जनकपुर की कुमारिकाएँ और जानकीजी की सखियाँ उपसखियाँ आदि सभी श्री सीताजी की अंश संभूता मानकर उनसे अभिन्न हो गईं और उनके साथ सीतापति का

रास - विलास स्वकीया - विहार ही रह गया परकीया प्रेम न हो पाया ! राधावल्लभी संप्रदाय के समान यहाँ के कामविलास का रूप स्वकीया - परकीया के द्विविधभावों से ऊपर उठकर एक प्रकार की स्वकीयभावना ही रह जाती है। दूसरी बात यह है कि 'हितहरि' - संप्रदाय में सखियों का, उनकी सेवा का, विलास - सहायिका का, भक्त रूप में एकांत महत्त्व है। वे ही शृंगारादि सेवा करनेवाली तथा युगल के केलिरस की साक्षिणी होने के साथ - साथ उनकी भक्ति की एक मात्र अधिकारिणी हैं। उसी से मिलता - जुलता प्रकरण यहाँ भी है। वहाँ चाहे सुदामा महराज 'चंद्रकला' न बन सके हों, पर यहाँ तो ब्रह्मचर्यसाधना के आदर्श और रासविलास की चर्चा से भी अनभिज्ञ हनुमानजी को रामचरणों में अनन्य, अप्रतिम स्नेह रखने और रामभक्तपुंगव होने के कारण सखी भाव से चारुशीला बन जाना पड़ा और शुकदेवजी को भी सुनीता जी। संभवतः केलिकुंजलीला, रासविलास और उपासनापद्धति में, राधावल्लभीय सखियों की सर्वस्वता के अनुकरण पर ही यहाँ भी इस अंश का विकास हुआ। लीलारस, निकुंजरस, रासलीला आदि की महत्ता भी संभवतः वहीं से प्रेरणा पाकर रामभक्ति में प्रतिध्वनित हुई। यह अवश्य है कि इस संप्रदाय में पूर्व ग्रंथों और परंपरागत रामविषयक आदर्शों के प्रति संग्रह और संमान का भी थोड़ा बहुत प्रयास दिखाई देता है जब कि 'हित-संप्रदाय' में हितप्रभु' और उनकी वाणी का ही सर्वाधिक प्रामाण्य है। राधावल्लभमत के समान यहाँ भी रासलीला की महिमा अप्रमेय है और उसका वर्णन सर्वाधिक।

निष्कर्ष यह कि यद्यपि प्रायः सभी मधुरभावसंयुक्त कृष्णभक्तिसंप्रदायों का थोड़ा बहुत उपकारक प्रभाव 'रसिक' संप्रदाय पर पड़ा है पर अनेक अंशों में सुस्पष्ट और कदाचित् सर्वाधिक प्रेरणा 'राधावल्लभ' मत से ही इसे मिली है।

उपर्युक्त स्वचिन्तन की चर्चा ऊपर करने का ध्येय केवल इतना ही है कि ग्रंथकार तथा शोधालु पाठक अपने अनुशीलन में उपर्युक्त कल्पनाओं को ओर भी तटस्थ दृष्टि से ध्यान दें। अंत में हम ग्रंथकार का महत्त्वपूर्ण और शोधात्मक निर्माण के लिए स्वागत करते हैं।[1]

— करुणापति त्रिपाठी

उर्वशी ने कहा

डा० देवराज का यह नया काव्यसंग्रह है। कवि ने इस इस संग्रह की दो मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है: पहली यह कि इसमें बोलचाल की भाषा की सांगीतिक संभावनाओं का उद्घाटन किया गया है, दूसरी यह कि संगृहीत रचनाएँ एक 'जीवन दृष्टि' से अनुप्राणित हैं। इसके साथ ही वह 'आधुनिकता के स्थायी दावे के परे जाकर अनुभूति के उन आयामों को नापना' चाहता है जो 'स्थायी साहित्य के सार्वकालिक उपादान हैं।' लेकिन वह युग की विशिष्ट संवेदनाओं को व्यक्त करना भी आवश्यक मानता है। इन दोनों विशेषताओं को एक साथ ही समन्वित करने के कारण कवि की रचनाओं को फ्लैप पर 'क्लासिकल आधुनिक' कहा गया है।

१. **रामभक्ति - साहित्य में मधुर उपासना**, लेखक — श्री भुवनेश्वर मिश्र, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मू० ९.०० ।

१२ (६५–४)

कवि ने निवेदन में ही कहा है कि "एक सचमुच महत्वशाली कवि अपने ढंग से उन अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं को छूता है जो युग-युग के कलाकारों को आंदोलित-अनुप्राणित करतीं आई हैं। इन प्रश्नों पर समस्याओं की जीवंत अवगति पाने की चर्या ही लेखक को अतीत से, भावो क्लासिक्स से, संबंधित करने करने लगती है।" यहीं पर प्रश्न उठता है कि वे कौन सी समस्याएँ हैं जो युग-युग के कलाकारों को आंदोलित करती आई हैं? इसके उत्तर भिन्न-भिन्न होंगे।

देवराज जी स्वभाव से ही चिंतक हैं, इसलिए उनकी कृतियों में चिंतन की अभिव्यंजना स्वाभाविक है। लेकिन 'क्लासिकल आधुनिकता' का जो दावा किया गया है वह बहुत सी कविताओं के संबंध में संगत नहीं प्रतीत होता। पहले खंड की 'नर्तकी' और 'उर्वशी ने कहा' को 'क्लासिकल आधुनिक' कहा जा सकता है। 'नर्तकी' का पैटर्न क्लासिकल है और परिणति आधुनिक। यही बात 'उर्वशी ने कहा' के संबंध में भी लागू है, यद्यपि यह आधुनिक अधिक है, क्लासिकल कम। 'मानवगीत' को इसी श्रेणी में रखा जायगा। पर 'बुद्ध के प्रति' न तो क्लासिकल है और न आधुनिक। जहाँ तक विचारों के औदात्य का सवाल है लेखक क्लासिकल न होकर आधुनिक अधिक है—आँच से नवबोध की आलस अहंता की तहें मिटती रहें।

'अजय की डायरी' के अजय का जीवन-दर्शन ही इस काव्य - संग्रह की मूल चिंताधारा है। वह अपने व्यक्तित्व – अहं – के प्रति सचेत हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह व्यक्तिवादी जीवन - दर्शन सार्त्र के अस्तित्ववाद की ओर भी संकेत करता है। इसीलिए वह अमरीकी युवती के इस गुण पर मुग्ध है—

पति में या प्रेमी में नहीं वह
नीरव - निमज्जिता,
आत्मवती, नहीं कहीं पूरी समर्पिता।

'अजय' जी को पार्टिंग किस देने वाली अमरीकी युवती की याद बरबस आ जाती है।

'ओरे विश्व' कविता में तो वह अपने अस्तित्वबोध के संबंध में प्रश्न ही करता है—

ओरे विश्व! तेरे अनथहे, निस्तल पसारे मैं
इस अस्तित्व के लघु पोत का कहाँ लंगर?
+ + +
ध्रुव संबुद्ध कोई शक्ति है क्या हो जिसे मेरे
गर्वी लघु अहं से प्यार?

इसी अर्थ में कवि आधुनिक है।

व्यक्तिवादी कवि अपने 'अहं' का विसर्जन नहीं कर पाता — टी० एस० ईलियट के बार-बार कहने पर भी। एक ओर कहता है—

मेरे बुद्धि - मन का किंतु मत छोड़ो भरोसा,
इक मृदु दृष्टि से देखो कि मैंने
जो नये
सपने सजाये हैं!

दूसरी ओर जरा उसकी बुद्धि का हाल देखिए—

उसी समय ना जाने कौन दिशा से आकर
रुचि - आमंत्रण - भरी निगाहों से शरमा कर
तुमने देखा।
हुआ अजब कुछ हाल बुद्धि का, अंतर्मन का
टूटा संयम - भरम - दुर्ग आज़ाद अहम् का।

जब एक निगाह में संयम का दुर्ग भहरा कर टूट जाता है तो बुद्धि - मन का क्या भरोसा किया जाय? क्या वैयक्तिक स्वतंत्रता अपनी सीमा पर उच्छृंखलता का सृजन नहीं करेगी?

हेम के प्रति अजय ने जिन भावनाओं को व्यक्त किया था वे ही दूसरे खंड में काव्य के माध्यम से मुखर हुई हैं। इसे 'मीत के प्रति' भी नाम दिया जा सकता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, अजय ने हेम से भी कुछ इसी प्रकार कहा था—

मेरे मीत मैंने सदा चाहा है सलोना
एक तुम - सहज, नित - नव, सुहृद - साथी।

इसी जीवनदर्शन को और खुले रूप में देखिए—

दो आँखें जीवन - गति मेरी निहारने को
सस्मित दो होंठ मुझे कोमल पुकारने को,
मीठा - सा दर्द कुछ पाने, कुछ हारने को,
मीठे संकेत भग्न साहस सँवारने को;
इतनी ही माँग मेरी, इतनी ही कामना,
जल थल के शासकों से इतनी ही याचना।

संक्षेप में जीवन की गति को बल देने के लिए, उसे सँवारने - सुधारने के लिए उसे एक सलोने मीत की जरूरत है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह सलोना मीत हेम है या अमरीकी युवती!

जो हो, पर ये प्रणय - गीत अन्य कवियों के प्रणयगीतों से भिन्न हैं। इनपर कवि के व्यक्तित्व की गहरी छाप है जो उन्हें चिंता के हलके आलोक से प्रदीप्त किए हुए है, पर मूलतः है यह फ्रायड की अतृप्ति ही। इसके परे अन्य प्रकार की आधुनिकता को इनमें न खोजना ही अच्छा है क्योंकि जो है नहीं उसे खोजने की जरूरत ही क्या है।

भाषा के संबंध में लेखक खूब सचेत है। जिस सांगीतिक संभावनाओं के उद्घाटन की चर्चा 'निवेदन' में की गई है उसका निर्वाह लेखक ने प्रायः सर्वत्र किया है। एक उदाहरण लीजिए—

जैसे भदभदी भीगी धरा से फूल रंगारंग,
मदई बादलों में बिजलियों के तरंगित भंग,
पर्वत की अँधेरी खोह से ज्यों जाह्नवी के धार ज्योतिःस्फीत।

कुछ पुराने शब्दों को नए संदर्भों में इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है कि उनसे अर्थ की व्यंजकता और बढ़ गई है—

अनवांछित झिझक नहीं
नहीं संकोच,
साथी संबंधियों की भीति न
चवैयों का सोच।

लेकिन इस शब्दसाधना और क्लासिक की ओर झुकाव का परिणाम सचेत रहने पर भी, कहीं-कहीं आधुनिकता से रिक्त हो गया है—

श्वेत श्याम चितवन के चितले शर चले,
हँस हँस के वार हुए (क्यों क्या सँभले!)
बार-बार दर्द उठा, बहुत हाथ मले,
स्मिति की लपटों में प्राण उलझे, दृग जले!

इस कविता से रसलीन का प्रसिद्ध दोहा 'जियत मरत झुकि, झुकि परत .....' याद आ जाता है

सब मिलाकर कवि की रचनाएँ स्पष्ट, उलझन-रहित, और उसके व्यक्तित्व-बोध से समन्वित है, पर ये सीमित अर्थ में ही आधुनिक हो पाई हैं। प्रणयजन्य दर्द. उलझन के प्रति गहरी आसक्ति होने के कारण वह जीवन के - आधुनिक के जटिलतर प्रश्नों की ओर नहीं जा सका है। यह उसकी कमजोरी है और यही उसकी विशेषता भी है।[२]

—चंद्रहास

दिग्विजय भूषण

प्राचीन काव्य-संग्रहों में प्रस्तुत ग्रंथ का अपना महत्व है। शिवसिंह 'सरोज' के संदर्भ में इसे दूसरा स्थान दिया गया है, यह इसकी विशिष्टता का सूचक है। सर्वप्रथम यह इसके रचयिता गोकुल कवि और कवि के आश्रयदाता महाराज दिग्विजयसिंह के जीवन-काल में ही सन् १८२५ में लीथो में प्रकाशित हो चुका था। प्रसन्नता की बात है कि यह डा० भगवतीप्रसाद सिंह द्वारा सुसंपादित होकर प्रकाश में आ गया है। डा० सिंह ने जिन कवियों के छंद इसमें संगृहीत हैं, उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। संपादक ने इसके प्रत्येक छंद को सटीक भी बना दिया है। पर काव्यसौष्ठव की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्व कम ही है। संदर्भग्रंथ के रूप में ही इसका महत्व है जो इतिहास-लेखकों तथा शोधकों के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।[३]

— चंद्रहास

२. उर्वशी ने कहा, लेखक — डा० देवराज, प्रकाशक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, मूल्य २.५०।

३. दिग्विजय-भूषण, रचयिता — गोकुल प्रसाद 'बृज', संपादक डा० भगवतीप्रसाद सिंह, प्रकाशक अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर, मू० १३-५०।

पाश्चात्य काव्य - शास्त्र के दो ग्रंथ

डा० नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र के संबंध में समीक्षा तथा अनुवाद के रूप में प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की और कराई है। इधर वे पाश्चात्य काव्य - शास्त्र के संबंध में उसी प्रकार के कार्य में संलग्न है। अरस्तू के काव्यशास्त्र का अनुवाद एक महत्वपूर्ण भूमिका के साथ वे प्रकाशित करा चुके हैं। 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' इस दिशा की एक मंजिल है।

यह पुस्तक प्रो० सेंट्सबरी के 'लोसाई क्रिटिकी' के ढंग पर प्रस्तुत की गई है। उक्त पुस्तक की तरह 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' में भी कालक्रमानुसार अनेक विचारकों के समीक्षा - संबंधी वक्तव्य अनूदित किए गए हैं। प्रो० सेंट्सबरी की पुस्तक में अरस्तू से अर्नाल्ड के समय तक के समीक्षकों के विचारों को अंशों में संगृहीत किया गया है लेकिन 'परंपरा' में प्लेटो से लेकर रिचर्ड्स के विचारों के आवश्यक अंशों को अनूदित किया गया है। परिशिष्ट में मार्क्स, फ्रायड और युंग के संबद्ध अंशों को ले लेने के कारण इस ग्रंथ की उपादेयता और भी अधिक हो गई है।

इस पुस्तक में विचारकों के वक्तव्यों के जिन अंशों को संगृहीत किया गया है उनके संबंध में मतभेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कोलरिज को ही लें। कोलरिज के वक्तव्य में कल्पना से संबद्ध वक्तव्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है पर उसे बहुत ही संक्षेप में निपटा दिया गया है। ग्रंथ के प्रारंभ में पाश्चात्य काव्य - शास्त्र के विकास का जो विवेचन किया गया है वह संक्षिप्त, पर सार-गर्भ है, इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन यदि विभिन्न विचार - धारा के उदय, उत्थान तथा अवसान के ऐतिहासिक परिवेश का भी उल्लेख कर दिया जाता तो संपूर्ण विवेचन में एक पूर्णता आ जाती। फिर भी यह प्रयास अपने आप में अत्यंत महत्व का है। इसके लिए डा० नगेंद्र और उनके सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

दूसरा ग्रंथ 'पाश्चात्य समीक्षा - सिद्धांत' दूसरे ढंग का है। इसमें इसके लेखक डा० केसरीनारायण शुक्ल ने प्लेटो से लेकर 'लानजाइनस' तक विकसित काव्य - सिद्धांतों का विवेचन किया है। इसमें लेखक ने परिश्रम पूर्वक मूल लेखकों और अन्य विचारकों की मान्यताओं को अपने ढंग से एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है। प्लेटो और मध्ययुग का विवेचन काफी स्पष्ट, सुबोध और गंभीर है। अन्य विचारकों के मूल ग्रंथों की मान्यताओं को एक - एक करके स्पष्ट किया गया है लेकिन उनकी विवेचना का अंश अपेक्षाकृत कमजोर है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की और भी व्यापक व्याख्या अपेक्षित थी, 'ऐक्यत्रयी' को स्पष्ट करने के लिए परवर्ती विचारकों की मान्यताओं को भी प्रस्तुत करना आवश्यकता था। होरेस की 'आर्सपोइतिका' के व्यापक प्रभाव के ऐतिहासिक कारणों की चर्चा जरूरी थी। लेखकों के अलग - अलग विवेचन सफाई तथा गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत किए गए। यदि लेखक ऐतिहासिक विकास - क्रम पर कुछ और ध्यान देता तो पुस्तक की उपादेयता कहीं अधिक बढ़ जाती। पर इतना निःसंदिग्ध है कि डा० शुक्ल ने विभिन्न विचारकों के मतों को अच्छी

४. पाश्चात्य काव्य - शास्त्र की परंपरा, संपादक डा० नगेंद्र, प्रकाशक दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मूल्य रु० १० - ००

तरह आत्मसात् कर उन्हें विवेचित करने का प्रयास किया है, इसीलिए उनका विवेचन इतना स्वच्छ, प्रवाहयुक्त और उपादेय बन पड़ा है।[४]

— अजीत

प्राप्तिस्वीकार

निम्नलिखित पुस्तकें समीक्षार्थ प्राप्त हुईं। इनमें समीक्ष्य पुस्तकों की समीक्षाएँ यथा-समय प्रकाशित होंगी। तारांकित (*) पुस्तकों की समीक्षा हो चुकी है। — संपादक।

राधेश्याम गुप्ता बुक्सेलर, पुरानाशहर, वृंदावन

श्री गदाधर भट्ट जी की वाणी — श्री गदाधर भट्ट, पृ० ६०, १.००।
श्री आदि वाणी जी — गो० रामराय जी, पृ० ३६, ००.६२।
श्री सूरदास मदनमोहन जी की वाणी — बाबा कृष्णदासजी, पृ० ६६,००.७५।
श्री राधा सुधा शतक — बाबा कृष्णदासजी, पृ० ४०, ००.३७।
सुदामाचरित्र — नरोत्तम कवि, पृ० २३, ००.२५।
रसखान — योगेंद्र गोस्वामी, पृ० ६८, १.००।
श्री कृष्ण-विरहपत्रिका — 'श्री वनमाल', पृ० १०६, १.२५।
क्रांतिकारी भक्त — स्वामी जयरामदेव जी, पृ० १६५, ३.००।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

* पराड़कर जी और पत्रकारिता — लक्ष्मीशंकर व्यास, पृ० ३५२, ५.५०।

व्यास मंदिर, ६७ ए, बलराम दे स्ट्रीट, कलकत्ता - ६

उषा मुस्करा उठी — श्री बालकृष्ण व्यास, पृ० १२८, ३.५०।

विद्या मंदिर प्रकाशन, मुरार (ग्वालियर)

छिताईचरित — हरिहर निवास द्विवेदी तथा अगरचंद नाहटा पृ० ७६६, ७.५०।

नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद - १४

शराबबंदी होनी ही चाहिए — गांधी जी, पृ० २८, ००.२५।
गीताबोध — गांधी जी, पृ० ७०, ००.५०।
भारत की खुराक समस्या — गांधी जी, पृ० ६८, ००.५०।
मेरा समाजवाद — गांधी जी, पृ० ६०, मू० ००.४०।
सर्वोदय — गांधीजी
मेरा धर्म — गांधीजी, पृ० २०४, मू० २.००।
मोहनमाला — गांधी जी, पृ० १२६, मू० १.२५।
बापू के पत्र — ३ (कुसुम बहन के नाम) — काका कालेलकर, पृ० १०८, १.२५।
विद्यार्थी-मित्रोंसे — केदारनाथ, पृ० २३, ००.३५।

•

४. पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत, डा० केसरीनारायण शुक्ल, प्रकाशक नंदकिशोर एंड संस, चौक, वाराणसी, ३.००।

विवेक और साधना — केदारनाथ, पृ० ३४६, ४.०० ।
सच्चे सुख का मार्ग — केदारनाथ, पृ० २०, ००.३० ।
संयम और ब्रह्मचर्य — केदारनाथ, पृ० १६, ००.२५ ।
महिलाओं से — केदारनाथ, पृ० ३१, ००.३५ ।
गृहस्थाश्रम की दीक्षा — केदारनाथ, पृ० १२, ००.२५ ।
समय का सदुपयोग — केदारनाथ, पृ० २०, ००.३० ।
गांधी जी के पत्र (कु० प्रेमाबहन के नाम) — काका साहब कालेलकर पृ० ४१४, ४.०० ।

गांधी जी और गुरुदेव — गुरुदयाल मल्लिक, पृ० ८६, ००.८० ।

भारतीय विश्वप्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली

शबरी — सेठ गोविंददास, पृ० ५६, १.५० ।
पत्र पुष्प — सेठ गोविंददास, पृ० ६३, १.७५ ।
संवाद - सप्तक — सेठ गोविंददास, पृ० ४२, १.२५ ।
स्नेह या स्वर्ग — सेठ गोविंदास, पृ० ६६, १.७५ ।
प्रेम विजय — सेठ गोविंदास, पृ० १५३, २.५० ।

हिंदी साहित्य संसार, नई सड़क दिल्ली - ६

करुणरस — डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव, पृ० ३५५, १२.५० ।
सूरदास — प्रो० दामोदरदास गुप्त, पृ० २४७, २.५० ।
गुजराती साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, पृ० १३०, २.०० ।
पालि — साहित्य और समीक्षा — डा० सरनामसिंह शर्मा, पृ० १७६, ३.१२ ।
चिंतामणि चिंतन — ओम् प्रकाश सिंहल, पृ० १३६, २.५० ।

नंदकिशोर एंड संस, चौक, वाराणसी

हिंदी साहित्य और साहित्यकार — सुधाकर पांडेय, पृ० ३२७, ३.०० ।
प्रसाद के प्रगीत — गणेश खरे, पृ० २५२, ६.०० ।
सदा सुहागिन रूठ गई — सुधाकर पांडेय, पृ० १४३, ३.०० ।
समवेत — शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० ११५, १.७५ ।
विद्यापति — कुँवर सूर्यबली सिंह तथा लाल देवेंद्रसिंह, पृ० २०४, ३.५० ।
*पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांत — डा० केसरी नारायण शुक्ल, पृ० १४६, ३.०० ।

राष्ट्रभाषा प्रचारसमिति, हिंदी नगर, वर्धा

तेलुगु की उत्कृष्ट कहानियाँ — मोहनलाल महामंत्री, अनु० बालशौरि रेड्डी, पृ० १७४, २.५० ।

धूम रेखा (एकांकी) - श्री गुलाबदास धनसुखलाल मेहता, पृ० ७०, १.२५ ।
मिर्जागालिब, जीवनी और साहित्य — रसूल अहमद 'अबोध', पृ० ७०, १.२५ ।
भारत भारती —
उड़िया — मोहनलाल भट्ट, पृ० ८०, १.२५ ।

मराठी — मोहनलाल भट्ट, पृ० ८७, १.२५।
गुजराती — मोहनलाल भट्ट, पृ० ७८, १.२५।
असमिया — मोहनलाल भट्ट, पृ० ८४, १.२५।

राजपाल एंड संस, दिल्ली

अजय की डायरी — डा० देवराज, पृ० ३३४, ५.००।

*उर्वशी ने कहा — डा० देवराज, पृ० ८०, १.५०।

* हिंदी काव्य में नारी का प्रतिबिंब — ईश्वरचंद्र शर्मा, प्रकाशक हरगोविंद धर्मसी, ३५, मिरजा स्ट्रीट, बंबई, पृ० १३४, २.००।

* कला और बूढ़ा चाँद — सुमित्रानंदन पंत, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रयाग, पटना, बंबई, मू० ६.००।

साहित्य सरोवर — गोपीनाथ तिवारी, प्रकाशक, गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा, पृ० १८३, ८.००।

हैमवती उमा — हरिमोहन मिश्र, प्रकाशक साहित्यालय, आलमनगर (सहरसा), पृ० ४८, १.००।

भ्रमण - गीत — निकुंज, प्रकाशक, विद्या विभाग, कांकरौली (राजस्थान), पृ० ६१, १.५०।

छलकते जाम — रियाज खैराबादी, प्रकाशक, नेशनल पब्लिशर्स, जामिआ नगर, नई दिल्ली, पृ० ६६, १.२२।

मराठी का भक्ति साहित्य — प्रो० भी० गो० देशपांडे, प्रकाशक, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी - १

विभूति - सतसई — कुलदीप नारायण राय 'झड़प', प्रकाशक, हिंदी साहित्य परिषद्, पृ० १५०, १.५०।

*

श्रद्धांजलि

पंडित गोविंदवल्लभ पंत

गत ७ मार्च को राष्ट्र के महान् नेता, भारत गणराज्य के गृहमंत्री तथा नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति भारतरत्न महामान्य पंडित गोविंदवल्लभ पंत को काल ने हमसे छीन लिया। पंडित जी की राष्ट्रसेवा तथा त्याग - तपस्या को आज का शोकाकुल भारत ही नहीं, भावी पीढ़ियाँ भी सादर स्मरण करेंगी। मातृभूमि के प्रति निःस्वार्थ सेवा के पंतजी प्रतीक थे — देश के जीवन में प्रवाहित होनेवाली प्रेरक शक्ति। उनके निधन से देश, प्रदेश का ही नहीं हिंदी का भी भारी अहित हुआ है।

पं० गोविंदवल्लभ पंत का जन्म अल्मोड़ा जिले के कुंठ ग्राम में सन् १८८७ की १०वीं मार्च को हुआ था। आपके पूर्वज मूलतः महाराष्ट्र के थे जिनमें एक पं० जयदेव पंत १०वीं शताब्दी में बद्रीनाथ आए थे। वे गांगोली के राजा का संमान प्राप्त कर उनके दरबार में रहे। तब से २५ पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं। बचपन से ही पंत जी में असाधारण प्रतिभा थी। प्रयाग विश्वविद्यालय से १६०६ में उन्होंने कानून की उपाधि लेकर प्रयाग उच्चन्यायालय में प्रवेश किया।

१६१६ में कुमाऊँ परिषद की स्थापना के साथ उनका राजनीतिक जीवन आरंभ हुआ। उसी वर्ष आप अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुने गए। गांधी जी के आवाहन पर १६२० में आपने वकालत छोड़ दी। विद्यार्थी - जीवन से ही पंत जी श्री गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, श्री विपिनचंद्रपाल तथा पंडित मदनमोहन मालवीय से बड़े प्रभावित हुए। १६०५ की बनारस कांग्रेस में पंत जी स्वयंसेवक के रूप में संमिलित हुए थे और वहाँ गोखले के भाषण ने उनके मन पर गहरी छाप छोड़ी।

कांग्रेस के ऐतिहासिक अहमदाबाद - अधिवेशन (१६२१) में उन्होंने भाग लिया और तभी से कांग्रेस के कार्यक्रमों में जुट गए। पंत जी वीर सेनानी थे। १६२६ में जब साइमन कमीशन लखनऊ गया तो उसके प्रति विरोध - प्रदर्शन के अवसर पर पुलिस के डंडों से उनके शिर तथा हाथ कंपनग्रस्त हो गए। इसी अवसर पर पंजाब केसरी ने अपने प्राणों की बलि दी और पंत जी ने जीवन भर के लिए पीड़ा का वरण किया।

१६३५ के विधान के अनुसार जब कांग्रेस ने सरकार बनाना स्वीकार किया तो पंतजी उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री हुए। पंतजी का अथक प्रयास एक ऐसे राज्य का निर्माण करने का था जिसमें मानव मानव का संमान करे। अपने प्रदेश में उन्होंने जिस भूमिसुधार का अंकुर रोपा वही आगे चलकर सारे देश में पल्लवित हुआ। १६४० के वैयक्तिक सत्याग्रह, १६४२ के अगस्त आंदोलन आदि के क्रमों में तथा पहले भी पंतजी ने अनेक बार जेल यात्राएँ की।

वर्षों पूर्व यह किसी को यह कल्पना भी न थी कि देश के विशालतम प्रदेश के मुख्यमंत्री का आवाहन भारत के गृह - मंत्रि पद के लिए हो जाएगा। १९५४ में नेहरू जी के आमंत्रण पर पंत जी को सरदार के बाद गृहमंत्रित्व सँभालने से लिए जाना पड़ा। उत्तरप्रदेश से उन्हें बड़ा प्रेम था। अपना व्यक्तित्व अखिल भारतीय होते हुए भी उन्होंने अपने को उत्तरप्रदेश में सीमित रखना चाहा। परंतु देश का प्रश्न उससे बड़ा था और पंतजी ने नाजुक घड़ी में गृहमंत्रित्व ग्रहण किया और अंतिम क्षण तक दृढ़तापूर्वक उसे 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' सँभाला।

पंतजी हिंदी के कट्टर समर्थक थे। उन्हे हिंदी से सहज प्रेम था। उनके हिंदीप्रेम में राजनीति नहीं थी। वे हिंदी भाषा के हितचिंतक थे। केंद्र में भी वे राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रबल समर्थक रहे, यद्यपि उनकी अपनी सीमाएँ थीं। देश की वर्तमान स्थिति में यह दुस्सह वज्रपात संपूर्ण भारतीय राष्ट्र और हिंदी जगत् के लिए मर्मांतक हुआ है। उनकी पैनी दृष्टि और प्रतिभापूर्ण नेतृत्व प्रतिकूल परिस्थितियों में एवं गंभीरतम जटिलताओं के अवसर पर सदैव देश और समाज को समुचित दिशा दिखाते रहे हैं।

श्री ठाकुर गोपालशरणसिंह जी

हिंदी के यशस्वी कवि श्री ठाकुर गोपालशरण सिंह ६८ वर्ष की अवस्था में अक्तूबर १९६० में, इस लोक से उठ गए। सन् १९१२ से ही उनकी कविताओं का पत्रों में प्रकाशन आरंभ हो गया था। भूतपूर्व रीवाँ राज्य के 'नई गढ़ी' ठिकाने के आप अधिपति थे। आरंभ में वे व्रजभाषा में लिखते थे, किंतु पीछे खड़ी बोली में रचना करने लगे। घनाचरी, सवैया आदि प्राचीन छंदों को उन्होंने अधिकारपूर्ण ढंग से खड़ी बोली में ढाला। उनकी खड़ी बोली की कविताओं में व्रजभाषा की मिठास तथा प्रवाह - सौंदर्य सर्वत्र दिखाई देता है। भाषागत स्वच्छता तथा भावगत सरसता के लिए वे सर्वत्र याद किए जायँगे। उनके अनेक काव्य-संग्रह माधवी, कादंबिनी, ज्योतिष्मती, संचिता, सुमंत, सागरिका, विश्वगीत, प्रेमांजलि, ग्रामिका आदि प्रकाशित हो चुके हैं। महात्मा गांधी के जीवन से संबद्ध उनका महाकाव्य 'जगदालोक' विशेषरूपसे लोकप्रिय हुआ। उनका स्वभाव बड़ा सरल तथा सहृदयता से ओतप्रोत था। ठाकुर साहब के निधन से हिंदीजगत् ने पिछली पीढ़ी का एक यशस्वी कवि खो दिया।

श्री इंद्र विद्यावाचस्पति

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी, 'वीर अर्जुन' के संपादक तथा गुरुकुल के भूतपूर्व अधिष्ठाता श्री इंद्र विद्यावाचस्पति के निधन से हिंदी वाङ्मय की अपूरणीय क्षति हुई है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में हिंदी - पत्रकारिता के विकास में उनका महत्वपूर्ण योग रहा है। उन्होंने संपादनकला में बहुतों को दीक्षित किया जो आज भी तत्परतापूर्वक हिंदीसेवा में संलग्न हैं। प्रायः पिछले तीन दशकों से अधिक काल तक वे गुरुकुल में उच्च शिक्षा के लिए हिंदी-माध्यम का सफल प्रयोग करते रहे। वे यशस्वी लेखक भी थे। अधिकांशतः उन्होंने ऐतिहासिक विषयों पर लिखा है। उनकी हिंदी की सेवाओं का ऐतिहासिक महत्व है। इन सब बातों के

अतिरिक्त अपने पूज्य पिता स्वामी श्रद्धानंद के त्याग - तपस्या जैसे महान् गुण भी उनमें विद्यमान थे। दूसरे शब्दों में वे योग्य पिता के योग्य पुत्र थे।

श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली'

श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली' का देहावसान नवंबर १९६० के अंतिम सप्ताह लखनऊ में हुआ। ललीजी के पिता प्रयाग के निकट निहालपुर ग्राम के निवासी थे। इन्होंने भी पहले ब्रजभाषा में ही लिखना आरंभ किया था, किंतु आगे चलकर सामयिक प्रवाह के साथ खड़ी बोली में रचना करने लगीं। ललीजी और सुभद्राकुमारीजी से आरंभ होनेवाली काव्य-परंपरा का चरम विकास महादेवी वर्मा में हुआ। तत्कालीन कवयित्री - त्रयी — बुंदेला बाला, सुभद्राकुमारी चौहान तथा ललीजी — में वे एक थीं। उनकी रचनाएँ आरंभिक युग से ही बड़ी साफ - सुथरी तथा नवयुवतियों को प्रेरणादायक होती थीं।

श्री महतावराय

सभा के नागरी मुद्रण के व्यवस्थापक तथा उपन्यास सम्राट स्व० प्रेमचंद के अनुज श्री महतावराय का अचानक निधन मौनी अमावस्या (१५ जनवरी, ६१) को हो गया। मृत्यु के थोड़ी देर पूर्व तक उन्होंने अपने सहायक को घर बुलाकर कार्य - निर्देश किया था।

रायसाहब बड़े हँसमुख तथा विनोदप्रिय होने के साथ बड़े कर्मठ स्वभाव के थे। आजीवन अच्छे खिलाड़ी होने के कारण हर परिस्थिति को वह खिलाड़ी की भाँति ही लेते थे। उनका व्यवहार प्रेरणादायक तथा उत्साहवर्द्धक होता था। उनके निधन से मित्रों को कष्ट होने के साथ सभा के कार्य में भी क्षति पहुँची। अभी वे काफी दिनों तक सभा की सेवा कर सकते थे।

श्री दयाशंकर दुबे

विगत फरवरी १९६१ में ही हिंदी के पुराने सेवक पंडित दयाशंकर दुबे का भी देहावसान हो गया। दुबेजी मूलतः खंडवा के निवासी थे। वे अर्थशास्त्र के प्रकांड पंडित थे और सुदीर्घ काल तक लखनऊ तथा प्रयाग विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र के सफल प्राध्यापक रहे। हिंदी में अर्थशास्त्र पर उच्चस्तरीय ग्रंथ लिखकर दुबे जी ने राष्ट्रभाषा की ठोस सेवा की। लेखनकार्य में वे बड़े नियमित थे, साथ ही अत्यंत प्रामाणिक भी। हिंदी साहित्य संमेलन के परीक्षामंत्री पद पर दीर्घकाल तक रहकर उन्होंने हिंदीप्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया।

श्री गोविंद मालवीय

महामना मालवीय जी के सबसे छोटे पुत्र पं० गोविंद मालवीय के निधन (फरवरी १९६१) से एक सच्चा हिंदी - हितैषी तथा कर्मठ राष्ट्रकर्मी उठ गया। राष्ट्रीय आंदोलनों में वे सदा सक्रिय रहे तथा इसके लिए उन्हें आठ बार जेलयात्रा करनी पड़ी थी। वे कई वर्षों तक हिंदू विश्वविद्यालय के उपकुलपति और कुलपति रहे और विश्वविद्यालय के कार्य को उन्होंने अत्यधिक निष्ठा और तत्परता के साथ निभाया। वे हिंदी के बड़े दृढ़ समर्थक, सच्चे देशभक्त तथा कुशल वक्ता थे।

उपर्युक्त समस्त दिवंगतात्माओं के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परम पिता से हमारी प्रार्थना है कि उन्हें सद्गति तथा शोकाकुल परिजनों को धैर्य प्रदान करे।

कलि संवत | | खीष्टपूर्व

१५६

१७०५ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–३६४, संख्या ३६० बुह्लर; लुडर्स सूची ५४३। सिंहासमाप्ति की वजिणिका के दान। १३९६

१५७

१७०५ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–३६५ संख्या ३६६ बुह्लर; लुडर्स सूची ५५२। भग्न। कुरर ... का दान। १३९६

१५८

१७०५ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३६६ संख्या ३७५ बुह्लर; लुडर्स सूची ५५८। भग्न। कुररगृहवासी सुभगा पुष्पा और नागदत्त संघरक्षित का दान। १३९६

१५९

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १११ संख्या ८ बुह्लर; लुडर्स सूची ५८२; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०४ टिप्पणी २३। कुररवासी भिक्षुणी सर्पकी का दान। १३९६

१६०

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८३ संख्या २४६ बुह्लर; लुडर्स सूची ४३२। कुररा के धर्मक का दान। १३९६

१६१

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८३ संख्या २४७ बुह्लर; लुडर्स सूची ४३३। भग्न। कुररा...... १३९६

१६२

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८३ संख्या २४८ बुह्लर; लुडर्स सूची ४३४। कुररा से भिक्षुणी संघरक्षिता का दान। १३९६

१६३

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८३ संख्या २५० बुह्लर; लुडर्स सूची ४३६। कुररा से अर्हद्दीना का दान। १३९६

१६४

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८२ संख्या २५१ बुह्लर; लुडर्स सूची ४३७। भग्न। कुररा की संघा का दान। १३९६

१६५

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २८४ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६१। कुररगृहवासी नागदत्त और संघरक्षित का दान। १३९६

कलि संवत् — खीष्टपूर्व

१६६

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – २८७ संख्या २८६ बुह्लर; लुडर्स सूची ४७१। कुररगृहवासी भिक्षुणी नादी का दान। १३६६

१६७

१७०५ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या ३०६ बुह्लर, लुडर्स सूची ४६१। एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या ३०७ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६२। कुररगृहवासी भिक्षु भडिक का दान। १३६६

१६८

१७०५ साँची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९७ संख्या २६ बुह्लर; लुडर्स सूची ५८३। कुररवासी भिक्षुणी बला का दान। १३६६

१६९

१७०५ साँची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १११ संख्या ६ बुह्लर; लुडर्स सूची ५८४। कुररवासी भिक्षुणी धर्मसेना का दान। १३९६

१७०

१७०५ साँची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – २९८ संख्या ३९ बुह्लर; लुडर्स सूची ६०८। कुररवासी संघरक्षित का दान। १३९६

१७१

१७०५ साँची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०० संख्या ५७ बुह्लर; लुडर्स सूची ६१३। कुररवासी भिक्षु वद्धक का दान। १३९६

१७२

१७०५ साँची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०२ संख्या ७६ बुह्लरः लुडर्स सूची ६५१। भग्न। कुरर की भिक्षुणी का दान। १३९६

१७३

१७०६ साँची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकुत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–९७ संख्या ३ बुह्लर; लुडर्स सूची १६६। काकटेयक जामाता विजित का दान। १३९५

१७४

१७०६ सांची बौद्धस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ९७ संख्या १ बुह्लर; लुडर्स सूची १६२। कैकटेयकपुत्र धर्मशिव का दान। १३९५

१७५

१७०७ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७६ संख्या १८२ बुह्लर; लुडर्स सूची २६३। कोथुकपदीय धर्मपाल का दान। १३९४

१७६

१७०८ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८८ संख्या २९९ बुह्लर; लुडर्स सूची ४८४। भग्न। कोडि जिलवासी भिक्षु वद्धक का दान। १३९३

कलि संवत् खीष्टपूर्व

१७७

१७०६ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३६२ संख्या ३४३ बुहलर; लुडर्स सूची ५२६। कोरमिक भिक्षुणी संघरक्षिता का दान। १३६२

१७८

१७०६ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०२ संख्या ७३ बुहलर; लुडर्स सूची ६४८। भग्न। कोरमिका की अंतेवासिनी धर्मरक्षिता का दान। १३६२

१७९

१७१० सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ –३८८ संख्या ३०० बुहलर; लुडर्स सूची ४८५। क्षुद्रकफत्रगिरिवासी बलदत्ता का दान। १३६१

१८०

१७११ सांची स्तूप २ अभिलेख – प्राकृत ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३६६ संख्या ४१ बुहलर; लुडर्स सूची ६२५। चुम्बमोरगिरि ग्राम का दान। १३६०

१८१

१७१२ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०३ संख्या ६० तथा २ – ४०५ टिप्पणी २४ बुहलर; लुडर्स सूची २८७। तंबलमड से कुंजर का दान। १३८६

१८२

१७१२ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८४ संख्या २५६ बुहलर; लुडर्स सूची ४४४। ताकारपद से संघरक्षित का दान। १३८६

१८३

१७१२ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी, एपिग्राफिया इंडिका २ – १०२ संख्या ५० बुहलर; लुडर्स सूची २७२ एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८४ संख्या २६१ बुहलर; लुडर्स सूची ४४६। भग्न। विरिडपद से उपासिका नागा का दान। १३८६

१८४

१७१३ सांची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–६६ संख्या २२ बुहलर; लुडर्स सूची २०१। तुम्बवन से गृहपति प्रतिष्ठित पुत्रवधू वैश्रवणदत्ता का दान। १३८८

१८५

१७१३ सांची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–६६ संख्या २३ बुहलर; लुडर्स सूची २०२; एपिग्राफिया इंडिका २-३८४ संख्या २६४ बुहलर; लुडर्स सूची ४४९। तुम्बवन से गृहपति प्रतिष्ठित का दान। १३८८

कलि संवत्		खीष्टपूर्व
	१८६	
१७१३	सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८४ संख्या २६५ बुहलर; लुडर्स सूची ४५०। तुंबवन से गृहपति प्रतिष्ठित के भ्राता की वधू धन्या का दान।	१३८८
	१८७	
१७१३	सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९२ संख्या ३३७ बुहलर; लुडर्स सूची ५२०। तुंबवनवासी भिक्षुनी वीरा का दान।	१३८८
	१८८	
१७१३	सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९५ संख्या ३६५ बुहलर; लुडर्स सूची ५४८। दखिणजी (दाक्षिणात्या) द्वाला का दान।	१३८८
	१८९	
१७१४	सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ९९ संख्या २५ बुहलर; लुडर्स सूची २३४। धर्मवर्द्धन से बौद्धगोष्ठी का दान।	१३८७
	१९०	
१७१४	सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०० संख्या २६ बुहलर; लुडर्स सूची ३५१। धर्मवर्द्धन से बुद्धगोष्ठी का दान।	१३८७
	१९१	
१७१४	सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २–३७५ संख्या १७३ बुहलर; लुडर्स सूची २५९। धरकिन से सातिल (= शांतिल) का दान।	१३८७
	१९२	
१७१६	सांची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७२ संख्या १३८ बुहलर; लुडर्स सची २०३। नवग्रामक दिशरक्षित का दान।	१३८५
	१९३	
१७१६	सांची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ - ३७२ संख्या १४७ बुहलर; लुडर्स सूची २१४। नवग्राम की उपासिका का दान।	१३८५
	१९४	
१७१६	सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८७ संख्या २९२ बुहलर; लुडर्स सूची ४७७। नवग्रामी पुष्यदत्त का दान।	१३८५
	१९५	
१७१६	सांची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ९८ संख्या ११ तथा २ – १०३ संख्या ५५ बुहलर; भिलसास्तूप पृ० २१८ संख्या २१ तथा पृष्ठ २५२ संख्या ११५ कनिंघम; लुडर्स सूची १८२, २७७। नवग्राम के पुष्यगिरि का दान।	१३८५

कलि संवत् खीष्टपूर्व

१९६

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७९ संख्या १८३ बुह्लर; लुडर्स सूची ३०५। नंदिनगर की भिक्षुणी ऋषिदत्ता का दान। १३८२

१९७

१७१९ साँची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ९७ संख्या ६ बुह्लर; लुडर्स सूची १७५। एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८९ संख्या २७७ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६२। नंदिनगर की भिक्षुणी अचला का दान। १३८२

१९८

१७१९ साँची बौद्ध स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ९७ संख्या ७ बुह्लर; लुडर्स सूची १७६; एपिग्राफिया इंडिका २-३८७ संख्या २४७ बुह्लर; लुडर्स सूची ४७२। नंदिनगर के भिक्षु कंबोज का दान। १३८२

१९९

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०६ संख्या ८२ बुह्लर; लुडर्स सूची ३५२। नंदिनगरवासी ओहो का दान। १३८२

२००

१७१९ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १११ संख्या ११ बुह्लर; लुडर्स सूची ५९३; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९८ संख्या ४० बुह्लर; लुडर्स सूची ६११। भिक्षुणी ओडो का दान स्तंभ। १३८२

२०१

१७१९ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७७ संख्या १९२ बुह्लर; लुडर्स सूची ३२७; एपिग्राफिया इंडिका ३ – ३८० संख्या ३१६ बुह्लर; लुडर्स सूची ४०२। नंदिनगरवासी भिक्षुणी ऋषि दासी का दान। १३८२

२०२

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत; ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७७ संख्या १९३ बुह्लर, लुडर्स सूची ३२८। नंदिनगर की भिक्षुणी दुमसहा (= दुष्प्रसहा) का दान। १३८२

२०३

१७१९ साँची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०८ संख्या १०५ बुह्लर; लुडर्स सूची ३६९। नंदिनगरवासी भिक्षुणी पुष्या का दान। १३८२

२०४

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ११० संख्या ११९ बुह्लर; लुडर्स सूची ३८३; नंदिनगरवासी भिक्षुणी श्रीदत्ता का दान। १३८२

कलि संवत् खीष्टपूर्व

२०५

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २७८ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६३। नंदिनगर से अयगा का दान। १३८२

२०६

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २७९ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६४। नंदिनगर से उत्तरदत्ता का दान। १३८२

२०७

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २८० बुह्लर; लुडर्स सूची ४६५। नंदिनगर से उत्तरमित्रा का दान। १३८२

२०८

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २८१ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६६। नंदिनगर से उपासक यमदत्त का दान। १३८२

२०९

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८६ संख्या २८२ बुह्लर; लुडर्स सूची ४६७। नंदिनगर से रोहिणी देवा का दान। १३८२

२१०

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९० संख्या ३१८ बुह्लर; लुडर्स सूची ५०२। नंदिनगर से रेविल का दान। १३८२

२११

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९१ संख्या ३२९ बुह्लर; लुडर्स सूची ५१२। नंदिनगर से भिक्षुणी वासवा का दान। १३८२

२१२

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९३ संख्या ३५३ बुह्लर; लुडर्स सूची ५३६। नंदिनगरवासी भिक्षुणी श्री दीना का दान। १३८२

२१३

१७१९ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३९४ संख्या ३५५ बुह्लर; लुडर्स सूची ५३८। नंदिनगरवासी भिक्षुणी श्रीमित्रा का दान। १३८२

२१४

१७१९ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; आर्क्यौलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १० – ५८ संख्या ९ कनिंघम; लुडर्स सूची ५६२। नंदिनगरवासी दराक का दान। १३८२

कलि संवत् | खीष्टपूर्व

२१५

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १० – ५९ संख्या १५ कनिंघम; लुडर्स सूची ५६३। भग्न। नंदिनगर की भिक्षुणी का दान। १३८२

२१६

१७१९ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १० – ५९ संख्या १७ कनिंघम; लुडर्स सूची ५६५। नंदिनगर से इ... का दान। १३८२

२१७

१७१९ सांची स्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १० – ५९ संख्या २० कनिंघम; लुडर्स सूची ५६७। नंदिनगर से इसि-मियत का दान। १३८२

२१८

१७१९ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ११२ संख्या १५ बुह्लर; लुडर्स सूची ६०४। नंदिनगरवासी गदा का दान। १३८२

२१९

१७१९ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०० संख्या ५३ बुह्लर; लुडर्स सूची ६२९। नंदिनगर से भिक्षुणी अश्वदेवा का दान। १३८२

२२०

१७१९ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ४०० संख्या ५४ बुह्लर; लुडर्स सूची ६३०। नंदिनगर से भिक्षुणी ऋषिमित्रा का दान। १३८२

२२१

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०३ संख्या ५६ बुह्लर; लुडर्स सूची २७८। पाडान के भिक्षुक का दान। १३८०

२२२

१७२१ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका १ – ११२ संख्या २१ बुह्लर; लुडर्स सूची ६१६। पाडानवासी विशाख का दान। १३८०

२२३

१७२१ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ११० संख्या १ बुह्लर; लुडर्स सूची ५७७। पांडुकुलिका ग्राम का दान। १३८०

२२४

१७२१ सांचीस्तूप २ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३६७ संख्या २५ बुह्लर; लुडर्स सूची ५७६। पांडुकुलिका वासी सेठ बुद्धपालित का दान। १३८०

कलि संवत्		खीष्टपूर्व

२२५

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७५ संख्या १६१ बुहलर; लुडर्स सूची २५०। पाविडक इन्द्रदत्त का दान। १३८०

२२६

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३७७ संख्या १८६ बुहलर; लुडर्स सूची ३२३। परियवक अरहक का दान। १३८०

२२७

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख - प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २-१०८ संख्या १०२ बुहलर; लुडर्स सूची ३६६। पुण्यवर्द्धनवासी धर्मदत्ता का दान। १३८०

२२८

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८० संख्या २१७ बुहलर; लुडर्स सूची ४०३। पुण्यवर्द्धनवासी ऋषिनंदन का दान। १३८०

२२९

१७२१ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८७ संख्या २९० बुहलर; लुडर्स सूची ४७५। पुरुविड से दिशागिरि के पुत्रों का दान। १३८०

२३०

१७२३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०६ संख्या ८३ बुहलर; लुडर्स सूची ३३७। पोखरेयक (= पुष्करवासी) भिक्षु अहंदीन का दान। १३७८

२३१

१७२३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – १०८ संख्या १०६ बुहलर; लुडर्स सूची ३७०। पुष्कर से हिमगिरि का दान। १३७८

२१२

१७२३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८७ संख्या २९४ बुहलर; लुडर्स सूची ४७९। पुष्कर से लेव भार्या ऋषिदत्ता का दान। १३७८

२३१

१७३३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८८ संख्या २९५ बुहलर; लुडर्स सूची ४८०। पुष्कर से ऋषिदत्ता का दान। १३७८

२३४

१७२३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८८ संख्या २९६ बुहलर; लुडर्स सूची ४८१। भग्न। पुष्कर से तुंडा और तुंड का दान। १७७८

२३५

१७२३ सांचीस्तूप १ अभिलेख – प्राकृत, ब्राह्मी; एपिग्राफिया इंडिका २ – ३८८ संख्या २९७ बुहलर; लुडर्स सूची ४८२। पुष्कर से संघरक्षित का दान। १३७८

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६५
संवत् २०१७
अंक १ से ४

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक विषयसूची

विमर्श

* इस निबंध में लेखक के नाम के स्थान पर श्री जगदीशचंद्र मिश्र छपा है। वहाँ श्री हरिहरनाथ त्रिपाठी होना चाहिए। — संपादक

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

विगत ५० वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रचुर मसग्री उपलब्ध हुई है। देश के स्वाधीन और हिदी के राज्यभाषा हो जाने की घोषणा के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का क्रमबद्ध तथा विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर देना एक दो व्यक्तियों के बूते के बाहर की बात थी। यही समझकर इस कार्य को सभा ने अपने हाथों लिया और हिंदी साहित्य के बृहत् इतहास को १७ भागों में प्रस्तुत करने की योजना बनाई। हिंदी के सभी चोटी के विद्वानों और हिंदी प्रदेश की सरकारों ने इस योजना को मान्यता दी, सभा को इन सबका सहयोग प्राप्त हुआ और राष्ट्रपति श्री डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने आशीर्वाद देने की कृपा की। कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। निम्नलिखित भाग प्रकाशित हो चुके हैं—

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक – श्री डा० राजबली पांडेय

षष्ठ भाग

शृंगारकाल (रीतिबद्ध)

संपादक डा० नगेंद्र

रायल अठपेजी आकार — **आफसेट कागज**

मूल्य प्रत्येक भाग २५)

षोडश भाग

हिंदी का लोक साहित्य

संपादक

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
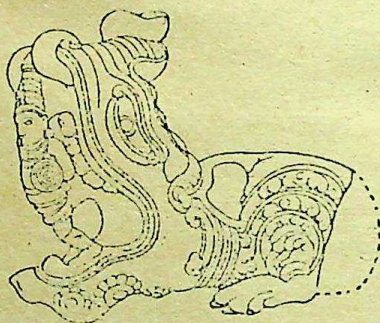
प्रकाशक---जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक—शंभुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी